देवीशंकर अवस्थी रचनावली

2

सम्पादक

रेखा अवस्थी

कमलेश अवस्थी

16,2725

'रचनावली खण्ड दो : आलोचना सरोकार' में संकलित सामग्री के आधार पर देवीशंकर अवस्थी के रचना-वैविध्य को अत्यन्त आत्मीयता लेकिन तटस्थता के साथ संयोजित किया है। इन बहुविध सरोकारों से उनकी लेखकीय चिन्ताएँ अगस्त, 1950 से शुरू होती हैं और 1965 के भारत-पाक युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखे 'युद्ध और व्यक्तित्व' लेख तक जारी रहती हैं। इन 15 वर्षों में अगस्त, 1950 से जुलाई, 1953 तक का तीन वर्षीय विद्यार्थी जीवन का लेखन भी इन्हीं विभिन्न सरोकारों से परिचालित रहता है। रचनावली के खण्ड चार में प्रकाशित डायरी से इसकी पुष्टि होती है। अगस्त, 1953 में डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति के बाद उनके सरोकारों की सक्रियता में और तेज़ी आती है। डी.ए.वी. कॉलेज के सहयोगी और मित्र कवि अजित कुमार के साथ अक्तूबर, 1953 में उनकी पहली साहित्यिक यात्रा (भारतीय हिन्दी परिषद् का पटना अधिवेशन) प्रारम्भ होती है, जहाँ उन्हें पहली बार हिन्दी की अनेक महान विभूतियों से मिलने और उन्हें सुनने का अवसर मिलता है। इसके बाद अपने सतत लेखन से वे मूर्धन्यों के स्नेहभाजन और समकालीनों के प्रिय सहचर बनते हैं। 15 वर्ष की अल्पावधि में विविधता और बहुलतापूर्ण प्रचुर लेखन, सम्पादन और अनुवाद की यह साहित्य-निधि आप सबके समक्ष इस खण्ड में बिना किसी परिवर्तन के कालक्रम से विषय-संगति के आधार पर 5 उपखण्डों में संयोजित है।

(सम्पादक की बात से)

देवीशंकर अवस्थी रचनावली

आलोचना सरोकार

खण्ड दो

'सहजैं आप लखाइया
ऐसा अलख अभेव'

देवीशंकर अवस्थी रचनावली

आलोचना सरोकार

खण्ड दो

सम्पादक
रेखा अवस्थी
कमलेश अवस्थी

वाणी प्रकाशन

वाणी प्रकाशन
4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002
शाखा
अशोक राजपथ, पटना 800 004

फ़ोन : +91 11 23273167 फ़ैक्स : +91 11 23275710
www.vaniprakashan.in
vaniprakashan@gmail.com
sales@vaniprakashan.in

DEVI SHANKER AWASTHI RACHNAWALI-2
Edited by Rekha Awasthi, Kamlesh Awasthi

ISBN : 978-93-87648-27-2
Rachnawali

प्रथम संस्करण

सम्पूर्ण (सेट) मूल्य : ₹ 7500

सिटी प्रेस, दिल्ली-110 095 में मुद्रित

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से

पत्नी कमलेश के साथ, 1957

देवीशंकर अवस्थी, डॉ. कालका प्रसाद भटनागर एवं नरेशचन्द्र चतुर्वेदी इत्यादि, 1961

डॉ. नगेन्द्र के जन्मदिन पर पत्नी कमलेश के साथ, 1963

शोक सभा, जनवरी, 1966
सन्निधि राजघाट, नयी दिल्ली में माल्यार्पण करते श्री हरिवंश राय बच्चन

कानपुर, 1951

अनुक्रम

तत्कालीन परिदृश्य पर लेख (1951-1966)

हिन्दी साहित्य-कोश की प्रविष्टियाँ (1962)

संचयन एवं सम्पादन

अनुवाद (ईश्वर चन्द्र विद्यासागर)

सम्पादक की बात

रचनावली के बारे में

देवीशंकर अवस्थी रचनावली खण्ड दो में उनके लेखन के कई आयामों या पक्षों को 'आलोचना सरोकार' नाम से हिन्दी पाठक समाज के सामने लाने का प्रयास किया है। खण्ड एक में उनके आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य और सैद्धान्तिकी की विविधता का संयोजन विधागत प्रविधि के अन्तर्गत कालक्रम से किया गया है। खण्ड दो में भी कालक्रम पद्धति के अनुपालन से उनके लेखन की विविधता और बहुलता के स्वरूप को इस तरह समायोजित करने का प्रयास है ताकि उनके सरोकारों से पाठक रू-ब-रू हो सके। अतः खण्ड दो की लेखन सामग्री को पाँच उपखण्डों में नियोजित किया है।

वे 'एकरसता' को तोड़ने और 'बेकली' को बढ़ाने वाले* आलोचक थे। उनके साहित्यिक-सांस्कृतिक सरोकार स्वाधीनता आन्दोलन की संघर्षशील मूल्य-चेतना और राष्ट्रीय नवजागरण से सम्बद्ध रहे। इसलिए उनका लेखन साहित्य के साथ-साथ तत्कालीन ज्वलन्त मुद्दों, बहसों और घटनाओं से मुठभेड़ करता है। सन् 1950 में डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में जब वे बी.ए. अन्तिम वर्ष के छात्र थे, तब से उनका लेखन शुरू होता है। सन् 1950 के अगस्त महीने में 'उर्मि' और 'साहित्य' नाम की दो पत्रिकाओं में क्रमशः 'वैज्ञानिक उन्नति और मानवता' तथा 'बैसवाड़े का अपूर्व बलिदान : सरेनी गोलीकाण्ड' प्रकाशित हुए। पहले लेख के माध्यम से वे मानवता के उत्कर्ष की कामना करते हैं तथा उन प्रवादों की काट करते हैं जो विज्ञान का विरोध करते हैं। दूसरे लेख में आजादी के आन्दोलन में दी गयी सरेनी गाँव की शहादत के वर्णन से स्वतन्त्रता प्राप्ति में आम जनता के योगदान को रेखांकित करते हैं। परन्तु इतिहासकारों द्वारा इस घटना को इतिहास में दर्ज न करने पर असहमति जतलाते हैं। 1950 में ही नवम्बर और दिसम्बर में दो और लेख 'दैनिक विश्वमित्र' में प्रकाशित होते हैं—'दीप जलाकर बुझा न देना' और 'बैसवाड़े का संक्षिप्त इतिहास'। 'दीप' वाले लेख में वे देश के नवनिर्माण के लिए अति उत्साह एवं प्रतिश्रुति के साथ विकास के नये दीपों को जलाये रखने का समर्थन एवं आह्वान करते हैं। दीपावली

* मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, नया पथ : युवा अंक, अप्रैल-जून, 2009

के दीपों की तरह एक दिन के लिए नहीं बल्कि सतत विकास एवं उपलब्धियों के दीपों को प्रज्वलित करने की प्रतीति युवाओं के बीच ले जाना चाहते हैं। 'निराला की साहित्य साधना' में डॉ. रामविलास शर्मा ने बैसवाड़ा के सांस्कृतिक वैभव का काफी रोमानी वर्णन किया है। पर रामविलास जी के लिखने से 10 या 15 साल पहले देवीशंकर अवस्थी ने 'बैसवाड़े का संक्षिप्त इतिहास' लेख में गर्व से सभी साहित्यिक विभूतियों के नामोल्लेख के साथ 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में उसके योगदान को विस्तार से बताया है। पर इस लेख का मुख्य बिन्दु है इतनी महत्त्वपूर्ण विरासत वाले क्षेत्र का पिछड़ापन और गरीबी। वे स्कूलों और सड़क परिवहन व्यवस्था के अभाव के प्रति सरकार का ध्यान खींचना चाहते हैं। बैसवाड़ा अंचल में स्त्रियों की दयनीय अवस्था के विशेष उल्लेख से उनकी जेण्डरगत संवेदनशीलता एवं सजगता का परिचय मिलता है। वर्तमान क्रूर और निर्मम जमींदारों से अपने पूर्वज राणा बेनीमाधव सिंह के रास्ते पर चलने की अपील करते हैं। 20 वर्षीय युवा देवीशंकर अवस्थी की साहित्यिक प्रतिभा और उनकी सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सजगता इस प्रारम्भिक लेखन में स्पष्ट तौर पर परिलक्षित है। वे स्वयं बैसवाड़ा के रहने वाले थे। उनका जन्म पितृगृह उन्नाव जिला में हुआ था और प्रारम्भिक शिक्षा रायबरेली जिला के अन्तर्गत ननिहाल में हुई थी। यही दोनों जिले बैसवाड़ी भाषा और संस्कृति के क्षेत्र माने जाते हैं। स्थानीयता के प्रति गहरा लगाव 'कानपुर' से सम्बन्धित तीनों लेखों में भी दिखायी देता है। सन् 1957-58 से 1965 के बीच उन्होंने कानपुर पर तीन लेख लिखे। अन्तिम लेख उनके निधन के बाद 'दिनमान' में छपा। वास्तव में 'दिनमान' के आग्रह पर ही वह लेख लिखा गया था। बैसवाड़ा और कानपुर से उन्हें बहुत प्यार था। पर उसके साहित्यिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक ह्रास पर क्षोभ था जिसे उन्होंने छुपाया भी नहीं। सम्भवतः यही वह प्रमुख कारण रहा होगा जिसकी वजह से वे कानपुर छोड़कर दिल्ली आये। 'हमकों लिख्यौ है कहा' में संकलित श्री विद्यानिवास मिश्र के पत्रों से भी अन्य विश्वविद्यालयों में जाने की उनकी इच्छा का पता चलता है। पर कानपुर छोड़ते समय कानपुर स्टेशन पर सैकड़ों मित्रों, सम्बन्धियों ने उनकी विकलता को देखा और भाभी को लिखे पत्र* में उन्होंने स्वीकार किया कि गुरुवर कृष्ण शंकर शुक्ल को चुप कराने में वे स्वयं भी रोने लगे थे। उनके सब्र का बाँध टूट गया था।

इस 'साहित्यिक-सांस्कृतिक लेख' के उपखण्ड में सरेनी पर दो और कानपुर पर तीन लेखों की एकान्विति को बनाये रखने के लिए अपवादस्वरूप कालक्रम का अनुपालन नहीं किया गया।

'आलोचना सरोकार' खण्ड दो में संकलित चार आलेख—'कला और जीवन',

---

* रचनावली खण्ड चार, 18 जुलाई, 1961 का पत्र

'काव्य और संगीत', 'शाश्वत और नवल' एवं 'व्यक्ति के बन्धन' को देवीशंकर अवस्थी के चिन्तनपरक ललित गद्य के साथ उनकी वैचारिकी एवं उनके आलोचनात्मक संज्ञान की पुख़्ता होती नींव के रूप में देख सकते हैं। 'कला और जीवन' (1951) लेख में वे 'कला कला के लिए' या 'कला समाज के लिए' की वैश्विक बहस के सभी पक्षों या मत-विमत का विवेचन करते हुए अन्ततः विलियम कूपर की कविता 'Solitude of Alexander Selkirk' के माध्यम से कला की श्रेष्ठता, सौन्दर्य की साधना एवं अनुभूति की अभिव्यक्ति को जीवन के बीच ही सार्थक मानते हैं। 'काव्य और संगीत' (1952) आलेख में उनकी भावी शोधपरक दृष्टि की झलक मिल जाती है। नाद और ध्वनि की समानता मानते हुए भी शब्द को श्रेष्ठ मानने के पक्ष में हैं क्योंकि शब्द विचार का प्रतीक है। 'शाश्वत और नवल' (1955) आलेख में उन्होंने 'परम्परा या आधुनिकता' की बहस को 'परम्परा और आधुनिकता' के विचारबिन्दु पर केन्द्रित किया है। वे पूछते हैं कि "क्या कारण है कि आदिकवि से लेकर मेरे कविमित्र तक सभी आनन्द देते हैं। × × × × कला के इन दो मूल सत्यों—स्थायी एवं परिवर्तन की संगति कैसे बैठे?" समकालीन लेखन, समकालीन यथार्थबोध एवं भावबोध को परम्परा की नितनूतन नवीन छवि के रूप में व्याख्या करने के विकल्प को इस रूप में रखा कि "वास्तव में श्रेष्ठ साहित्य की रचना परम्परा के भीतर युग के यथार्थ को समेट कर होती है।" 1955 में लिखित 'व्यक्ति के बन्धन' आलेख में व्यक्ति के तीन बन्धन—धर्म, ईश्वर और समाज की ऐतिहासिक, वर्गीय और आत्मिक (Spirituality) दृष्टि से विस्तृत व्याख्या विभिन्न कोणों से की गयी है। 1955 में उन्होंने "धर्म को जिन्दगी बिताने का एक पथ (A Way of Life) कहा था।" अपने विवेचन क्रम में ईश्वर और धर्म का अन्तर बताते हुए ईश्वर के बन्धन को 'आपेक्षिक रूप से क्षीण' माना तथा समाज बन्धनों की अन्तिम परिणति के रूप 'राज्य' के उद्भव का कारण बताया। इस आलेख में पूँजीवादी, साम्यवादी, समाजवादी एवं पुनरुत्थानवादी दृष्टियों से व्यक्ति, समाज, धर्म, ईश्वर और राज्य को गहराई के साथ समझने का प्रयास स्पष्ट लक्षित होता है। यह छोटा-सा हस्तक्षेप केवल इसी उद्देश्य से किया गया है कि प्रारम्भिक लेखन काल से उनकी आलोचनात्मक सैद्धान्तिकी की वैचारिक आधारशिलाओं को रेखांकित किया जा सके।

इस उपखण्ड में साहित्यिक-सांस्कृतिक वैविध्यपूर्ण सरोकारों से सम्पृक्त कुल 26 लेख हैं। इनमें से अधिकांश 'विवेक के कुछ और रंग' संग्रह में संकलित हैं। परन्तु अब तक अप्रकाशित रहा 'लोक साहित्य का अध्ययन' लेख पहली बार रचनावली में प्रकाशित हो रहा है। 'आलोचना और आलोचना' के अधिकांश लेख खण्ड एक में संयोजित हैं पर विधाओं की प्रकृति से अलग व्यक्ति प्रधान, विवरणात्मक एवं तुलनात्मक विषय होने के कारण पाँच आलेख खण्ड दो के इस उपखण्ड में संकलित हैं। 'युगप्रभात' में प्रकाशित चार लेख, 'श्रमजीवी' में प्रकाशित एक लेख तथा तीन

रेडियोवार्ता पहली बार इसी उपखण्ड में संयोजित किये गये हैं। भाई साहब की डायरी में दर्ज और भाभी को लिखी चिट्ठियों में दी गयी सूचना के हिसाब से लखनऊ से उनकी कई वार्ताएँ प्रसारित हुई हैं। परन्तु एकत्रित सामग्री में हमारे पास केवल तीन प्रसारित वार्ताएँ ही मिलीं। वे तीनों भी पहली बार यहीं संकलित हैं। यह भी सम्भव है कि 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : एक सर्वेक्षण', 'स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी उपन्यास', 'हिन्दी आलोचना का विकास', 'हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद' जैसे निबन्ध रेडियोवार्ता के रूप में प्रसारित हुए हों और बाद में कुछ बदलाव के बाद ये लेख पत्रिकाओं 'युगप्रभात' एवं 'श्रमजीवी' में भी प्रकाशित हुए।

दूसरे उपखण्ड 'तत्कालीन परिदृश्य' में 14 लेख और टिप्पणियाँ हैं। इन सभी संकलित लेखों के सरोकार अखिल भारतीय यानी राष्ट्रीय स्तर के विवाद, आन्दोलन, नीतियों एवं प्रश्नों से सम्बद्ध हैं। चाहे राज्य से साहित्य के सम्बन्ध का जटिल मुद्दा या भाषा आयोग की रिपोर्ट पर मत भिन्नता हो, 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कूटनीति' अथवा 'भारत में प्रजातन्त्र के खतरे' जैसे लेख हों। जवाहरलाल नेहरू की राष्ट्रीय या विश्वदृष्टि का विवेचन हो अथवा युद्ध एवं शान्ति का प्रश्न या हिन्दी भाषा के महत्त्व या हिन्दी विरोध के आन्दोलन हों—ये सभी समस्याएँ और मुद्दे आज भी उतने ही प्रासंगिक, ज्वलन्त एवं विवादास्पद हैं। तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री को अंग्रेजी के बरअक्स हिन्दी की दोयम स्थिति पर व्यंग्यात्मक पत्र आज भी एकदम सटीक प्रतीत होता है। 'युद्ध और व्यक्तित्व' लेख में 1965 के भारत-पाकिस्तान युद्ध के दौरान वे देश के बुद्धिजीवियों एवं नागरिकों पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा विस्तार से करते हैं। पर निहित स्वार्थों के कारण प्रशासन द्वारा भय फैलाना, अभिव्यक्ति की आजादी पर अंकुश लगाना, नीतियों को प्रश्नांकित करने के प्रजातान्त्रिक अधिकार को राष्ट्रवाद के नाम पर समाप्त करने का विरोध करते हुए 'देश में अधिनायकशाही आने' की आशंका व्यक्त करते हैं। इसी लेख में वे जवाहरलाल नेहरू के विरोधियों को 'जाने अनजाने फासिस्ट शक्तियों के साथ' होने का संकेत करते हैं।

लखनऊ के तीन युवा चित्रकारों की चित्रप्रदर्शनी के चित्रों का अत्यन्त प्रसन्न मन से विस्तृत विवेचन 'तीन घण्टे कला लोक-निवास' कहकर प्रस्तुत करते हैं। इसी क्रम में हस्तकला प्रदर्शनी की रिपोर्टिंग करते हुए कुटीर उद्योग की कलात्मकता एवं हस्तकलाओं को आधुनिक तकनीक एवं नये डिजाइन से प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना के प्रयासों के विवरण के साथ कार्य पद्धति का मूल्यांकन उनके तत्कालीन परिदृश्य के सरोकारों में बहुत महत्त्वपूर्ण चिन्ता है। पर सबसे ज्यादा चिन्ता मारवाड़ी पुस्तकालय जैसे पुस्तकालयों को बचाने, उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति के प्रकाशनों के गिरते स्तर को सुधारने के लिए तथा साहित्यिक पत्रिकाओं की डाक दरों की वृद्धि पर व्यक्त की है। तत्कालीन राजनीतिक,

सामाजिक, सांस्कृतिक परिदृश्य पर संकलित इन गम्भीर लेखों एवं टिप्पणियों में उनके बहुआयामी सरोकारों को देखा जा सकता है।

तीसरे उपखण्ड में ज्ञानमण्डल, वाराणसी से 1962 में प्रकाशित 'साहित्यकोश' की प्रविष्टियाँ संकलित हैं। देवीशंकर अवस्थी ने भाग एक के लिए 4 और भाग दो के लिए 35 प्रविष्टियाँ लिखी थीं। इन 35 प्रविष्टियों में भगवती चरण वर्मा के दो उपन्यास 'तीन वर्ष' तथा 'चित्रलेखा' के पात्रों पर लिखी प्रविष्टियों को लेखकों के आकारादिक्रम से हटाकर उपन्यासों के शीर्षक के अन्तर्गत संकलित किया गया है।

चौथे उपखण्ड में डॉ. देवीशंकर अवस्थी के छह अविस्मरणीय अनूठे संचयन-सम्पादन संग्रह और पत्रिका को संयोजित किया गया है। सम्पादित या संचयित पुस्तक एवं पत्रिका ज्यों का त्यों रचनावली में दी नहीं जा सकती इसलिए प्रविधि यह अपनायी है कि पत्रिका या संग्रह का अनुक्रम, भूमिका और समर्पण (यदि है तो) को ही रचनावली में संकलित करेंगे ताकि सम्पादक की चयन दृष्टि, उसका मन्तव्य, उसके विचार, उसकी योजना और उद्देश्य से पाठक सहज परिचित हो सके।

(1) डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने अपनी पहली सम्पादित पुस्तक 'कविताएँ १९५४' का सम्पादन घनिष्ठ कवि मित्र श्री अजित कुमार के साथ किया। यह अपनी तरह का नया प्रयोग था। 'तार सप्तक' चुने हुए सात कवियों का संकलन है। पर 'कविताएँ १९५४' में वर्ष भर की प्रकाशित और प्रसारित कविताओं से चुनी हुई 'प्रतिनिधि और श्रेष्ठ कविताएँ' संगृहीत हैं। इस संकलन में आकारादिक्रम से 94 कवियों की एक-एक कविता का चयन है। सन् 1955 में साहित्य निकेतन, कानपुर से इसका प्रकाशन हुआ। आज देखकर आश्चर्य होता है कि कितनी ही ख्यात और चर्चित कविताएँ एवं कवि इस संग्रह में संगृहीत हैं। इस तरह के संकलन की योजना कवियों-लेखकों के बीच बहुत लोकप्रिय हुई। 'हमकों लिख्यौ है कहा' में ऐसे कुछ पत्र संकलित हैं जिनमें आगामी वर्षों में ऐसा संग्रह पुनः निकालने का अनुरोध है।

(2) फरवरी, 1957 में देवीशंकर अवस्थी को 'कलजुग' पत्रिका का दायित्व दिया गया। पहले वे सम्पादन सलाहकार बनाये गये फिर सम्पादन का भार उन्हें सौंप दिया गया। इस तरह फरवरी, 1957 से जून-जुलाई, 1957 तक उन्होंने 5 अंकों का सम्पादन किया। एक अल्पज्ञात पत्रिका सहसा साहित्य के केन्द्र में स्थापित हो जाती है। पुराने और नये, प्रतिष्ठित और नवोदित, सभी तरह की शैली और विधा में लिखने वाले लेखक 'कलजुग' में छपने लगते हैं। इस पत्रिका में त्रिलोचन शास्त्री की पहली पुस्तक 'दिगन्त' की समीक्षा समेत सभी प्रमुख पुस्तकों की समीक्षाएँ प्रकाशित होती हैं। 'कलजुग' के पाँच अंकों के प्रारम्भिक पन्नों को स्कैन करके रचनावली के इस खण्ड में संलग्न कर दिया गया है।

(3) सन् 1963 में देवीशंकर अवस्थी ने 'कहानी-विविधा' का सम्पादन राजकमल

प्रकाशन के अनुरोध पर किया। यह संग्रह पाठ्यक्रम में निर्धारित और संस्तुति की योजना के तहत तैयार हुआ था। संग्रह में 'तेरह प्रतिनिधि' कहानियों का चयन किया गया है। कहानी विधा पर लम्बी भूमिका के साथ कहानीकार और कहानी का परिचय, पाठ सामग्री एवं प्रश्नों के साथ यह संग्रह इतना विशिष्ट बन गया कि पिछले 54-55 वर्षों से किसी न किसी विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में लगातार निर्धारित रहा है। इस संग्रह में उनके द्वारा लिखित पूरी सामग्री (भूमिका, अनुक्रम, कहानी-कहानीकार का परिचय एवं पाठ योजना) रचनावली के इस उपखण्ड में संकलित कर दी गयी है।

(4) सन् 1965 में देवीशंकर अवस्थी की सम्पादित पुस्तक 'विवेक के रंग' का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ तथा 1995 में पुनःप्रकाशन वाणी प्रकाशन ने किया। देवीशंकर अवस्थी की लम्बी भूमिका, सम्पादन-दृष्टि एवं संयोजन की मुक्त भाव से प्रशंसा के साथ पुस्तक को हाथोंहाथ लिया गया। यह कहना अत्युक्ति नहीं मानी जायेगी कि यह संग्रह आज भी सम्पादन और चयन की दृष्टि से एक मानदण्ड की तरह अविस्मरणीय बना दिया गया है। प्रो. नित्यानन्द तिवारी ने लिखा है कि "अब यह संकलन व्यावहारिक समीक्षा का सन्दर्भ-ग्रन्थ बन चुका है।"* वास्तव में 1960 के बाद के आलोचनात्मक लेखन के सम्पूर्ण परिदृश्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए उन्होंने अनेक साहित्यिक विधाओं से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाओं को आलोचना के विकास में प्रस्थान बिन्दु मानते हुए उनके (समीक्षाओं) चयन और सम्पादन का मन बनाया। 'विवेक के रंग' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"इन समीक्षाओं में वे तमाम विचार-सूत्र, आलोचना पद्धतियाँ एवं प्रविधियाँ निहित हैं जो नये काव्यशास्त्र का निर्माण ही नहीं करतीं, समीक्षा के लिए नये औजार भी देती हैं।" इस पुस्तक संकलन के माध्यम से देवीशंकर अवस्थी ने परिचयात्मक विज्ञापन शैली वाली समीक्षाओं, पुस्तक व्यवसाय के साधन के रूप में लिखी जा रही समीक्षाओं अथवा मैत्रीभाव से प्रशंसा में लिखी गयी समीक्षाओं की तुलना में उस समय लिखी जा रही गम्भीर समीक्षाओं को पहली बार महत्त्वपूर्ण धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इन पुस्तक समीक्षाओं के चयन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी भी नयी प्रकाशित कृति की सम्पूर्ण रचना में अन्तःप्रवेश वाली विश्लेषण प्रणाली का विकास और परिष्कार करना चाहते थे। 'विवेक के रंग' की भूमिका को 'आलोचना का नया दस्तावेज'** तथा 'आलोचना के दुर्निवार प्रश्नों से जूझने वाले आधिकारिक विवेचन का प्रमाण' माना गया है।

(5) 'विवेक के रंग' की तैयारी के बाद ही उन्होंने एक और पुस्तक, खासतौर

---

* आलोचना का विवेक, पृ. 46

** आलोचना का विवेक : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, पृ. 186

पर, कथा-आलोचना पर 'नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' (1965) नाम से तैयार की थी।* इस पुस्तक को उन्होंने कथा समारोह में कलकत्ता जाने से पहले नवम्बर, 1965 में अपने कथाकार मित्र श्री राजेन्द्र यादव और जवाहर चौधरी के द्वारा स्थापित 'अक्षर प्रकाशन' को प्रकाशन के लिए दे दिया था। कलकत्ता से आने पर पुस्तक की कम्पोजिंग सामग्री देखकर लौटते समय 11 जनवरी, 1966 को वे दुर्घटनाग्रस्त हो गये। उनके निधन के बाद 1966 में ही पुस्तक प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की भूमिका के अन्त में उन्होंने संकलन के लेखों के महत्त्व का संकेत करते हुए लिखा है कि "इनके आधार पर नये 'कथाशास्त्र' की विवेचना सम्भव है।" परमानन्द श्रीवास्तव ने स्वीकार किया है कि "अवस्थी ने एक तरह से नये कथाशास्त्र की रूपरेखा भी प्रस्तावित की है।"** उस दौर के लेखन और घटनाक्रम का इतिहास साक्षी है कि 'नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' के प्रकाशन से पहले ही वे अपनी तटस्थता और निर्भीकता के कारण कथाकारों के बीच सर्वमान्य आलोचक मान लिए गये थे। कमलेश्वर ने लिखा, "कहानी-समीक्षा की सही-सहभागी भूमिका की शुरुआत देवीशंकर अवस्थी से शुरू हुई थी। ...उन्होंने विचार की भी रक्षा की और कहानी की भी। देवीशंकर अवस्थी के साथ जिस आलोचना पद्धति की शुरुआत होती है वह किसी पद्धतिशास्त्र का निर्माण नहीं करती बल्कि कहानी को उसके सर्वांगीण संवेगों में पहचानने की कोशिश करती है।"***

वस्तुतः 'विवेक के रंग' तथा 'नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' जैसी पुस्तकों की परिकल्पना से उन्होंने समालोचना के मूलभूत चरित्र को तटस्थ, निर्भीक और जीवन्त बनाया। नित्यानन्द तिवारी के अनुसार "कविता में जो महत्त्व सप्तकों का है लगभग वैसा ही महत्त्व आलोचना के क्षेत्र में अवस्थी जी द्वारा सम्पादित इन समीक्षा-संकलनों का है।"****

(6) 'साहित्य विधाओं की प्रकृति' (1981, मैकमिलन, पुनःप्रकाशन राजकमल) की योजना भिन्न-भिन्न भाषाओं या राज्यों-राष्ट्रों की सीमाओं से ऊपर उठकर साहित्य के प्रयोजन, स्वरूप और उसकी विधागत संरचना एवं शिल्प को समझने के उद्देश्य से की गयी मालूम होती है। वे हिन्दी भाषा के साहित्य प्रेमियों, शोधकर्त्ताओं या पाठकों को विश्वस्तर के साहित्यिक विमर्शों, बहसों एवं गतिविधियों से परिचित कराने के लिए बड़ा फलक चुनते हैं। रूसी, ब्रिटिश, अमेरिकी, आस्ट्रियन, आयरिश आदि 10 विश्वप्रसिद्ध विद्वानों, भारत के 7 हिन्दी विद्वान और एक-एक बांग्ला

---

* प्रथम संस्करण—अक्षर प्रकाशन से तथा बाद में पुनःप्रकाशन—राजकमल प्रकाशन से

** आलोचना का विवेक, पृ. 61

*** आलोचना का विवेक, पृ. 54

**** आलोचना का विवेक, पृ. 47

तथा मराठी के आलोचक चिन्तकों को उन्होंने संग्रह में शामिल किया है। यही नहीं वैचारिक दुराग्रह का आग्रह भी नहीं करते। मार्क्सवादी, मानवतावादी-स्वच्छन्दतावादी, कलावादी, शिल्पवादी एवं नव्य समीक्षावादी के साथ संस्कृत साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञों के लेख गुणवत्ता के आधार पर लिये हैं। इस संकलन का उद्देश्य ही साहित्य विधाओं के विभिन्न पहलुओं को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखने का गम्भीर प्रयास है ताकि अध्येता अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण तय कर सके।

2013 में रचनावली के प्रकाशन के दौरान कागजों की खोज-बीन में एक और पुस्तक 'स्वाधीनता के बाद : हिन्दी साहित्य' के सम्पादन का पूरा प्रस्ताव मिला है। उसके कुछ कच्चे प्रारूप भी मिले हैं जिनसे लगता है कि श्री अशोक वाजपेयी के साथ या उनसे सलाह-मशविरा करके इस पुस्तक पर वे काम करना चाहते थे। यह पुस्तक डिमाई अठपेजी में लगभग 400 पृष्ठ में अनुमानित की गयी थी। प्रस्ताव का स्कैन रूप संलग्न कर रही हूँ ताकि हिन्दी समाज उनकी इस सुविचारित योजना से परिचित हो सके। एक और प्रस्ताव 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति ग्रन्थ' भी खोजबीन के दौरान हस्तगत हुआ। सम्पादकों में नाम श्री नेमिचन्द्र जैन और डॉ. सुरेश अवस्थी का है। अत्यन्त सुचिन्तित प्रारूप है, पर क्रियान्वित नहीं हो सका। इससे हमारे घाव हरे हो गये। व्यक्तिगत आपाधापी के समय में स्मृतियाँ खो जाती हैं या धुँधली पड़ जाती हैं।

देवीशंकर अवस्थी रचनावली खण्ड दो का अन्तिम पाँचवाँ उपखण्ड अनुवाद से सम्बद्ध है। 30 अप्रैल, 1964 को प्रकाशन विभाग, भारत सरकार की ओर से श्री मन्मथनाथ गुप्त ने देवीशंकर अवस्थी से श्री मोतीलाल नेहरू पर 200 पृष्ठों की टंकित अंग्रेजी में लिखी पुस्तक का अनुवाद एक महीने के अन्दर करने का आग्रह किया। सम्भवतः समयसीमा के कारण बात नहीं बनी। बाद में दूसरी पुस्तक 'आधुनिक भारत के निर्माता' सीरीज में विनय घोष लिखित 'ईश्वर चन्द्र विद्यासागर' के अनुवाद प्रस्ताव को उन्होंने स्वीकार किया। इस पुस्तक का अनुवाद उन्होंने किया पर प्रकाशन विभाग को जमा नहीं कर पाये थे। उनके निधन के बाद अनुवाद 18 जुलाई, 1966 को जमा किया जा सका। खुशी की बात है कि यह अनुवाद अब तक प्रकाशन विभाग छाप रहा है और हिन्दी में 'ईश्वर चन्द्र विद्यासागर' बाजार में उपलब्ध है।

इस तरह 'रचनावली खण्ड दो : आलोचना सरोकार' में संकलित सामग्री के आधार पर देवीशंकर अवस्थी के रचना-वैविध्य को अत्यन्त आत्मीयता लेकिन तटस्थता के साथ मैंने संयोजित किया है। इन बहुविध सरोकारों से उनकी लेखकीय चिन्ताएँ अगस्त, 1950 से शुरू होती हैं और 1965 के भारत-पाक युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखे 'युद्ध और व्यक्तित्व' लेख तक जारी रहती हैं। इन 15 वर्षों में अगस्त, 1950 से जुलाई, 1953 तक का तीन वर्षीय विद्यार्थी जीवन का लेखन भी इन्हीं विभिन्न सरोकारों से परिचालित रहता है। रचनावली के खण्ड चार में प्रकाशित डायरी से इसकी पुष्टि होती

है। अगस्त 1953 में डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में प्राध्यापक पद पर नियुक्ति के बाद उनके सरोकारों की सक्रियता में और तेजी आती है। डी.ए.वी. कॉलेज के सहयोगी और मित्र कवि अजित कुमार के साथ अक्तूबर, 1953 में उनकी पहली साहित्यिक यात्रा (भारतीय हिन्दी परिषद् का पटना अधिवेशन) प्रारम्भ होती है, जहाँ उन्हें पहली बार हिन्दी की अनेक महान विभूतियों से मिलने और उन्हें सुनने का अवसर मिलता है। इसके बाद अपने सतत लेखन से वे मूर्धन्यों के स्नेहभाजन और समकालीनों के प्रिय सहचर बनते हैं। 15 वर्ष की अल्पावधि में विविधता और बहुलतापूर्ण प्रचुर लेखन, सम्पादन और अनुवाद की यह साहित्य-निधि आप सबके समक्ष इस खण्ड में बिना किसी परिवर्तन के कालक्रम से विषय-संगति के आधार पर 5 उपखण्डों में संयोजित है।

श्री बजरंग बिहारी तिवारी एवं मोहित कुमार की आभारी हूँ। उन्होंने संस्कृत श्लोकों की प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियों को सही करने में मेरी बहुत मदद की है।

श्री अरुण माहेश्वरी और उनकी सम्पादकीय टीम को बहुत-बहुत धन्यवाद।

रेखा अवस्थी

20 फरवरी, 2018
220, सहयोग अपार्टमेंट्स
मयूर विहार, फेज-I
दिल्ली-110091
मो. : 9818183255

साहित्यिक-सांस्कृतिक लेख
(1950 से 1966)

वैज्ञानिक उन्नति और मानवता

आज के विचारशील जगत के सम्मुख एक बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित है कि क्या वैज्ञानिक उन्नति मानवता के विकास में बाधक है। इस प्रश्न पर जगत दो भागों में बँटा हुआ है। एक समुदाय तो इसे मानवता के हित में बाधक एवं एक वर्ग इसे उसके विकास में सहायक मानता है। पर हमारे मत से तो विज्ञान मानवता के विकास पथ का रोड़ा नहीं बन सकता। विज्ञान तो मानव के चिरन्तन विकास, उसकी बुद्धि के विकास का परिणाम है; एवं यही बुद्धि तो उसे पशु से श्रेष्ठतर बनाये हुए है।

विज्ञान का तो अर्थ ही विशिष्ट ज्ञान है तथा ज्ञान मस्तिष्क की चिन्तनशीलता एवं क्रिया का परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है, आनन्द प्राप्त करना चाहता है, सभ्य एवं सुसंस्कृत बनना चाहता है, इसके लिए वह शरीर, मन तथा मस्तिष्क द्वारा चेष्टा करता है। इसी चेष्टा के फलस्वरूप ज्ञान की उत्पत्ति हुई एवं इस ज्ञान में भी जो विशिष्ट रूप से उसे आगे बढ़ाने में सहायक हुआ, वह विज्ञान कहलाया। अस्तु, यह प्रश्न ही नहीं उठता है कि विज्ञान बाधक भी हो सकता है। हाँ! यह हो सकता है कि उस सुख की उपलब्धि कराने वाले ज्ञान, आनन्द की ओर उन्मुख कराने वाले विज्ञान में भी कुछ अहितकर तत्त्व कभी-कभी दृष्टिगोचर हो जायें। विज्ञान के समुद्र-मन्थन में भी विष और वारुणी निकल पड़े। पर अधिकता एवं प्राबल्य तो लक्ष्मी, अमृत और कौस्तुभ मणि आदि की ही रहेगी। फिर अमृत की सार्थकता सिद्ध करने वाला विष, सुख की कसौटी दुख तथा प्रकाश की आवश्यकता एवं मूल्य का अनुभव कराने वाले अन्धकार का भी होना तो आवश्यक है।

हमें एक बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि मानव जाति का इतिहास उस निरन्तर प्रवहमान धारा की भाँति है, जिसका पाट अधिकाधिक विस्तृत होता जाता है। सरिता के दोनों कूलों का अन्तर परस्पर बढ़ता जाता है। भविष्य में भी यह अन्तर बढ़ता ही जायेगा, अर्थात् यह जनसंख्या बढ़ती ही जायेगी, एवं इस वर्द्धमान संसार की आवश्यकताएँ भी बढ़ती जायेंगी। फलतः उसे विपुल परिमाण में संख्यातीत पदार्थ चाहिए। यह पदार्थ हमें मात्र विज्ञान की सहायता से प्राप्त हो सकते हैं। आज का विज्ञान हमारी आवश्यकताओं की उपलब्धि के लिए सतत प्रयत्नशील है।

विज्ञान का सभ्यता और संस्कृति से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। सभ्यता का कोई अंग ऐसा नहीं, जिस पर विज्ञान का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत न हो। जो लोग कहते हैं कि संस्कृति खतरे में है; वर्तमान विज्ञान उसे नष्ट किये दे रहा है; वे यह भूल जाते हैं कि कला और विज्ञान के सम्मिलत आधार पर संस्कृति का निर्माण होता है। आज नवीन परिस्थितियों, नवीन वातावरण एवं नव विज्ञान द्वारा प्रभावित संसार को 'नवीन संस्कृति' की आवश्यकता है। अतः नवीन संस्कृति एवं सभ्यता के सृजन के साथ यदि प्राचीन जीर्ण-शीर्ण संस्कृति एवं सभ्यता नष्ट हो रही है, तो क्या बुरा है। कविवर पन्त की यह पंक्तियाँ हमें याद रखनी चाहिए—

हैं सृजन, विनाश सृष्टि के आवश्यक साधन
यह प्राणिशास्त्र का सत्य नहीं जीवन-दर्शन।

सत्य का अन्वेषण भारतीय विचार पद्धति की महानतम विशेषता रही है तथा यह विशिष्टता सार्वजनिक एवं सर्वयुगीन होनी भी चाहिए। वर्तमान विज्ञान भी सत्य के अन्वेषण में निरन्तर प्रयत्नशील है। एक दिन ऐसा आयेगा, जबकि भौतिक ही नहीं; आध्यात्मिक तत्त्वों को भी विज्ञान स्पष्ट कर देगा। न्याय एवं विधान से सम्बन्ध रखने वाले मेरे मित्र गुरुजन इत्यादि क्षमा करें यदि मैं यह कहूँ कि न्यायालयों की अपेक्षा प्रयोगशालाओं में सत्य की समीक्षा का अधिक प्रयत्न किया जाता है। कहा जाता है कि विज्ञान यथार्थ ज्ञान का अनात्म प्रयास है, पर यह भ्रमपूर्ण है, विज्ञान का दार्शनिक तथ्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं, विज्ञान का हृदय की अनुभूतियों से भी सम्बन्ध है।

कहा जाता है कि आज से कुछ सौ वर्ष पूर्व जब इतने Scientific minded विज्ञान हुए न थे, तब हम आज से अधिक सुखी थे। इतनी समस्याएँ न थीं। इतनी कलह एवं रक्तपात न था। पर यह तर्क देने वाले भूल जाते हैं कि आज और तब में अन्तर है। उस समय की जनसंख्या सम्भवतः आज की आधी तिहाई भी न रही होगी। अतः जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ समस्याओं का बढ़ना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। जबकि जनसंख्या बढ़ रही हो, समृद्धि साधन (प्राकृतिक साधन) स्थिर हों, तो जीवन में प्रतियोगिता अनिवार्य रूप से बढ़ेगी। प्रतियोगिता के साथ कलह एवं स्वार्थपरता आयेगी। वर्तमान विज्ञान इन्हीं साधनों को अधिक विस्तृत करने एवं उनसे अधिक उत्पन्न करने का प्रयास कर रहा है। फलस्वरूप यह हमारे विकास-पथ का रोड़ा न बनकर, हमारे विकास की पगडण्डी को राजमार्ग के रूप में परिवर्तित भले ही कर रहा है। रहा यह प्रश्न, उस समय इतना रक्तपात न था। इससे मैं शायद सहमत न हो सकूँगा। यद्यपि यह मैं मानता हूँ कि उस समय इतनी बड़ी संख्या में नरमेध न हुआ होगा। इस रक्तपात और खून खराबी के पीछे जो एक हिंसक मनोवृत्ति, क्रोध का भाव होता है, वह उस समय भी विद्यमान था एवं सम्भवतः आज से अधिक मात्रा में। इस मनोवैज्ञानिक सत्य पर कोई परदा नहीं डाल

सकता। सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ, वैज्ञानिक बुद्धि के सजग होने के साथ-साथ क्रूर हिंसा से लोगों के मन हटते जाते हैं। कठोर अंग-भंग करने वाले दण्ड आज समाप्त हो चुके हैं। मृत्युदण्ड विरोधी आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। एक दलील मैं मान सकता हूँ कि युद्धों की भयंकरता अवश्य वर्तमान वैज्ञानिक साधनों के कारण बढ़ गयी है। पर इसके लिए हमें विज्ञान को दोष न देकर युद्धों के मूल कारण पर विचार करना होगा एवं उन कारणों को नष्ट करना होगा। बिना उन मूल कारणों को नष्ट किये विश्व शान्ति सम्भव नहीं। विचार करने पर ज्ञात होगा कि वास्तव में युद्धों के मूल कारण आर्थिक एवं राजनीतिक होते हैं। निरंकुश शासक, राजनीतिक शक्ति के लोलुप व्यक्ति एवं आर्थिक एकाधिपत्य चाहने वाले पुरुष अथवा राष्ट्र ही भयंकर युद्धों के कारण रहे हैं, एवं रहेंगे। उनकी ही चेष्टाओं एवं कार्यों ने इस धरती को नरक तुल्य बना दिया है। और इसके लिए हमें राजनीतिक एवं आर्थिक वैषम्य को समाप्त करना होगा।

वर्तमान युग में स्वार्थपरता, लिप्सा एवं लोभ आदि भी कुछ अधिक मात्रा में बढ़ गये हैं। पर इसका दोष जो व्यक्ति वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति को देते हैं, वे महान् त्रुटि करते हैं। यह दोष वैज्ञानिक उन्नति का नहीं वर्तमान सामाजिक पद्धति का, पूँजी के वैषम्य का, वस्तु के विषम विभाजन का एवं इस महाजनी संस्कृति का है। समाज में यदि यह पूँजीवाद एवं वर्गभेद समाप्त हो जाये, शोषण की यह सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जाये, तो यह सभी कलुषित मनोवृत्तियाँ स्वतः दूर हो जायेंगी।

वैज्ञानिक उन्नति को संहारकारी बताने वाले याद रखें कि परमाणु शक्ति का जिस प्रकार से हिरोशिमा एवं नागासाकी में प्रयोग हुआ, उसे भी मनुष्य अनेक उपकारक तत्त्व समझता है; एवं वैज्ञानिक इस दिशा में प्रयत्नशील भी हैं। परमाणु शक्ति को एक भिन्न स्रोत के रूप में प्रयोग करने का प्रयास हो रहा है। अभी कुछ मास पूर्व यू.एन.ओ. में किसी ने कहा था कि रूसी वैज्ञानिक पहाड़ों एवं रेगिस्तानों को समतल, उपजाऊ मैदान में परिणत करने की चेष्टा कर रहे हैं। हम अब कल्पना ही नहीं, आशा भी करने लगे हैं कि शीघ्र ही सहारा एवं राजस्थान के वीरान मरुस्थल हरियाली से लहलहा उठेंगे।

यदि कुछ भूले हुए वैज्ञानिक मृत्यु किरणों के आविष्कार में लगे हैं, तो अधिकांश वैज्ञानिक 'विश्व किरणों' (Cosmic Rays) को शक्ति के अनन्त स्रोत के रूप में प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप ही क्षय जैसे असाध्य रोग के लिए वी.सी.जी. वैक्सीन एवं स्ट्रेप्टोमाइसीन आदि आविष्कृत हुईं। पेनसिलिन एवं साल्फ़ा ड्रग्स सामने आयीं। यातायात के सुखद साधन उपलब्ध हुए। प्राचीन समय में, मुहम्मद तुगलक आदि के युग में करोड़ों व्यक्ति दुर्भिक्ष में मर गये; पर उनकी कोई सहायता न कर सका। पर आज इन्हीं साधनों के कारण दुर्भिक्षों की निर्ममता बहुत कम पड़ गयी है। आप पूछ सकते हैं कि फिर बंगाल में हाड़, मांस

एवं मस्तिष्क से युक्त 35 लाख मानव तड़प-तड़प कर क्यों मर गये? पर इसका उत्तर मैं पहले ही दे चुका हूँ। इन सबका कारण आज की पूँजीवादी व्यवस्था है; तथा बंगाल के अकाल की भयंकरता का कारण उचित यातायात के साधनों का युद्ध के कारण उपलब्ध न होना था।

आज तार, टेलीफोन, वायरलेस एवं टेलीविजन आदि के द्वारा मानव एक-दूसरे के निकट आ गया है। निकटता ही घनिष्ठता में परिवर्तित होती है। अतः वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति मानवता के हित में, उसकी सुख-समृद्धि में सहायक ही सिद्ध होती है।

अतः हम सभी को इस शताब्दी के इस महान् विज्ञान को अधिक उन्नत करते हुए मानव को अधिक पूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऊर्मि : अगस्त, 1950

बैसवाड़े का अपूर्व बलिदान : सरेनी गोलीकाण्ड

बैसवाड़े का अपना एक स्वतःपूर्ण इतिहास है। साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कार्यों में वह सदा अग्रगण्य ही रहा। साहित्यिक विभूतियों के रूप में पं. सुखदेव मिश्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं. प्रतापनारायण मिश्र, निराला जी, सनेही जी एवं नन्ददुलारे वाजपेयी प्रभृति महारथियों को उत्पन्न करने का श्रेय बैसवाड़े को ही है। नयी पीढ़ी में भी बैसवाड़े के कई युवक आगे बढ़ रहे हैं। हम आशा करते हैं कि शीघ्र ही ये व्यक्ति हमारे साहित्याकाश के जाज्वल्यमान पिण्ड बनेंगे। राजनैतिक वीर नेताओं के रूप में तो उसने अपना मस्तक सदैव ऊँचा रखा है। सन् 57 के राणा बेणीमाधव सिंह एवं राव रामबख्श सिंह को कौन नहीं जानता। सन् 21 के मुंशीगंज गोलीकाण्ड के गवाह तो आज भी माननीय पं. जवाहरलाल नेहरू हैं! इस लेख में हम ऐसे ही एक अपूर्व बलिदान को पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। खेद है कि आज तक मैंने जितने भी सन् 42 की क्रान्ति के इतिहास देखे हैं, सभी इस बलिदान के प्रति उपेक्षित ही बने रहे। यहाँ तक कि श्री जगनप्रसाद जी रावत तक के इतिहास में (जो 42 का सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास है) इस हत्याकाण्ड का कहीं जिक्र तक नहीं है। पता नहीं रावत जी को इसका पता क्यों नहीं लग सका।

अगस्त सन् 42 के दिन थे। 'भारत छोड़ो' के नारे से गगन गूँज रहा था। समस्त राष्ट्र 'करो या मरो' के मूलमन्त्र से अनुप्राणित हो चुका था। माँ भारती की बेड़ियों को तोड़ने के लिए अगणित युवक आगे बढ़ रहे थे। स्वतन्त्रता देवी के मन्दिर में राष्ट्र प्रार्थना करने को बढ़ चुका था।

स्वाधीनता पक्ष के इस बलिदान में चिर साहसी बैसवाड़ा फिर आगे बढ़ा। सन् 57 के राणा बेणीमाधव सिंह और राव रामबख्श सिंह के प्रिय बैसवाड़े ने एक बार फिर अँगड़ाई ली। क्रान्ति के यज्ञ में उसने अपने नवयुवकों के रक्त की आहुति दी।

9 अगस्त रविवार का दिन था। राष्ट्र के नाविक सींखचों के भीतर पहुँच चुके थे। जिले के भी प्रमुख नेता उसी दिन प्रातःकाल गिरफ्तार किये गये। समाचार तीव्रगामी प्रभंजन की भाँति जिले के सुदूर कोने में स्थित एकाकी ग्रामीण कृषक तक पहुँच गया। हृदय के शीतल पड़ते हुए रक्त में फिर से उष्णता अथवा यों कहिए

उफान आ गया। गाँव की चौपालों में भविष्य की चर्चाएँ होने लगीं। पर एक बात पर सभी एकमत थे कि इस बार ब्रिटिश सत्ता का जुआ उतार फेंका जाये। 11 अगस्त को श्री एमरी के ब्राडकास्ट से पथ-वंचित जनता को एक दिशा—एक प्रोग्राम प्राप्त हो गया। जनता ने समझा तोड़-फोड़ ही आन्दोलन की कार्यविधि है। फिर क्या था, तैयारियाँ होने लगीं।

बैसवाड़े के हृदय में स्थित सरेनी, भोजपुर एवं लालगंज क्षेत्र की जनता ने अपना प्रमुख लक्ष्य नौकरशाही के प्रमुख दुर्ग सरेनी थाना को बनाया। दूसरा लक्ष्य लालगंज का रेलवे स्टेशन था। पर पहले लालगंज स्टेशन पर हमला हुआ। अनिश्चित कार्यक्रम होने के कारण उसमें सफलता नहीं हुई। पर फिर भी ऑफिस के कुछ रजिस्टर आदि फाड़ डाले गये। तार भी काट दिये गये। यहाँ पर थानेदार ने जनता पर फायर भी किया। पर भाग्यवश उससे कोई हताहत नहीं हुआ।

सरेनी थाने पर आक्रमण के हेतु 18 अगस्त मंगलवार का दिन निश्चित किया गया। मंगलवार सरेनी का बाजार दिवस था। सरेनी के एकछत्र नेता श्री सूरजप्रसाद जी त्रिपाठी के नेतृत्व में निहत्थी जनता का एक जुलूस थाने पर अहिंसात्मक अधिकार, अपने नेताओं की आज्ञानुसार करने चला। तत्काल ही छोटे थानेदार श्री बहादुर सिंह जी ने त्रिपाठी जी को बन्दी बना लिया। अपने प्रिय नेता को इस प्रकार बन्द होते देख कर जनता क्रोध में बौखला उठी और उसने थाने पर आक्रमण कर दिया। थाने के अधिकारियों ने निहत्थी जनता पर गोलियाँ बरसाईं। पर वाह री! जनता गोलियों की बौछार की परवाह न करती हुई अपने कुछ साहसियों के नेतृत्व में वह बराबर फाटक की ओर अहिंसात्मक ढंग से बढ़ रही थी। पर एक, दो, तीन, चार, पाँच इसी भाँति सात-सात व्यक्ति स्वतन्त्रता देवी के अर्चन हेतु शहीद हो गये। अब जनता का धैर्य छूट गया। यद्यपि इस समय तक थाने की मैगजीन का स्टाक भी समाप्त हो चुका था। पर अपने नेताओं के इस प्रकार असमय ही शहीद हो जाने के पश्चात वह निरक्षर एवं निहत्थी जनता भागने लगी। पर इन सात ग्रामीण नेताओं की शहादत इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों से लिखने योग्य है। इतिहास लिखे या न भी लिखे पर जनसमूह के हृदय में इन वीरों का इतिहास रक्ताक्षरों से अंकित है। खेद है कि जनप्रिय सरकारों के पदारूढ़ हो जाने के पश्चात भी इन व्यक्तियों के दुखी परिवारों को सम्भवतः आज तक कोई सान्त्वना देने भी नहीं पहुँचा; और पहुँचे भी कहाँ से, जिले के नेताओं को आपसी दलबन्दी एवं पदलिप्सा से इतना अवकाश कहाँ कि वहाँ तक पहुँच सकें।

इस गोलीकाण्ड के पश्चात भी सूरजप्रसाद जी त्रिपाठी के साथ अति अमानवीय व्यवहार किये गये। उन्हें बुरी तरह पीटा भी गया।

इस नरमेध के पश्चात दमन का वही चक्र यहाँ भी चलाया गया, जिससे एक बार सम्पूर्ण देश काँप उठा था। लोग महीनों ज्वार के खेतों में पड़े रहे! एक

साधारण-सा सिपाही भी यदि पहुँच जाता, तो गाँव में तहलका मचा देता। निर्दोष व्यक्तियों को साढ़े सात-सात साल की सजा दी गयी। राष्ट्रीय सरकार स्थापित होने के पश्चात वे लोग छूट-छूट आये। कितने ही इज्जतदारों की इज्जत धूल में मिला दी गयी। सम्मानित एवं शरीफ व्यक्तियों को बुलवा कर थाने में मेहतरों द्वारा जूतों से पिटवाया जाता; फिर उनसे मनमाना रुपया वसूल कर छोड़ा जाता। बहू-बेटियों का रास्ता चलना कठिन था। थाने के सामने से निकलना दुरूह था। बिना सलाम किये तो कोई जा ही नहीं सकता था। कहते हैं कि साधारण सिपाहियों ने 2-2 हजार रुपये वसूल किये। सामूहिक जुर्माने भी किये गये। बाद में श्री उमाशंकर जी पाण्डेय के स्तुत्य प्रयत्नों से यह दमनचक्र शान्त हुआ। जनता ने कई महीने पश्चात सुख की साँस ली।

यही है बैसवाड़े का अपूर्व बलिदान सरेनी गोलीकाण्ड। मेरी जिले के नेताओं से विनम्र प्रार्थना है कि वे उन शहीदों को न भूल जायें जिनकी बदौलत उस उच्चासन पर आसीन हैं। उन शहीदों के परिवारों की ओर भी दृष्टि फेरें। शहीदों की स्मृति को चिरस्थायी बनाने में वे अपने कर्तव्य की ओर भी ध्यान दें। हमें इस गोलीकाण्ड पर सदा गर्व रहेगा। हमारे इतिहास की यह विभूति है।

साहित्य : 27 अगस्त, 1950

बैसवाड़े का संक्षिप्त इतिहास

'बैसवाड़ा' रायबरेली और उन्नाव दो जिलों के अधिकांश को मिलाकर बनता है। लगभग 60 या 65 मील लम्बे और 30-35 मील चौड़े क्षेत्र में यह फैला हुआ है। 'बैसवाड़े' का भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी की एक शाखा 'बैसवाड़ी' इसकी प्रमुख भाषा है।

बैसवाड़े में जैसा कि नाम से ज्ञात होता है बैस ठाकुरों (बैस) का प्राधान्य है। बैसवाड़े के प्रमुख स्थान इन्हीं बैस ठाकुरों के बसाए एवं उन्नत किये हुए हैं। बैस ठाकुर ही अधिकतर जमींदार एवं तालुकेदार हैं, जिनमें से प्रमुख राजा साहब मुरारमऊ, राना साहब जजूरगाँव आदि हैं। यहाँ के एक तालुकेदार लाल सुरेन्द्र बहादुरसिंह कांग्रेस एम. एल. ए. भी हैं।

सदैव से देशभक्तों, दिलेरों एवं साहित्यिकों की जन्मभूमि रहा है। बैसवाड़े को महात्मा गाँधी, पं. जवाहरलाल नेहरू, विनोबा भावे ने अलंकृत किया है। यहाँ की सामाजिक दशा पहले अच्छी नहीं थी। रूढ़िवादिता का बोलबाला था। यहाँ स्त्रियों पर बन्धन है। आज भी औरतें पर्दे में सड़-सड़ कर मर जाती हैं। पुरुष वर्ग स्त्री जाति के लिए निर्दय और कठोर है। स्त्री किसी मर्ज से पीड़ित है, पुरुष परवाह नहीं करता। पुरुष के स्त्री-जाति पर जुल्मों की कहानी कहाँ तक कही जाये। ब्राह्मण यहाँ तक कहते पाये गये हैं—'मेहरिया तो पायन कै पनही आय, जब चाहे तब उतारि लेव और पहिरि लेव'। इधर कुछ दिनों से अब कहीं-कहीं लड़कियों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाने लगा है और शायद कुछ दिनों में और दकियानूसी विचारों के बड़े-बूढ़ों के न रहने पर इस क्षेत्र में स्त्री जाति के साथ न्याय हो।

खेती के सिवा यहाँ अन्य कोई रोजगार नहीं। मिल तथा कल-कारखाने न होने से मजदूर वर्ग बड़े शहरों में चला गया है, इसलिए अब मजदूरों के अभाव में खेती भी अच्छी नहीं होती। यही कारण है कि बैसवाड़े में अन्न का उत्पादन काफी कम हो गया है। कपड़ा, गल्ला तथा अन्य चीजों का जो थोड़ा-बहुत व्यापार होता है; वह सब प्रायः ब्राह्मणों के हाथ में है। और ये ब्राह्मण बनियों से भी अधिक बेईमान हैं। अब तो ब्राह्मण जमींदार भी हो गये हैं और ये क्षत्रियों से भी अधिक

क्रूर हैं। रायबरेली और उन्नाव के बीच मिलों तथा कारखानों की आवश्यकता है। हमारा ख्याल है कि सरकार की ओर से भी इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। कृषि प्रधान होने के कारण यदि कपास की खेती को प्रोत्साहन दिया जाये, तो यहाँ एक-दो कपड़े की मिलें हो सकती हैं; गन्ने की खेती बढ़ाई जाये, तो शक्कर की मिलें हो सकती हैं। अगर तालुकेदारी से हाथ धोने के बाद तालुकेदार अपने मुआवजे की रकम इस काम में लगा दें, तो उनके धन का ही सदुपयोग हो जाये और निर्धनता भी मिट जाये। चूँकि कानपुर से रायबरेली के लिए चौबीस घण्टे में एक ही बार ट्रेन का आवागमन है; इसलिए भी यह क्षेत्र व्यापार व्यवसाय में बहुत पिछड़ा हुआ है। इतने बड़े भूभाग में एक भी बड़ी और पक्की सड़क नहीं। कानपुर से रायबरेली तक जो सड़क बनाई गयी है, वह इतनी गयी-गुजरी है कि उस पर आसानी से बसों या ट्रकों का आवागमन नहीं हो सकता। यातायात की असुविधा इस क्षेत्र को और भी पीछे घसीटे हुए है। राजनीतिक कार्यों में भी यह क्षेत्र उतना प्रगतिशील नहीं है। भले ही इसी भूमि के पं. रविशंकर शुक्ल और पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र मध्य प्रान्त के प्रधानमन्त्री और गृहमन्त्री हों, पर वे अपनी जन्मभूमि के लिए किस काम के हैं। ऐसे ही अनेक योग्य व्यक्ति बाहर चले गये हैं। गाँवों में शायद ही कोई योग्य व्यक्ति रह गया हो। यही कारण है कि बैसवाड़े के गाँव बहुत पिछड़े हुए हैं। हम यह मानते हैं कि भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने में बैसवाड़ा किसी से पीछे नहीं रहा—सन् 1857 से अब तक बड़ा त्याग और कुर्बानी की गयी है; किन्तु स्वाधीनता की झलक शायद ही किसी गाँव में देखने को मिले। बैसवाड़े की शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उन्नति करने की बहुत बड़ी समस्या है। निकट भविष्य में पंचायती राज होगा, लेकिन बैसवाड़ा अपनी वर्तमान दयनीय दशा में शायद ही पंचायती राज्य का सुख उपभोग कर सके। सरकार को इस भूभाग के हर पहलू पर विशेष ध्यान देना होगा। जमींदारों की संख्या अधिक होने से पंचायत राज्य का सुचारु रूप से संचालन भी टेढ़ी खीर है। अगर जमींदारों ने अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन न किया, तो उनकी जमींदारी छिन जाने पर उल्टा ही परिणाम होगा। अतः बहुत भय है कि ये जमींदार अपने साथ सारे बैसवाड़े को न ले डूबें। समझदार जमींदारों को अपनी जमींदारी का मोह छोड़कर अपने पूर्वजों के आदर्श पर चलकर गाँवों की सुख-शान्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी में बैसवाड़े की उन्नति और समृद्धि है।

बैसवाड़े की पावन भूमि में आज के कई धुरन्धर राजनीतिज्ञ भी उत्पन्न हुए हैं। मध्य प्रान्त के प्रधानमन्त्री माननीय पण्डित रविशंकर शुक्ल एवं गृहमन्त्री पण्डित द्वारिका प्रसाद मिश्र को पैदा करने का गौरव बैसवाड़े ही को है।

बैसवाड़े के एक और सुप्रसिद्ध रूप को कविवर श्रीयुत ओंकारनाथ जी पाण्डेय ही के शब्दों में पढ़िए—

तोता मैना आहिन ना
पढ़ै कहौ कइसे पढ़ी।
खोपरी खपोवे का,
रटबु जाय भारे माँ।।
खेती पाती करै कौन
काजु काछी कुरमिन क्यार।
बनिया न बाटू,
पेरे को कवारे माँ।।
चारि मास आम खाव,
चार अँठुली चबाव।
चारि मास बीत जइहें,
ससुरारि के सहारे माँ।।
करित नाहीं ठठ्ठा,
हम घोटित सिलबट्टा।
बातैं गढ़ित गट्टा ऐसी,
रहित बैसवाड़े माँ।।

यही है जग जाहिर जहान में बैसवारे का संक्षिप्त परिचय। 'जय बैसवारा'

—जय-हिन्द

दैनिक विश्वमित्र : दिसम्बर, 1950

दीप जलाकर बुझा न देना

यह पंक्ति सम्भवतः किसी फिल्म की है। मैं फिल्मों एवं उनके गीतों का प्रेमी नहीं, बल्कि किसी हद तक उनके स्तर से घृणा करने वाला हूँ; पर पता नहीं क्यों, गीत के इस पद को मेरे हृदय ने अनजाने ही स्वीकार कर लिया। बहुधा गुनगुना उठता था—दीप जलाकर...

बातचीत के सिलसिले में एक मित्र ने कहा—भाई विजयपर्व समाप्त हो गया, दीपावली का ज्योतित उत्सव भी निकट आ गया...बात उन्होंने समय गुजरने की रफ्तार पर कही थी, पर अचानक ही मन के रागात्मक तारों ने इस ज्योति पर्व का सम्बन्ध गीत की इस कड़ी से जोड़ लिया। लगा कि यह पंक्ति भी कुछ सन्देश दे रही है, किसी लक्ष्य की ओर इंगित करती हुई किसी मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दे रही है। आप लोगों के बारे में नहीं जानता, पर मुझे तो इस पंक्ति से एक प्रकाश अवश्य मिला।

हाँ, तो इस पंक्ति के दो विभाग हैं—एक विभाग दीप के जलने का एवं दूसरा उसे बुझने से बचाने का। एक भाग कर्म में प्रवृत्त करता है, दूसरा उस कर्म में सतत क्रियाशील रखता है। इस प्रकार सफलता की दोनों दिशाओं—प्रवृत्ति और गति—को साथ लेकर यह पंक्ति चलती है।

हम लोगों ने भी कुछ दीप जलाए हैं, कुछ जलाने की तैयारी में हैं एवं कतिपय दीपों को जलाने की सोच रहे हैं। हमने स्वतन्त्रता के दीप जलाए हैं, सामाजिक पुनर्निर्माण का दीप जलाया है, आर्थिक एवं सामाजिक स्वातन्त्र्य तथा साम्य के दीपक जलाने का व्रत लिया है। साहित्य एवं संस्कृति का वह ज्योति स्तम्भ हमें आलोकित करना है, जो जल, थल एवं वायु में प्रकाश दे सके। भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास की दिशा में उन्मुख कर सके मनुष्य को। हमें मानव के दिग्भ्रमित मानवत्व को दिशा-निर्देशन देने के लिए दीप जलाना है। व्यक्ति-मानव की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए प्रकाश-रश्मियाँ विकीर्ण करनी हैं। ध्यान रहे इसका खण्डित तथा एकांगी विकास नहीं पूर्ण विकास करना है। तेजस्वी वदान्य, गम्भीर तथा उदात्त सामाजिक मन को जाग्रत करना है। आज संस्कृति, समाज एवं साहित्य—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक गतिरोध उत्पन्न हो गया है। हम न तो भली भाँति प्राचीन

को त्याग सके, न सम्यक् रूप से नवीन को ग्रहण ही कर सके हैं। चिरन्तन एवं चिरनूतन का समन्वय हमसे नहीं हो सका। इन दीपों के आलोक में हमें इस गतिरोध को समाप्त करना है।

पर हमें भूलना नहीं है पंक्ति का दूसरा ही भाग है कि प्रदीप्त दीप बुझने न पाये। उसे झकोरों से सुरक्षित रखना है; प्रभंजन ग्रसित होने से बचाना है। इतना ही नहीं, गीतकार की वाणी के सहारे हम थोड़ा-सा आगे बढ़े। यह भी देखना है कि दीपक के तले ही अँधेरा न हो जाये। कारण, उसके प्रकाश में हमें आत्म-निरीक्षण करना है। यदि हम आत्म-निरीक्षण न कर सके, तो हो सकता है कि हमारे भीतर भी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ ही इन दीपों के बुझाने का कारण बन जायें।

सामाजिक वातावरण में आज एक शून्य उत्पन्न हो गया है। नैतिक दृष्टि से हम पतित हो गये हैं। इन दीपों के प्रकाश में हमें देखना है कि यह परिस्थिति क्यों? पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से धर्म पर से विश्वास उठने के साथ-साथ धार्मिक नैतिकता भी प्रायः समाप्त हो गयी है। दूसरी ओर स्वाधीन चिन्ता के अभाव एवं अविद्या के कारण हम नयी सामाजिक एवं आर्थिक नैतिकता की स्थापना न कर सके। यहीं पर एक शून्य की उपस्थिति हो गयी, जिसने हमें गिरफ्तार कर पतन की ओर उन्मुख किया। आज की प्रत्येक समस्या के मूल में किसी न किसी रूप में हमें यही तथ्य विद्यमान मिलेगा। पर इस प्रकाशपूर्ण दीपों के आलोक में हमें फिर से एक स्वस्थ नैतिक वातावरण का निर्माण करना है। इस शून्य को एक उद्‌बुद्ध सामाजिक चेतना से भरना है।

इस उद्‌बुद्ध चेतना के आनन्द में आज मैं कुछ कल्पना-प्रिय हो उठा हूँ। उपरिलिखित पंक्ति द्वारा प्रदीप्त चित्र सिनेमा स्लाइड्स की भाँति मेरी आँखों के सामने गुजर रहे हैं। वह देखो वैदिक युग है, श्रुति मन्त्रोच्चारण हो रहा है, सामगान से दिशाएँ गूँज रही हैं। क्षत्रिय वीर अपने चपल तुरंगों पर पवन से बातें कर रहे हैं। प्रत्येक दिशा एक पावनता का अनुभव कर रही है। उपनिषद् तत्त्व-चिन्तकों के चिन्तन के फलस्वरूप निर्मित हो रही है। अध्यात्म चिन्तन अपने चरम बिन्दु तक पहुँच जाता है। श्रद्धा और तर्क-मस्तिष्क और हृदय, अनुभूति एवं विचार समन्वित हो उठते हैं। पाठक अपने कल्पना-चक्षुओं को तनिक उतार कर देखें, अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ परस्पर डटी हुई हैं और मध्य में एक विशाल उतुंग रथ पर कपिध्वज कौन्तेय को योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण फल से अनासक्त कर्म का उपदेश दे रहे हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि।

तथा साधन एवं निष्ठा की परा कोटि की स्थिति को पहुँचे हुए व्यक्ति स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

एवं अन्त में सब कुछ छोड़ कर अपनी शरण में आने का आदेश दे रहे हैं–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

महाभारत की ही बात है, जब उसने उच्च स्वर में मनुष्य की महत्ता को घोषित किया था–

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि,
न मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।

मैं स्पष्ट देख रहा हूँ इतिहास के सबसे महान् कूटनीतिज्ञ और ब्राह्मण श्रेष्ठ चाणक्य की शिखा को एवं उस दृश्य को, जो नन्द के अत्याचारी शासन को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा करता है। और यह है प्रियदर्शी देवानांप्रिय अशोक महान्, जिसका धर्मचक्र सुदूर देशों में भी अनवरत गति से घूम रहा है। सुदूर देशों का ही प्रसंग आ गया तो एक बार बृहत्तर भारत की कल्पना कर ली जाय। गोवी के मरुस्थल से कम्बोडिया, स्याम, सुमात्रा एवं यवन द्वीप (जावा) तक विजयिनी भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण वैभव के साथ व्याप्त है। रामकथा अवध और चित्रकूट में ही नहीं, बृहत्तर भारत में भी फैली हुई थी। याद आती है शालिवाहन विक्रमादित्य की, जिसने एक दिन हूणों की दुर्जेय वाहिनी को कँपा दिया था। लोक जीवन के आदर्श वीर आल्हा-ऊदल की तलवार भी स्मरणीय है, जिसने 'जगनिक' की वाणी में कहा था–

सदा तोरइयाँ न बन फूलें, साथी सदा न सावन होय?
सदा न भाता उर मैं धरिह, यारो सदा न जीवन होय।

यहीं पर हमें उस अन्तिम हिन्दू सम्राट चौहान पृथ्वीराज और उस थानेश्वर की याद में दो आँसू बहा लेने हैं, जहाँ पर कि हमारी स्वतन्त्रता का सूर्य एक सहस्राब्दी के लिए अस्त हुआ था। एक गौरवपूर्ण पृष्ठ मैं छोड़े जा रहा हूँ, जिस पृष्ठ ने हमारी सांस्कृतिक परम्परा एवं जाति को जीवित रखा। विश्व के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक शंकराचार्य, भारत के महानतम साधक गुरु गोरखनाथ, मध्ययुग का वह अप्रतिम तेजस्वी एवं फक्कड़ व्यक्ति कबीर, प्रेमी सूर तथा साधक, भक्त, सुधारक, उपदेशक, ज्ञानी, एवं नेता के समन्वित रूप गोसाईं तुलसीदास हमारे उन प्रकाशस्तम्भों में हैं, जो युग-युग तक प्रकाश देंगे। यह दिल्ली और आगरा है, मुगलों के अन्तिम वैभव के मूर्तिमान स्वरूप, जिनके लिए छन्दकार कह उठा था–

अगर पृथ्वी में कहीं स्वर्ग है, तो वह यहीं है, वह यहीं है, वह यहीं है।

यहीं पर स्थित है शाहजहाँ के अमर प्रेम का प्रतीक 'ताजमहल' जिसके लिए आप भी चाहें तो श्रीमती सरोजिनी नायडू के इस कथन को याद कर सकते हैं–
Taj Mahal was built upon bones of beauty which were once alive.

यह प्राचीन वैभव हमारे जीवन में घुल-मिल गया है। वह देखो, उस दृश्य के प्रतीक अंकोरवट एवं बोरी बुदुर अभी जयघोष कर रहे हैं उस संस्कृति का।

कालिदास के मेघदूत के चन्द्राकान्ता की मन्द-मन्द स्वर-लहरी आज भी हमें रसाप्लवित कर रही है। माघ की सौन्दर्य परिभाषा अपने स्थान पर आज भी श्रेष्ठ है–

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः।

अजन्ता, एलोरा, एलीफेंटा की गुफाएँ; तंजौर, भुवनेश्वर और खजुराहो के मन्दिर आज भी हमारी कीर्ति की गाथा गा रहे हैं। लिच्छवी गणतन्त्र की वैशाली के खँडहर आज के जनतन्त्र की परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ने की क्षमता रखते हैं। सारनाथ और कौशाम्बी के अवशेषों से भगवान अमिताभ बुद्ध की वाणी यदि सुन सकें तो सुन लीजिए। यह है अपना स्वर्णयुग गुप्तकाल। शारदीय ज्योत्स्ना की रजत आभा में मगध के केलि-उद्यानों के रूप-गर्वित अनिंद्य सुन्दरियों के उत्तरीय लतावेष्ठित कुंजों में उलझ रहे हैं। मृगायत लोचन मदसिक्त हो उठते हैं। चतुर्दिक् एक आमोद मण्डित प्रसन्न वातावरण छाया हुआ है। उज्जयिनी और कान्यकुब्ज के सौध-प्रासादों के गवाक्ष भी भुलाने योग्य नहीं। कालिदास और बाणभट्ट के काव्य-स्थल भी यहीं कहीं मिल जायेंगे। स्कन्दगुप्त क़ी वह भीषण हुंकार अभी भी हमारे मुँदे कानों में उत्साह एवं शौर्य का मन्त्र फूँक सकती है, तिलक, गाँधी, विवेकानन्द, रवीन्द्र और अरविन्द इस बात के प्रमाण हैं कि हममें अब भी पौरुष शेष है।

सन्तवाणी, जिसने जाति की जाति को उठा कर खड़ा कर दिया है, मूक वाचाल बन गया, पंगु दुर्गम पर्वतों पर चढ़ने लगा जिसके प्रभाव से। विश्वास न होता तो युग-युग प्रपीड़ित एक-एक किसान से पूछ लीजिए; मजदूर से पूछ लीजिए; किसी कारीगर अथवा अकिंचन से पूछ देखिए; आपको चारों ओर एक चेतना के जागरण का अनुभव होगा। जिसका 'करो या मरो' का सन्देश चेतन, अचेतन तथा अवचेतन के सभी स्तरों को पार करता हुआ अभ्यन्तर तक प्रविष्ट हो गया होगा। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के समुन्नत स्वरूप का समन्वित रूप कला गुरु रवीन्द्र का काव्य हमें सदैव जीवन की ओर उन्मुख करता रहेगा। भारतीय मनीषी की यह पंक्तियाँ भारत की कितनी सत्य और सुन्दर परिभाषा करती हैं–

हे मोर चित्त, पुण्यतीर्थे जागो रे धीरे
एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे

प्राचीन की इतनी व्याख्या का तात्पर्य यह नहीं कि मैं प्रत्यावर्तनवादी हूँ। मेरा उद्देश्य है केवल परम्परा का अपना उत्तराधिकार दिखा कर उससे सम्बन्ध बनाये रखना; क्योंकि परम्परा से विच्छिन्न होकर हम जीवित नहीं रह सकते। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि अब हम शक्तिहीन हो गये हैं।

अस्तु, हमारे दीप महान् लक्ष्य की प्राप्ति के महान् साधन हैं। ये अनन्त प्रकाश असीम प्रेरणा हमें देते रहें।

दैनिक विश्वमित्र : 1950

कला और जीवन

'सौन्दर्य से हमें प्रेम होता है, प्रेम मानवता का मूल्य है, कला मानवता का विकास है, सौन्दर्य और प्रेम उसके श्रेष्ठ शृंगार हैं। कला हमारी सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की उपासना की परिचायिका है।'

संक्षेप में उपरोक्त उद्धरण में ही कला का आदर्श उद्देश्य, उसका स्वरूप एवं जीवन, सौन्दर्य, प्रेम तथा मानवता के साथ उसका सम्बन्ध निहित है। पर हमें यहाँ थोड़ा विस्तार के साथ कला की उत्पत्ति, उसके स्वरूप एवं जीवन की कला में अभिव्यक्ति पर विचार करना है।

यों तो काव्यादि की भाँति कला की परिभाषा के विषय में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद रहा है। पर अब यह सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य-सा है कि 'अनुभूति की अभिव्यक्ति ही कला का रूप धारण करती है।' वास्तव में मानव की प्रवृत्ति आनन्द एवं सौन्दर्योन्मुखी है। प्रकृति सौन्दर्यमयी है। मानव ने शुरू-शुरू में जिस समय चेतना प्राप्त करके चतुर्दिक् विकीर्ण निसर्ग सुषमा को निहारा, तो उस पर विमुग्ध होकर किसी से कहने के लिए व्याकुल हो उठा। यही स्वभावजात व्याकुलता कला के रूप में विकसित हुई। पर उसे उस युग में भाषा का वरदान प्राप्त न था, अतः वह इंगितों आदि स्थूल उपायों से अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता था। पर शनैः-शनै : प्रगति की ओर अग्रसर होती हुई मानव-बुद्धि ने अधिक सुगम एवं सुबोध अभिव्यक्ति की शैलियों का आविष्कार किया। इस प्रकार बाह्य जगत का अपने ऊपर अंकित प्रभाव को अभिव्यक्त करने की स्वभावसिद्ध प्रेरणा से मानव ने अभिव्यंजना के अनेक ढंग आविष्कृत किये। इनमें मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य आदि प्रधान हैं। अभिव्यंजना की इन्हीं शक्तियों को कला की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार विचार करने पर ज्ञात होता है, अभिव्यंजना ही कला है एवं इस अभिव्यंजना की जननी अनुभूति है। भिन्न-भिन्न प्रभाव चित्रों के ग्रहण और उनके अभिव्यंजित करने में कोई विषय-भेद नहीं है। अतः अनुभूति ही कला का मूल बीज है। अनुभूति के भी मूल में मानव की सौन्दर्य खोजी प्रवृत्ति है। इसीलिए कला की दृष्टि सौन्दर्य-विधायिनी है।

कला का उद्देश्य

कला का उद्देश्य स्पष्टतः सौन्दर्य विधान एवं रस की सृष्टि करना है। कला के कुछ विचारकों में ऐसे भी हैं, जो सुनीति पृष्ठपोषक हैं : वे कहते हैं कि कला का एकमात्र उद्देश्य है—कला का आदर्श उपस्थित करना। किंतु आदर्श कभी एक विन्दु पर स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं है। भिन्न युगों के भिन्न आदर्श होते हैं। आदर्श परिवर्तनशील हैं। नैतिक मूल्यों में सदा परिवर्तन होता आया है। किसी युग में दास प्रथा नैतिक दृष्टि से मान्य थी, पर आज अमान्य। अतः किसी नैतिक मूल्य अथवा आदर्श से उसको बाँध देना कला का शाश्वत गुण ही नष्ट करना है। कलाकार की तो सफलता तभी है—जब उसकी कला का रूप चिरन्तन होते हुए भी चिरनूतन हो। वह देश और काल की सीमा के परे हो। कलाकार की आत्मा, उसकी अभिव्यक्ति नीति या आदर्श के रटे-रटाए वाक्यों के नीचे नहीं दबाई जा सकती। तभी तो कहा गया है 'निरंकुशाः कवयः'। कला का मूल उत्स आनन्द है। जो सुन्दर है, उसमें सत् है, असत् कभी सुन्दर नहीं हो सकता; और जो सत् है, उसमें शिवत्व का होना अनिवार्य है। इतना ही कला का नीति के साथ सम्बन्ध है। यों कला न सुनीतिमूलक है और न दुर्नीतिमूलक। कला की दृष्टि से नग्न सौन्दर्य बुरा नहीं माना जाता। पुरी के मन्दिर की मूर्तियाँ अथवा अजन्ता के चित्र हममें वासना को उद्बोधित नहीं करते। कलाकार कैलडेरन का एक चित्र है 'प्रोवेश देश का गुलाब'; इसमें नारी की अपूर्व रूप माधुरी व्यक्त की गयी है, इसके सिवा उसमें कोई नैतिक आदर्श नहीं, फिर भी उसके सौन्दर्य के विकास पर मुग्ध होकर हम आनन्द प्राप्त करते हैं। पर यह नग्न चित्र हमारे मन में वासना की एक धूमिल रेखा भी नहीं बनने देता। शिशु की नग्नावस्था जिस प्रकार पावनता का अतिक्रमण नहीं करती, उसी प्रकार कलाकार की सौन्दर्य सृष्टि भी सत्य और पवित्र होती है। टॉल्सटाय ने लिखा है—"The aim of Arts is beauty that beauty is recognised by the enjoyment it gives, that artistic enjoyments is a good and important thing because it is enjoyment."

वास्तविक कला कभी अशिव नहीं होती। वह तो व्यक्ति के सबल सत् पक्ष एवं दुर्बल असत् पक्ष दोनों को उपस्थित करती है। जीवन में पतन होता है, इसीलिए उत्थान की महत्ता है। दिन के मानी रात और दिन दोनों हैं। कलाकार वस्तु को खण्ड-खण्ड करके नहीं देखता। उसे वह सम्पूर्ण रूप में ही चित्रित करता है। पूर्णता में ही उसकी महत्ता एवं सार्थकता भी है। डॉ. सत्येन्द्र ने लिखा है—

'कला का मर्म नाम और रूप में नहीं, वरन् नाम और रूप को सौन्दर्य प्रदान करने वाले उस मौलिक तत्त्व में है, जो विश्लेषण से बिखर जाता है, पर संश्लिष्ट सृष्टि में झलकता है।'

यों प्रत्येक व्यक्ति कलाकृति को विभिन्न रूपों में देख सकता है। जैसा कि गीता

में भगवान कृष्ण ने कहा है—'ये यथा मां प्रपद्यते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' जो कलाकृति को जिस भाव से देखेगा, वह उससे उसी कोटि या प्रकार का आनन्द प्राप्त करेगा। पर मूल रूप से कला का उद्देश्य आनन्ददान है। आनन्द का जन्मदाता है रस, रस की सृष्टि करती है 'कला'। वास्तव में शिवत्व को अंगीकार करके कलात्मक सत्य को अभिव्यक्ति करने में ही उसकी सार्थकता है।

कला में जीवन

इस विवेचन से कोई यह न समझे कि कला जीवन से दूर हटकर केवल कल्पना के सुन्दर लोक में भ्रमण करती है। कला का जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है। वे जुड़वाँ भाई-बहन के समान हैं। ईश्वर ने पृथ्वी पर जीवन सलिल की धारा बहाई, एवं उस धारा ने जब अपने को भाव-तरंग संकुल बनाया तो कला का विकास हुआ। यही चोली-दामन का सम्बन्ध है कला और जीवन में। सच पूछो तो आज यह विश्लेषण करना कठिन हो जाता है कि जीवन कलामय है अथवा कला जीवनमय। चाहे यह कहें कि सौरभ का उद्यान आया, तब फूल विहँसा अथवा फूल विहंसा; तो सुरभि की गाँठ खुली। पर आज दोनों रूप प्रतिरूप से ज्ञात होते हुए भी नितान्त अन्योन्याश्रित नहीं हैं। दोनों में पूर्वापर का सम्बन्ध है। पहले जीवन विकसित हुआ तब कला की उत्पत्ति हुई। जीवन और कला काया छाया हैं। पहले काया है, पीछे छाया। छाया के लिए काया अनिवार्य है। अतः कला के लिए जीवन अनिवार्य है। कला की सबसे बड़ी उपयोगिता है—कर्म कोलाहलमय जीवन को सबल, सरस एवं प्राणवान बनाना।

कला और जीवन के सम्बन्ध को हम दूसरी तरह भी देख सकते हैं। हमारे सरस अनुभव जो कला में व्यक्त होते हैं, बहुलांश में जीवन-सम्बन्धी ही होते हैं। एक अंग्रेज विचारक का कहना है : 'हमारे जीवन-सम्बन्धी अनुभव ही काव्य और कला में व्यक्त होते हैं।' अतः जीवन और उसकी समस्याओं की कलाकार कभी उपेक्षा नहीं कर सकता। पाश्चात्य विद्वान टैकवेल, वर्गसाँ आदि ने कला को दर्शन और धर्म के समकक्ष माना है। दर्शन एवं धर्म का भी उद्देश्य मानव-जीवन की समीक्षा, उसकी उन्नति एवं उसे पूर्णता की ओर अग्रसर करना है। अतः कला का भी उद्देश्य जीवन को पूर्णता प्रदान करना ही है। एक जर्मन विद्वान ने तो यहाँ तक कहा है—'Philosophy conceives God, Art is God.' अतः इस दृष्टि से भी कला एवं जीवन परस्पर गुँथे-से दिखाई देते हैं।

कला की आत्मा है सौन्दर्यानुभूति। इस विश्व का कण-कण सुन्दर है, बशर्ते कि उसका बोध करने वाला रसग्राही हृदय एवं बुद्धि हो। यहाँ जीवन सुन्दर है; मरण भी असुन्दर नहीं; सुख-दुःख सुन्दर है। सुन्दर तो सुन्दर है ही, हमारे रसशास्त्रियों ने

बीभत्स को भी सुन्दर माना है। अतीत की स्मृतियाँ मधुर होती हैं और भविष्य की कल्पना के तो कहने ही क्या। कवि ब्राउनिंग ने कहा है—

O world! as God has made it, all is beauty.

वास्तव में हमारा जीवन सतत सौन्दर्य की साधना में प्रयत्नशील रहता है। ईश्वर ने चाहे हमें जैसा बनाया हो, पर हमारी चेष्टाओं का अन्त नहीं होता कि हम सुन्दर प्रतीत हों। सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ हम अधिकारिक सौन्दर्योपासक होते जा रहे हैं। जिस कक्ष में हम रहते हैं, उसे सजाते हैं। दाल में हल्दी डालकर उसे सुन्दर रूप देते हैं। सौन्दर्य प्रसाधन तो अब इस शताब्दी में सम्भवतः शीघ्रता से गिने भी नहीं जा सकते। इस प्रकार इस सौन्दर्य-साधना को हम जीवन से अलग करके देखें, तो जीवन का रूप ही अस्पष्ट हो उठेगा। जिस प्रकार दीपक से प्रकाश को अथवा पुष्प से सुरभि को अलग करके नहीं देखा जा सकता, वही हाल हमारी सौन्दर्यप्रियता एवं जीवन का है। वास्तव में देवेन्द्र सत्यार्थी जी ने सत्य ही लिखा है 'सौन्दर्य बोध ही आनन्दबोध है'। श्री हंसकुमार तिवारी ने भी एक स्थल पर लिखा है कि सौन्दर्य से मानव प्रभावित होते हैं, अभिव्यक्ति उनका स्वभाव है। अतः कला का जीवन से गहरा सम्बन्ध है। सौन्दर्यबोध मानव का स्वभाव है एवं स्वभावों की समष्टि ही जीवन का परिचय देती है। इसी मनुष्यगत स्वभाव को लक्ष्य करके ही तो राजर्षि भर्तृहरि ने लिखा है—

साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

दुर्भाग्यवश साहित्य के क्षेत्र में कला को लेकर कई वाद-विवाद चल पड़े हैं। एक कहता है कला कला के लिए, तो दूसरा हाथ लगाता है नहीं—'कला जीवन के लिए।' पर शुद्ध दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि कला की सीमा इतनी संकुचित नहीं। दोनों सिद्धान्तों का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। चित्रकार अपनी तूलिका द्वारा आनन्द एवं सौन्दर्य की महत्तम अनुभूति को चित्र में प्रतिष्ठित करता है। साहित्य में इन्हीं अनुभूतियों का परिमल प्रस्फुटित होता है। अतः जो भाव जिस मूर्ति के सहारे उद्भावित होते हैं, उनका यथार्थ स्थान भी वही है। वह मूर्ति से विलग नहीं किया जा सकता। इतनी ही 'कला के लिए कला' (Art for art's sake) की सार्थकता है और यही उसका अर्थ है।

अंग्रेजी की एक कविता 'Solitude of Alexander Selkirk' मैंने पढ़ी थी। दुर्भाग्य ने अलेक्जेण्डर सलकर्क को एक जन-मानव हीन द्वीप में पहुँचा दिया था। पक्षी उनके पास आकर विस्मय से मौन हो जाते, हिंस्र जीव हिंसा भूल जाते; किन्तु यह जीवन कितना नीरस एवं निरानन्द था। कवि ने लिखा है—

Society, friendship and love
Divinly bestowed upon man

O, if I have the wings of a dove
How would I taste it again.

यही कला का हाल है। समान और जीवन से हटकर हम सुख न पा सकेंगे। वाल्ट ह्विटमैन ने भी कहा है–

'Comrade, this is no book who touches it, touches a man'. सत्य है, जो उस कलाकृति का स्पर्श करता है, वह एक निर्जीव पुस्तक का नहीं, एक मानव का–एक जीवन का स्पर्श करता है। टॉल्सटाय तो निरुद्देश्य रचना को कला मानते ही नहीं थे। प्रेमचन्द जी ने कला को जीवन के लिए अपनाया था। जहाँ कलाकक्ष को सुन्दर प्रसाधनों से सजाना आवश्यक है, वहाँ उसे जीवनोपयोगी भी बनाना अनिवार्य है। नहीं तो उसकी छाया में आयेगा ही कौन?

तात्पर्य यह कि कला में एकांगिता न होनी चाहिए। यदि एक ओर कला का सृजन कला की वृद्धि के लिए, उसके विकास के लिए हो, तो दूसरी ओर उसका सृजन जीवन को सबल एवं विकसित करने के लिए भी हो। 'साहित्य की बल-वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि कवि कला के भीतर से जीवन के उन तमाम क्षेत्रों को देखे, जिनकी आँधियों और उलझनों का प्रभाव मनुष्य की संस्कृति पर व्यापक रूप से पड़ता है।' (दिनकर)

अतएव कला मनुष्यत्व का चरम उत्कर्ष है। कला-सृष्टि जीवन की सार्थकता है। जीवन से उसे अलग देखना अपराध है। कला की दृष्टि सौन्दर्य-विधायिनी है, पर उसे उन्हीं सौन्दर्यों की सृष्टि करनी है, जो जीवन को सुन्दर बना सकें।

डी.ए.वी. कॉलेज पत्रिका, 1951

काव्य और संगीत

इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार की मनुष्य के हृदय पर बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया यह होती है कि वह 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' के चक्कर में पड़ जाता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वह ऐसे तथ्यों, ऐसे सम्बन्धों की प्यास जगा लेता है जो 'शाश्वत' या सनातन हों। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसके मन में अनेक धारणाएँ बद्धमूल हो जाती हैं और उन धारणाओं की कभी ही वह विवेकपूर्वक समीक्षा करने बैठता है। काव्य और संगीत में कोई अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, ऐसा विश्वास हमारे मन में अनजाने ही गहरी जड़ें जमा बैठा है। यों तो कला के सभी प्रकार मूल रूप से एक हैं। उनकी जड़ में एक सहज प्रयोजनातीत आनन्दिनी वृत्ति, सृजन के लिए एक उत्कट लालसा, अभिव्यक्ति और प्रकाश की दुर्दम अभिलाषा विद्यमान हैं। यहाँ पर बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक छानबीन करने से सम्भवतः अपने मूल विषय से हम हट जायेंगे, परन्तु फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कला मूल रूप से एक है। लेकिन यदि इसके आगे बढ़कर यह कहा जाय कि कला के विविध प्रकार, उसके विकसित रूप भी एक हैं, अन्योन्याश्रित हैं, तो मैं आपत्ति करूँगा।

काव्य और संगीत दोनों के मूल में कहते हैं ध्वनि या नाद है। लयात्मक ध्वनि के आधार पर ही संगीत चलता है, और ध्वनियों से ही शब्द बनते हैं, जो काव्य के उपजीव्य हैं तथा अब तक की प्रचलित परिपाटी के अनुसार छन्द की लयात्मकता के भीतर से होकर गुजरते हैं। यहीं पर प्रश्न उठता है कि क्या संगीत और छन्द की लय एक ही है? ऐसे स्थलों पर दार्शनिक विवेचन न कर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए, ऐसा मेरा अनुरोध है। अन्यथा हम कुछ ऐसी भाषा में बातें करने लगेंगे कि सारे विश्व में एक लय व्याप्त है, सारी कलाएँ लय पर आधारित हैं, आदि-आदि। और यह भाषा, स्पष्ट है कि, विश्लेषण से दूर ले जाने वाली और अवैज्ञानिक है। हम बहुधा देखते हैं कि छन्द-शास्त्र की दृष्टि से गलत चरणों को संगीत द्वारा ठीक कर लिया जाता है। छन्द के दोष संगीत के आरोह-अवरोह में व्याघात नहीं उपस्थित कर पाते। कवि लोग बहुधा गले द्वारा मात्राएँ घटा-बढ़ा लेते हैं, इसका अनुभव कवि-सम्मेलनों में कभी भी किया जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल के इतिहास में स्वामी हरिदास (तानसेन के गुरु) पर लिखी ये पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं–

"इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ-कुछ ऊबड़-खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं हैं....... ।"

यदि छन्द और संगीत को आप खींच-खींचकर अविभाज्य भी मानें तब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या छन्द ही कविता है? यदि छन्द के कोई गहरे अर्थ खींचकर न लाये जायें तो सम्भवतः यह बात निर्विवाद मानी जायेगी कि छन्द, या अधिक स्पष्ट कहें तो तुकबन्दी और कविता में अन्तर होता है। छन्द का कार्य काव्य के अर्थ को और अधिक 'प्वाइण्टेड' बनाना है। इस तथ्य से सभी सहमत होंगे कि कविता और गद्य का अन्तर केवल छन्द का अन्तर नहीं है। केवल छन्दबद्ध भाषा को आप कविता नहीं कहेंगे। इस सम्बन्ध में मुझे अंग्रेजी के प्रसिद्ध समीक्षक हर्बर्ट रीड की बात याद आ रही है। 'इंगलिश प्रोज़ स्टाइल' की भूमिका में उसने बतलाया है–

"गद्य को पद्य से अलग करने के दो मार्ग हैं, एक तो केवल यान्त्रिक और बाह्य है : यह कविता को अभिव्यक्ति का ऐसा प्रकार मानता है जो अनिवार्यतः नियमित छन्द से सम्बन्धित है।"

उसने आगे बताया है कि यह परिभाषा केवल तुकबन्दी की है। अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए रीड का कहना है, काव्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति है, गद्य निर्माणात्मक। सृजनात्मक का अर्थ 'मौलिक' है।

"काव्य में विचार-प्रक्रिया के साथ-साथ शब्दों का जन्म और पुनर्जन्म होता है... । विचारों और शब्दों के मध्य कोई समय का अन्तरावकाश नहीं रहता। विचार शब्द है और शब्द, विचार तथा दोनों शब्द और विचार कविता है।"

"निर्माणात्मक से तात्पर्य बने-बनाये माल से है, स्रष्टा के चतुर्दिक प्रयोग के लिए तैयार राशिभूत शब्द। गद्य बने-बनाये शब्दों के आकार को कहते हैं।" श्री जे. मिडलटन मरी ने बताया है कि गद्य में निश्चित चिन्तन और निश्चित वर्णन होता है। इस बात को यों समझा जाये कि यदि कोई कवि कमल के फूल पर लिखेगा तो वह उसके सौन्दर्य का प्रभावात्मक पक्ष उपस्थित करेगा। परन्तु वह ऐसा वर्णन न होगा कि आप उसे पढ़कर कमल का फूल पहचान सकें। शायद आप कमल और कुमुदिनी के मध्य भटक जायें। परन्तु गद्यकार को पुष्प के संवेगात्मक प्रभावों से कोई तात्पर्य नहीं। उसका 'निश्चित वर्णन' पढ़कर आप उसे देखते ही पहचान लेंगे। कविता के बाद गद्य का विकास 'निश्चित चिन्तन' के कारण ही हुआ है। उसने गद्य और पद्य के अन्तर को आगे बताया है कि 'यह अन्तर संवेग की मात्रा का है'। शेक्सपियर और मैसिन्जर की तुलना करते हुए 'मरी' का कथन है, "एक आवेग की कविता है और दूसरा गणना (विचार) का गद्य है।" स्पष्ट है कि अन्तर आवेग और

भावुकता का है, न कि छन्द की यति, गति, ताल और लय का। क्योंकि छन्द तो 'एक प्रकार का गद्य में भी होता है।' संस्कृत-साहित्य के रसज्ञ बाण की लयात्मकता से परिचित हैं। वर्ड्सवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है–

> *"...गद्य लिखते समय इतने सहज और स्वाभाविक रूप से छन्द की पंक्तियाँ और अंश आ जाते हैं कि भले ही उनका आ जाना उचित न हो, परन्तु उनसे बच पाना लगभग असम्भव हो जाता है।"*

हर्बर्ट रीड और भी आगे बढ़कर बताते हैं कि यह भले ही विरोधाभास जान पड़े परन्तु कविता तो एक ही शब्द में हो सकती है (जैसे जापानी कविता) परन्तु गद्य तो सदैव मुहावरे में होगा और मुहावरे में किसी न किसी प्रकार की लय निश्चित रूप से होगी। जे. डेनिस ने आवेग को संगति (हारमनी) से अधिक आवश्यक माना है। कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि संगीत का कार्य केवल इतना है कि वह माध्यम की इस विशिष्टता की ओर संकेत कर दे जो गद्य में नहीं है। तात्पर्य वही जो ऊपर मैं कह चुका हूँ कि छन्द अर्थ को अधिक 'प्वाइण्टेड' बना देता है। कविता इसीलिए कविता है क्योंकि वह गद्य से अधिक आवेगपूर्ण और ऐन्द्रिक है। **"संगति रहित आवेग आनन्द दे सकता है, परन्तु आवेग-रहित संगति ऊबा देती है।"** बल्कि कहना यों चाहिए कि बहुधा आवेग के कारण संगति टूट जाती है। टी.एस. इलियट ने 'रेफ्लेक्शन्स आन वर्स लिब्रि' नामक निबन्ध में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है–

> *"सबसे घनीभूत और सान्द्र क्षणों में वेबसटर की कविता एक छन्दजन्य स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती है।"*

संगीत और काव्य में ध्वनि या नाद सम्बन्धी मूलभूत एकता का प्रश्न फिर भी शेष रहा। यदि हम तनिक विचार कर देखें तो विदित हो जाता है कि संगीत की आधारभूत ध्वनियाँ सप्त स्वर हैं जो मात्र कम्पनों पर आश्रित हैं। इनका सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं और प्रक्रिया से कोई सम्पर्क नहीं होता। काव्य-साहित्य में ध्वनि-समूहों द्वारा निर्मित शब्द प्रयुक्त होते हैं, तथा शब्द अर्थ-प्रकाशक होते हैं। उनका सम्बन्ध बाह्य जगत से होता है। शब्द और अर्थ पर विचार करने वाले जानते हैं कि यह सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। इस सम्बन्ध में पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन द्रष्टव्य है–

> *"वस्तुतः अर्थहीन छन्द-प्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत की उस सत्ता से जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम से कम योग होता है। ...काव्य द्वारा और संगीत द्वारा स्पन्दित मानव-चित्त के आवेगों में थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह बाह्य सत्ता से पूर्णतया सम्बद्ध होता है। हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते रहते हैं। संगीत से उत्पन्न*

कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ी अनुभूति नहीं होती जितनी काव्य-जनित आवेग के कम्पन से होती है।"

वास्तव में संगीत में एक विश्वजनीनता होती है जिसका काव्य में अभाव है। बहुधा जिन भाषाओं का हम एक भी अक्षर नहीं जानते, यदि वहाँ के गीतों की 'ट्यूनिंग' ही हम सुन लेते हैं तो आत्मविभोर हो उठते है। संगीत की स्वर-माधुरी मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक को सम्मोहित कर लेती है। पर काव्य के साथ यह बात नहीं है; वह भाषा की सीमाओं से बँधा है (शेक्सपियर या गेटे कितने ही बड़े कवि क्यों न हों, यदि हम उनकी भाषाएँ नहीं जानते तो व्यर्थ हैं।) परन्तु यहाँ पर मैं आपको उस मनोवैज्ञानिक तथ्य की याद दिलाना चाहूँगा जिसके अनुसार मनुष्य का मन सर्वदा कार्य-कारण की शृंखला खोजता रहता है। 'संगीत अविच्छिन्न (एब्स्ट्रेक्ट) होने के कारण अहेतुकी होता है।' कार्य-कारण की समुचित परम्परा का उसमें निर्वाह नहीं हो पाता। इस कारण संगीत की अनुभूति प्रगाढ़ नहीं हो पाती, जबकि अर्थ का आवेग अत्यन्त सान्द्र होता है। स्वर और अर्थ नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। स्वर शीघ्र आकर्षक पर क्षणिक होता है। अर्थ बौद्धिकता की अपेक्षा और अपेक्षाकृत स्थायी होता है। 'निशि दिन बरसत नैन हमारे' किसी शास्त्रीय राग के बोल हो सकते हैं, परन्तु जब तक पूरा न पढ़ें तब तक उसमें काव्य की सत्ता ढूँढ़ना व्यर्थ है। पर इतने ही बोल हमें संगीत में पूरा आनन्द दे जाते हैं।

काव्य और संगीत का पृथकत्व एक बात से और स्पष्ट है। हम अंग्रेजी से परिचित नहीं, पर शेली का काव्य हमें आनन्द देता है। संगीत का विश्वजनीन गुण कहकर आप इस तर्क को निरस्त्र कर सकते हैं। परन्तु अपने मौलिक रूप में ही नहीं, अनुवाद में भी वे कविताएँ हमें आनन्द देती हैं। अनुवाद में उसके संगीत की रक्षा तो होती नहीं पर उसके वक्तव्य का सौन्दर्य, उसकी चित्रात्मकता हमें रस प्रदान करती है। जितने अंशों में वह अनुवाद मूल जैसा आनन्द नहीं दे पाता, उसका कारण मूल भाषा के शब्दों का अपना संयोग और चित्र-विधान है। इस सम्बन्ध में इलियट ने बड़ी सटीक बात कही है–

"अपने आगे-पीछे आने वाले शब्दों के सम्बन्ध तथा सन्दर्भ के प्रासंगिक अर्थ और उस शब्द के अन्य सन्दर्भों में प्रयुक्त अर्थ तथा संयोगों की वृद्धि या ह्रास के द्वारा शब्द के संगीत का उदय होता है।"

इस कथन में व्यंजित 'अर्थ' की प्रधानता स्पष्ट है।

कम से कम बीसवीं शताब्दी के युग में काव्य की संगीतात्मकता पर जोर देना वास्तविकता से मुँह मोड़ना है। वर्तमान काल की अधिकांश कविता गाने के लिए नहीं, पढ़ने के लिए होती है। साहित्य की ग्राहिका इन्द्रिय बदल गयी है। प्रसाद जैसे अतीतोन्मुख कवि ने भी इस बात को पहचान श्रव्य काव्य को पाठ्य काव्य की संज्ञा दी थी। छापे की मशीन ने कविता को सुनने नहीं, पढ़ने की सामग्री बना

दिया है। यह साधारण बात नहीं है। इसने समस्त उपादानों को परिवर्तित कर दिया है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "इस मशीन ने पाठक को भावावेश पर से ढकेलकर बुद्धि-प्रवाह में फेंक दिया है।" अब पदझंकारमात्रेण मोहित करने का स्थल एकमात्र कवि-सम्मेलन रह गया है; तथा कवि-सम्मेलनों की उपयोगिता के बारे में शायद दो मत नहीं हो सकते।

जहाँ तक सम्बन्ध का प्रश्न है—काव्य का जितना सम्बन्ध संगीत से है उतना ही चित्र से भी है। काव्य की सबसे बड़ी विशेषता आवेग के बाद बिम्ब-विधान या चित्रात्मकता ही है। शुक्ल जी ने बताया है, "विभाववस्तु चित्रमय होता है?" अतः संगीत पर विशेष जोर देना अनावश्यक है।

आधुनिक युग के महानतम महर्षि श्री अरविन्द ने अपने 'द फ्यूचर पोइट्री' नामक ग्रन्थ में काव्य की अपील का मूल्यांकन करते हुए तीन अवस्थाएँ मानी हैं—ध्वनि-मूल्य, विचार-मूल्य और आत्मिक-मूल्य। उनके अनुसार जब प्रारम्भ में मनुष्य काव्य के आनन्द की ओर उन्मुख हुआ होगा तब यह आकर्षण शब्द की आह्लादिक संगीत-ध्वनि के माध्यम से आया होगा। सम्भवतः श्री अरविन्द की इस प्रथम अवस्था के लिए ही 'पोइट्री इज़ द बेस्ट वर्ड्स इन बेस्ट आर्डर' कालरिज़ की यह परिभाषा उपयुक्त है। कुछ और विकसित अवस्था में विचार पाठकों को आकर्षित करता है। पं. पद्मसिंह बिहारी की 'बात की करामात' स्पष्ट करते थे परन्तु आज हम तुलसी या प्रसाद का जीवन-दर्शन जानने का प्रयत्न करते हैं। काव्य के आत्मिक मूल्यों को हम और ऊँची अवस्था में जाकर अनुभव कर पाते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार "भविष्यत् काव्य वह काव्य है, जिसमें यह आध्यात्मिक मूल्य अधिक घोषित रूप में रहेगा।"

यदि काव्य के इतिहास की यह अरविन्दी अवस्थाएँ न भी स्वीकार की जायें तब भी व्यक्ति के जीवन में आप कुछ ऐसी बात अवश्य पा सकते हैं। गीता में इस प्रकार की अवस्थाओं की ओर बड़ा सुन्दर संकेत किया गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः।।

आज की कविता इसी बुद्धि (जो केवल आत्मा के नीचे है) की कविता है, तथा बौद्धिक अवस्था मनुष्य की विकसित आयु में ही सम्भव है। लड़कपन में तो वह रंगों और ध्वनियों की ओर ही दौड़ता है। काव्य और संगीत के सम्बन्ध में इलियट की यह बात मुझे बहुत अच्छी लगी कि "कवि और संगीत का निकटतम सम्पर्क बस लय और आकारबोध के साथ ही होता है।" पर यह लय और आकारबोध बाहरी वस्तुएँ हैं, यह हम पहले ही देख चुके हैं।

'आलोचना और आलोचना', सम्भवतः 1954-55

लोकसाहित्य का अध्ययन

अथर्ववेद के ऋषि की वाणी है "माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः"—यह भूमि ही माता है और हम सभी उसी पृथिवी के पुत्र हैं। यह पृथिवी की गोद हमें आज की नागर सभ्यता में उपलब्ध नहीं। इसके लिए तो हमें मुक्त वायु से आन्दोलित ग्रामों या जनपदों की ओर चलना होगा। हमारे देश में 'पौर' और 'जानपद' लोगों का अन्तर बहुत पहले स्वीकार कर लिया गया था, परन्तु आज शहरों और गाँवों के जीवन में जितना अन्तर आ गया है उतना पहले कभी नहीं आया था। प्राचीन ग्रन्थों में ज्ञान और आचार के क्षेत्र में ही नहीं रसानुभूति के क्षेत्र में भी लोक और शास्त्र का अन्तर प्राचीन काल में ही स्वीकृत हो चुका था। भरतमुनि ने नाट्यधर्मी और लोकधर्मी वृत्तियों का उल्लेख किया है। पर इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात है कि भारतीय सभ्यता का इतिहास पश्चिम के उन समृद्ध देशों के इतिहास से थोड़ा भिन्न है जहाँ सभ्यता के मूल उत्स नगरों के रहने वाले तत्त्व चिन्तक विद्वान थे। जिन विचारों को, ऋषियों और आचार्यों को यह देश अपना मार्गदर्शक मानता आया है वे नगरों के निवासी नहीं थे। उनकी साधनाभूमि नगरों के बाहर थी। कथा-पुराण, गीतनृत्यों के द्वारा जानपदों के निवासी उच्चतर रमण प्राप्त करते रहते थे। नगरों के निवासी भी इन्हीं सांस्कृतिक आदर्शों से प्रेरणा पाते थे। संस्कृति एक ही थी उसके उन्नायक आचार्य एक ही थे, नगरों से छनछन कर वह ग्रामों में नहीं पहुँचती थी बल्कि ग्रामों से नगरों की ओर जाती थी। वह हमारे साहित्य का स्वर्णयुग था जब हमारी संस्कृति का उत्स जानपद जन था। वाल्मीकि और व्यास ने उससे प्रेरणा ग्रहण की थी। उनके काव्य के वर्ण्य विषय जनपदों से प्राप्त किये गये थे। कालिदास कितना अधिक लोक से सम्पृक्त रहने के कारण यथार्थ चित्रण कर सके थे इसका हम अनुभव कर सकेंगे यदि हम उसे परवर्ती काल के व्यवधान युग की रचनाओं के साथ मिलाकर देखें। हिन्दी के स्वर्णयुग का साहित्य—भक्ति साहित्य—तो वास्तव में लोकसाहित्य ही था। वह लोकभाषा में लोकरुचि की अभिव्यंजना है।

लोकसाहित्य शब्द का प्रयोग हम अंग्रेजी के फोक-लोर (Folk-Lore) और फोक लिटरेचर शब्द के अर्थ में अधिक करते हैं तथा अपने पुराने आचार्यों द्वारा

प्रयुक्त—लोक और वेद या शास्त्र—व्यावहारिक ज्ञान और आचार के अर्थ में कम। वस्तुतः लोक का अर्थ ग्राम्य या जनपद नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि सम्पन्न सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं, परन्तु कुछ विद्वानों ने लोक का समानार्थी जनपद को प्रयुक्त किया है। मैं भी लोकसाहित्य के पर्याय के रूप में जनपदीय साहित्य का प्रयोग इस निबन्ध में कर रहा हूँ। यह सत्य है कि लोक से तात्पर्य शहर की भी साधारण जनता से हो सकता है परन्तु उन सबका मूल ग्रामों या जनपदों में ही है। नगरों में ग्रामीण जन का भी जीवन अपेक्षाकृत कृत्रिम और जटिल हो जाता है। वहाँ 'बिरहा' के बोल दुर्लभ हो जाते हैं और फागों के लिए तो मन तरसकर रह जाता है। अतः लोक के स्थान पर जनपद शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता। हमें इस जनपदीय या लोकसाहित्य की पृष्ठभूमि और परिभाषा भी देख लेनी चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक यूरोप में लोकसाहित्य (Folk-Lore) पुरातत्त्व का ही अंग माना जाता था। उसका आरम्भ मानव विज्ञान के साधन रूप में हुआ था और उसी के साथ वह दीर्घकाल तक जुड़ा रहा। इस शब्द का प्रथम व्यवहार डब्ल्यू.जे. थामस ने किया था। पर अब यह मानव विज्ञान से थोड़ा पृथक विभिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न देशों में प्रयुक्त होने लगा है। जिन देशों में लोकसाहित्य की छानबीन बहुत सावधानी से की जा रही है वहाँ भी भिन्न-भिन्न विद्वानों में यह मतभेद दिखाई देता है कि क्या-क्या बातें लोकसाहित्य (Folk-Lore) में स्वीकार की जायें और क्या-क्या उसके बाहर रखी जायें। परन्तु साधारणतः लोककथाओं, लोकगीतों, अन्धविश्वासों, प्रादेशिक निजंधरी कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों को इस साहित्य का विवेच्य विषय माना जाता है। फ्रांस और स्कैंडिनेविया में जिन परम्परा प्रचलित शिल्पों, कलाओं और उद्योगों को फोक-लोर माना जाता है वे लोकसाहित्य शब्द से सूचित नहीं होते। उनके लिए अपने देश के कई विद्वानों ने लोक संस्कृति या लोकवार्ता जैसे शब्द सुझाये हैं। इस प्रकार अपने देश में लोकसाहित्य का प्रयोग तो साधारण जनता में प्रचालित वाचिक शब्दमय साहित्य को कहा जाने लगा और लोक संस्कृति लोकजीवन से सम्बद्ध शिल्पकलाओं को।

शुरू-शुरू में यूरोप के विद्वानों ने आधुनिक सभ्यता के कारण बनी हुई जटिल समाज व्यवस्था को समझने के लिए आदि जातियों के विश्वासों, कथानकों, लोकगीतों और रीतिरस्मों की जानकारी का संग्रह और अध्ययन शुरू किया था। आज हम सभ्य और नागरिक कहे जाने वाले लोगों के अनेक प्रकार के सामाजिक नियमों, बौद्धिक आलोचनाओं, सामाजिक विधिनिषेधों और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के मूलरूप को आसानी से समझ सकते हैं, इसी संग्रह और अध्ययन के कारण। धीरे-धीरे अपेक्षाकृत अधिक सभ्य परन्तु 'पौर' सभ्यता से अनभिज्ञ ग्रामीण जनता

के भी मानस के अध्ययन की आवश्यकता महसूस की गयी। साहित्य के विविध काव्यरूपों को समझाने के उद्देश्य से भी ग्रामों में प्रचलित विविध वर्ग की जनता के गीतों, कथानकों आदि का संग्रह किया गया। अब लोकसाहित्य केवल नागरिकजन की जटिल समाज व्यवस्था और बौद्धिक विवेचना का आवश्यक साधन ही नहीं माना जाता बल्कि समूची मानव जाति के विकास और गतिविधि के अध्ययन का आवश्यक अंग समझा जाने लगा है।

भारतीय शास्त्रों ने लोक प्रचलित साहित्य रूपों की कभी उपेक्षा नहीं की है। नवीन छन्द, नवीन गीत पद्धति, नवीन नाट्यरूपक बराबर ही लोक-चित्त से छनकर ऊपर की शास्त्रीय सतह तक पहुँचते रहे हैं। भरतमुनि ने लोक प्रचलित नाटकों को भी अपनी विवेचना का विषय बनाया है। नाट्यशास्त्रकारों ने केवल पुस्तकीय नाटकों का विश्लेषण नहीं किया है बल्कि उन दिनों जितने प्रकार के नाटक और अभिनय प्रचलित थे सबका विश्लेषण किया है। इसी कारण उनमें वर्णित अनेक विधाओं जैसे ईहामृग, डिम, प्रख्यान, उल्लासक, संलापक, श्रीगदित, समवकार, भाणिका, विलासिका आदि के प्राचीन लिखित रूप उपलब्ध नहीं होते।

भारतीय साहित्य का विद्यार्थी जानता है कि किस प्रकार संस्कृत, पाली और प्राकृत में लोककथानकों ने लिखित साहित्य का रूप धारण कर लिया है। जातक कहानियाँ, पंचतन्त्र की कथाएँ और गुणाढ्य की बड्डकहा (बृहत्कथा) की निजंधरी कथाएँ केवल साहित्य का अंग ही नहीं बनी हैं परवर्ती काल के अत्यन्त अलंकृत कथा साहित्य को प्रेरणा भी देती रही हैं। सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की 'कादम्बरी' जैसे अत्यधिक अलंकृत साहित्य का वक्तव्य विषय गुणाढ्य की वृहत्कथा से ही लिया गया है। पण्डितों ने अनुमान किया है कि गुणाढ्य पण्डित ने मूलरूप में कथा नगर से दूर रहने वाले ग्राम्य या वन्य लोगों से सुनी थी। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने दिखाया है कि जातक की कथाएँ किस प्रकार अब भी बुन्देलखण्ड में किंचित परिवर्तित रूप में चल रही हैं। परन्तु यहाँ की लोककथाओं का अध्ययन बहुत सहज नहीं है। न जाने कितनी बार वह उपरले स्तर के ग्रन्थों से प्रभावित हुआ है और कितनी बार उसे प्रभावित भी किया है। कहा नहीं जा सकता कि बुन्देलखण्ड के उन कथानकों में जातकों का मूल है या उन कथानकों का जातकों में।

परन्तु यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि लोकसाहित्य के अध्ययन का उद्देश्य पुनः प्रवर्तन का प्रयास नहीं है। यद्यपि यह पुनरुत्थानवादी मानसिकता बहुधा इतिहास, पुरातत्त्व, लोकसाहित्य के अध्येताओं में आ जाती है। लोकसाहित्य का संकलन और सम्पादन बड़े उद्देश्य के लिए होना चाहिए। और यह उद्देश्य है मनुष्य को उसकी अशेष मानवता के विकास की पृष्ठभूमि में रख कर देखना और उसकी साधना की सर्वोत्तम परिणति के स्वरूप को पहचानना।

यह तो स्पष्ट ही है कि विज्ञान के नवीन दृष्टिकोण ने समाज को आचूल मथित

कर दिया है। पुराने मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों की स्थापना हो रही है। संसर्ग और आदान-प्रदान बढ़ रहा है। 'पौर' और 'जानपदों' की कौन कहे सारी दुनिया एक इकाई में सिमट रही है। ऐसी अवस्था में ग्रामीण साहित्य, कला और शिल्प के अविमिश्र शुद्ध रूप से बचे रहने की आशा करना व्यर्थ है। और यह आशा करनी भी नहीं चाहिए। न तो यह श्रेयस्कर ही है और न सम्भव ही कि सारे संसार में मानवीय आचारों और विचारों में परिवर्तन होता रहे और हमारे जनपद उससे एकदम अछूते रहें। जहाँ जीवन होगा वहाँ प्रभाव भी पड़ेगा। यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। परन्तु इसका यह प्रभाव तो निश्चित ही है कि ग्राम जीवन अब उस प्रकार परम्परावाहक नहीं बना रहेगा जिस प्रकार अब तक रहा है। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि लोकसाहित्य परम्परा प्राप्त साहित्य है। उससे हमारे पुराने इतिहास की कड़ियाँ जुड़ती हैं, मनुष्य की मानस ग्रन्थियों पर प्रकाश पड़ता है और सामाजिक विकास के स्तरों को समझने में मदद मिलती है। इस बहुमूल्य सम्पत्ति को नष्ट हो जाने देना किसी प्रकार वांछनीय नहीं है। उसे यथासम्भव विशुद्ध रूप से सुरक्षित रखने का प्रयास हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। इस युग-सन्धि के समय यदि हम अनासक्त दृष्टि लेकर अपनी इस बहुमूल्य सम्पत्ति को यथार्थ रूप में सुरक्षित नहीं कर सके तो यह अपार राष्ट्रीय क्षति होगी। इनके संकलन और सम्पादन में अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए। न तो यह पुनः प्रवर्तन का प्रयास है न स्थानीय गौरव के प्रचार की असक्ति। यह एक विशुद्ध वैज्ञानिक कार्य है।

संसार के जिन देशों ने अपने देश के लोकसाहित्य का संकलन-सम्पादन किया है उन देशों के परिष्कृत और अभिजात साहित्य में कभी-कभी यह प्रभूत हुआ है कि साहित्य के विविध रूपों को लोक-साहित्यिक रूप दिया जाय। पर यह पुनः प्रवर्तन का प्रयास नहीं बल्कि नयी जीवन शक्ति से अभिजात साहित्य की कृत्रिमता भंग करने का प्रयत्न हुआ है। जनमानस सदा यथार्थ की भूमि पर दृढ़ता से पैर जमाये रहता है।

जहाँ एक ओर भारतीय लोकसाहित्य का अध्ययन जटिल और गहन है वहीं वह प्रेरणादायक और नवीन आलोक की उत्सभूमि भी है। लोकसाहित्य और मौलिक आचारों के अध्ययन से कभी-कभी हमारे भूले हुए और विशृंखलित साहित्य पर आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जहाँ लोक प्रचलित आचार परम्पराओं, लोकोक्तियों और पहेलियों ने भूले हुए इतिहास को आलोकित किया है। जहाँ कहीं भी इस उल्लिखित और मौखिक साहित्यश्री की ओर पण्डितों का ध्यान गया है वहीं इन गीतों की मोहक चारुता और हृदयसम्भाक (मर्मस्पर्शी) वेदना और उल्लास से इतने अधिक प्रभावित हुए हैं कि वास्तविक कवित्व के लिए इन लोकगीतों को आदर्श स्वीकार करने लगे हैं। इन गीतों के अत्यन्त मर्मभेदी और प्रभावशाली काव्यतत्त्व को देखकर आश्चर्य प्रकट किया गया है। सहज को सहज ढंग से कहने की इनकी अपनी विशेषता है तथा सबसे बड़ी

बात है इनकी यथार्थवादी परम्परा। इस यथार्थवादी परम्परा की ओर मैक्सिम गोर्की ने बड़े स्पष्ट शब्दों में संकेत किया था।

हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए कई संस्थाएँ व व्यक्ति काम कर रहे हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"परन्तु अब आवश्यकता है कि हम इसके मूल उत्सों तक पहुँचें। केवल सुयोग और सौभाग्यवश पायी गयी पुस्तकों के आधार पर हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसका स्वरूप नहीं समझा जा सकता। हिन्दी साहित्य, लोकसाहित्य था। लोककथाओं, लोकोक्तियों और जनता के प्रचालित आचार-विचारों से ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लग सकता है जो पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकता। साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुतः आदिकाल से प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवन्त मानव समाज की ही विकास कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार तो उस धारा की ओर अंगुलिनिर्देश मात्र करते हैं।"

हिन्दी आज महान् देश की महान् राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत कर ली गयी है। उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व बढ़ रहा है; परन्तु नाना अंचलों से उसकी शक्ति पर आक्षेप हो रहे हैं। विद्वान उसके शब्द समूह पर कमी का आरोप लगाते हैं। यदि आज लोक-भाषाओं, जनपदीय बोलियों का सम्यक अध्ययन किया जाय, उनके शब्द समूह संकलित किये जायें तो हिन्दी को अक्षय सामग्री प्राप्त हो सकती है। उसे अपने पारिभाषिक शब्दों तक के लिए बाहर से उधार नहीं लेना होगा। जनपदीय बोली की यह विशेषता है कि प्रत्येक प्रकार की वस्तु या अभिव्यंजना के लिए उसके पास शब्द हैं। उनके जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का नाम अलग होगा। एक ही शब्द के अनेक अर्थ वहाँ नहीं हुआ करते। प्रत्येक प्रकार की भूमि, जल, वायु, प्राकृतिक दृश्य के लिए वहाँ शब्द मिलेंगे। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—

"हमारे आकाश पर समय-समय पर जो मेघ छा जाते हैं उनको बिजोने, घोरने और बरसने का जो सौन्दर्य है और बहुविध प्रकार उनके सम्बन्ध में उपयुक्त शब्दावली का संग्रह और प्रकाशन हमारे कंठ को वाणी देने के लिए आवश्यक है। 'ऋतुसंहार' लिखने वाले कवि के देश में आज ऋतुओं का वर्णन करने के लिए शब्दों का टोटा हो यह तो विडम्बना ही है।"

ऋतु-ऋतु में बहने वाली हवाओं के नाम और उनके प्रशान्त और प्रचण्ड रूपों की व्यवस्था जनपदीय जीवन का एक अत्यन्त मनोहर पक्ष है। इसी प्रकार पशु-पक्षियों, वनस्पतियों और विभिन्न देशों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का संकलन हमारी अनेक समस्याओं को सुलझा सकता है।

भाषाविज्ञान में रुचि रखने वाले मनुष्य के लिए तो जनपदीय साहित्य कल्पवृक्ष के समान है। किसान के जीवन की जो विस्तृत शब्दावली है उसमें वैदिक काल

से लेकर अनेक शताब्दियों के शब्द संचित हों। वैदिक 'असिय' शब्द से 'हसिया' बना है। श्रौतसूत्रों में प्रयुक्त 'इण्ड्र' शब्द का रूप लोक में 'इंडुरी' अब भी चालू है। 'मूँज' या घास से बनी हुई रस्सी के लिए वैदिक शब्द 'पून' था जिसका रूपान्तर जून या जूना किसानों की भाषा में अब भी जीवित है। भाषाशास्त्री के लिए ये बोलियाँ साक्षात् कामधेनु के समान हैं। डेढ़-दो हजार वर्षों के पिछड़े शब्द तो इन बोलियों में चलते-चलते हाथ लग जाते हैं। हिन्दी भाषा की शब्द निरुक्ति के लिए हमें जनपदीय बोलियों के कोषों का सर्वप्रथम निर्माण करना होगा। डॉ. अग्रवाल का अनुमान है कि हिन्दी भाषा में जनपदों के भण्डार से लगभग 50 हजार नये शब्द आ जायेंगे और भौतिक वस्तुओं एवं मनोभावों को व्यक्त करने के लिए ठीक शब्दावली का हमारा टोटा मिट जायगा। इसी प्रकार हमारी भाषा को अनेक धातुएँ, मुहावरे और लोकोक्तियों का अद्भुत भण्डार प्राप्त होगा। शताब्दियों के निरीक्षण और अनुभव के बाद जीवन के विविध व्यवहारों में हम जिस सन्तुलित स्थिति तक पहुँचते हैं लोकोक्ति उसका संक्षिप्त सत्यात्मक परिचय हमें देती है। उदाहरण के लिए माँ के प्रति हमारी जो सर्वमान्य श्रद्धा है उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति बैसवाड़े की निम्न कहावत में देखिये—

मघा के बरसे, माता के परसे (तृप्ति होती है।)

बिहारी का एक बड़ा प्रसिद्ध दोहा है जिसकी दूसरी पंक्ति है—

'वह चितवन औरै कछू जिहि बस होत सुजान।'

बैसवाड़ी में इससे अधिक सहज उल्लिखित है—

"काजर तो सवै लगावति है चितवनि माँ भाँति होति है।

काव्य का ही विषय आ गया है तो आइए हम लोग लोकसाहित्य की सरसता भी देख लें। बहुधा नागर सभ्यता में पले हमारे विद्वान गुरुजन उस साहित्य को हेय या हीन समझ लेते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। ग्राम साहित्य की कुछ प्रमुख काव्यगत विशेषताएँ निम्न हैं—

1. सहज ढंग से कहना।
2. मार्मिक और व्यक्त छवियों का अंकन।
3. यथार्थ की वास्तविक पकड़।

हम कुछ उदाहरण यहाँ पर दे रहे हैं। बैसवाड़े का ही एक उदाहरण लीजिए। अज्ञात यौवना का कितना मार्मिक अंकन है—

औचक आप जोबनवा या मारेसि बान
महुआ रोवै ठाढ़ आम बौराय।

अवधी के एक गीत में चित्रित स्त्री का सौन्दर्य देखिये—

वै धना पान ऐसी पतरी, कुसुम ऐसी सुकीर हो।
रामा मुँदरी बरन कहिहइयाँ, चन्दा ऐसी चमकइ हो।।

प्रेमरस में सराबोर किसी मैथिल विरहिणी का विरह गीत है—

आम मजरि महुतअल, तौ ओने पहुँ मोरा घूरल।
दीप जरिय बाती जरल, तौ ओने पहुँ मोरा आयल।।

आम में बौर लग गये, महुआ चूने लगा लेकिन हे सखी मेरे प्रियतम नहीं आये। दीये की लौ मन्द पड़ गयी, बत्ती जल गयी, लेकिन मेरे प्रियतम नहीं आये।

और यह दशा है अवध की विरहिणी की। एक चैती के बोल हैं—

नइ भेजे पतिया।
आयेउ चइत उखपतिया—नइ भेजे पतिया।
बिरही कोइलिया सबद सुनावे।
कल न परत अब रतिया—नइ भेजे पतिया।
बेला चमेली फूले बगिया में
जोबन फूल्यो मोरी अंगिया—नइ भेजे पतिया।

पंजाबी माहिया है—

खत आया ढोले दा
इतनी मैं रुन्नियीं चनना
गलवा सिज्ज गया चोले दा।

(प्रियतम का पत्र आया, मैं इतना रोयी ओ मेरे चाँद कि मेरे चोले का गरेबान भीग गया)

परन्तु उसे विश्वास है—

कणकां दी राही होसी
उग्ग पइयाँ कणका चन्ना
आदा मेरा माही दोसी।

(गेहूँ के खेत गोड़ जायेंगे, गेहूँ उग आया, ओ चन्दा मेरा प्रियतम आता ही होगा।)

जंगली और असभ्य कहे जाने वाले सन्थालों का दिल भी देखिये। नीचे मैं श्री ठाकुर प्रसाद सिंह द्वारा किये गये एक हिन्दी रूपान्तर को दे रहा हूँ—

तुलसी की झरती है मंजरी
निखर रहे पात रे
दियवा की बजती है बाँसुरी सिहर रहे गात रे
जामुन की डालों में बोलती
मन में अँधियारा सा घोलती
पिकवा सी पागल बनाती है
दियवा की मीठी मीठी बात रे
सिहर रहे पात रे

देखिये निम्नांकित पंक्तियों में प्रगतिवादियों को 10 हजार योजन पीछे छोड़ दिया गया है—

महँगी के मारे बिरहा बिसारिगा, भूलि गयी कजरी कबीर
देखि क गोरी का उमर जोबनवा, अवन उठे करेजवा मा पीर।।

और रोमानी कवियों के लिए चुनौती है कि कितना आगे हमसे रहोगे–

टूट छाज, घर टपकत, खटियौ टूट।
पियकी बाँह उसिसवाँ, सुख की लूट।।

तथा–

लैके सुघर खुरपिया पिव के साथ।
जैबे घरी अमरैया सुनवा हाथइ।।

साहचर्यजन्य सुख की कितनी सुखद अभिव्यंजना है।

लोकसाहित्य की सबसे बड़ी विशेषता इसकी यथार्थवादी परम्परा है। आज भी जब गाँव के वातावरण में पला-पुसा गायक लोकगीत का बोल छेड़ देता है–

साजन तेरे होत, अँखियाँ तो नदियाँ भईं।
मन भयो बारू रेत, गिर गिर परत कगार ज्यों।

तो हम इतना समझ सकते हैं कि कविता के उपमान जितना ही सहज सौन्दर्य लिये रहेंगे उतने ही वे प्रभावकारी रहेंगे।

जब कोई गाता है–

सजन सकारे जायँगे नैन मरेंगे रोय
विधना ऐसी रैन करु भोर कबहु न होय।

अथवा जब ग्राम गायक आल्हा गाता है–

कारी बदरिया बहिनी लागों, कौंधा बीरन लगौ हमार।
झमकि कै बरसो मोरे अंटा पर, कंता आजु रैनि रहि जाय।।

तो गाने वाले की बात हमारे मन पर सीधा असर करती है।

मालवी लोकगीत में स्त्रियों ने प्रथम महायुद्ध के बाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप गरीबी का रोना यों रोया था–

जी हरो रंग नीलो रंग मोंगो कर दियो
कुंकुम कर दियो फीको
जी लाल रंग को तो भाव चढ़ाइ दियो
लुगड़ा काय से रंगा रे।

हरा रंग और पीला रंग तो महँगा हुआ, साथ ही कुंकुम भी फीका पड़ गया। गोरी की माँग के कुंकुम का फीका पड़ जाना, किसी विपत्ति का सूचक है। लाल रंग का भाव भी महँगा हो गया। बहुत दिन बीत गये, लुगड़े को देखकर ख़याल आता है कि फिर इसे लाल रंग में डुबा दिया जाय। पर लाल रंग तो महँगा हो गया।

ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें हम लोकसाहित्य को समय के साथ पग मिलाकर चलते देख सकते हैं। अन्त में मैं दो उदाहरण सरस साहित्य

और मनोभावों की अभिव्यंजना के दूँगा। नवविवाहिता पत्नी के हृदयगत भाव देखिये—

आजू सोहाग कै राति चन्दा तुम उइयो।
चन्दा तुम उइयो सुरज जनि उइयो।।
मोरा हियरा विरस जनि करियो मुरगा जनि बोलियो।
मोरी छतियाँ बिहारि जगि जाइ, तू पौ जनि फटियो।।
आजू करियो बड़ी राति चन्दा तुम उइयो।।
धीरे धीरे चलियो सुरज बिलम करि अइयो।।

तथा एक कजली की दो पंक्तियाँ हैं—

झूला किन डारो अमरैयाँ।
रैनि अँधेरी ताल किरारे बुनियाँ परै फुइयाँ।।

अस्तु यदि इन सरस, मर्मग्राही गीतों का सम्यक अध्ययन किया जाय तो हमारे आकाश बेल वाले साहित्य को जीवन से रस ग्रहण करने की प्रेरणा मिल सकती है।

सबसे बड़ी बात तो यह कि भारतवर्ष जनपदों का देश है। जनपदीय बस्तियाँ ही हमारी संस्कृति की धरती हैं। उनका जीवन हजारों वर्षों की अटूट परम्परा को लिये हुए है। "जनपदीय जीवन स्थिति, शान्ति और अपनी ही मानस भूमि की अविरल टेक ढूँढ़ता है। इसके विपरीत पुर का जीवन धूमधाम के नये ठाठ रचता है। दोनों के दो पथ है।" परन्तु इतिहास गवाह है कि जब-जब सत्ता जागती है तब जनपद समृद्ध बनते हैं। जब गण सो जाता है तब पुर विलास करते हैं। आज फिर जनतन्त्र के युग में जानपद जन अँगड़ाई लेकर जग रहा है। यदि वास्तव में हम अपनी महिमाशालिनी संस्कृति का नूतन विकास चाहते हैं तो हमें 'जानपदजन की प्रतिष्ठा' अपना लक्ष्य बनाना होगा। लोकसाहित्य का अध्ययन इस दिशा में बढ़ाने का एक महान् साधन है।

आज से तेईस सौ वर्ष पूर्व उस देवानांप्रिय प्रियदर्शी अशोक ने पहाड़ों की चट्टानों पर जो सन्देश खुदवाया था वह आज फिर से स्मरण किया जा रहा है। उस रास्ते से पठान गये, मुगल गये, शक गये, हूण गये, मराठों की तलवारें अपने कशाघात से राज्यों को झकझोरती चली गयीं परन्तु किसी ने भी ध्यान न दिया था कि यह चट्टानें भी कुछ कहना चाह रही हैं। परन्तु सौभाग्य से आज हम सन्देश को ग्रहण कर सकने के योग्य हो गये हैं, हमें उसे दोहराना है—

जानपदसा च जनसा दसने धमनुसंथि च धम पलिपुछा च।

अर्थात् जानपदजन का दर्शन, जानपदजन के लिए धर्म का सिखावन और जानपदजन के साथ मिलकर धर्मविषयक पूछताछ।

अपने राष्ट्रीय जीवन में अशोक की नीति को आज भरपूर अपनाने की आवश्यकता है। जनपद कल्याण ही में हम सब का कल्याण छिपा हुआ है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में जनपद कल्याण को हम कृषिबल संस्कृति

कह सकते हैं। कृषिबल मंगल की रथ-नाभि में हमारे जीवन के सब सूत्र जुड़े हुए हैं। भूमि, जन और संस्कृति के त्रिकोण में जीवन का सारा रस समाया हुआ है। अतः हमें इसी त्रिकोण का अध्ययन करना है। सबसे बड़ी बात यह कि जनपद का केन्द्र मनुष्य होता है वह मनुष्य जो मानवता का मूल उत्स होता है। उसी की ओर लक्ष्य करके व्यास ने कहा था—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।

और इस मान की प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा साधन लोकसाहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन है।

1952-53

भारतीय हिन्दी परिषद का पटना अधिवेशन

दशहरे की छुट्टियाँ लम्बी हो रही थीं और मन में कुछ घूमने की उत्कण्ठा थी। भारतीय हिन्दी परिषद का 11वाँ अधिवेशन इस बार चन्द्रगुप्त के पाटलिपुत्र में होने जा रहा था। भारतीय हिन्दी परिषद विश्वविद्यालयों के हिन्दी प्राध्यापकों और शोध विद्यार्थियों की अपनी संस्था है। विचार आया क्यों न इकट्ठे तमाम विद्वानों के सम्पर्क और सत्संग को प्राप्त किया जाये। अस्तु, डॉ. हरदेव बाहरी (प्रधानमन्त्री भा.हि.प.) का पत्र मिलते ही हम लोग (मैं और भाई अजित शंकर) पटना के लिए तैयार हो गये। 7 अक्टूबर को सायंकाल साढ़े चार के लगभग कानपुर स्टेशन पर पहुँचे, तो छूटती हुई मेल ट्रेन को विवश भाव से देखते ही रह गये; क्योंकि 1 मिनट का विलम्ब हम लोगों से हो गया था। रात्रि साढ़े आठ बजे तूफान एक्सप्रेस से हम दोनों रवाना हुए। मुगलसराय में पटना के लिए दूसरी गाड़ी मिली। उषाकाल में आरा पहुँचते-पहुँचते आँख खुली और खिड़की से बाहर की ओर दृष्टि गयी। दौड़ती हुई ट्रेन और चतुर्दिक फैले हुए धान के खेत, मानो वे भी ट्रेन के साथ दौड़ रहे हों। धानों की हरिताभा उस स्वर्णिम वेला में एक अपूर्व मधुरिमा का संचार कर रही थी। प्राची की ओर देखते ही अचानक महादेवी जी की पंक्तियाँ गुनगुना उठा—

'आती अरुणा लहराता चेतन सिन्त।'
रक्ताभ श्वेत अश्वों से योजित रथ में,
प्राची की तन्वी आयी जब नभ पथ में।

बिस्तर पर से उठकर तथागत, वर्द्धमान और अंबपाली की उस भूमि को मन ही मन प्रणाम किया, जिसने राजेन्द्र प्रसाद जैसे व्यक्तित्व इस युग में भी उत्पन्न किये हैं। 8 अक्टूबर को प्रातःकाल पटना जंक्शन पर उतरे। उतरते ही डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित (लखनऊ विश्वविद्यालय) से भेंट हो गयी। तत्काल ही स्वागत समिति के कार्यकर्ताओं ने व्यवस्था के लिए दौड़-धूप प्रारम्भ की। स्टेशन के बाहर आते-आते आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, उपन्यासकार यशपाल आदि दर्जनों साहित्य महारथी दिखाई पड़े। मगध महिला कॉलेज की बस ने हमें कैवेंडिश होस्टल (जिसके नाम से होस्टल से अधिक होटल की गन्ध है) पहुँचाया। कैवेंडिश पटना के साइंस कॉलेज

का होस्टल है। 10 बजे के लगभग सदस्यों और प्रतिनिधियों की एक औपचारिक मीटिंग हुई, जिसमें परस्पर परिचय का आदान-प्रदान हुआ। मध्याह्न में जिस समय हम लोग भोजन कर ही रहे थे कि डायनिंग रूम में श्री रामवृक्ष जी बेनीपुरी आ गये। बेनीपुरी जी के साथ हम दोनों उनके घर गये। बेनीपुरी जी बड़े ही जिन्दादिल आदमी निकले। बातचीत के दौरान उन्होंने शिकायत की कि आजकल हिन्दी में रचनात्मक के स्थान पर विश्लेषणात्मक साहित्य का निर्माण हो रहा है। मुझे उसी समय डॉ. देवराज और जे.बी., प्रीस्टले याद आ गये। दोनों ने ही हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य में आलोचना के गिरते हुए स्तर की शिकायत की है। अस्तु किया क्या जाये; बेनीपुरी जी की शिकायत किन्हीं अंशों तक सत्य अवश्य है; पर यह गुण या दोष तो वर्तमान शिक्षा-पद्धति और युग की अपनी प्रवृत्ति का है। बेनीपुरी जी के घर से लौटकर आने पर डॉ. धर्मवीर भारती के कमरे में प्रसिद्ध डच विद्वान 'रामकथा' के लेखक फादर डॉ. कामिल बुल्के से भेंट हुई। उन्होंने रामकथा के सम्बन्ध में अपनी कुछ नयी धारणाओं का जिक्र किया।

सायं 4 बजे से परिषद का अधिवेशन उत्तर प्रदेश के राज्यपाल माननीय मुंशी के सभापतित्व में प्रारम्भ हुआ। स्वागताध्यक्ष आचार्य बदरीनाथ वर्मा, शिक्षामन्त्री, बिहार राज्य ने अपने स्वागत भाषण में राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' से :

श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा।
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः।
वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।

उद्धृत कर बिहार के अतीत सांस्कृतिक गौरव की याद दिलाते हुए स्वागत किया। आपने हिन्दी के मार्ग की कठिनाइयों का जिक्र करते हुए कहा, '...सबसे बड़ी अड़चन यह है कि केन्द्रीय पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाओं के लिए अब भी अंग्रेजी का माध्यम अनिवार्य रखा गया है।' आपका स्पष्ट मत था कि 'विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा कोई भी विद्यार्थी किसी भी विषय के सम्बन्ध में मौलिक ढंग से विचार नहीं कर सकता है।' पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में भी बिहार के इन वयोवृद्ध शिक्षामन्त्री के विचार माननीय हैं। पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में इधर प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय नाम का व्यवहार करके लोग अपने को और दूसरों को धोखे में डाले रहना चाहते हैं। मेरे जानते तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों की अब तक कोई सूची नहीं बनी है। ऐसी किसी सूची के अभाव में यह कहना कठिन है कि वास्तव में कितने शब्द ऐसे हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के माने जा चुके हैं। बिहार के राज्यपाल श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर ने अपने लम्बे उद्घाटन भाषण में हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा कि अंग्रेजी को तत्काल हटा देना देश के हित में न होगा। सबसे अधिक शिकायत उन्हें हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति के बारे में

थी। हम भी यह मानते हैं कि हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति संस्कृत और अंग्रेजी जैसी प्रौढ़ नहीं है; पर इसके यह अर्थ तो नहीं होते कि हिन्दी में कार्य ही न किया जाये। भाषा में अभिव्यंजना-शक्ति इंजेक्शन लगाकर एकदम से तो पहुँचाई नहीं जाती; वह तो प्रयोग और आवश्यकतानुसार अपने आप विकसित होती है। हिन्दी अब तक जनभाषा थी; इस कारण जन-मन को अभिव्यक्त करने की उसके पास अमित क्षमता है। अब अधिक ऊँचे और बौद्धिक स्तर पर आने पर शीघ्र ही वह अपना विकास कर लेगी। उसमें अधिकाधिक टेक्निकल स्तर पर साहित्य के सृजन का उद्योग होना चाहिए। पर इसके लिए सरकार को भी अपनी नीति में परिवर्तन करना होगा, जिसके कि एक महत्त्वपूर्ण अंग स्वयं श्री मुंशी जी हैं।

सायं 7 बजे से डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की अध्यक्षता में एक विचारगोष्ठी 'हिन्दी भाषा की प्रगति' पर प्रारम्भ हुई। विषय का प्रवर्तन डॉ. हरदेव बाहरी ने किया। डॉ. वर्मा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा, 'यह सन्तोष का विषय है कि भारत सरकार ने राजभाषा हिन्दी के विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है... किन्तु गत दो-तीन वर्षों में जिस ढंग से तथा जिस रफ्तार से यह कार्य हो रहा है, उससे समझदार देशवासियों में सन्तोष नहीं है।... क्षोभ इसलिए भी है कि भारत सरकार ने राज्यों की सरकारों तथा विश्वविद्यालयों को सलाह दी है कि वे इस कार्य में हाथ न डालें; क्योंकि वह स्वयं इस कार्य को करा रही है।' आपने सुझाव देते हुए कहा हिन्दी सम्बन्धी कार्य 'किसी पृथक मिनिस्टर अथवा डिप्टी मिनिस्टर के सुपुर्द होना चाहिए, जिसे हिन्दी भाषा, हिन्दी विद्वानों, हिन्दी संस्थाओं आदि की जानकारी हो और इस कार्य में पूर्ण विश्वास और लगन हो।' डॉ. वर्मा ने अपने भाषण में हिन्दी की प्रगति के सम्बन्ध में भारत सरकार, हिन्दी प्रदेश के राज्यों, हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों तथा हिन्दी संस्थाओं, इन चार प्रधान क्षेत्रों का उल्लेख किया, जहाँ से विशेष सहायता मिल सकती है। इस सम्बन्ध में डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर जी एवं पं. रामनरेश त्रिपाठी आदि अनेक विद्वानों ने अपने सुझाव दिये। द्विवेदी जी ने एक सुसम्पादित अंग्रेजी-हिन्दी कोश की आवश्यकता बताई तथा अन्य भाषा-भाषियों में सद्भाव उत्पन्न करने पर जोर दिया। आपके अनुसार उर्दू के सारे साहित्य को हमें नागरी अक्षरों के द्वारा अपने में पचा लेना चाहिए।

9 अक्टूबर को प्रातःकाल 8 बजे से डॉ. इन्द्रनाथ मदान की अध्यक्षता में विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में दूसरी गोष्ठी प्रारम्भ हुई। हम और अजित इस बीच गोलघर और खुदाबख़्श लाइब्रेरी देखने चले गये थे। लौटकर आये तब तक रिपोर्ट पढ़ी जा चुकी थी और विवाद प्रारम्भ हो रहा था। अधिकांश वक्ताओं का मत था कि पाठ्यक्रम में विश्वविद्यालयों में परस्पर एकरूपता होनी चाहिए। संस्कृत आदि आधारभूत भाषाओं और जनपदों की बोलियों के सम्बन्ध में कुछ मतभेद रहा।

लखनऊ विश्वविद्यालय के विद्वानों का मत था कि संस्कृत अनिवार्य विषय एम.ए. हिन्दी में होना चाहिए। बनारस लौटने पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी हम लोगों से इस ओर संकेत करते हुए कहा था कि बिना संस्कृत के ज्ञान के हिन्दी का अच्छा स्कालर हो ही नहीं सकता। रिपोर्ट भी अपूर्ण थी, सम्भवतः डी.ए.वी. कॉलेज से कोई सूचना उन्हें न दी गयी थी, नहीं तो आगरा विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में कुछ भ्रामक बातें उसमें न आयी होतीं।

इस गोष्ठी के पश्चात साढ़े नौ बजे से डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में 'हिन्दी भाषा के स्थिरीकरण' पर एक विचार गोष्ठी प्रारम्भ हुई। इस गोष्ठी में विचार-विनिमय अत्यन्त ऊँचे स्तर पर हुआ। सभापित पद से बोलते हुए डॉ. द्विवेदी ने कहा, 'हिन्दी के व्याकरण और वर्तनी आदि में एकरूपता आवश्यक है।' आपने क्रियाओं और संज्ञाओं के बारे में विशेष नियम अपनाने पर भी जोर दिया।

विषय का प्रवर्तन करते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा नियुक्त 'नागरी लिपि सुधार समिति' की सिफारिशों को उपस्थित करते हुए अपील की कि उन्हें परिषद भी स्वीकार कर ले। उस समिति और परिषद के सभी वक्ताओं का स्पष्ट मत था कि लिपि में आमूल परिवर्तन उचित नहीं। समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं—

(1) मात्राएँ आगे हटाकर लगाई जायें।
(2) स्वर वर्तमान रूप में ही लिखे जायें।
(3) अ, अ; छ, छ; झ, झ; ल, ल; ण, ण; आदि में प्रथम रूप को उचित माना गया।
(4) संयुक्त व्यंजनों को बराबर पर लिखा जाय :—कच्चा
(5) अनुस्वार के लिए ँ तथा अनुनासिक स्वर के लिए ं उचित माना गया।
(6) र के कई प्रचलित रूपों में ्र इस रूप को उचित माना गया।
(7) शिरोरेखा रहनी चाहिए।
(8) देवनागरी अंक अवश्य रहें।

डॉ. वर्मा का मत था कि फ्रेंच एकेडेमी आदि की तरह हिन्दी की संस्थाओं को मान्यता मिलनी चाहिए। इसके लिए आपने सुझाव दिया कि हिन्दी की प्रमुख संस्थाओं को मिलकर कुछ बातों पर विचार कर लेना चाहिए और फिर वे एकमत होकर अपना निर्णय दे दें तथा विवादास्पद विषयों को आगे के लिए टाल देना चाहिए। विचार-विनिमय में डॉ. राजबली पाण्डेय, पं. चन्द्रबली पाण्डेय, डॉ. हरदेव बाहरी, डॉ. उदय नारायण तिवारी, डॉ. सुधीन्द्र आदि ने भाग लिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के श्री ललिताप्रसाद शुक्ल जी ने अत्यन्त जोरदार शब्दों में कहा, 'गौरव और प्रतिष्ठा के साथ सम्मति देने के लिए अच्छी प्रकार से विचार करने की आवश्यकता है।'

अन्त में आचार्य हजारी प्रसाद जी ने कहा, 'यह गोष्ठी विचार-विनिमय के लिए है, फतवा देने के लिए नहीं...एक वर्ण अशोक के काल से अब तक कितने ही रूपों में प्रचलित चला आ रहा है; अतः व्यवहार के लिए यदि थोड़ा परिवर्तन स्वीकार कर लिया जाये तो विशेष आपत्ति की बात नहीं।' वर्मा जी द्वारा दिये गये सुझावों के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए आपने कहा कि सुझाव एक दो मुझे मान्य हैं। तृतीय के सम्बन्ध में आपने 'अ' और 'झ' को अधिक सुविधाजनक माना। र के प्रस्तावित रूप का आपने विरोध किया। शिरोरेखा को भी लिपि की सुन्दरता के लिए आपने आवश्यक माना। द्विवेदी जी ने अन्त में बड़े ही जीवन्त शब्दों में छपाई आदि के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा, 'हम मशीन के अनुसार चालित न होकर मशीन को अपने अनुसार बनाने का प्रयत्न करेंगे।'

वर्तनी (spelling) के सम्बन्ध में विषय का प्रवर्तन डॉ. बाहरी ने किया। आपने अपने संक्षेप में कहे गये लम्बे भाषण में वर्तनी की समस्याओं पर विस्तार से विचार प्रकट किये। डॉ. राजबली पाण्डेय ने वर्तनी की अनेकरूपता का कारण विस्तृत भूखण्ड वताया। अन्य लोगों ने भी कुछ सुझाव दिये; परन्तु एक बज चुका था और क्षुधा लोगों का ध्यान वर्तनी से अधिक बर्तनों (खाने के) की ओर आकर्षित कर रही थी। द्विवेदी जी ने संक्षेप में समावर्तन करते हुए कहा, 'विषय समय सापेक्ष है, अतः इस पर परस्पर अधिक गम्भीर विचार-विनिमय होना चाहिए।... यह आवश्यक है कि हमारे शब्दों की वर्तनी में अधिक से अधिक एकरूपता और सादृश्य हो।'

सन्ध्या चार बजे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की ओर से दी गयी चाय पार्टी के पश्चात सम्मेलन भवन में एक निबन्ध गोष्ठी नागपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आचार्य विनय मोहन शर्मा के सभापतित्व में प्रारम्भ हुई।

शर्मा जी ने अपने भाषण में भाषा और साहित्य दो भागों में शोध-विषयक कार्य को विभाजित करते हुए उन्हें पुनः दो भागों—साहित्यिक भाषा और लोक भाषा तथा संस्कारी साहित्य और लोक-साहित्य—में विभाजित किया। परस्पर आर्य भाषाओं तथा आर्य और द्रविड़ भाषाओं के तुलनामक अध्ययन पर जोर डालते हुए आपने नये सिरे से भारतीय भाषा सर्वे की आवश्यकता बताई। शर्मा जी ने कहा, 'व्यक्ति, जाति, ग्राम, नगर आदि-आदि के नामों की उत्पत्ति का इतिहास भी शोध प्रेमियों को खोज निकालना चाहिए।...देश की समस्त भाषाओं के समान अर्थद्योतक शब्द संचित कर उनका शब्दकोश तैयार कर सकें, तो साहित्यिक (standard) राष्ट्रभाषा के बनाने में बड़ी सहायता मिलेगी।... ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याकरण का भी कार्य हाथ में लिया जाना चाहिए।' आपके मतानुसार प्रत्येक युग के साहित्य के अध्ययन के पश्चात प्रत्येक भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण भी लिखा जा सकता है। कुछ विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान की विशिष्ट शिक्षा की भी आपने आवश्यकता अनुभव की।

साहित्य के क्षेत्र में शोध की निम्न दिशाओं का आपने उल्लेख किया—

(1) प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संकलन और सम्पादन।

(2) लोक-साहित्य का चयन और अध्ययन।

(3) कृतियों का अध्ययन।

(4) साहित्य इतिहास लेखन।

शोध के सम्बन्ध में आपका सुझाव था, 'प्रत्येक विषय के विशेषज्ञों की एक समिति बना दी जाये और उन्हीं के निरीक्षण में शोध कार्य हो।' भाषण का अन्त करते हुए आपने कहा, 'मेरा सुझाव है कि हमें हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास को चार जिल्दों में तैयार करना चाहिए। किस प्रकार सातवीं शताब्दी में शौरसेनी अपभ्रंश से खड़ी बोली का उद्भव हुआ और उसका कैसे आज तक विकास हुआ, इसका इतिहास एक जिल्द में प्रकाशित किया जाये। दूसरी जिल्द में अवधी भाषा और साहित्य का, तीसरे में ब्रजभाषा और साहित्य का तथा चौथी जिल्द में मैथिली भाषा और साहित्य का इतिहास समाविष्ट किया जाये।' सभापति के अभिभाषण के पश्चात अनेक शोधपूर्ण निबन्ध पढ़े गये। उनमें फादर कामिल बुल्के का 'रामचरितमानस का रचना क्रम'। और डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित का 'सन्तों का ज्ञान' उल्लेखनीय है। समयाभाव और भीड़भाड़ के कारण निबन्धों पर विवाद अपेक्षित स्तर पर नहीं हो सका। रात्रि में अजन्ता प्रेस के डिनर और 'अवंतिका' की प्रतियों की प्राप्ति के पश्चात हम लोग 'कल्चरल शो' देखने गये। प्रदर्शन में पंजाब के हीर-रांझा के लोकनृत्य और भारतीय साहित्य में चाणक्य के पाये जाने वाले तीन रूपों (विशाखदत्त, डी.एल. राय और प्रसाद जी) का प्रदर्शन किया गया। 'शो' सब मिलाकर साधारण कोटि का था।

10 अक्टूबर को प्रातःकाल 9 बजे से राजा राधिकारमण सिंह के सभापतित्व में दूसरी निबन्ध गोष्ठी प्रारम्भ हुई। राजा साहब का अपना भाषण इतना मजेदार था कि प्रत्येक वाक्य पर वाह-वाह होती थी। पारसी थिएटर मूर्तिमान हो उठा था; उनकी भाषा में भी अजब चुहल और जिन्दादिली थी। उनका यह भाषण बहुधा लोगों द्वारा सुना गया है। इस गोष्ठी में डॉ. भगीरथ मिश्र और डॉ. केसरी नारायण शुक्ल के निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

सायंकाल चार बजे से परिषद का खुला अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। विभिन्न गोष्ठियों में हुए विचार-विनिमय उसमें संक्षेप में उपस्थित किये गये। डॉ. दीनदयालु गुप्त ने अपना अध्यक्षीय भाषण पढ़ा तथा आचार्य बदरीनाथ वर्मा ने बिहार के प्रधानमन्त्री श्रीकृष्ण सिंह का समावर्तन भाषण पढ़कर सुनाया। समावर्तन भाषण में भाषा और लिपि के स्थिरीकरण पर बल देते हुए भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित करते हुए कहा गया था, 'किसी जीवित भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति को अवरुद्ध करना अवांछनीय है।' स्वागत मन्त्री डॉ. विश्वनाथ प्रसाद

(अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना यूनिवर्सिटी) ने अपने लम्बे धन्यवाद भाषण में धैर्यपूर्वक जम कर लोगों को धन्यवाद दिये। आपका मत था कि 'भारतीय हिन्दी परिषद के इस अधिवेशन से बिहार का इतना अधिक बौद्धिक विकास हुआ है, जितना कभी नहीं हुआ था।'

11 अक्टूबर को प्रातः 2 बसों में नालन्दा और राजगृह की यात्रा के लिए प्रस्थान किया गया। रास्ते में पावापुरी में महावीर स्वामी के निर्वाण-स्थान के दर्शन किये। नालन्दा पहुँचने पर उसकी विशालता, उसका प्राकृतिक वैभव एवं उसकी विशेषताएँ देखकर हम आश्चर्यचकित हुए। सात-सात लेयर्स (Layers) दीवालों के थे। एक बार स्तूप गिरा, उसी के ऊपर दूसरी दीवाल, फिर तीसरी दीवाल बनाते गये। 9-9 मंजिलें विद्यापीठ कक्ष में दिखाई पड़ीं। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री वासुदेव उपाध्याय हमें प्रत्येक कक्ष की विशेषताएँ और रूपरेखा बताते जा रहे थे। बड़ा ही सुव्यवस्थित ड्रेनेज सिस्टम और प्रकाश वायु (Ventilation) का बड़ा ही सुचारु प्रबन्ध दिखाई पड़ा। सचमुच एक सहस्र वर्ष तक शिक्षा, कला और संस्कृति का अप्रतिम केन्द्र दर्शनीय स्थान है। पेटपूजा के पश्चात वहाँ से आठ मील दूर स्थित राजगृह के लिए हम लोग चले। राजगृह एक साथ हिन्दू, जैन और बौद्धों का स्थान है। महाभारत में इसे गिरिव्रज के नाम से जरासन्ध की राजधानी बताया गया है। जरासन्ध का यह दुर्ग पाँच-पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ अजेय रहा होगा। महाभारत में उल्लिखित मणिनाग का मन्दिर भी यहाँ देखने को मिला। सल्फरस्प्रिंग के गर्म-गर्म पानी में स्नान करके पास की भड़भूजे की दुकान से मकई के लावे और चने का भोजन कुछ मित्रों के साथ किया गया। यहाँ की निसर्ग सुषमा से आकर्षित होकर प्रयाग के एक चित्रकार मित्र ने तत्काल ही दो स्केच भी बनाये।

काशी और प्रयाग होते हुए, वहाँ पर अनेक विद्वानों से मिलता हुआ ता. 17 अक्टूबर की साढ़े आठ बजे रात्रि में कानपुर आया। मन में उत्साह और प्रेरणाएँ लेकर लौटा था। हिन्दी की प्रगति और अध्ययन की परम्पराओं को और अधिक निकट से देखने का अवसर मिला था। इस प्रकार के ऊँचे स्तर के साहित्यिक समारोह सूचित करते हैं कि हम जीवन्त भाषा के बोलने वाले हैं। हमारे अध्ययन और विकास की परम्पराएँ प्राणवान और श्रेष्ठ हैं; उन्हें और गति तथा वेग के पंख हम प्रदान कर सकें यही इस समय हमारा ध्येय होना चाहिए।

डी.ए.वी. कॉलेज मैगजीन, 1953

फागों का त्योहार होली

उपनिषद् कहती है—'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।' 'आनन्द से ही सब कुछ की उत्पत्ति होती है, उसी से सब कुछ जीवित है; सब कुछ आनन्द ही की ओर अग्रसर होता है।'

भारतीय मनीषा ने आनन्दवाद के इस सत्य को अपने जीवन में आत्मसात करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। जहाँ उसकी आध्यात्मिक जिज्ञासा और साधना का अन्तिम लक्ष्य आनन्द की सम्प्राप्ति है, वहीं प्रतिदिन के ऐहिक जीवन में उसने इस आनन्द को चरितार्थ करने का भी 'हृदा मनसा मनीषा' प्रयत्न किया है। हमारा जीवन इसी कारण उत्सव-प्रधान हो उठा है। प्रतिपदा से लेकर अमावस्या और पूर्णिमा तक प्रत्येक तिथि में कोई न कोई जनजीवन की पूर्णता की ओर अग्रसर करने वाला पर्व या समारोह हमें वर्ष भर में अवश्य मिल जायेगा। जटिल जीवन की संकुलता के कारण नीचे चली जाने वाली, रस की अन्तःसलिला स्रोतस्विनी इन उत्सवों में उच्छलित होकर हमें नवशक्ति और उत्साह से आप्लावित कर देती है। भारतीय जीवन के इन तमाम उत्सवों में भी होली का एक निराला स्थान है। यह तो उत्सव ही है रस और रंग का। इस दिन हम अपनी सारी कृत्रिम शिष्टता, सभ्यता, विवेक आदि को त्याग कर मूलभूत वासनाओं का नग्न प्रदर्शन करने लगते हैं। हमारे कुछ मनोवैज्ञानिक मित्र इस उत्सव की इस प्रक्रिया को व्यक्ति के अन्तश्चेतन की कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति और परिष्कार के लिए आवश्यक समझते हैं।

होलिकोत्सव मनाने के भी विचित्र ढंग हैं। इस पर्व का मूल रूप भी समस्त भारतीय संस्कृति की भाँति ग्रामों में ही सुरक्षित है। होलिका-दहन के पश्चात सभी स्थानों में होलिका गीत या फाग का प्रचलन है। फाग के साथ उछल-कूद एवं कुछ स्थानों में नृत्य के से ढंग का आयोजन होता चलता है। यह फाग अथवा होलिका गीत अत्यन्त सरस, मधुर एवं हृदयग्राही होते हैं। इसकी गणना लोकगीतों में की जाती है।

भारतवर्ष में जननृत्यों एवं लोकगीतों का यहाँ की संस्कृति एवं परम्परा में विशिष्ट स्थान है। उनकी अपनी शैली, रीति-गीति एवं साहित्य है। कुछ विद्वान एवं आलोचक तो हिन्दी गीति-काव्य का उद्गम इन ग्रामीण लोकगीतों को ही मानते

हैं। फाग का स्थान भी निश्चयात्मक रूप से लोकगीतों में ही है। उत्तर भारत में विभिन्न प्रादेशिक बोलियों में फागें गाई जाती हैं। फाग केवल होली के ही दिनों में नहीं बसन्त ऋतु भर गाये जाते हैं। बसन्त पंचमी के पश्चात आप गाँवों में जाइए, तो दिन भर के थके-माँदे ग्रामीणों की स्वर लहरी, बासन्ती बयार के मद भरे झोंकों के साथ दूर से ही सुनाई देगी।

बसन्त में मादकता होती है। हमारे प्राचीन साहित्य में तो इसे ऋषियों के भी हृदय में विकार उत्पन्न करने वाला, कुसुमायुध भगवान 'काम' का प्रिय सहचर कहा गया है। इस बसन्त की मादकता से सराबोर होता है, होली का पर्व। जब बसन्त एवं होलिकोत्सव मादक, तो उसमें गाये जाने वाले गीत क्यों न मादक हों। जिन व्यक्तियों को कभी फाग सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वही इसकी मस्ती एवं मादकता के आनन्द को जानते हैं। यद्यपि यह मादकता कभी-कभी अश्लीलता का रूप धारण कर लेती है। फाग का एक प्रकार 'कबीर' के नाम से विख्यात है। यह अकसर अश्लील एवं वासनाओं के नग्न रूप होते हैं। पता नहीं 'कबीर' नाम इसका कहाँ से पड़ गया। कहाँ वह प्रचण्ड क्रान्तद्रष्टा महात्मा, सुधारक एवं साधक एवं कहाँ यह अश्लील एवं भद्दे गीत। मेरे विचार से सम्भवतः रहस्यवाद का विकृत रूप 'कबीरें' हैं। कबीर एक रहस्यवादी कवि थे। 'रहस्य' को स्पष्ट करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। परमात्मा एवं आत्मा में पति-पत्नी का आरोप किया जाता है। पर पति-पत्नी के प्रतीक में यदि थोड़ी-सी भी असावधानी हो गयी, तो उसमें ऐन्द्रियकता की गन्ध आ जाने की आशंका रहती है; एवं अर्थ का अनर्थ हो जाता है। कबीर के अधिकांश अनुयायी निम्न जाति के अशिक्षित व्यक्ति थे। कबीर की बानी को इन लोगों ने सम्भवतः कबीर ही नाम दे दिया होगा। कबीर सुधारक भी कट्टर किस्म के थे। अपने विरोधियों को वे खूब खरी-खोटी सुनाते थे। अतः रहस्यवाद को ठीक रूप से अनुयायियों द्वारा न समझे जाने के कारण एवं खरी-खोटी कहने के स्वभाव ने मिल कर इन अश्लील 'कबीरों' की सृष्टि की है।

फाग के कबीर के अतिरिक्त और भी कई प्रकार होते हैं। जैसे बैठक, भड़उवा, लेज इत्यादि। इन फागों के वर्ण्य-विषय पौराणिक, आख्यान, सामाजिक एवं शृंगारिक विषय आदि होते हैं। अब कुछ दिनों से राष्ट्रीय चेतना की जागृति के साथ-साथ राष्ट्रीय फागें भी गायी जाने लगी हैं। यह इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। उच्च कोटि के साहित्य में ही नहीं इन ग्रामीण एवं लोकगीतों पर भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक परिस्थिति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

बसन्त ऋतु के होने के कारण फागें अधिकांश में रस के विचार से शृंगार रस से ही सम्बन्धित होती हैं। इस दृष्टि से यह ब्रज, अवधी अथवा खड़ी बोली के किसी भी साहित्य से कम नहीं होती है। रस परिपाक में यह पूर्ण समर्थ होती है। अपितु मैं तो यह कहूँगा कि अपने सहज ग्रामीण शब्द-सारल्य के कारण अधिक

हृदयग्राही होती है। अर्थ ढूँढ़ने के लिए कोश नहीं टटोलना पड़ता। अपने आसपास के वातावरण एवं परिस्थिति का सजीव चित्रण, होली के हुड़दंग का वास्तविक वर्णन एवं नटनागर श्याम की चंचल किलोलों एवं क्रीड़ाओं का वर्णन सुन कर हृदय रसधारा से आप्लावित हो उठता है। जिस समय ढोल, मृदंग, झाँझ एवं मंजीरों के साथ—

नन्ही-नन्ही बुंदियन मेघ बरसिगा।
पवन बहै पुरवाई।।
कोनेउ बिरिछ तरे भीजति होइहें।
राम लखन दोउ भाई।।
रे वह वन का निकर गये दोउ भाई।।

गाया जा रहा होगा, तो भला राम-लक्ष्मण के साथ-साथ किसका हृदय रस की नन्ही-नन्ही बूँदों से भीज न उठेगा। सहानुभूति का स्रोत-सा उमड़ पड़ता है—राम-लक्ष्मण के प्रति इन पंक्तियों में।

क्रीड़ाधाम श्री कृष्णचन्द्र का नटखटपन एवं होली का हुड़दंग देखिए। ब्रज की गोपियाँ पानी भरने यमुना की ओर जा रही हैं। मार्ग में ब्रजबिहारी मिल जाते हैं एवं छेड़खानी करने के लिए उनकी पानी भरने की गागर तोड़ डालते हैं। गोपियाँ यशोदा के पास उलाहना लेकर आती हैं कि तुम्हारा लाल हमसे बरजोरी करता है, गागर फोड़कर उपद्रव मचाता है। गोपियाँ कह रही हैं—

हमरी श्याम गगरिया फोरी।
मैं जमुना जल भरन जात रहि, संग लिये दस गोरी।
बीच डगर माँ मिलो साँवरो, हमसे करै बरजोरी।।
टेक।।
सब सखियाँ मिलि उलहन लाईं, नन्द बबा की दौरी।
बरजि जसोमति अपने लाल को, हमसे करै बरजोरी।।
हमरी श्याम गगरिया फोरी।

पर यशोदा अपने पुत्र-प्रेम के कारण इन अभियोगों को मानने को तैयार नहीं हैं। वे तो कहती हैं कि छोटा-सा पालने पर झूलने वाला बच्चा युवकोचित व्यवहार—बरजोरी करना क्या जाने। उल्टे वे गोपियों को डाँटती हैं कि तुम पर स्वयं जवानी की मस्ती छायी है, इसीलिए इतने-से छोटे बच्चे पर यह अपराध लगा रही हो। यशोदा कह रही हैं—

अबै तो ललन पलना झुलत हैं,
दूध पियत मोरी ओ री।।
जोबन की तू अलमस्त गूजरी,
लाल लगावे चोरी।। टेक।।

गोपियाँ खीझकर कह उठती हैं—हाँ, तुम बहुत सच्ची; तुम्हारा पुत्र भी बहुत सच्चा?

झूठी तो हम लोग हैं, जो यह उलाहना लेकर तुमसे कहने आयी हैं। वे यह चेतावनी भी देती जाती हैं कि यदि कहीं कुंज गलियों में श्याम मिल गये तो पीताम्बर इत्यादि सब उतरवा लेंगी। वे कह रही हैं—

'तुम साँची, तुम्हरो सुत साँचा,
हम सब करति बहाना री।
कबहुँक मिलि हैं कुंज गलिन में,
लेहुँ पीताम्बर छोरी।।
हमरी श्याम गगरिया फोरी।'

कितनी स्त्री सुलभ खीझ है।

पर इन्हीं उलाहना देने वाली गोपियों को श्याम के बिना ब्रज सूना भी लगता है। कृष्ण मथुरा चले जाते हैं। उनके वियोग में गोपियाँ कह रही हैं—

श्याम बिना ब्रज सूना, सखियो श्याम बिना कुंज सूना।
अन्न बिना जैसे प्रान दुखित हैं, बिनु गृहिणी घर सूना।।
बिनु रजनी के चन्द्र दुखित है, जल बिनु जैसे मीना।
श्याम बिना तैसे ब्रज दुखित है, हम सब फिरति मलीना।।
श्याम बिना ब्रज सूना।।

गोपियाँ अभिसार के लिए उत्सुक हैं। वे किसी न किसी भाँति कृष्ण को बुलाना चाहती हैं। इसके लिए वे नाना प्रकार के प्रलोभन कृष्ण को देती हैं। एक गोपी कहती है—

कोउ झुका सँवलिया गलियन माँ।
प्यास लगै तो हमसे कहियो
गडुवा धरा अटरिया माँ।

गडुवा छत पर रखा है, तुम्हें वहाँ तक चलना होगा। सम्भवतः कृष्ण मिष्ठान्नप्रिय हों और फिर मथुरा के पेड़े तो वैसे ही प्रसिद्ध हैं। अतः एक सखी कृष्ण को पेड़े का प्रलोभन देती है—

भूख लगै तो हमसे कहियो,
पेड़ा रखे अटरिया माँ।

अन्त में एक गोपी ने स्पष्ट रूप से कह डाला—

नींद लगै तो हमसे कहियो,
पलँगा बिछा अटरिया माँ।

एक बार मैंने फाग में एक बारहमासा सुना था। उसकी एक पंक्ति थी—

चैत मास बन फूली चमेली, कहिके गेर पहिरैहौं।
ऊधो अब के गये कब अरिहौं।

कृष्ण हैं नहीं प्रियतम अथवा आराध्यदेव के न होने पर वियोगिनी चमेली का हार गूँथकर किसे पहनावेगी। कितनी मनोव्यथा है उपर्युक्त पंक्ति में। पर इससे यह न

समझना चाहिए कि सभी फाग शृंगारिक ही होती हैं। वैराग्य एवं शान्त रस सम्बन्धी फागें भी आपने सुनी होंगी। एक पद इसी प्रकार का है—

संतौ नदी बहै जल धारा।।
भौसागर नदी अगम बहत है,
लख चौरासी धारा।
धर्मी धर्मी पार उतरिगे,
पापी डूबे मँझधारा।

चौरासी लाख योनियों की वह नदी है। यदि उसे पार करना चाहते हो, तो धर्मात्मा बनो, नहीं तो मँझधार में डूबना होगा। यही नहीं ग्रामकवि यह भी कहता है कि संसार से निर्लिप्त रहकर कार्य करो।

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' का आदर्श सामने रखो।

जैसे जल में पुरइन उपजै,
जल ही में करै पसारा।
वाके पात पानि नहिं बेधैं,
ठहरि जाय ज्यों पारा।।

जल में उत्पन्न एवं प्रसारित होकर कमल पानी से पृथक ही रहता है। फागों में शिव जगदम्बा एवं गणेश जी आदि के भजन भी गाये जाते हैं।

कवियों एवं साहित्य प्रेमियों से मेरा निवेदन है कि फाग इत्यादि ग्राम साहित्य की ओर समुचित ध्यान देकर उसे अधिक विकृत एवं अश्लील होने से बचावें। वे ग्रामीणों को उन्हीं की भाषा में नयी चीजें दें, जो कि ग्रामीणों के मानसिक एवं सामाजिक विकास में सहायता दें।

अन्त में मैं भी अपने पाठकों के प्रति यह कामना फगुहारों के साथ प्रकट करता चलता हूँ—

सदा अनन्द रहै उनके द्वारे, बाबू जी खेलैं होरी।
बनी रही वह दुनहुन की जोरी, नित उठि खेलैं होरी।।

उनकी युगल जोड़ी नित्य रस-रंग की होली खेले। जिन सज्जनों के जोड़ी न हो वे कृपया केवल ऊपर वाली पंक्ति ही पढ़ने का कष्ट करें।

प्रतिभा : नागपुर, मार्च, 1954

ग्रीक और भारतीय पुराण-गाथाएँ

'यह पुराण-गाथाएँ—चाहे हम उन्हें ग्रीक कहें अथवा आर्य या और कुछ—उस घास के समान हैं जो प्रत्येक भूमि पर उगती है।'

—फिरौना मैक्लियोद

साधारणतः पुराण-गाथा से हमारा तात्पर्य उस कहानी से होता है जो इस ढंग से कही जाती है जैसे कि वह पुरा-काल में घटित हो चुकी है। यदि हम अपने बचपन को याद करें तो ज्ञात होगा कि बहुधा प्राकृतिक पदार्थ—वर्षा, अन्धकार, पहाड़ आदि हमें या तो डराते थे या लुभाते थे। हम गुड्डे-गुड्डों को सुन्दर कपड़े पहनाते और उनका विवाह कराते थे। जिस पत्थर से हमें चोट लग जाती थी, हम समझते कि इसने हमें जान-बूझकर चोट पहुँचाई है। पी. थामस के अनुसार मानवता को भी एक व्यक्तित्व के रूप में यदि मान लिया जाय तो उसे बचपन (आदिम-युग) की भावनाएँ, भय, आशा, निराशा और जिज्ञासा हमें पुराण-गाथाओं में प्राप्त होती हैं तथा वे पवित्र अथवा भ्रष्ट परम्पराओं द्वारा हम तक आयी हैं।

वास्तव में मनुष्य जिज्ञासु प्राणी है। जब विज्ञान प्रकृति और पदार्थ का रहस्य बताने वाली कुंजी के रूप में हमें उपलब्ध न था तब भी मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों की कतिपय व्याख्याएँ देनी चाही थीं। श्री जी.एल. गोमे के अनुसार—

"इन कथाओं में 'विज्ञान-पूर्व' युग के विज्ञान के अनुसार पदार्थ की व्याख्या पाई जाती है।"

ये गाथाएँ यह बताना चाहती हैं कि पानी क्यों बरसता है? इन्द्रधनुष क्या है? अथवा सूर्य कहाँ से आता है? कुछ विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह बताया है कि सभी देशों की पुराण-गाथाएँ प्राकृतिक तत्त्वों और उपादानों की व्याख्या करती हैं, जैसे कि सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति और अस्तित्व के बारे में हर देश की गाथाएँ कोई न कोई व्याख्या अवश्य करती हैं परन्तु सही अर्थ में यह कहना कठिन है कि वास्तव में उनका व्याख्यात्मक रूप ही मुख्य है अथवा केवल वही पहलू अधिक अध्ययन के प्रकाश में आया है। उत्तरी अमरीका की गाथाओं में कथा का तत्त्व मुख्य है, व्याख्या का गौण।

पुराण-गाथाएँ प्राचीनकाल में एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक जीवन में रहने के ढंग से उत्पन्न दृष्टिकोण से, जीवन के अनेक तथ्यों के प्रति विचार और अनुभूति की अभिव्यक्ति हैं। वे वास्तव में हमारी किसी तर्क-बुद्धि या जिज्ञासा के शमन के लिए नहीं, बल्कि कल्पना-शक्ति द्वारा मस्तिष्क में होने वाली प्रतिक्रिया को सूचित करती हैं।

जिस प्रकार भूमि के विविध स्तर उसकी आयु और प्रकार आदि बताते हैं, उसी प्रकार पुराण-गाथाओं के विविध स्तर होते हैं जो विविध जातियों की विविध युगों की सभ्यता और संस्कृति का वर्णन रूपकात्मक ढंग पर करती है। यद्यपि विज्ञान की प्रगति के साथ उनका महत्त्व घट गया है फिर भी जन-जीवन की भावना पर उनका गहरा अधिकार है। कला, काव्य और लोक-साहित्य पर गाथाओं का गहरा प्रभाव है। अजन्ता की गुफाओं, योरुप के गिरजाघरों और महलों, भित्तिचित्रों और खँडहरों पर उनका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

यदि कोई व्यक्ति यह आशा करे कि इन पुराण-गाथाओं के माध्यम से हम उस युग का पता पा सकेंगे जब मनुष्य असभ्य था, दुनिया शिशु थी, कल्पना बौद्धिकता के बोझ के नीचे न दबकर पूरी तरह उन्मुक्त थी तो उसे कुछ अंशों तक निराश होना पड़ेगा। बहुधा लोगों में ऐसी भावना होती है कि पुराण-गाथाएँ हमें एक ऐसे परी-लोक में ले जाती हैं जहाँ अप्सराएँ नदी में स्नान करती हुई निकल रही होती हैं या पेड़ों से निकलती हुई वन-देवियों को देखा जा सकता है; जहाँ हमें विचित्र प्रकार के आकर्षक और मोहक दृश्य दिखाई देते हैं। पर असभ्य जातियों के तौर-तरीके का किंचित् मात्र अध्ययन इस रोमाण्टिक दृष्टिकोण को नष्ट कर देने के लिए पर्याप्त है। अप्सराओं, परियों और वरदहस्ता वन-देवियों के स्थान पर हमें भय, क्रूरता, मानव-बलिदान और जादू-टोने आदि दिखलाई पड़ते हैं। अकारण ही होने वाले दैवी-प्रकोपों से सुरक्षा का एकमात्र उपाय उन लोगों के पास जादू-टोना और मानव-बलिदान होता है, परन्तु चित्र का यह धुँधला और भयावना पक्ष भारतीय और ग्रीक क्लासिकल पुराण-गाथाओं से योजनों दूर है। ग्रीक और भारत दोनों ही संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से प्राचीन देश हैं। इनकी उपलब्ध पुराण-गाथाएँ भी अनपढ़ और मौखिक नहीं हैं, बल्कि वे महाकवियों और कथावाचकों की परम्परा से होकर गुजरी हैं। आदिम-मनुष्य की अपने परिवेश के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है, यह समझने में ग्रीक या भारतीय गाथाएँ बहुत सहायता नहीं पहुँचातीं। इन पुराण-गाथाओं से ज्ञात होता है कि वे आदिम बर्बरता से ऊपर उठ आये थे। उनमें सभ्यता का विकास हो रहा था। वहाँ कीचड़ नहीं, निर्मल जल दिखलाई पड़ने लगता है, यद्यपि इधर-उधर कतिपय काले छींटे बर्बरता और मानव-बलिदानों के भी प्राप्त होते हैं; यथा ऋग्वेद की शुनःशेष की कथा में अथवा कतिपय ग्रीक-कथाओं में।

जैसा कि पूर्व ही कहा गया है, ये पुराण-गाथाएँ बड़े कवियों एवं विद्वानों की

परम्परा से हम तक आयी हैं। ग्रीक गाथाओं का पहला लिखित रेकर्ड होमर का 'इलियड' है। होमर का युग ईसा पूर्व 1000 माना जाता है। इलियड में प्राचीनतम ग्रीक साहित्य अत्यन्त समृद्ध, सूक्ष्म और सुन्दर भाषा में अभिव्यक्त हुआ है और अभिव्यंजना की यह समृद्धता एक लम्बी साधना और समय से ही प्राप्त होती है। विकसित सभ्यता का एक निश्चित लक्षण है कि वह भावों, घटनाओं और परिस्थितियों का सूक्ष्म अंकन अपने अभिव्यंजना के उपकरणों के द्वारा करने में समर्थ होती है। भारतीय पुराण-गाथाओं और वैदिक-साहित्य में प्राप्त होने वाली देव-स्तुतियों में भाषा को और भी अधिक सुघड़ता, रंगीनी तथा सौष्ठव प्राप्त होता है। अतः ये कथाएँ आदिम नहीं, ग्रीक या भारतीय सभ्यता पर अधिक प्रकाश डालती हैं; और इनके आलोक में ग्रीक और भारतीय सभ्यता तथा समाज के कलात्मक और राजनीतिक दायों की स्पष्ट विवेचना की जा सकती है।

कतिपय पश्चिमी समाजशास्त्रियों और पुराण-गाथा-विशेषज्ञों का कथन है कि ग्रीक सभ्यता के उदय के साथ एक नया विचार संसार में आया—उसके अनुसार मनुष्य विश्व का केन्द्र बन गया। इन लोगों के अनुसार इसके पूर्व मनुष्य को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था। यह निश्चित बात है कि ऐसा विचार, विचार और कल्पना के क्षेत्र में, अत्यन्त ही क्रान्तिकारी चरण था, परन्तु यह मत भ्रामक है कि सर्वप्रथम मनुष्य का महत्त्व ग्रीस में ही आँका गया।

ऐसे लोग प्रमाण देते हुए कहते हैं कि इराक, मिस्र आदि देशों में जिन देवताओं की उस युग में कल्पना की गयी थी, वे सब मनुष्य के प्रतिरूप न होकर विचित्र-विचित्र शक्लों और आकारों के थे; जब कि ग्रीकों ने अपने देवताओं को अपने समान आकृति वाला बनाया। इसके पूर्व इन देवताओं का यथार्थ से कोई सादृश्य नहीं था। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि ऐसे स्थलों पर भारतीय गाथाओं का संकेत नहीं किया गया, अथवा यदि संकेत किया भी तो नृसिंह, बराह आदि अवतारों की ओर इंगित करके कहा गया कि भारतीय मेधा भी ईश्वर की कल्पना ऊल-जलूल आकृतियों में ही करती रही, उसका मानवीकरण नहीं कर सकी। पर यह बात दो बातें सोचने के लिए विवश करती है कि या तो यह सब जान-बूझकर पूर्वाग्रह से युक्त होकर कहा जाता है अथवा फिर भारतीय गाथाओं से परिचय न होने के कारण एकांगिता के दोष से युक्त है।

अस्तु, सेंट पाल का यह कथन कि "अदृश्य दृश्य द्वारा मूर्त होना चाहिए; यह हिब्रू नहीं, ग्रीक आइडिया है।" संशोधित करके कहा जाना चाहिए कि यह ग्रीक नहीं, भारतीय आइडिया है। दो-एक उदाहरण देखें। वैदिक कवि कहता है—हे प्रकाशवती उषे, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मित-वदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो—

कन्येव तन्वा शाशदानां एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ।।

—ऋग्वेद ।।1 ।।123 ।।10 ।।

श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार—

"यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मित-वदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की आकांक्षा से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है।"

परन्तु इस विवाद का वास्तविक समाधान एक तीसरे मत के अनुसार समुचित ढंग से हो जाता है। पुराण-गाथाओं का एक वैज्ञानिक पक्ष भी होता है। तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा नृतत्त्वशास्त्रियों ने जातियों के निष्क्रमण, मिश्रण आदि का पता लगाया है। मैक्समूलर ने बताया है कि छान्दोग्य-उपनिषद् में जो अण्डे वाली कथा है जिसमें कहा गया है कि सारी सृष्टि का उद्‌भव अण्डे से हुआ, बिल्कुल ऐसी ही एक कथा फिनिश लोगों में प्रचलित है। इन पुराण-तत्त्वज्ञों ने तमाम हिन्दू, ग्रीक और स्कैण्डेनेवियन कथाओं का उद्‌गम एक ही माना है। उनका कहना है कि मूलतः आर्य या ऐसी ही कोई जाति थी जो अपने मूल स्थान से चलकर ग्रीक, जर्मनी और भारत में रहने लगी। अन्य स्थानों पर जाकर रहने से नये सम्पर्कों के कारण उनके धर्म, उनकी भाषा और नामों में बहुत-से परिवर्तन और संशोधन हुए, किन्तु उनमें अपूर्व सदृशताएँ अभी भी विद्यमान हैं। निम्न हिन्दू और ग्रीक देवता एक-से माने गये हैं—

हिन्दू	**ग्रीक**	
इन्द्र	ज़िअस	(लैटिन, जुपिटर)
वरुण	युरेनस	(लैटिन, नेपच्यून)
सूर्य	हेलिअस	(लैटिन, सोल)
चन्द्र	सेलीनी (देवी)	(लैटिन, ल्यूना)
विश्वकर्मा-अग्नि	हीफेस्टस	(लैटिन, वल्कन)
अश्विनीकुमार	कैस्टर, पोलक्स	(दोनों का सामान्य नाम डिस्कौरी था)
कार्तिकेय	एरीस	(लैटिन, मार्स)
दुर्गा	हेरा	(लैटिन, जूनो)
सरस्वती	एथेना	(लैटिन, मिनर्वा)
उषा	योंस	(लैटिन, अरोरा)
काम	एरोस	(लैटिन, क्यूपिड)
रति	एफ्रोडाइटी	(लैटिन, वीनस)

ग्रीक ही नहीं मिस्री और हिन्दू-पुराण-गाथाओं और रीति-रस्मों में बड़ी समानता प्राप्त होती है। भारतीयों की भाँति मिस्री लोगों में भी एक प्रकार की वर्ण-प्रथा है। उनके यहाँ भी सात जातियाँ हैं। हमारे नन्दीश्वर की भाँति वहाँ भी एक बैल-देवता हैं। अन्य कथाओं में भी बड़ी आश्चर्यजनक समता मिल जाती है। वास्तव में पुराण-गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक तथा सांस्कृतिक इतिहास के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। परस्पर आदान-प्रदान के ये प्राचीन सूत्र नयी विश्व-मानवता को काफी ठोस आधार-भूमि दे सकते हैं।

ऐसे स्थलों पर व्युत्पत्तिशास्त्र से बहुत सहायता नहीं मिल पाती, यद्यपि वहाँ भी कहीं-कहीं उल्लेख्य सदृशताएँ विद्यमान हैं, यथा, वैदिक द्यौः और ग्रीक ज़िअस में। लेकिन भविष्य में चलकर नाम और काम इन देवताओं के पृथक्-पृथक् स्थलों पर बदल गये हैं, फिर भी सदृशताओं के लिए यथेष्ट आधार हैं। यहाँ पर उन आधारों के परीक्षण में जाने से हम प्रसंग के बाहर चले जायेंगे। अस्तु, प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का भान कराने वाला आइडिया हिब्रू, ग्रीक या भारतीय न कहकर आर्य कहा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में एडिथ हैमिल्टन ने बड़ी रोचक और मनोवैज्ञानिक बात कही है—"मूर्तिकार ने खेलते हुए नवयुवकों के सुन्दर गठीले शरीर देखे और उसने अपोलो की मूर्ति खड़ी कर दी।" तथा होमर के अनुसार "(कहानीकार ने) उस आयु के तरुण में भगवान को देखा, जब तरुणाई सबसे अधिक मोहक होती है।" ऐसे ही ऋग्वेद का गायक कहता है, "हे इन्द्र, वृद्ध पिता जैसा युवा पुत्र को प्रेरित करते हैं, उसी तरह देव-गण तुम्हें असुर-वध के लिए प्रेरित करते हैं।" तथा इसी प्रकार उसने उषा के रूप में प्रसन्नवदना तरुणी का अपने प्रियतम के पास जाना देखा था। समस्त ग्रीक-कला और विचारधारा मनुष्य में केन्द्रित थी, वैसे ही जैसे कि महाभारत के ऋषि ने जोरदार शब्दों में घोषणा की थी—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

सारांश यह कि इन पुराण-गाथाओं का संसार एक ऐसा संसार है जो सर्वथा मानवीय है। जहाँ कोई अज्ञात, अकारण क्रोधाभिभूत होने वाला ईश्वर नहीं है। भयानक असम्भावनाएँ और डरावनी देवात्माओं की पूजा का पता नहीं। वायवीय और कपोल-कल्पित के पीछे भी इस लोक में एक मौलिकता और तथ्यात्मकता विद्यमान है। सम्पूर्ण वातावरण एक स्नेहमय और दयालु स्पर्श के द्वारा घरेलू और आकर्षक बना दिया गया है।

ग्रीक-माइथोलॉजी की दुनिया से जादू-टोना दूर था। केवल एक कथा ऐसी है, जिसमें दो स्त्रियाँ अतिमानवीय शक्तियों से सम्पन्न हैं, परन्तु वे भी अप्रतिम सुन्दरी युवतियाँ हैं। इन गाथाओं में डायनों और शैतानों का अभाव-सा है। ग्रीक-पुराण-गाथाओं में फलित-ज्योतिष का भी पता नहीं। नक्षत्रों की कथाएँ हैं परन्तु कहीं ऐसा आभास नहीं होता कि वे मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते हैं। फलित-ज्योतिष सम्बन्धी

किसी उल्लेख का ऋग्वेद में भी अभाव है। ग्रीक-पुराण-गाथाओं के बारे में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि वहाँ पुरोहित या मठाधीश (Priest) का नितान्त अभाव है। ग्रीकों के यहाँ वह परमात्मा को प्रसन्न कर उनसे किसी प्रकार की दैवी या असामान्य शक्तियों की प्राप्त करने में असमर्थ है। 'ओडेसी' में जब एक पुरोहित एक कवि के साथ ओडेसियस के सम्मुख घुटनों के बल झुककर अपने प्राणों की भीख माँगता है तो नायक पुरोहित को मार डालता है पर कवि को बचा लेता है। होमर कहता है कि वह उस व्यक्ति को मारने में भय खाता है, जिसे अपनी कला की शिक्षा स्वर्ग से मिली है। इस प्रकार स्वर्ग से सम्बन्धित पुरोहित नहीं, बल्कि कवि है। वहाँ हमें प्रेतात्माओं के भी दर्शन नहीं होते। "प्रारम्भिक ग्रीक-पुराणकारों ने भयपूर्ण-संसार को सौन्दर्यमय संसार में परिवर्तित कर दिया।" —एडिथ हैमिल्टन

परन्तु ग्रीक पुराण-देवता भावात्मक-जगत् में उतने उदात्त नहीं हैं जितने कि भारतीय देवता। ग्रीक देवता बावजूद अपने सौन्दर्य और पराक्रम के, कतिपय नीच वृत्तियों से भी आक्रान्त थे। वे ऐसे भी कार्य करने को तैयार रहते थे जिसे कि कोई भी सभ्य स्त्री-पुरुष करना पसन्द न करेगा। वैदिक पुराण-गाथा के बाद के विकास में इन्द्र और कुछ अन्य देवताओं में यह दोष अवश्य आया है कि वे दूसरे की सुन्दर पत्नी को वासनात्मक दृष्टि से देखते हैं पर वैदिक देवताओं में उदात्तता और पवित्रता, शक्ति और सौन्दर्य, तेज एवं वीर्य की प्रतिष्ठा सदैव प्राप्त होती है। ग्रीक देवता अनुचित कार्य एवं अकारण क्रोध करने में भी सिद्धहस्त थे। वहाँ पर दैवी आत्माएँ कपट-क्रूरता के कार्य बिना किसी हिचकिचाहट के कर सकती हैं। भारतीय पुराण-गाथाओं में रुद्र ऐसे ही क्रोधी देवता के रूप में अवश्य आते हैं। पर वे आशुतोष भी हैं। सामान्यतः ये देवता दया और न्याय के पुंज थे। ग्रीक साहित्य में बाद को न्याय की धारणा आती है। तूफानों और वर्षा का देवता ज़िअस वहाँ सर्वाधिक सत्ता-सम्पन्न और प्रमुख देवता है। होमर के ज़िअस केवल गलत-सही की धारणाओं से परिचित हैं। 'ओडिसी' और फिर 'हेसियोद' में वह अधिक ऊँचे स्तर पर पहुँच गया है। इलियड में वह शक्ति-पक्षीय है और हेसियोद में न्याय-पक्षीय। वहाँ पर 'ज़िअस' के पार्श्व में उसके सिंहासन पर न्याय का आसन है—'न्यायी' सहायक तथा वरदाता के रूप में। ऋग्वेद में इन्द्र का स्वरूप अधिक स्पष्ट है। इन उभय देवताओं के सम्बन्ध में यह विचित्र विरोधाभास है कि इन्द्र का रूप बाद को पतित है जब कि ज़िअस पतितावस्था से श्रेष्ठतर स्तरों की ओर बढ़ता है।

हिन्दू और ग्रीक पुराण-गाथाओं में एक बहुत बड़ा अन्तर पूज्य भावना और दृष्टिकोण का हो गया है। यह अन्तर 'मिथ' और 'पुराण' शब्दों द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है। मिथ का तात्पर्य ही कपोल-कल्पित और झूठ है, परन्तु हिन्दू-धर्म का रूप अधिकांशतः पौराणिक है। वह अठारह पुराणों और रामायण, महाभारत आदि पर आश्रित है, इसका ऐतिहासिक और धार्मिक कारण है। पश्चिम में ये पुराण-गाथाएँ,

ईसाई मत के जन्म के पूर्व की हैं। ईसाई धर्म ने इन्हें अमान्य करार दिया। इन देवी-देवताओं को असत्य ठहराया और ईसाई धर्म के प्रसार के साथ-साथ इनका प्रभाव हल्का होता गया। उन प्राचीन पुराण-देवताओं पर से विश्वास उठ गया। यद्यपि ग्रीक कथाएँ देवी-देवताओं पर आधारित हैं, फिर भी इसी कारणवश कहा जाता है "परन्तु ये (ग्रीक पुराण) ग्रीक बाइबिल या ग्रीक धर्म के वृत्तान्त की भाँति न पढ़ी जानी चाहिए।" अधुनातन पाश्चात्य विचारों के अनुसार गाथा और धर्म के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं होता, जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, ये केवल इतना ही बताती हैं कि प्राकृतिक घटना क्यों घटित होती है? बिजली इसलिए कड़कती है क्योंकि वृत्रासुर और इन्द्र में युद्ध हो रहा है, अथवा ज़िअस ने अपने शस्त्र को घुमाया है। ज्वालामुखी इसलिए धधक रहा है क्योंकि उसके अन्दर कोई शक्तिशाली जीव बन्द है जो बाहर निकलने को छटपटा रहा है अथवा भूचाल इसलिए आता है क्योंकि शेषनाग करवट बदलते हैं। कुछ गाथाएँ केवल मनोरंजन के लिए ही हैं जो अवकाश का समय काटने के लिए कही गयी हैं। ये अधिकांश में रोमानी वातावरण से आपूर्ण हैं, जैसे ऋग्वेद में पुरुरवा और उर्वशी की कथा अथवा पिगमैलियन और गैलेटियर की कहानी।

परन्तु उपर्युक्त मत केवल ईसाई धर्म के विकास-सम्बन्धी दृष्टिकोण से सम्बन्धित होने के कारण एकांगी और भ्रामक है। स्वयं पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है कि कला, धर्म और दर्शन का जन्म पुराण-गाथाओं से ही हुआ है (पी. थामस)। 'मिथ' और 'आइडिया' में अत्यधिक भेद करना कठिन और अनुचित है। डाउसन ने माना है कि वैदिक स्तुतियों में 'आइडिया' और 'मिथ' सर्वदा अपने ताजे और सीधे-सादे रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। स्वयं एडिथ हैमिल्टन ने प्रकारान्तर से स्वीकार किया है कि पृष्ठभूमि में धार्मिकता अवश्य है, यद्यपि वह स्पष्ट नहीं है। होमर से लेकर यूनानी त्रासदीकारों तक यह समझने का प्रयत्न हुआ है कि मनुष्य को क्या होना चाहिए और उसे देवताओं से क्या प्राप्त करना चाहिए? डॉ. कुक का मत है कि पुराण-गाथाएँ और धार्मिक कर्मकाण्ड एक-दूसरे को प्रभावित अवश्य करते थे।

इतना निश्चित है कि पुराण शब्द के साथ निश्चित रूप से धार्मिक भावनाएँ लगी हुई हैं। पर यह धार्मिकता कर्मकाण्ड की भावना से पृथक् वस्तु है। इसी पवित्र भावना के कारण अधिकांशतः ये गाथाएँ अर्थहीन, अंट-शंट और अश्लील नहीं होने पायी हैं।

अस्तु, जहाँ तक भारतीय पुराण-गाथाओं का प्रश्न है, वे जीवित धर्म के रूप में हैं। 'मिथ' शब्द का प्रयोग हम भारतीयों के लिए उसी रूप में नहीं किया जा सकता जिस रूप में यूनानियों के लिए होता है। भारतीयजन वेद के तो प्रत्येक वाक्य को यथार्थ, अपौरुषेय और आप्त मानता ही है, अठारह पुराण उनके उपपुराण और रामायण, महाभारत को भी उतनी ही पूज्य बुद्धि से समन्वित करके देखता है, जितना

एक ईसाई बाइबिल को। इस सम्बन्ध में एक बात कह देना अप्रासंगिक न होगा कि संसार के सभी धर्मों का व्यावहारिक पक्ष अधिकांशतः ऊँचे स्तर के आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों से अछूता होता है, परन्तु भारतीय पुराण-गाथाओं की कथा-वाचक पण्डितों की परम्परा ने तथा आर्यसमाजी विद्वानों के शास्त्रार्थों और व्याख्यानों ने धर्म के ऊँचे तत्त्वों को अत्यन्त साधारण तथा अशिक्षित चित्त तक पहुँचाने का श्लाघनीय एवं महान् कार्य किया है। सामान्य भारतीय किसान न समझते हुए भी शंकराचार्य की भाषा में बोल जायेगा। यही नहीं, उसके जीवन में दार्शनिक की-सी निश्चितता भी समा गयी है।

भारतीय वाङ्मय की एक और विशेषता रही है कि धर्म, दर्शन, कर्मकाण्ड, साहित्य और पुराण परस्पर बहुत अधिक मिश्रित रहे हैं। दूसरी ओर एक मूल स्रोत से उद्भूत (वेदों से) प्रामाण्यवादी मनोवृत्ति के साथ अब तक धर्म चला आया है। नाना प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों से होकर यह गुजरा है। नया जल और नयी भूमि इसके पास आये हैं, पर प्रवाह का नैरन्तर्य नष्ट नहीं हो सका। इस तथ्य ने हमारी पुराण-गाथाओं में एक विचित्र गुण को जन्म दे दिया है। भारतीय पुराण-गाथाओं में एकरूपता जैसी वस्तु का नितान्त अभाव है। कहीं विष्णु बड़े हैं और कहीं महेश। वैदिक-काल के प्रमुख देवता इन्द्र बाद को द्वितीय कोटि में पड़ गये और फिर भगवान श्रीकृष्ण ने तो उनकी उपासना ही बन्द करवा दी। अब तो वे विलासी देवराज के रूप में ही सुरक्षित हैं। शक्ति कहीं पर विष्णु से सम्बन्धित है और कहीं पर शिव से। ब्रह्मा को तो सृष्टि-रचना कार्य समाप्त करने के पश्चात् अनुपयोगी जान छुट्टी दे दी गयी। नये-नये देवी-देवताओं का आगमन होता गया और बहुदेवतावादी धर्म उन्हें अपने संयुक्त परिवार में स्वीकार करता गया। वास्तव में यह सम्प्रदायों के उद्भव, विकास और विद्वेष के कारण हुआ। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि विकास और एकरूपता में अन्तर है। ग्रीक देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन केवल विकासमात्र है।

दोनों क्लासिकल पुराण-गाथाओं में यह मतभेद, जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, एक तो धर्म-प्रवाह के नैरन्तर्य के कारण है। दूसरे कारण की ओर इंगित करते हुए मैक्समूलर ने बताया है—

> *"प्राचीन भारतीय काव्य से प्राचीनतम ग्रीक साहित्य का विस्तृत अन्तर कहीं भी इतना स्पष्ट अनुभव नहीं होता, जितना कि जब हम विकासमान वैदिक पुराण-गाथाओं और पूर्णतः विकसित और विकृत गाथाओं जिन पर होमर आधारित है, की तुलना करते हैं। आर्य जाति की यथार्थ देव-वंशावली वेदों में प्राप्त होती है। जब कि हेसियोद की (देव-वंशावली) मौलिक चित्र का विकृत व्यंग्य है।"*

तात्पर्य यह कि यह अन्तर विकासमान और विकसित एवं ताजे तथा विकृत का है।

मैक्समूलर ने इन गाथाओं के तुलनात्मक अध्ययन की ओर कदम उठाया था, परन्तु इस बीच यह कार्य कुछ शिथिल पड़ गया है। इन क्लासिकल पुराण-गाथाओं का अन्य देशों की गाथाओं और सभ्य तथा जंगली जातियों की पुराण-गाथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन, अत्यन्त रोचक एवं उपादेय होगा।

पुराण-गाथा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में अभी बहुत अधिक कार्य होना शेष है। कथाओं के निर्माण, आदान-प्रदान, कर्मकाण्ड और धर्म के परस्पर प्रभाव, पुजारियों और मठाधीशों का महत्त्वपूर्ण भाग, इन सबका अध्ययन होना चाहिए। नितान्त भिन्न संस्कृतियों वाले देशों की पुराण-गाथाओं के तुलनात्मक अध्ययन के साथ-साथ आदिम जातियों और असभ्य समूहों की गाथाओं का अध्ययन भी नितान्त अपेक्षित है।

अजन्ता : 1955

शिक्षा : 1955

शाश्वत और नवल

अमृतवर्षी जयदेव की अमर पंक्तियाँ गुनगुना रहा था—'धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली'—इतने में ही एक कवि मित्र आ गये तथा उन पंक्तियों की प्रशंसा करते हुए 'गीत गोविन्द' के कुछ सुमधुर अंशों का पाठ अपने ललित स्वर से करने लगे। पाठ चल रहा था, 'ललित-लवंग-लता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे...विहरति हरिरिह सरस-वसन्ते। नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।' मैं सोचने लगा, सहस्राब्दी होने को आयी, परन्तु दिन में पचीसों बार गुनगुनाने के बाद भी प्रत्येक बार नवीन आनन्द क्यों प्राप्त होता है? कवि मित्र से भी मैंने उनकी अनेक बार सुनी हुई कविता ही सुनाने का आग्रह किया; और फिर वही प्रश्न सम्मुख—कि कविता पुरानी क्यों नहीं ज्ञात होती? शाम को एक आलोचक मित्र ने आधुनिक कवियों की मौलिकता पर आक्षेप करते हुए फिर से एक बार मेरी विचार-शक्ति को उद्दीप्त किया। मैं सोचने लगा कि इस तथाकथित मौलिकता और नवीनता का सहस्रों बार पाठ किये जाने वाले 'ललित लवंग लता परिशीलन' से क्या सम्बन्ध है? नवीन प्रतिभा एवं आलोक के साथ-साथ वाल्मीकि और व्यास को उत्तरोत्तर अस्त होते जाना था अथवा नवीन कवियों को उदित न होना चाहिए था। पर क्या कारण है कि आदिकवि से लेकर मेरे कवि मित्र तक सभी आनन्द देते हैं?

संसार की प्रतिक्षण परिवर्तन मानता मनुष्य के मन पर अत्यधिक प्रभाव डालती है। मनोविज्ञान-विशारदों का कहना है कि संसार की इस अनिश्चित और परिवर्तनशील स्थिति के कारण मनुष्य के मन में 'शाश्वत' और चिन्तन की एक जबरदस्त भूख जाग पड़ती है। वह ऐसे तथ्यों, ऐसे सम्बन्धों की प्यास लगा लेता है, जो शाश्वत या सनातन हों। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उसके मन में अनेक धारणाएँ बद्धमूल हो जाती हैं और उन धारणाओं की कभी ही वह विवेकपूर्वक आलोचना करने बैठता है। अस्तु, मेरे मन में भी यह धारणा गहरे पैठी हुई थी कि जो चिरन्तन है वही ग्राह्य है। गुरुजनों ने यही पढ़ाया था कि उच्च कोटि का साहित्य वही है, जो चिरन्तन दृष्टियों से युक्त हो—शाश्वत सत्य का समावेश ही काव्य और कला को स्थायित्व प्रदान करता है। कला के लिए सदा आचार्यगण सनातन सत्य और चिरन्तन सौन्दर्य

की दुहाई देते रहे हैं। यह भी कहते हुए सुनते हैं कि सौन्दर्यबोध व्यक्ति का चिरन्तन स्वभाव है। प्रत्येक दिशा में चिरन्तन की गुहार मची दिखाई पड़ती है। पुरातनपन्थी कहते नजर आते हैं कि प्रगतिवादी साहित्य में चिरन्तन सौन्दर्य और शाश्वत सत्य का अभाव है; अतः वह स्थायी नहीं; कला की दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नहीं; वह तो प्रोपेगेंडा और सामयिक महत्त्व का साहित्य है। दूसरी ओर प्रगतिपन्थी भी नहले का जवाब दहले से देता हुआ फरमाएगा कि सर्वहारा की चेतना से रहित, चिरन्तन श्रेणी-संघ से अछूता साहित्य निष्प्राण होता है। जन-मन को गाये बिना साहित्य में शाश्वत होने की क्षमता नहीं।

पर सच पूछो तो यह चिरन्तन राग पढ़ चुकने के पश्चात भी इसका वास्तविक अर्थ समझने में कम से कम मैं असमर्थ ही रहा। मस्तिष्क बराबर इसके अर्थ की टोह में लगा रहा। सोचा कि सम्भवतः किसी दृश्य, विचार या भाव का बार-बार चित्रण, अभिव्यंजन या अंकन ही 'शाश्वत' गुण के परिगणन में आता होगा। पर साथ ही 'सुरसा का मुँह' एक दूसरी समस्या सामने थी—पुनरुक्ति दोष मानी गयी है। अपना अनुभव भी था कि बार-बार एक ही वस्तु मन में नीरसता का संचार कर देती है। एक ही वातावरण रुक्षता से परिव्याप्त हो जाता है। किसी का बड़ा ही लाक्षणिक प्रयोग है कि परिवर्तन ही जीवन है तथा गति जीवन का चरम सत्य है। साहित्य के काल-प्रवाह को यदि हम ध्यान में देखें, तो निरन्तर धारा की प्रवहमानता वक्रताओं एवं भंगिमाओं की नूतन उपलब्धियाँ प्राप्त करती चलती है। मूल भावों को छोड़ दिया जाये तो भाषा, छन्द, काव्यरूप, विषयवस्तु तथा उपस्थापन शैली सभी बदलते गये हैं। वैदिक कवि की पर्वतीय नीर जैसी निश्छलता तथा सादगी, क्लैसिक कवियों की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना, गरिमा एवं वैभव में बदल जाती है। ऐश्वर्य और वैभव का यह 'ग्रैंज्योर' उत्तरकालीन संस्कृत कवियों की पच्चीकारी और अलंकरण में एक नया रूप धारण कर लेता है। यही नहीं भाषा भी तो बदलती हुई—यहाँ तक कि देववाणी, प्राकृत, पाली के रास्ते चलकर अपभ्रंश होते हुए हिन्दी हो गयी; और विषयवस्तु के भीतर राम, कृष्ण, शिव से लेकर बुद्ध, महावीर, सिद्ध, साधक, योगी, भोगी, सन्त-भक्त और पृथ्वीराज तथा महोबे के महीप सभी आये। अनुष्टुप से सवैये और बरवै तक का रास्ता कितना लम्बा था, यह गिनाने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

ऐसी दशा में लगता है कि कला के मूल में कोई अन्तर्विरोध उपस्थित हो गया है। कला के इन दो मूल सत्यों—स्थायी एवं परिवर्तन की संगति कैसे बैठे? यदि वह चिरन्तन नहीं; तो मात्र 'पैम्फलेट' और नवीनता नहीं तो अनुकृति और नीरस। सोचने लगा कि इनका कोई मिलन-बिन्दु भी तो हो सकता है; सम्भव है कि ये दो विरोधी से लगने वाले तत्त्व मिलते-जुलते हों; एक ही चरम सत्य की ओर इंगित करते हों; अथवा हो सकता है अन्योन्याश्रित हों।

इस प्रश्न पर विचार करते ही मुझे अचानक वर्ष की विभिन्न ऋतुएँ याद आ

जाती हैं। वे प्रत्येक वर्ष आती हैं। यह उनका शाश्वत गुण है और उनमें परिवर्तन होता ही रहता है। वर्ष-भर एक ही ऋतु का सौन्दर्य जड़ होकर पड़ा नहीं रहता। ऋतुराज वसन्त ही को लिया जाये; यह हमें क्यों लुभाता है? कुसुमधन्वा कन्दर्प देवता की यह प्रिय ऋतु भारतीय ही नहीं मनुष्य मात्र को आह्लादित करती है। देश-देश ने उसके विभिन्न नामकरण किये हैं तथा पृथक-पृथक उपकरणों और सज्जाओं से उसका स्वागत करते हैं। पर वसन्त फिर भी चिरनूतन है। वह परम्परा के भीतर घटित होता है इसलिए शाश्वत है। परन्तु वह रूढ़ नहीं है; स्वाभाविक ढंग से अपने परिवर्तन में आता है। उसका कोई मुहूर्त रूढ़िबद्ध होकर स्थापित नहीं है; इसीलिए चिरन्तन है। परन्तु वसन्त पंचमी एक दिन रूढ़ कर दी गयी है; परिणाम आपके सम्मुख है। हम सब लीक पीट लेते हैं; पर वसन्त की मादकता का अनुभव नहीं कर पाते। इसके स्थान पर यदि हम उस दिन वसन्त मनाएँ, जिस दिन हमें यथार्थ अनुभूति हो तो वह हमारे आह्लाद का अटूट निर्झर बन सकता है। पतझड़ में वसन्त मनाने के बजाय जब हमारे यहाँ के शिरीष और अशोक पुष्पित हो उठें, सरसों की पीली गदराई और हरिताभ आम्र-मंजरी मुकुलित हो और जिस दिन हमारे हृदय विकीर्ण सौरभ से भर उठें, उसी दिन वसन्त बन जाये। ध्यान देने की बात है कि निरी आवृत्ति नूतन नहीं है।

यदि वनस्थली में पुराने रुख बने ही रहें, नूतन तरुराजि का उदय न हो, नवीन किसलय दलों की निवृत्ति न हो, नवमुकुलों का प्रफुल्लन न हो तो दृश्यावली की सम्पूर्ण अभिरामता नष्ट हो जाये। इसीलिए तो 'ओल्ड आर्डर चेंजेथ यील्डिंग प्लेस टु न्यू'। कालिदास ने भी इसी बात की ओर इंगित करते हुए कहा था—

त्यजत मानमलं बत विग्रहैः,
न पुनरेति गतं चतुरं वयः।
परभृताभिरितीव निवेदिते
स्मरमते रमते स्म वधूजनः।।

'माननियो मान छोड़ो, बीता यौवन फिर नहीं आवेगा।' कोकिल के स्वर द्वारा मदन का यह अभिमत जान कर कुलवधुएँ क्रीड़ा-प्रवृत्त हुईं। मैथिल-कोकिल का भ्रमर भी 'भमि भमि जोहये माननि मान' यही सन्देश देता था। 'रघुवंश' गवाही है, कालिदास का यह इंगित व्यर्थ नहीं गया—

चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः
पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।
मनस्विनी-मान-विधात-दक्षं
तदेव जातं वचनं स्मरस्य।।

'आम की मंजरियों के खा लेने से जिसका स्वर मधुर हो गया है, ऐसा कोकिल जब मीठे स्वर से कूक उठता है, तो रूठी हुई स्त्रियाँ अपना रूठना भूल जाती हैं।'

वसन्त का यह सन्देश सृष्टि की सुन्दरतम कृति तो सुन ही लेती है, पर कालिदास के ही शब्दों में पशु-पक्षियों एवं वनस्पति-जगत द्वारा व्यक्त चेष्टाओं और आह्लाद का दृश्य भी दर्शनीय है—

पुंस्कोकिलश्चूत-रसासवेन
मत्तः प्रियां चुम्बति राग-हृष्टः।
कूजद्-द्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः
प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु।।

देखो यह नर कोयल भी आम्र मंजरियों के मद में मस्त होकर अपनी प्रिया को प्रेम से चूम कर प्रसन्न हो रहा है। कमल पर बैठा हुआ भौंरा अपनी प्रणयिनी की चाटुकारी कर रहा है। वसन्त की यही तो विशेषता है कि वह किसी की बाट नहीं जोहता, आ पहुँचता है—

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः
स्कंधात्प्रभृत्येव सपल्लवानि।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां,
सम्पर्क मासिञ्जित नूपुरेण।।

'अशोक वृक्ष भी स्कन्ध पर से तत्काल पल्लव-किसलय दलों से फूल उठा। उसने झनझनाते हुए नूपुरों वाली सुन्दरियों के चरण-प्रहार की बात नहीं देखी, ऋतु का परिवर्तन उसे क्षण का सौन्दर्य दे जाता है।' और सौन्दर्य भी क्षण के अणु में होता है, पर वह अणु जब अन्य अणुओं से सम्पृक्त होकर एक निश्चित समग्रता प्राप्त करता है, तभी प्रकाशित हो पाता है।

यहीं पर एक बात की याद हो आयी है—बहुधा सरसों और आम पौष मास में वसन्ती हो जाते हैं, पर हम मनाते वसन्त माघ सुदी पंचमी को ही हैं। मुझे लगता है कि बहुधा सशक्त कवि और कतिपय प्रबुद्ध व्यक्ति अपने समय की रूढ़ वसन्त पंचमी वाले दृष्टिकोण से आगे की बात कहने लगते हैं। साधारण चित्त उस समय उससे तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। काफी समय बाद सहानुभूति दे पाता है; तथा जैसे सरसों के कुछ क्षीणकाय पौधे या अशक्त आम्रतरु वसन्त में भी पुष्पित और पल्लवित नहीं हो पाते या अपेक्षाकृत हीन कलियाँ दे पाते हैं, उसी भाँति कुछ कवि भी देर से चेतते हैं। या वसन्त में भी पतझड़ मनाया करते हैं। यदि ऐसा न होता, तो तुलसी जैसे कलाकार का अपने युग में इतना व्यापक विरोध न हुआ होता, छायावादियों की खिल्लियाँ न उड़तीं और प्रगति-प्रयोग इतने गर्हित न कहे जाते।

मुझे ऐसा लगता है कि घूम-फिर कर 'शाश्वत' और 'नवल' की सारी समस्या 'सहृदय' की समस्या है; रसास्वादन की समस्या है। यदि रचना मर्म को छू नहीं पाती, यदि उसमें रंजन की सामर्थ्य नहीं है, तो चाहे उसे अमौलिक और घिसी-पिटी कहकर त्याज्य करार दे दें; अथवा ऊलजलूल, असांस्कृतिक और अभारतीय कह

कर उड़ा दें, उसमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ने का। पर यह मर्म का छूना भी सहृदय की रससंवेदना, उसके सौन्दर्यबोध पर निर्भर करता है। यह बोध सहृदयों की परिस्थिति, संस्कार शिक्षा-दीक्षा और परम्पराओं के अनुरूप अलग-अलग होता है। अतः यदि परम्परा के ऐतिहासिक बोध और नवीन जीवन-मूल्यों की एक सजग अनुचेतना जाग्रत कर एक सामान्य, पर प्रबुद्ध रुचि-स्तर जाग्रत किया जा सके, तो यह असंगति और अन्तर्विरोध किसी हद तक दूर किया जा सकता है। वास्तव में श्रेष्ठ साहित्य की रचना परम्परा के भीतर युग के यथार्थ को समेट कर होती है। पुत्र पिता की परम्परा में होता है, पर जनक से निश्चित रूप से भिन्न होता है। इलियट ने इस सम्बन्ध में बड़ी सटीक बात कही है, 'वह कौटुम्बिक विशेषताओं को सुरक्षित रखता है और उसके स्वभाव का अन्तर एक-दूसरे युग की परिस्थितियों का अन्तर है।' यही हाल साहित्य का है। अपने परिवेश के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया एक शाश्वत तत्त्व है, पर प्रतिक्रिया का स्वरूप और अभिव्यंजना बहुत कुछ बदल जाती है। साहित्य की यही चिरन्तनता और चिरनूतनता है।

मैं सोच रहा हूँ कि मानव कला और साहित्य सभी अमर हैं; शाश्वत हैं; प्रश्न विच्छिन्न व्यक्ति अथवा कृति का नहीं है, समग्रता का है। व्यक्ति चला जाता है, कलाकार समाप्त हो जाता है, कुछ कृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं, पर परम्परा आगे बढ़ती रहती है। जीवन और कला की शृंखला 'सिनेमा स्लाइड्स' की भाँति आगे बढ़ती जाती है। पर यह स्लाइड्स निरी आवृत्ति नहीं हैं, इनमें नूतन दृश्य-विधान उपस्थित होता रहता है। गति का यह नैरन्तर्य, जीवन की 'कांटीन्यूटी' ही उसका अमरत्व है। वास्तव में 'जगत्यां जगत्' के एक उदाहरण कला और साहित्य में भी सृष्टि के ऋत (गति के नियम) और सत्य (स्थिति के नियम) सदा काम किया करते हैं। इन्हें ही हम परिवर्तित कर 'शाश्वत और नवल' का चक्र कह सकते हैं।

धर्मयुग : 27 फरवरी, 1955

व्यक्ति के बन्धन

मनुष्य के बन्धन प्रमुखतः तीन होते हैं, जो उसे व्यवस्था के बीच से ले चलते हैं–(i) धर्म का (ii) परमसत्ता का (iii) समाज का।

धर्म उसके ऊपर नैतिक मर्यादाओं की स्थापना करता है; ईश्वर आध्यात्मिक बन्धनों की स्थापना और समाज उसके दैनन्दिन जीवन की विविध दिशाओं का सम्यक नियन्त्रण और व्यवस्थित निरूपण!

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य में धर्म, ईश्वर और समाज की भावनाएँ उदित होती हैं। उस समय तीनों का ही स्थान अपेक्षित होता है। यद्यपि सामाजिक बन्धन उस युग में आज की कोटि के न रहे होंगे। पर वहाँ जो भी अभिव्यक्ति होती थी, वह सामूहिक (Collective) होती थी। समूह की जिन्दगी और समूह की चेतना ही प्रमुख थी। वैयक्तिक इकाई का तो जन्म बहुत बाद में हुआ। यहाँ तक कि उस युग का साहित्य चाहे वह गीति-काव्य ही क्यों न हो, वैयक्तिक अभिव्यक्ति न होकर सामूहिक उच्छ्वास है। वैदिक, हिब्रू आदि प्राचीन साहित्यों को देखने से पता चलता है या ज्ञात होता है कि उनमें कुटुम्ब या कुनबे की भावना प्रमुख है। सम्भवतः इसी कारण प्राचीन वाङ्मयों में 'टाइप' चरित्रों का आधिक्य है। कृति के पीछे रहने वाले कर्ता की हमें झाँकी उपलब्ध नहीं होती। चरित्र-चित्रण की इस निर्वैयक्तिक प्रणाली के कारण ही बहुधा इस प्रकार के भ्रम और विवाद उठ खड़े होते हैं, जिनमें प्राचीन साहित्यकारों के जीवन-दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श और आक्षेप होते हैं। परन्तु यह सामूहिक और अवैयक्तिक रूप किसी कठोर सामाजिक बन्धन का उद्भावक नहीं बना। उस समय रक्षा, भोजनादि कुछ मूल आवश्यकताओं के अतिरिक्त कोई विशेष बन्धन न था; और बन्धन होता भी कैसे? समाज और व्यक्ति इतने अधिक वैविध्यपूर्ण उस समय थे भी नहीं। अस्तु, धर्म, ईश्वर और समाज की सत्ताएँ बहुधा साथ ही साथ बढ़ रही थीं। इस विषय में शंका की जा सकती है कि धर्म और ईश्वर पृथक कैसे? पर दोनों में भावनाओं और पद्धतियों का गहरा अन्तर है। धर्म है जिन्दगी बिताने का एक पथ विशेष (A way of life) जबकि ईश्वर किसी परम सत्ता का बोध।

प्रारम्भ में जो धर्म आया, वह बहुत कुछ शक्तिशाली को (प्राकृतिक शक्तियाँ भी) प्रसन्न रखने के सिद्धान्त पर आधारित था। शक्तिमानों को प्रसन्न करने का एक ही ढंग है, जो आज तक चला आ रहा है—(स्तुति और उपहार भेंट)। परन्तु उपहार देते हुए किसी प्रकार के नैतिक बोध का प्रश्न न उठता रहा होगा; बाद में जब प्राकृतिक शक्तियों ने उपहारों के बावजूद भी अपना उग्र रूप न छोड़ा, तब एक परम सत्ता का बोध उस युग के मानव मस्तिष्क में आया होगा; तथा नैतिक प्रश्न भी साथ ही उठे होंगे। कुछ इस ढंग की भावना आयी होगी कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम कुछ बुरे कार्य कर रहे हों और उनका प्रभाव हमारे भविष्य पर इन प्राकृतिक शक्तियों द्वारा पड़ रहा हो। इसी स्थान पर नीति का प्रश्न उठता है और कर्मकाण्ड की भावना का जीवन में समावेश होता है। परिणामस्वरूप उपहार भेंट का ढंग भी बड़ा डेलीकेट हो गया होगा; स्नान करके शुद्ध पवित्र होकर या अन्य विधि-विधानों और अनुष्ठानों द्वारा।

ऊपर हम कह चुके हैं कि धर्म और ईश्वर की भावनाएँ कुछ पृथक होती हैं। एक तो एक प्रकार के जीवन का रास्ता देता है। वह रास्ता अनीश्वरवादी भी हो सकता है; जैसे लोकायत या साम्यवाद। जबकि दूसरे में एक ऐसी नियामक, नियन्ता शक्ति की कल्पना की जाती है, जो एक प्रकार के मानसिक और आध्यात्मिक भय को उत्पन्न करने में समर्थ है। सामाजिक विधि-निषेध इन दोनों से थोड़ा पृथक होते हैं। वहाँ पर मनुष्य की बौद्धिक चेतना अपने अधिक प्रखर रूप में आती है। वहाँ व्यक्ति का प्रश्न व्यापक रूप में लिया जाता है। अतः ऐसे विधि-विधानों और नियम-संयमों की व्यवस्था होती है, जो सामूहिक जीवन को गतिशील बना सकें।

यहीं पर एक और प्रश्न उठता है कि इन नियमों और विधानों का पालन किस प्रकार किया जाये? अतः दबाव और compulsion की सृष्टि सामाजिक जीवन में होती है।

इस सामाजिक दबाव वाले रूप का चरम विकास राज्य के रूप में होता है। इन तीनों बन्धनों के द्वारा समन्वित रूप से नीति और न्यायशास्त्र का विकास होता है; जैसे हत्या और फाँसी। हत्या धार्मिक, ईश्वरीय और सामाजिक दृष्टि से अनुचित है ही, नैतिक रूप से भी गर्हित है; अतः उसके लिए व्यवस्था होती है प्राण-दण्ड की। विभिन्न युगों में इन तीन बन्धनों में कभी किसी ने प्रमुखता प्राप्त की और कभी किसी ने प्रधानता; प्रत्युत यों कहा जाय तो अधिक सत्य होगा कि ईश्वर का बन्धन आपेक्षिक रूप से सबसे क्षीण रहा। बन्धनों की प्रमुखता के अनुसार नैतिकता के व्यापक नियमों का भी संशोधन होता रहा। भारत में वाममार्गियों के यौवनकाल में पंचमकार आदि नैतिक दृष्टि से घृणित वस्तुओं का सेवन साधना की दृष्टि से अनिवार्य माना गया और जनता भी उन साधकों की पूजा करती रही। राज्य दण्ड के चरम विकास के समय इसी प्रकार राजाओं या अन्य शक्तिशाली लोगों द्वारा

किये जाने वाले नीति-वर्जित कार्य क्षम्य रहे। राज्य की हर सुन्दरी उनकी उपभोग्य थी, प्रत्येक नव-विवाहिता की मधुरात्रि राजा का अधिकार थी। बहुमूल्य वस्तु मानो उनके सन्तोष के लिए ही सृजित होती थी। अस्तु, यह तो विकृत स्वरूप की बात हुई; पर सामान्यतः धर्म नैतिक नियमों को मान्यता देता था। राज्य उनका पालन करवाता था। कुछ क्षेत्र ऐसे भी थे, जहाँ राज्य की व्यवस्था संवाहन के साधनों के अभाव के कारण अथवा विकेन्द्रीकरण की नीति के कारण समुचित ढंग की न हो पाती थी। यहाँ पर आम तौर पर उपजातियों की पंचायतों द्वारा दण्ड बहिष्कार आदि की व्यवस्था रहती थी। पर 11वीं सदी में आकर विज्ञान ने समस्त प्राचीन विश्वासों, धार्मिक भावनाओं और पद्धतियों की नींव को हिला दिया। नये मनुज के भीतर एक नयी आस्था ने जन्म लिया। उसने अनुभव किया कि मनुष्य की बुद्धि और उत्पादन व्यवस्था ही अधिकांशतः समाज का नियमन और परिचालन करती है। आध्यात्मिक के स्थान पर भौतिक का बोलबाला होने लगा। धर्म-बुद्धि का स्थान विज्ञान-बुद्धि ने ले लिया। पश्चिम में इस नवीन विज्ञानवादी दर्शन का प्रारम्भ हुआ। वहीं नृत्तत्वशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विविध ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं का उद्‌भव एवं विकास हुआ। परिणामतः इनके परिपार्श्व में नयी मान्यताओं, सिद्धान्तों और व्यवस्थाओं की स्वतन्त्र स्थापना हुई। इस सन्धिकाल की अनिवार्य परिणति थी कि प्राचीन और नवीन तथा नैतिक और सामाजिक विचारों के बीच तीव्र संघर्ष हो। जितनी उथल-पुथल विचारों और मान्यताओं की, नवीन एवं पुरातन की आज हम अपने देश में देख रहे हैं, उससे कहीं अधिक योरप में अनुभव की गयी थी। वहाँ पर मानसिक असन्तोष ही नहीं, शारीरिक रक्तपात भी हुआ था।

अस्तु प्राचीन विश्वासों, धार्मिक-व्यवस्थाओं की नींवें भहराने पर प्राचीन नैतिक मर्यादाओं का भी उल्लंघन प्रारम्भ हुआ। धर्मसंघ अनिवार्य कारणों से प्राचीन नीति शास्त्र के जड़ नियमों की प्रतिष्ठा बनाये रख सकने में दुर्बल सिद्ध हुए। राज्य व्यवस्था संक्रान्ति काल में थी। अतः कुछ दिनों के लिए नैतिक मूल्यों की उपेक्षा हुई। पर शीघ्र ही किसी न किसी प्रकार व्यापारी वर्ग ने अपना प्रभुत्व जमा लिया और नवीन व्यवस्था के अनुसार कुछ नवीन मूल्यों की स्थापना क्रमिक रूप से होती गयी। कहना यों चाहिए कि एक नये ढंग की व्यक्तिवादिनी और अर्थवादिनी नैतिकता का जन्म हुआ, जिसमें करुणा और दयावाद का इकाई कृत रूप मिलता है। सामूहिक शोषण उस व्यवस्था के भीतर उचित है, व्यक्तिगत अत्याचार वर्जित। इस कारण सामूहिक वस्तु Morality का पतन हुआ और यौन नैतिकता ऊपर उठी। इसके भी पश्चात पश्चिम में रूस आदि में नयी सामाजिक व्यवस्था के भीतर एक नये प्रकार की सामाजिक नैतिकता (Social ethics) का उदय हुआ है, जो अपने स्वरूप में आदिम सामूहिक नैतिकता से भी भिन्न है और व्यक्तिवादिनी नैतिकता से तो अलग है ही। सामूहिक करुणा एक वर्ग विशेष तक सीमित रहती है। इसमें दया और

मानवता के साथ-साथ आक्रोश और घृणा भी चलते हैं; पर सम्भवतः इसकी सबसे बड़ी त्रुटि है कि इसके द्वारा व्यक्ति के चारित्र्य पर सम्पूर्ण रूप से नियन्त्रण न हो कर केवल अर्थ दृष्टि और राष्ट्र की दृष्टि से विचार किया जाता है। आध्यात्मिक और मानसिक मूल्यों का उसमें कोई स्थान नहीं। यह बात मैं मार्क्सवाद की नहीं, रूसी व्यवस्था की कह रहा हूँ।

हमारे देश की परिस्थितियाँ इस समय बड़ी विचित्र हैं। यहाँ विज्ञान और पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ पश्चिम की विश्लेषण प्रवण और शंकालु प्रवृत्ति तो उत्पन्न हो गयी, पर एक निश्चित आदर्श के प्रति किसी भाँति की श्रद्धा और विश्वास का अभाव है। इस देश के बड़े-बड़े जिम्मेदार व्यक्तियों तथा चिन्तनशील सुशिक्षितों से पूछिए तो वे किसी एक लक्ष्य या व्यवस्था या सामाजिक दर्शन के प्रति सन्देह की अवस्था में पड़े हुए मिलेंगे। बहुत अधिक प्रत्यक्ष बात राजनीतिक दलों को लेकर प्रश्न कीजिए, तो ये लोग कांग्रेस शासन को अन्याय युक्त बताएँगे। समाजवादियों के प्रति उनके मन में दूनी शंका का भाव है, जनसंघियों को वे भी प्रतिक्रियावादी बताएँगे और कम्युनिस्टों से घृणा करते हुए मिलेंगे। दूसरी ओर समाज और राज्य के जिस व्यवस्थित नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, वह भी पराधीनता के कारण नहीं हो सका। जिन सामाजिक मान्यताओं और व्यवस्थाओं को विकसित होना चाहिए था, वहाँ पर तो शासन की ओर से अवरोध उपस्थित किया गया तथा पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। सामन्त, पूँजीपति तथा व्यापारी आदि वर्गों का स्वाभाविक विकास भी नहीं हो सका। हमारे यहाँ पूँजीपति और सामन्त के बीच प्रतिद्वन्द्विता सही अर्थों में उत्पन्न ही नहीं हो पायी है। कितने ही राजे-जमींदार, ताल्लुकेदार, उद्योगपतियों एवं व्यापारियों का रूप धारण करते आये और कर रहे हैं। यहाँ ये दोनों वर्ग बहुधा एक-दूसरे के सहायक रहे हैं। इसके अतिरिक्त विशाल देश में विकेन्द्रीकरण और ग्राम पंचायतों का जो महत्त्व था, वह भी परतन्त्रता के युग में समाप्त हो गया। इन परिस्थितियों के मध्य प्राचीन नैतिकता (जो अधिकांश में धर्मगत थी) तो समाप्त हो गयी, पर उसके स्थान पर किन्हीं नवीन मूल्यों की स्थापना न होने के कारण एक प्रकार का शून्य हमारे सामाजिक जीवन में उत्पन्न हो गया। Morality समाप्त हुई, पर Morale ऊपर नहीं उठ सका। ईश्वर का बन्धन तो प्रारम्भ से ही कमजोर था। इस बीच धर्म का नियन्त्रण भी ढीला पड़ गया। अब केवल थोड़ा बहुत भय लोक या समाज का रह गया था, पर पिछले कुछ वर्षों की दुरूह आर्थिक परिस्थितियों और जीवन संग्राम की जटिलताओं, नागरिक जीवन की कशमकश, एक अजीब सनसनी, उत्तेजना और दम घुटाने वाले वातावरण के भीतर इस तत्त्व का भी महत्त्व बहुत कम पड़ गया है। योरप में इस तरह की दशा बहुत अल्पकाल के लिए हुई थी, क्योंकि वहाँ पर परिस्थितियों का विकास बहुत ही स्वाभाविक ढंग से हुआ था। कार्य-कारण की परम्परा के भीतर समस्याएँ और

समाधान, उद्भूत हुए थे। वहाँ की समस्याएँ दूसरे ढंग की हैं, वहाँ की समस्याएँ सिरी कल्चर की हैं। उन पर यहाँ विवेचना करना बहुत समीचीन नहीं।

अस्तु, एक ओर तो हमारे यहाँ नितान्त पुराना ढाँचा भी कायम है और विज्ञान के अधुनातन उपकरण भी। बैलगाड़ी और ग्लाइडर साथ-साथ चल रहे हैं। हमारी अभिलाषा ढेड़ सौ वर्षों की प्रगति दस वर्षों में पूरी करने की है। पर साथ ही युगानुरूप एक नवीन सम्यक तत्त्व-दर्शन का अभाव भी है। देश में एक सुचारु राज्य व्यवस्था के स्थापित होने में भी कुछ विलम्ब है। नैतिक मान्यताओं की इन मृतप्राय परिस्थितियों के मध्य प्रत्येक अपने स्थान पर भ्रष्ट हो उठा है। सरकार और जन साधारण दोनों की नैतिक मर्यादाएँ गिरी होने के कारण उनका एक केन्द्र पर सम्मिलन और सहयोग असम्भव हो रहा है। परिणाम यह कि राष्ट्र की अनपेक्षित हानि और पतन।

इन समस्याओं पर हमें गहरे ढंग से विचार करना है। आज ऐसी व्यवस्था की पुनः स्थापना होनी है जो हमें पुनः नैतिक दृष्टि से उच्चतर व्यवस्था की ओर ले चले। एक नये तत्त्व-दर्शन, धर्ममत का निर्माण हमें करना है। पर हम निराश नहीं हैं, आस्था के बीजों में अभी प्राणतत्त्व निःशेष नहीं हुआ है। अब हम स्वतन्त्र हैं, अपने दिल में विचार करने और अपना रास्ता आप तय करने के लिए। कुछ दिन इधर-उधर भटक कर हमारे पदचिह्न कण्टकाकीर्ण भूमि में ही राजमार्ग का निर्माण कर लेंगे। मनुष्य के पदतल में महान् और जीवन्त शक्ति का वास है।

पर समस्या यहीं पर समाप्त नहीं होती। यह तो पश्चिम के स्तर तक पहुँचने की बात हुई; पर पश्चिम समस्या मुक्त नहीं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि वहाँ पर सिरी कल्चर एक भयानक खतरे के रूप में उपस्थित है। पाश्चात्य संस्कृति उसके लिए उपाय नहीं ढूँढ़ पा रही है। आज मनुष्य समाज के साथ नहीं, प्रत्युत भीड़ के साथ चल रहा है। उस भीड़ में कन्धे से कन्धे भिड़े रहते हैं। गलों से गले, आँखों से आँखें मिल जाती हैं। परन्तु यह धक्के के भीतर अचानक एक्सीडेण्टली होता है। मनुष्य बदहवास-सा आगे बढ़ जाता है। सामाजिक सूत्रों की रागात्मकता नष्ट हो गयी है। संस्कृति पीछे पड़ गयी है, सभ्यता आगे बढ़ गयी है। पश्चिम के मनीषी इस भयानक समस्या के अस्तित्व के सम्मुख किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। पूर्व में समस्या इतनी प्रमुखता से सामने न आने के कारण अभी हमारे मस्तिष्क इस ओर भली भाँति उन्मुख नहीं हो रहे हैं। पर शीघ्र ही हमें इस ओर ध्यान देना होगा। अतः मनीषियों, विचारकों, नियोजनकर्ताओं और व्यवस्थापकों को गम्भीर भाव से इस पर सोचना चाहिए और इसके लिए सुचिन्तित आयोजना करनी चाहिए।

कॉलेज पत्रिका : 1955

मनोरंजन का सामाजिक दायित्व

ज्यों-ज्यों हमारे राष्ट्रीय जीवन में बौद्धिक चेतना का प्रसार हो रहा है, उद्योग-धन्धों की वृद्धि के साथ जिस प्रकार व्यक्ति की व्यस्तता बढ़ती जा रही है, उसे मनोरंजन और अवकाश की घड़ियों को रचनात्मक रूप से बिताने की सुविधाएँ प्राप्त होने की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। मनोरंजन से व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्फूर्ति प्राप्त होती है। भारतीय जनजीवन का निकट अध्ययन करने पर विदित होगा कि धर्म से लेकर सामाजिक रीति-रिवाजों तक में मनोरंजन को विशेष स्थान दिया गया है। आज आवश्यकता इस बात की है कि मनोरंजन का रूप स्वस्थ बनाया जाये और ऐसे साधनों का आविष्कार किया जाये, जिनके द्वारा मनोरंजन को सर्वसाधारण के जीवन का अंग बना दिया जाये। प्रस्तुत लेख में मनोरंजन के सामाजिक स्वरूप की चर्चा की गयी है। इस चर्चा को सार्थक तभी किया जा सकता है, जबकि हमारे पाठक उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें और अपने थके मन को तरोताजा करते समय सामाजिक मूल्यों और दायित्वों को उचित महत्त्व दें।

मनोरंजन सम्बन्धी इतिहास अनुसन्धान करने वालों का प्रिय विषय हो सकता है। विविध युगों में मानव-प्रतिभा के विकास के साथ-साथ मनोरंजन की मूल प्रवृत्ति ने किन-किन रूपाकारों को ग्रहण किया, इनका अध्ययन रोचक ही नहीं बल्कि सामाजिक विचारधाराओं के विकासमान स्वरूप को समझने के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। अलग-अलग भौगोलिक सीमाओं एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के भीतर पृथक-पृथक ढंग से जन समुदाय अपने श्रान्त-क्लान्त मन को प्रफुल्लता प्रदान करता आया है। कहीं उसने नये ढंग, नये खेल और नवीन साधन जुटाए, तो कहीं पुराने प्रकारों की तकनीक और उपकरणों में अपनी बुद्धि का उत्कर्ष दिखाया।

मनोरंजन में संलग्न होने पर हमारी वृत्तियाँ कृत्रिम बन्धनों से मुक्त हो जाती हैं। समाज, सभ्यता तथा नैतिकता आदि के विधि-निषेध मानवीय प्रज्ञा को एक प्रकार के तनाव की स्थिति में रखते हैं। ऐसा लगता है कि मन किसी चौखटे में कसा हुआ है। यह तनाव मनोरंजन के समय शिथिल हो जाता है। मानसिक तनाव की यह शिथिलता जहाँ एक ओर व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास एवं सुरक्षा

के लिए आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे अवसरों पर मनुष्य की निम्नगामिनी एवं पशु वृत्तियाँ उससे शिष्ट सीमाओं का अतिक्रमण करा देती हैं। ऐसे ही मनोरंजन को हम साधारणतः अश्लील कहते हैं। इस शब्द के भीतर अंग्रेजी के Vulgar, Obscene तथा Absurd इन तीनों शब्दों के अर्थों का समावेश हो जाता है। मार-पीट एवं क्रूरता इत्यादि के द्वारा प्राप्त किया गया रंजन Vulgar कहा जायेगा। गाली बकना, कबीर गाना तथा मनुष्य की लैंगिक वृत्तियों को उभाड़ने वाला Obscene तथा अवसर का विचार किये बिना जो मनोरंजन किया जाये वह Absurd कहा जायेगा।

मनोरंजन हमारे सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण ही नहीं अनिवार्य हिस्सा है। सामाजिक कल्याण की विविध दिशाओं से उसका गहरा सम्बन्ध है। इस कारण मनोरंजन के सामाजिक उत्तरदायित्व को दृष्टिगत रखना नितान्त आवश्यक होता है। यह सही है कि मनोरंजन मनुष्य का वैयक्तिक अधिकार है, और नितान्त वैयक्तिक स्तर पर भी सम्पन्न किया जा सकता है। पर उसके निहितार्थ एकदम समाजोन्मुख हैं और अन्ततः उसके सामाजिक आधार और पक्ष ही प्रधान हो उठते हैं; इसलिए यह आवश्यक है कि मनोरंजन के ऐसे रूपों को बढ़ावा दिया जाये, जो सामाजिक मंगल को बढ़ाने वाले हों, जो शिष्टता और संस्कृति के उद्‌बोधक हों। एक उदाहरण इस सम्बन्ध में लें। अपने कमरे में आप आराम से बैठ कर कोई कहानी पढ़ मनोरंजन कर सकते हैं। देखने में यह नितान्त वैयक्तिक है; आप किसी से बोल नहीं रहे, शोर नहीं मचा रहे, मन ही मन आनन्द ले रहे हैं। पर तनिक गहराई से विचार करके देखें तो स्थिति दूसरी ही नजर आयेगी। वह कथा अपराध की मनोवृत्तियों को उकसाने अथवा स्त्री-पुरुष के लैंगिक सम्बन्धों को अश्लील ढंग से चित्रित करने वाली हो सकती है, जो आपको भी कमजोर बना सकती है तथा आपके बच्चों को भी दुश्चरित्र बना सकती है। अशिष्ट और अश्लील साहित्य की यह समस्या अमरीका में व्यापक रूप से अनुभव की जा रही है। अपनी सरकार भी देशी और विदेशी दोनों प्रकार के अश्लील साहित्यों को रोकने के लिए अनेक प्रयत्न कर रही है। फिर इस समस्या का एक सामाजिक पक्ष और भी है। मनुष्य की पशु-वृत्तियाँ अवसर पड़ते ही उसे नीचे की ओर खींचने का प्रयास करती हैं और उसे सस्तेपन की ओर ले जाती हैं। यह सस्तापन और अकलात्मक निम्नगामी आकर्षण उससे श्रेष्ठ साहित्य एवं कला की उपेक्षा कराता है। यह उपेक्षा धीरे-धीरे एक विशाल दायरे के भीतर फैलकर हमारे सांस्कृतिक विकास को रोक देती है। हमारे मौलिक चिन्तन और सृजन का रास्ता रुक जाता है। नैतिक मूल्य विनष्ट होने लगते हैं और अन्तिम परिणाम होता है राष्ट्र का पतन। स्पष्ट है कि तथाकथित वैयक्तिक मनोरंजन कितने बड़े सामाजिक अपकार की सृष्टि कर सकता है।

मान लीजिए आप ताश के पत्तों पर जुआ खेलते हैं। देखने में आप दो-चार मित्र ही बाजी लगाने बैठते हैं; पर यह दो-चार मित्र ही वह बिन्दु हैं, जहाँ से एक बड़ा

कुचक्र प्रारम्भ होता है। आपके वर्तमान दो-चार मित्रों की यह परम्परा आगे बढ़ती है तथा आपके कुटुम्ब में, कुल में और समाज में अपना प्रसार पाती है। यूरोप में एक नगर मांतेकार्लो है; वहाँ पर प्रारम्भ में एक जुआ घर खोला गया था, पर आज वह दुनिया का सब से बड़ा जुआ, विलासिता और पैशाचिक कृत्यों का अड्डा हो गया है।

वास्तव में जिस मनोरंजन का सामाजिक दायरा जितना ही बड़ा हो उसकी शिष्टता और मर्यादा पर उतना ही ध्यान रखना आवश्यक है। सिनेमा, नाटक, कवि सम्मेलन, नृत्य-गीत आदि सामूहिक मनोरंजन के साधन हैं। इसलिए दुनिया की समस्त सरकारों ने नाना प्रकार की व्यवस्थाएँ कर रखी हैं कि इनका प्रभाव कहीं बुरा न पड़े, उनकी रोकथाम बनी रहे।

मनोरंजन में हास्य-व्यंग्य का प्रमुख स्थान है; पर इस सम्बन्ध में इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह कुरुचिपूर्ण और अशिष्ट न हो जाये। कुछ दिन पूर्व ऐसे कुरुचिपूर्ण हास्य का एक दृष्टान्त हम लोगों के सम्मुख प्रयाग के ऑफिसर्स ट्रेनिंग स्कूल का आया था। मुख्यमन्त्री डॉ. सम्पूर्णानन्द ने उस व्यक्ति और उस प्रवृत्ति की वहीं सार्वजनिक निन्दा की, जिसकी कुरुचि के फलस्वरूप संस्कृत में जूतों की किस्में गिनाते हुए उनका ऋषि-मुनियों पर प्रयोग भी बताया गया था। वास्तव में हास्य-व्यंग्य भी सोद्देश्य होने चाहिए; असंगतियों को नष्ट करने में प्रयुक्त किये जाने चाहिए। 'गोदान' का गोबर, नगर से लौट कर होली के अवसर पर जो स्वाँग रचता है, वह ग्राम्य जीवन के कर्णधारों की अनीतियों को स्पष्ट करता और उनकी कमजोरियों पर सीधा प्रहार करता है। वास्तव में ऐसा ही मनोरंजन श्रेष्ठ है; जो एक ओर समाज सुधार भी करता है और दूसरी ओर मानसिक तनाव को भी ढीला करता है। होली हमारे यहाँ हास्य और मनोरंजन का त्योहार होता है। पर बहुधा हम उसमें जिस कुरुचि, अशिष्टता और अश्लीलता का प्रदर्शन देखते हैं; वह लज्जाजनक है। लोगों पर कीचड़ फेंकना, गन्दे पानी की बौछार, चलती ट्रेन पर पत्थरों की वर्षा, राह चलते लोगों के सर पर से टोपी या अँगोछा अचानक उतार कर होली के लिए जबरदस्ती पैसे वसूल करना तथा कबीरें गाना—हमारी कुरुचि और असभ्यता को ही सूचित करते हैं। कुछ दिन पूर्व होली के अवसर पर एक आदमी के चेहरे पर किसी उत्साही 'होरिहार' ने रंग पोत दिया, रंग उसकी आँखों तक पहुँच गया और वह अन्धा हो गया। हास्य के ये भद्दे स्वरूप सर फुटौवल, मुकदमेबाजी और हत्याकाण्डों तक को उपस्थित कर देते हैं। तभी किसी पुराने अनुभवी ने कहा है—'रोग का घर खाँसी और लड़ाई का घर हाँसी।' कुछ तमाशबीन कभी-कभी कुत्ते आदि की दुम में पटाखे बाँध देते हैं। वे निरीह प्राणी उनकी आवाज से घबड़ा कर इधर-उधर भागते हैं। ये सब अत्यन्त क्रूर मनोरंजन हैं जिनका बन्द होना लाज़मी है।

शिष्टता और नियमबद्धता तो हमारे विकास को सूचित करते हैं। वे मनोरंजन के बाह्य प्रभाव में ही नहीं उसके आन्तरिक संगठन में भी आवश्यक हैं। इसी कारण

मनोरंजन के विविध रूपों और साधनों को एक विशिष्ट ढंग से निर्धारित और नियमबद्ध किया गया है। विविध प्रकार के खेलों के नियम जहाँ उनको एकरूपता और संघटन प्रदान करते हैं, वहीं उन्हें अशिष्ट होने से बचाते हैं। आपने हॉकी और फुटबाल आदि में फाउल का नाम सुना होगा। फाउल करने वाले पक्ष को निरीक्षक एक निर्धारित दण्ड देता है। यह दण्ड उस खेल की आन्तरिक शिष्टता को भंग करने का परिणाम है। यह उचित नहीं है कि फुटबाल खेलते समय किसी को टँगड़ी मार कर गिरा दिया जाये; अथवा हॉकी से किसी का पैर तोड़ दें। ऐसा करना खेल की दृष्टि से अनुचित और अशिष्ट है। पुराने समय में तो शिकार का भी नियम था कि माताओं और बच्चों पर आक्रमण न किया जाये। राम को देख कर जब मृग भागने का उपक्रम करते हैं, तो मृगियाँ खड़ी ही नहीं रहतीं बल्कि व्यंग्य भी करती हैं—

हमहिं देखि मृग निकर पराहीं
मृगी कहहिं तुम कहँ भय नाहीं।
तुम आनन्द करहु मृग जाय,
कंचन मृग खोजन ये आये।

मनोरंजन के विविध प्रकारों में साधारण रूप से हम किसी को भी निन्दनीय नहीं कह सकते। वह निन्दनीय तब होता है, जब उसमें वैसा रूप भरा जाता है। सिनेमा शिक्षा देने, समाज में नयी भावनाएँ भरने में भी प्रयुक्त हो सकता है और निम्नगामी बनाने में भी। रेडियो आदि से घृणा का विषाक्त प्रचार भी हो सकता है और प्रेम का, कला का, साहित्य का मधुर सन्देश भी प्रसारित किया जा सकता है। भारत सरकार ने चित्रपट संगीत के स्थान पर शास्त्रीय और सुगम संगीत के प्रसारण पर बल इसी उद्देश्य से दिया है। सुना है कि फिल्मों के क्षेत्र में भी भारत सरकार ऐसे ही दृढ़ कदम उठा कर जहाँ एक ओर सस्तेपन का निराकरण करना चाहती है, वहाँ रचनात्मक पग उठा कर शिक्षाप्रद चित्रों के निर्माण की दिशा में भी अग्रसर है। मनोरंजन के सामाजिक दायित्वों को देखते हुए समाज के नियामकों एवं सत्ता के व्यवस्थापकों के ऐसे कार्य आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हैं; तथा जनसाधारण को भी इस दिशा में सक्रिय रूप से सोचना एवं कार्यरत होना चाहिए; क्योंकि बिना उसके सहयोग के कोई भी सामाजिक विधान सफल नहीं हो सकता। हमें आशा है कि हमारे राष्ट्र की स्वस्थ परम्पराएँ मनोरंजन के क्षेत्र में भी अपने दायित्व को गौरव देंगी।

योजना : फरवरी, 1957

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : एक सर्वेक्षण

आजादी के बाद हिन्दी में कितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, इसके आँकड़े इकट्ठे किये जा सकते हैं। यदि कोई यह पूछे कि प्रमुख साहित्यिक कृतियाँ कौन-सी हैं, तब भी शायद कमवेशी एक सूची तैयार की जा सकती है, परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की प्रमुख उपलब्धियाँ क्या हैं, विकास की दिशाएँ क्या हैं, यह बतलाना कठिन है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में इन उपलब्धियों का मूल्य, महत्त्व और औचित्य क्या है? यह प्रश्न भी अत्यन्त स्वाभाविक एवं जटिल है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों की सीमा में 1947 के बाद के साहित्य का लेखा-जोखा लेने की चेष्टा करेंगे।

अगस्त, 1947 में दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ लगभग एक साथ घटित हुईं जिन्होंने हमारे आगे के समस्त क्रिया-कलाप पर अपना गहरा प्रभाव डाला। देश का बँटवारा और आजादी का आगमन—इन दो घटनाओं ने एक साथ ही हमें एक ही स्तर पर लेकिन भिन्न दिशाओं की ओर मोड़ा। विभाजन ने भारतीय मन पर जो गहरा घाव छोड़ा वह आज तक नहीं मिट सका। केवल धर्म के आधार पर एक संगठित राष्ट्र को बीच से चीर देना, सामान्य घटना न थी। सारा देश स्तब्ध हो गया। फिर इस विभाजन के कारण और परिणाम में जो रक्तपात हुआ, उसने तो सम्पूर्ण मनीषा को जैसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर दिया। इस विमूढ़ता को गाँधी हत्याकाण्ड ने और गहरा कर दिया। दूसरी ओर लम्बे संघर्ष के बाद आने वाली मुक्ति के प्रति एक सहज उल्लास एवं आस्था का भाव था। इस प्रकार एक दूसरा दबाव व्यक्तित्व पर पड़ रहा था। उधर युद्धकाल के पूर्व से ही मध्यवर्ग पर गहरा आर्थिक दबाव पड़ता आ रहा था। युद्ध और स्वातन्त्र्य-संघर्ष की उत्तेजना में उसे लोग कुछ भूले-से थे—परन्तु स्वतन्त्रता के बाद ही उस दबाव को और तेजी से महसूस किया गया बल्कि कहना यों चाहिए कि यह दबाव अधिकाधिक बढ़ता गया। युद्ध-उद्योगों के समाप्त होने, विभाजन से उत्पन्न अनेक समस्याओं तथा राजनीतिक दलों की स्वार्थपरता के आगे सारा भविष्य धुँधला हो उठा। अतः प्रारम्भिक वर्षों (47 से 50-51 तक) के हिन्दी साहित्य में एक निराशा, क्षोभ, अनास्था, वैयक्तिक कुण्ठा एवं विघटन (वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक) की कड़वाहट देखी जा सकती है। यह इतनी बड़ी दुश्चिन्ता का समय

था, जबकि लेखक को रचना के लिए अपेक्षित एकाग्रता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया। सम्भवतः इसी कारण इस क्षोभ को अभिव्यक्ति देने की चाह होते हुए भी श्रेष्ठ कलाकृति एक भी नहीं आ सकी। आश्चर्य न होना चाहिए कि गाँव के स्तर पर (एवं भारत की वास्तविक सत्ता अभी भी गाँव ही है) इस निराशा एवं दुख की अभिव्यक्ति काफी बाद सन् 54-55 में 'रेणु' के 'मैला आँचल' में हुई।

यहीं पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि साहित्य, संवेदना एवं आवेग का प्रकाशन है, तो विभाजन के साथ शुरू होने वाले हत्याकाण्ड, बर्बरता, शरणार्थियों की करुणाजनक अवस्था पर हिन्दी में एक भी श्रेष्ठ कृति क्यों नहीं लिखी जा सकी? मैं समझता हूँ कि इसके दो उत्तर हैं—प्रथम तो यह कि इन सारी घटनाओं का केन्द्र-स्थल हिन्दी-प्रदेश न था—इस कारण उसके परिणाम एवं गम्भीरता को प्रारम्भ में अनुभूत नहीं किया जा सका। कानों से सुनकर या कल्पना से देखकर जिन रचनाओं की सृष्टि हुई, उनमें वह मार्मिकता नहीं आ सकी जो पंजाबी एवं उर्दू-रचनाओं में हमें उपलब्ध होती है। दूसरा कारण वह दुहरा दबाव है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। पंजाबी और उर्दू के क्षेत्र में यह दुहरा दबाव नहीं हो सका—क्योंकि वहाँ विभाजन का यथार्थ इतना विराट था कि आजादी जैसी चीज का उल्लास वे कुछ दिनों तक अनुभव ही नहीं कर सके। इसी कारण हिन्दी की अपेक्षा पंजाबी एवं उर्दू-साहित्य में हमें विभाजन की अधिक दर्दनाक अभिव्यक्ति मिल जाती है।

ऊपर हमने आर्थिक परेशानी का जिक्र किया है। इस दबाव ने भी देश में कम निराशा नहीं भरी थी। सवाल यहाँ उठता है कि क्या आज परिस्थिति पहले से कुछ बहुत बदल गयी है? तथा इस बदलने या न बदलने का साहित्य के सृजन और कथ्य पर क्या प्रभाव पड़ा है? आर्थिक आँकड़ों का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि राष्ट्रीय आय चाहे बढ़ क्यों न गयी हो, परन्तु वैयक्तिक स्तर पर अवस्था शायद बिगड़ ही गयी है। साथ ही साहित्य के क्षेत्र में एक अजीब-सी बात दिखाई देती है कि पिछले 6-7 वर्षों में आस्था, उल्लास एवं आशा के स्वर प्रबल बने हैं। स्वतन्त्रता के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में इन्हीं आर्थिक कष्टों आदि से पीड़ित होकर कुछ अदूरदर्शी यह आवाज लगा रहे थे कि यह आजादी झूठी है। इन लोगों ने ऊर्ध्वबाहु घोषणाएँ कीं कि हिन्दी साहित्य में गतिरोध है। कहना न होगा कि आँखें बन्द करके प्रकाश का अभाव चिल्लाने वाले इन लोगों को अपने नयन उघारने ही पड़े और यह मानना पड़ा कि आजादी झूठी नहीं है और साहित्य में गतिरोध भी नहीं है। यह देख-सुनकर मन में सहज ही शंका उठती है, कि ऐसा कौन-सा गुण या परिमाण का अन्तर हो गया है, जिसने 1951 के आसपास से 'कविता की मौत' को मानने से इन्कार कर दिया तथा 'सीढ़ियों के फूट जाने में' भी सुख का अनुभव होने लगा, क्योंकि विश्वास यह था कि बिना सीढ़ियों के भी तीर की तरह बढ़ेंगे। (दूसरा सप्तक में भारती और भवानीप्रसाद मिश्र) ऊपर हम कह चुके हैं कि

परिणाम की दृष्टि से आर्थिक सम्पन्नता में स्थिति सुधरी नहीं है; परिवर्तन वास्तव में गुणात्मक हुआ है।

प्रारम्भिक वर्षों में जहाँ सारा वर्तमान कष्टपूर्ण एवं भविष्य अनिश्चित एवं कुछ हद तक निराशाजनक प्रतीत होता था, वहीं वर्तमान में अब भी कष्ट होते हुए भी भविष्य के प्रति हम आश्वस्त हो उठे हैं।

स्वतन्त्रता के पूर्व हमारे मन में जो धारणा स्वतन्त्रता की थी—उसमें एकदम से सुखी जीवन प्राप्त कर लेने का विश्वास था। तब हम स्वतन्त्रता के दायित्वों एवं निर्माण की तपस्या से परिचित नहीं थे। इस कारण भी प्रारम्भिक वर्षों में एक निराशा आयी। परन्तु ज्यों-ज्यों हम स्वतन्त्रता एवं निर्माण के इन प्रश्नों से परिचित हुए, त्यों-त्यों हमारी आशा की किरणें अधिक दूर तक तिमिर को काटने में समर्थ हो सकी हैं। इधर के नये कवियों में बहुधा 'कल उगने', 'कल आने', 'नया सूरज उगाने' या 'नये सूरज का स्वागत' या 'सुबह के अछूते पन्ने पर पहली सतर लिख देने' का जो 'संकल्प' है अथवा 'आओ हम फिर से जियें' की जो भावना है, वह इसी भविष्योन्मुखी कर्म-प्रधान दृष्टि का परिचायक है। यहीं पर हम यह भी याद दिला देना चाहेंगे कि वर्तमान का कष्ट कटा नहीं है—और यदि समसामयिक कवि उसे एकदम अनदेखा करके भविष्योन्मुख ही हो पड़ता है, तो उसे यथार्थ का संवेदनशील चितेरा कहना कठिन हो जायेगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कवि का अपना मानसिक गठन होता है, उसी के अनुरूप वह अपने चतुर्दिक विकीर्ण जीवन की प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त करता है। ऊपर उल्लिखित दो अवस्थाओं के प्रति एक साथ या अलग-अलग कवियों ने अपने को व्यक्त किया है। 'क्षणवाद' तथा 'बौने व्यक्ति' के सिद्धान्तों में आधुनिक जीवन की निराशा या कुण्ठा, अनास्था या सन्देह को भी आश्रय मिला है। कभी-कभी एक ही कवि में ये दोनों प्रतिक्रियाएँ एक साथ ही मिल जाती हैं।

तमाम प्रकार के संघर्षों के बीच विकसित होने वाले इस संक्रमण के दोनों छोरों को सबसे अधिक भास्वर रूप में हम फणीश्वरनाथ 'रेणु' में प्राप्त कर सकते हैं। 'मैला आँचल' में जहाँ स्वतन्त्रता के बाद से लेकर प्रथम 'जन-निर्वाचन' तक दुख-दर्द की तीव्र अभिव्यक्ति है। 'परती-परिकथा' उन प्रयत्नों की कथा के स्तर पर संवेदनशील अभिव्यक्ति है, जो भारतीय गाँव को आज नया जीवन प्रदान कर रहे हैं, उसे भीतर से आन्दोलित करते हुए नये मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में सहयोग दे रहे हैं। 'मैला आँचल' का डाक्टर जो 'समाज सेवा' के हवाई आदर्श को लेकर जाता है, गाँव की धरती से अधिक गहरा मानवीय नाता (विवाह करके) जोड़कर मानो अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए 'परती-परिकथा' का जित्तन बनता है।

इस बीच की कठिनाइयों ने हमारे साहित्य में एक नयी चीज को और उभारा है—और वह है व्यंग्य। कठिनाइयों के बीच कमजोर आदमी बहुधा एकदम मूक हो

जाता है तथा शक्तिशाली एवं जिन्दादिल कड़वाहट में व्यंग्य-प्रधान हो उठता है। हिन्दी के समसामयिक साहित्य में व्यंग्य का प्रचुर उपयोग हुआ है। यह हमारे देश की जीवन्त शक्ति का प्रमाण है। व्यंग्य के लिए भाषा भी बड़ी धनी चाहिए। इधर हमारे साहित्य में अभिव्यंजना के लिए जिन नयी पद्धतियों एवं व्यंजनाओं की खोज की गयी है, उनके मूल में व्यंग्य-रक्षा का प्रश्न भी विद्यमान है। व्यंग्य के सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि व्यंग्यकार को अत्यधिक आत्मसजग होना पड़ता है। घटित होते हुए का अत्यन्त सजग बोध भी हमारे आज के साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। यह सजगता और बोधवृत्ति एक ऐसी बौद्धिक तटस्थता देती है जो मनुष्य को हर परिस्थिति को झेलने की भी शक्ति देती है तथा उसे यह क्षमता भी प्रदान करती है कि स्वयं अपनी चेतना का विश्लेषण कर सके। इस बिन्दु पर समसामयिक साहित्य छायावाद एवं छायावादोत्तर कैशोर-भावना से एकदम पृथक् है। आत्मवर्णन वहाँ भी हैं, पर अपने महत्त्व अथवा अपने शोक या कष्ट का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है, विश्लेषण नहीं। परन्तु नये साहित्य में अपनी वर्तमान अवस्था के प्रत्यक्ष वर्णन की अपेक्षा चेतना के मूल कारणों तक दृष्टि जाती दिखाई देती है।

व्यक्ति के क्षेत्र में चेतना की चेतना तक जाती हुई यह सजगता जब सामाजिक क्षेत्र में पदार्पण करती है तो समाज के विविध चरित्रों, घटनाओं एवं परिस्थितियों से कुछ का चयन करके एक-एक छोटा-सा व्यवस्थित गुलदस्ता बनाने की बजाय पूरे जीवन-खण्ड को समेटती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि यह संचरण व्यक्ति से समाज की ओर होता है न कि समाज से व्यक्ति की ओर। 'अकेला स्नेह भरा दीप' जब पंक्ति को समर्पित होता है तब उसकी कथात्मक अभिव्यक्तियाँ भी पूरे जीवन-खण्ड को ही प्रकाशित करना चाहती हैं। यदि हम स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों को पढ़ें तो सजगता के ये दोनों रूप हमें उपलब्ध हो जाते हैं। व्यक्ति की चेतना का बोध हमें अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में 'नदी के द्वीप' में प्राप्त हो जाता है एवं जीवन-खण्ड का चित्रण रेणु, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट आदि के तथाकथित आंचलिक उपन्यासों में। इधर इन उपन्यासों की आंचलिकता पर बहुत जोर दिया गया है। मुझे ऐसा लगता है कि वास्तव में यह आंचलिकता माध्यम है, समग्र जीवन-खण्ड को व्यक्त करने का। रेणु में ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति हुई है तथा अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में नगर के एक मुहल्ले को उसकी पूरी पृष्ठभूमि में उपस्थित किया गया है। यहीं इस बात का उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस सजग व्यापक दृष्टिकोण के फलस्वरूप अनुभव-क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। यह विस्तार सबसे प्रखर रूप में कथा-साहित्य के क्षेत्र में देखा जा सकता है। सन् '36 से 49-50 तक के साहित्य में हमें मध्यमवर्ग के ही विविध रूपों का आकलन मिलता है। (कुछ अपवादों को छोड़कर—वे भी मुख्य रूप से काव्य के क्षेत्र में। कथा-साहित्य में प्रगतिवाद के कारण मजदूर-वर्ग भी आया।

ग्रामीण जीवन की परम्परा नागार्जुन में अवश्य सुरक्षित रही) परन्तु 49-50 के बाद से ग्रामीण जीवन का फिर से प्रवेश हुआ। प्रारम्भ में यह प्रवेश बहुत कुछ रोमाण्टिक तथा विशिष्ट रहा, 'रेणु' के उपन्यासों तक आते-आते यह व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में प्रतिष्ठित हुआ। हिन्दी में ऊपरी वर्ग का चित्र प्रामाणिक रूप से कम उपलब्ध होता है। नये साहित्य में अज्ञेय, राजेन्द्र यादव ने ऊपरी वर्ग की बौद्धिकता (?) भी उपस्थित की, एवं राजेन्द्र यादव ने उसकी प्रामाणिक बखिया-उधेड़न भी की। 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'शह और मात' में हमें ऐसे चरित्रों के भी दर्शन होते हैं, जो सामान्य हिन्दी-पाठक के लिए कुछ दूर की वस्तु रहे हैं—यद्यपि सामाजिक जीवन में वे महत्त्वपूर्ण हैं, विशेष रूप से आज के व्यावसायिक जीवन में।

कहते हैं कि समृद्ध एवं सुसंस्कृत दृष्टि के विकास के साथ ही किसी देश में नाटक का विकास होता है। नाटक अनिवार्य रूप से रंगमंच से सम्बन्धित होता है तथा रंगमंच किसी न किसी प्रकार के रुचि-परिष्करण से सम्बन्धित अवश्य होता है। रंगमंचीय साधन भी व्यय-साध्य होते हैं। हिन्दी नाटक अब तक रंगमंच-असम्पृक्त विकसित हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद सरकारी, गैर-सरकारी अनेक स्तरों पर रंगमंचीय आवश्यकताओं पर ध्यान दिया गया है; परिणामस्वरूप हिन्दी-नाटक अपने कथ्य में चाहे अभी प्रसाद से आगे न बढ़ पाया हो, परन्तु जहाँ तक अभिनेयता, मंच-सज्जा, मंच-निर्देश आदि का प्रश्न है, हिन्दी नाटककारों का ध्यान गया है। मौलिक नाटकों के अतिरिक्त, कथा एवं काव्य-कृतियों को भी नाट्य-रूप दिया गया एवं उनका सफलतापूर्वक अभिनय भी हुआ है। रेडियो द्वारा नाटकों के क्षेत्र में एक सर्वथा नयी साहित्य-विधा (श्रव्य-नाटक) का भी विकास हुआ है।

ऊपर साहित्य के क्षेत्र में जिन नयी प्रवृत्तियों एवं क्षेत्रों की चर्चा हुई, वे अनिवार्य रूप से अपने अभिव्यंजन के लिए नये शिल्प की माँग करते हैं। पुराने मुहावरों एवं रूपाकारों के भीतर उन्हें बाँध रखना सम्भव नहीं है। इसके लिए साहित्यकारों को नयी अभिव्यंजन-शैलियाँ, नये रूपगठन खोजने और स्वीकारने पड़े हैं। इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण बहुधा पुराने ढंग के लेखक या पाठक रूप-विधान की अव्यवस्था, विशृंखलता, साधना का अभाव आदि आरोप लगाते हैं। आधुनिक और दिन-पर-दिन जटिल हो रहे जीवन के जिन नये प्रतीकों या पुराने प्रतीकों को जिस नये सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करना पड़ता है, उन्हें सहानुभूति के साथ समझना होगा। 'गोलियों से बना फूल' हो या 'कैक्टस का गमला'; 'मुट्ठियों के बीच से निकलती रेत' हो या 'चक्र-व्यूह में पड़ा अभिमन्यु' हो—ये सभी एक ऐसे गहरे यथार्थ की ओर संकेत करते हैं जो एक साथ ही वैयक्तिक और सामाजिक हैं। ये प्रतीक सम्मिलित रूप से आन्तरिक मनःस्थिति एवं बाह्य वातावरण के सूचक हैं। नये साहित्य के शिल्प के उपादान कुछ बँधे-बँधाये क्षेत्रों एवं लक्षण-ग्रन्थों से नहीं लिये जाते, प्रकृति की केवल मृदुल-पेलव वस्तुओं का संग्रह ही प्रयोज्य नहीं है; सिन्दरी के कारखाने की गड़गड़ाती

मशीनों, वाल्वों, हैंडिलों का उपयोग उसके लिए उतना ही अनिवार्य है जितना सन्थाल की 'वंशी और मादल' का। अश्वत्थामा और कृष्ण भी उसके अभिप्राय-वाहक हैं एवं 'पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता' या 'मीनार शिखर का प्रार्थी मुल्ला' भी।

जिसे बहुधा लोग कथातत्त्व का ह्रास समझते हैं, वह वास्तव में या तो कथ्य को विविध कोणों से उजागर करने की विधि है, या फिर सघन संवेदना के क्षणों को यथार्थ के पूरे आवेश में पुनर्वर्तमान करने का प्रयास। इसके लिए लेखक कथोपकथन का नाटकीय ढंग, डायरी या स्वगत की निजी अभिव्यंजनाएँ, स्मृत्यालोक की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति, काव्य के प्रतीक और बिम्ब-विधान इन सबका सम्मिलित और सचेष्ट उपयोग करने का प्रयास करता है। साहित्य के गद्य और पद्य रूपों में परस्पर इतनी सघन सम्पृक्ति युगों के बाद समसामयिक साहित्य में ही उपलब्ध होती है। ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं को आत्मसात् करके उनके आधार पर जीवन और जगत के अनुभव, बिम्बों की परख और निर्माण तथा उनके लिए एक ऐसे मुहावरे की खोज जो एक साथ ही वैयक्तिक एवं सार्वजनिक हो, अपने-आप में नितान्त जटिल कार्य है, पर नया लेखक इस सन्तुलन के लिए कटिबद्ध है। स्वतन्त्रता ने उसके सम्मुख नये वातायन मुक्त किये हैं, आज वह विश्व-नागरिक बनने की अधिक सुविधापूर्ण स्थिति में है, ज्ञान की उपलब्ध राशियों के प्रयोग के लिए उसे छूट है, अनुभव के क्षेत्र को बड़ा बनाने की गुंजाइश है। भौतिक सुविधाओं के क्षेत्र भी अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हैं आज के लेखक को। ऐसी स्थिति में यदि हमें आज के साहित्य-सृजन में एक गहरी हलचल और प्रयत्न-बहुलता प्राप्त होती है तो आश्चर्य ही क्या? अभी तो ज्यों-ज्यों स्वातन्त्र्य-वृक्ष के फल हमारे राष्ट्र को चखने को मिलेंगे, ज्यों-ज्यों आर्थिक सम्पन्नता व्यापक जनसंख्या की शिक्षा और संस्कृति की सुविधाएँ दे सकेगी, त्यों-त्यों हमारे साहित्य के क्षेत्र में ऐसी प्रतिभाओं को प्रवेश करने का अवसर मिल सकेगा; जो अभी तक शिष्ट-साहित्य से दूर थीं। ऐसे लोगों के अनुभव के क्षेत्र नये होंगे, उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम भी और नये होंगे। हमारा वर्तमान साहित्य आगे आने वाले इसी विराट् युग की भूमिका है, उसकी तैयारी है—और यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि भी सिद्ध होगी।

स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी उपन्यास

उपन्यास का ऐसा रूप-विधान है, जो अपेक्षाकृत अधिक सोद्देश्य और वस्तु-स्थिति के निकट होता है। उपन्यास का उदय पश्चिम में भी नयी सामाजिक परिस्थितियों को समझने-समझाने, उनपर व्यंग्य करने या सुधारने का उद्देश्य लेकर ही हुआ था। वह उदीयमान मध्यवर्ग की आकांक्षाओं का द्योतक था। पहले उसमें रोमानी भावनाओं की प्रधानता रही, पर धीरे-धीरे वह सामाजिक यथार्थ की ओर बढ़ता गया।

हिन्दी में भी उपन्यास का विकास नये युग के आगमन के साथ होता है। प्रारम्भ में इसका वक्तव्य-पक्ष स्थापित परिवेश को आँकने में लगा, बाद को नये को ग्रहण करने में। इसमें जीवन के द्वन्द्व-संघर्ष भी आये और वैयक्तिक सामाजिक कुण्ठाएँ भी। ग्रामीण जीवन की स्पन्दित नाड़ी भी व्यक्त हुई और शहरों के घुटते मध्य वर्ग की तल्खी भी। लाला श्रीनिवासदास, किशोरी लाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी आदि द्वारा प्रारम्भ किया गया वह साहित्य-रूप प्रेमचन्द में परिपक्वता प्राप्त करता है। प्रेमचन्द ने इसे समाज के संस्थागत रूप के साथ भली प्रकार जोड़ा। आगे बढ़कर जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा ने व्यक्ति की आशा-निराशाओं को भी सफल अभिव्यक्ति दी।

सन् 1942 के आन्दोलन, सन् 1943-44 में आजाद हिन्द फौज के स्वतन्त्रता के लिए चलाए गये सशस्त्र संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिणामस्वरूप सन् 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता का आगमन होता है। यहाँ से सारे राष्ट्र के जीवन में एक मोड़ आता है। आवश्यक था कि हिन्दी साहित्य भी जीवन की इस नवीन चेतना के प्रभाव से अछूता न रहे। यद्यपि साहित्य के प्रभाव-ग्रहण की प्रतिक्रिया उतनी सीधी और प्रत्यक्ष नहीं होती, जितनी कि राजनीति की, फिर भी किसी भी देश का साहित्य राष्ट्रीय जीवन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। कुछ हद तक यह ठीक है कि अत्यधिक आवेश के मध्य साहित्य-सृजन नहीं हो पाता, लेकिन जब आवेग के बादल हटते हैं और मन का आकाश साफ होता है, तब उस आवेग की आधार-भूमि पर श्रेष्ठ साहित्य का सृजन प्रारम्भ हो जाता है। स्वातन्त्र्य के प्रारम्भिक वर्ष कुछ ऐसे ही आवेगमय वर्ष थे। फिर देश का विभाजन, राष्ट्रपिता की हत्या आदि भीषण दुर्घटनाएँ

ऐसी थीं, जिन्होंने कुछ समय के लिए सभी को स्तम्भित कर दिया। फलतः यह ऐसा समय था कि कुछ समय के लिए सारे राष्ट्र और उसके समस्त कार्यों (साहित्य सृजन उन्हीं में से एक है) में हमें एक गतिरोध की स्थिति प्रतीत होती है। पश्चिम में भी युद्ध के ऊपर लिखे गये उपन्यास युद्ध के बाद ही अच्छे लिखे जा सके, जबकि सम्पूर्ण दृश्य को अनासक्त भाव से उचित परिदृश्य में रखकर देखना सम्भव हो सका।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति और पश्चात् घटित घटनाओं ने कुछ दिनों के लिए स्तम्भित ही नहीं किया, बल्कि क्षुब्ध और हताश भी किया। स्वतन्त्रता की जो स्वर्णिम कल्पना हमारे मन में थी, वह टूट-सी गयी। स्वतन्त्रता के बाद देश के निर्माण का कठिनतर दायित्व आता है, इसे हम भूल से ही गये थे। राजनैतिक दलों की भी अस्त-व्यस्तता और स्वार्थी कार्यकर्त्ताओं ने निराशा को उत्पन्न किया। अतः स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में इस निराशा, टूटन और घुटन के वातावरण का भी चित्रण हुआ। कुछ पुराने लेखकों ने अपने अन्तर को फिर कुरेदा। उनमें पहले जो आग बाकी भी थी, वह समाप्त प्राय दिखी। मध्यवर्ग युद्ध के पहले ही टूट रहा था, अब वह और अधिक भयंकर दशा में दिखा। अज्ञेय के 'शेखर' में सारे वैयक्तिक अहं के बावजूद जो एक क्रान्ति का जोश था, वह 'भुवन' (नदी के द्वीप) में एकदम समाप्त हो गया। उसके विचार और आचरण में एक भेद आता गया। वह कहीं भी सामान्य शिक्षित जन से ऊपर उठ नहीं पाता और गहन बौद्धिकता का नये यथार्थ के लिए दान भी देने में असमर्थ है। जैनेन्द्र ने 'सुनीता' को 'सुखदा' नाम देकर सामने उतारा। भगवती प्रसाद बाजपेयी अपने पिछले उपन्यासों से 'चलते चलते' या 'पतवार' में आगे बढ़े दिखाई नहीं देते।

इसी बीच एक नया तरुणवर्ग भी सामने आ रहा था। इस वर्ग की कठिनाइयाँ और बड़ी थीं। इनके सामने आर्थिक दुरवस्था तो थी ही, साहित्य में स्थापित होने की भी समस्या थी। अतः इनके साहित्य में युवकोचित स्वरूप धारण कर मध्यवर्गीय आदर्शवाद सामने आया। भारती का 'गुनाहों का देवता' इस तरह का प्रतिनिधि उपन्यास है। इन लोगों ने अपने माध्यम के शिल्प में भी नये प्रयोग करने चाहे। आर्थिक परिस्थितियों का जो भयंकर दबाव इन सब पर पड़ रहा था, सामाजिक स्थितियाँ उनकी आकांक्षाओं को जिस प्रकार नष्ट कर रही थीं उनका नये शिल्प के माध्यम से अभिव्यक्तीकरण हमें 'उखड़े हुए लोग' (राजेन्द्र यादव), 'गर्मराख' (अश्क), 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (भारती) में दिखाई पड़ता है। अश्क ने मध्यवर्ग का जितना सटीक चित्रण उसकी दुर्घटनाओं और शक्तियों के साथ किया है, वह प्रशंसनीय है।

धीरे-धीरे देश के सामाजिक जीवन में एक स्थिरता आयी। लोगों ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों को फिर से पहचानना प्रारम्भ किया। जमींदारी उन्मूलन की बातें शुरू हुईं। पंचवर्षीय योजनाओं का कार्यक्रम बनने और कार्यान्वित होने लगा। समाज की उभरती शक्तियों और मूल्यों के दर्शन होने लगे, हिन्दी उपन्यास ने इनको ग्रहण किया।

प्रेमचन्द के 'गोदान' का गोबर ही मानो नागार्जुन का 'बलचनमा' बनकर आया। 'शेखर' का विकास 'भुवन' अधिक टूटकर आया था, पर 'बलचनमा' होरी के समर्पण को स्वीकार नहीं करता। वह नयी शक्तियों का प्रतिनिधि बन प्रतिगामी शक्तियों से संघर्ष करता है। 'नयी पौध', 'बाबा बटेसरनाथ' और 'वरुण के बेटे' में हमें नागार्जुन का यही संघर्षशील (पर मतवादी आग्रह के कारण कभी-कभी अकलात्मक) रूप प्राप्त होता है। नागार्जुन के साथ-साथ अन्य संवेदनशील कथाकारों की दृष्टि भी गाँवों की ओर जाती है। इनमें 'रेणु' प्रमुख हैं। रेणु के उपन्यास परिभाषाबद्ध नहीं किये जा सकते। वे घटना प्रधान नहीं हैं, चरित्र प्रधान नहीं हैं, उन्हें आप जीवनप्रधान कह सकते हैं। अपने दोनों उपन्यासों 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में रेणु ने 'मेरी गंज' और 'पुरानपुर' गाँवों की जिन्दगी को उसके हर पक्ष, हर कोण के साथ उभारा है। पहले उपन्यास में स्वतन्त्रता के बाद परिस्थितियाँ किस प्रकार एक पिछड़े गाँव को प्रभावित करती हैं और दूसरे उपन्यास में विकास और निर्माण के नये प्रयत्न पुरानपुर के जीवन में कैसा परिवर्तन और कोलाहल उत्पन्न करते हैं, इनका विशद, गहन अनुभूत स्वरूप इन उपन्यासों में प्राप्त होता है। रेणु की एक और देन भाषा के क्षेत्र में है—बोली को परिनिष्ठित भाषा के साथ सहज समन्वित कर देना।

जीवन को उसके पूरे स्वरूप में चित्रित करने वाली परम्परा में ही अमृत लाल नागर का वृहदकाय उपन्यास 'बूँद और समुद्र' है। इसमें गाँव की बजाय लखनऊ के एक मुहल्ले को जीवित कर दिया गया है। इन उपन्यासों की विशेषता यह है कि इनके लेखकों ने चित्रित जिन्दगी को गहरी तरह जिया है, ऐसा प्रतीत होता है।

राजेन्द्र यादव ने 'उखड़े हुए लोग' में एक नये प्रकार के चतुर सुसंस्कृत पूँजीपति और उसके शोषण के प्रकारों का उद्घाटन किया है। इलाचन्द्र जोशी ने भी अपनी मनोवैज्ञानिक कोठरी को छोड़कर नयी सामाजिक भूमि पर पदार्पण किया है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने आदिवासियों के जीवन पर आधारित 'रथ के पहिये' और 'ब्रह्मपुत्र' उपन्यास भी लिखे। ऐतिहासिक उपन्यासों में वृन्दावनलाल वर्मा ने इस बीच 'मृगनयनी', 'कचनार' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास लिखे। उनके साथ ही प्रतापनारायण श्रीवास्तव, अज्ञात, एम. ए. इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं।

शिल्प की दृष्टि से 'प्रेत बोलते हैं', 'चाँदनी के खँडहर', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'सोया हुआ जल', 'परन्तु' आदि उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

सब मिलाकर पिछले दशक में हिन्दी उपन्यास ने कथा और शिल्प दोनों ही क्षेत्रों में नये क्षितिज का उद्घाटन किया है। इस बीच हिन्दी उपन्यास जिस गति और लगन से लिखे जा रहे हैं, उन्हें देखकर हमें अपने उपन्यास साहित्य के भविष्य पर सचमुच गहरी आस्था होती है।

श्रमजीवी : फरवरी, 1958

प्रेमचन्द

हिन्दी कथा-साहित्य का नाम लेते ही मेरे मन के सामने प्रेमचन्द जी की मूर्ति आ जाती है। अथवा जब प्रेमचन्द जी का नाम लेता हूँ तो ऐसा लगता है कि पूरे हिन्दी कथा-साहित्य के बारे में बात कर रहा हूँ। प्रेमचन्द और हिन्दी कथा-साहित्य मुझको पर्यायवायी से लगते हैं, नलिन विलोचन शर्मा का यह सुविचारित कथन है कि

"गोदान के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचन्द उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं। प्रेमचन्द में हिन्दी उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बनीं और उनके जीवन काल में ही वे अनेक मन्द-तीव्र धाराओं में विभक्त भी हो गयीं।"

वे हिन्दी के ऐसे संवेदनशील उपन्यासकार हैं जिनके उपन्यासों में दमन और उत्पीड़न के युग के समाज की अवस्था का यथातथ्य चित्रण मिलता है। उन्होंने उन समस्याओं और मान्यताओं को स्पष्ट किया है जो मध्यवर्ग, जमींदार, पूँजीपति, किसान, मजदूर, अछूत, क्लर्क तथा समाज से बहिष्कृत सभी वर्गों के जीवन में आती हैं और उसे दिशा देती हैं। अपने इन उपन्यासों और लगभग तीन सौ कहानियों में उन्होंने इस पूरे समाज को मूर्त कर दिया है।

यह बात नहीं है कि प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी में उपन्यास लिखे नहीं गये थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, देवकीनन्दन खत्री, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपाल राम गहमरी आदि लेखकों ने काफी बड़ी तादाद में उपन्यास लिखे थे।

उपन्यास आधुनिक सभ्यता की देन है। बाह्य जीवन की वास्तविकताओं को समग्र रूप में चित्रित करने वाला यह एक ऐसा साहित्य रूप है जो अपने पूर्व की कई साहित्यिक परम्पराओं को आत्मसात करते हुए भी अभिनव आकर्षण के साथ प्रकट हुआ। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यक्त होती है और जटिलता, वैषम्य तथा संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में। साहित्य का यह रूप जन्म से निम्न श्रेणी का माना जाने पर भी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी था, यह केवल मनोरंजन

ही नहीं सामाजिक सत्य का भी वाहक बना। अन्य देशों के उपन्यासों की भाँति हिन्दी उपन्यास ने भी हमारे सामाजिक जीवन के विकास और संघर्षों को प्रतिफलित किया है। अपने प्रारम्भिक काल में जब वह मात्र मनोरंजन का साधन माना जाता था तभी श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास ने उसे मनोरंजन से ऊपर उठा कर आदर्शवादी रूप देना चाहा था। हिन्दी के पहले उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में ही एक पथभ्रष्ट नवयुवक के सुधार की आदर्शात्मक कथा कही गयी है। परन्तु यह सुधारवाद और आदर्शवाद की स्थापना अत्यन्त स्थूल और अपार दर्शक है; यह सारा प्रयास नितान्त कलाहीन है। प्रेमचन्द ने इस सुधारवाद और आदर्शवाद को कला की सूक्ष्मता और बारीकी के भीतर से उपस्थित किया। इस आदर्शवाद को बौद्धिक दृष्टि से सम्भाव्य बनाया गया और दूसरी ओर इसे यथार्थ की ओर उन्मुख किया गया। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास नामक निबन्ध में उपन्यासकार का दृष्टिकोण 'आदर्शोन्मुख' यथार्थवाद बताया है। यह आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रेमचन्द के उपन्यासों में व्यंजित हुआ है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख बात यह है कि स्वयं प्रेमचन्द इस लक्ष्य पर स्थिर नहीं रह सके। नयी और कटु परिस्थितियों में पड़कर सन् '30 के बाद उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण टूट जाता है और सन् '36 में प्रकाशित 'गोदान' में हम उन्हें यथार्थवादी लेखक के रूप में पाते हैं। वास्तव में सन् 1907 में प्रकाशित 'प्रेमा' से लेकर गोदान तक का प्रेमचन्द का विकास एक आदर्शवादी लेखक का वास्तविकता के प्रति निष्ठावान कलाकार के रूप में हुआ है।

आधुनिक युग दलितों और उपेक्षितों के जागरण का युग रहा है। नारी इस जागरण की प्रमुख समस्या थी। प्रेमचन्द का ध्यान प्रारम्भ से ही नारी समस्याओं की ओर रहा है। दहेज, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, बाल विवाह, विधवा समस्या, स्वच्छन्द प्रेम, वेश्या जीवन, आर्थिक पराधीनता आदि नारी जीवन की विविध विषमताओं और प्रतिबन्धों को लेकर प्रेमचन्द ने अनेक उपन्यासों और दर्जनों कहानियों की रचना की है। 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों में इन समस्याओं को अनेक प्रकार से प्रेमचन्द ने उठाया है।

सामाजिक विषमता का अत्यन्त विकृत रूप अछूत समस्या है। गाँधी जी के हरिजन आन्दोलन ने उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में इस समस्या को उठाया और उनके आन्तरिक सुधार के लिए एक समाधान उपस्थित करने का प्रयत्न भी किया।

मध्यवर्गीय जीवन का वास्तविक महाकाव्य बनकर हमारे सन्मुख ग़बन आता है। लेखक इस उपन्यास में व्यंग्य शैली के कुशल प्रयोग द्वारा मध्यवर्ग की उन सारी विषम परिस्थितियों पर आघात करता है जो आत्मप्रवंचना को जन्म देती है। जालपा का गहनों से प्रेम, रामनाथ की अपनी आर्थिक स्थिति से अधिक प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति ने मिलकर जिस घटनाचक्र को रचा है उसमें वह सारा तबका सिमट आया

है। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में उस युग की सारी राजनैतिक उथल-पुथल और उसके आदर्शवादी समाधान प्रतिविम्बित हुए हैं।

प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास 'गोदान' हिन्दी का ही नहीं, कुछ कारणों से भारतीय साहित्य का अप्रतिम उपन्यास है। इसमें नगर और ग्राम जीवन से सम्बन्ध रखने वाली दो कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। इनके माध्यम से भारतीय जीवन का जिस पूर्णता और यथार्थ के साथ चित्रण 'गोदान' में है वैसा किसी भी भारतीय भाषा के उपन्यास में अलभ्य है। 'गोदान' हिन्दी साहित्य में वस्तु, शिल्प, विचार, वास्तविकता तथा भाषा-शैली की दृष्टि से महान् कला-सृष्टि है। वह अपने युग को ही नहीं प्रतिबिम्बित करती बल्कि भावी युग की भूमिका भी है। प्रेमचन्द ने समाज के विभिन्न स्तरों के स्वार्थों को, इनके अन्तर्निर्वाह और अन्तर्विरोध को अनेकानेक पात्रों और घटना प्रसंगों के रूप में वाणी दी है।

गोदान में आधिकारिक कथा ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका नायक होरी अवध के एक गाँव का किसान है। परन्तु वह एक व्यक्ति ही नहीं, भारतीय किसान का जीवित प्रतीक भी है। उसके व्यक्तित्व के माध्यम से किसान जीवन के विविध पक्ष, संस्कार, रूढ़ियाँ, रीति-रिवाज, कष्ट और अभिलाषाएँ तथा जमींदार, हाकिम, पुलिस, पटवारी, पण्डित, महाजन आदि से उसके सम्बन्धों की स्पष्ट झाँकी उपस्थित की गयी है।

उपन्यास की परिभाषा करते हुए एक स्थान पर प्रेमचन्द ने लिखा है कि "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ।" उसी निबन्ध में चरित्रों की व्यक्ति और वर्गगत विशेषताओं के समन्वय और प्रकाशन पर भी उन्होंने जोर दिया है। प्रेमचन्द का समूचा साहित्य चरित्र के इन्हीं दो पहलुओं पर आधारित है।

होरी जैसा दृढ़ पुरुष-व्यक्तित्व जो कि एक किसान का यथार्थ चरित्र है अपने आप में अविस्मरणीय है। भारतीय किसान की गतानुगतिकता, परम्परा, प्रेम, समझौता और सहनशीलता सब उसके चरित्र की प्रमुख रेखाएँ हैं। सतत परिश्रम उसका जीवन क्रम है जिसमें वह अपनी बलि भी चढ़ा देता है। जिस समय वह कहता है : "तो क्या यह मोटे होने के दिन हैं? मोटे वह होते हैं जिन्हें न ऋण की सोच होती है न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मोटा होता है। ऐसे मोटेपन में क्या सुख? सुख तो जब है कि सभी मोटे हों।" तब मानो वह अपने सारे अनुभवों और अभिलाषाओं का निचोड़ उपस्थित कर देता है। किसान जीवन की आर्थिक विडम्बना का चित्रण गोदान के दूसरे पृष्ठ की इन कुछ लाइनों से अधिक सशक्त अन्यत्र न मिलेगा..."चाहे कितनी ही कतर-ब्योंत क्यों न करो, कितना पेट तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।" होरी के जीवन में एक किसान के दरवाजे पर गऊ बाँधने की सहज अभिलाषा भी पूरी नहीं हो पायी। गोदान में वास्तव में पूरा समसामयिक

इतिहास मूर्त हो उठा है। वह हमारे साहित्य के ज्योति स्तम्भों में से एक है। हमारा उपन्यास आज शिल्प और वस्तु दोनों दृष्टियों से आगे बढ़ा है परन्तु प्रेमचन्द से विराट 'मानवीय सहानुभूति' उसमें नहीं दिखाई देती।

वे जितने बड़े उपन्यासकार थे, उतने ही बड़े कहानी लेखक भी। ऊपर उल्लिखित सारी विशेषताएँ प्रेमचन्द जी की कहानियों में भी स्पष्ट हैं। वास्तव में एक ही प्रेरणास्रोत का जल इन दोनों रूपों में प्रेमचन्द में अभिव्यक्त हुआ है। चरित्र चित्रण, सामाजिक सम्बन्धों और संघर्षों में कुशल मनःवेत्ता और समाजशास्त्री, उनकी कहानियों में उभरता है। 'गृहदाह', 'नशा', 'कफ़न', 'पंचपरमेश्वर', 'निमन्त्रण', 'मन्त्र', 'आत्माराम', 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी' उनकी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में शिल्प और विषयवस्तु के प्रचलित सभी प्रकारों का प्रयोग किया है।

वास्तव में समसामयिकता के प्रति इतना अधिक जागरूक कलाकार हिन्दी में दूसरा नहीं हुआ है। भविष्य का इतिहासकार प्रेमचन्द जी के कथा-साहित्य में युग का सामाजिक चित्र प्राप्त करेगा। प्रेमचन्द ने सजग सचेत व्यक्ति की भाँति सतत विकास का यत्न किया है। इसका सबसे अधिक प्रभाव उनकी शैली पर देखा जा सकता है।

'गोदान' और 'कफ़न' की भाषा शैलियों में मानो लेखक सहज हो उठा है। उसका व्यंजित यथार्थ फूटा पड़ रहा है इस भाषा में से। उर्दू की ज़बानदराज़ी और संस्कृत की आलंकारिकता से कठोरतापूर्वक मुक्त यह भाषा किसी भी कथाकार के लिए लालच का विषय है। प्रेमचन्द की सफलता का एक कारण उनकी सहानुभूति और प्रज्ञा ही नहीं यह भाषा-शैली भी है।

प्रेमचन्द का साहित्य हमारे साहित्य का गौरव है। वास्तव में बीसवीं सदी का साहित्यिक काल प्रेमचन्द युग कहा जाना चाहिए। इस युग को उनके साहित्य ने वाणी दी है। उनके साहित्य में इस युग का प्रतिबिम्ब भी है और आगत की छाया भी। 'उनका पूरा साहित्य भारतीय जीवन का महाकाव्य है।'

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

उपन्यास हमारे साहित्य का अपेक्षाकृत नवीन कथा रूप है। कथा कहानी की परम्परा पहले भी विद्यमान थी। परन्तु युग की आवश्यकताओं एवं युगीन सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए जिस रूप-विधान और गठन की आवश्यकता थी उसका साँचा हमें उपन्यास के नवीन रूप में मिला। उपन्यास का यह ढाँचा हमें पश्चिम के नावेल से मिला। हमारी राष्ट्रीय आवश्यकताओं एवं गद्य की विकसित होती हुई अवस्था ने उपन्यास की आवश्यकता को जन्म दिया।

हिन्दी उपन्यास का प्रथम युग, जो भारतेन्दु काल से आरम्भ होता है, मौलिक रचनाओं की दृष्टि से सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। सही अर्थों में उपन्यासों के क्षेत्र में वह अनुवाद युग था। हिन्दी प्रदेश के पाठक की भूख और आने वाली पीढ़ी के सृजनशील कलाकारों के लिए उचित माध्यम का प्रचार और प्रसार इन विदेशी उपन्यासों द्वारा हो रहा था। प्रेमचन्द ने आकर हिन्दी उपन्यासों में प्राण-प्रतिष्ठा की। हिन्दी उपन्यास को वास्तविक रूप और जीवन प्रेमचन्द से मिला।

प्रेमचन्द भारतीय सामाजिक आन्दोलनों के विकास के साथ-साथ सुधार और समझौतावादी दृष्टिकोण से संघर्ष, सक्रिय विरोध और यथार्थ के चित्रण की ओर बढ़े। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक का विकास इस दृष्टिकोण का ही विकास है, परन्तु फिर भी वे आस्था, विश्वास और गहरी नैतिकता के उपन्यासकार थे। ध्वंसात्मक विद्रोही न होकर वे सृजन के विश्वासी थे। परन्तु धीरे-धीरे स्वाधीनता आन्दोलन की विफलताओं, बढ़ती हुई बेकारी, मन्दी तथा व्यापक असन्तोष ने आस्था और आशा के सूत्रों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। मध्य वर्ग के असन्तोष ने व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को उभारा। फ्रायड का मनोविज्ञान इस समय तक अंग्रेजी साहित्य पर अपना गहरा प्रभाव डाल चुका था। डोरोथी, रिचार्डसन वुल्फ, डी.एच. लारेंस और जेम्स ज्वायस के उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। इन सबका प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा। मनोविज्ञान के फलस्वरूप प्राचीन ऐतिहासिक प्रणाली घटना और व्यापार प्रधान कथानकों के स्थान पर चरित्र की सूक्ष्मताओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मनुष्य को अच्छा या बुरा चित्रित करने का

इनमें प्रश्न नहीं रहता। इसमें अन्तर्जगत में चलने वाले विविध प्रकार के मनोभावों एवं संघर्षों का विश्लेषण ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य होता है। हिन्दी में मनोविश्लेषक उपन्यासकार के रूप में सर्वप्रथम जैनेन्द्र कुमार आये। इनके पश्चात् इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय आये। अज्ञेय में मनोविश्लेषणवादी पद्धति चरम सीमा पर पहुँची।

अज्ञेय जी का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। इन्होंने जेल से कुछ कहानियाँ लिखकर जैनेन्द्र जी के पास भेजी थीं। जैनेन्द्र जी ने उन्हें अज्ञेय नाम से प्रकाशित करा दिया तभी से वात्स्यायन जी 'अज्ञेय' हो गये। इनका जन्म सन् 1911 में पंजाब के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। इनके पिता पं. हीरानन्द शास्त्री संस्कृत के विद्वान तथा भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग में उच्च अधिकारी थे।

वात्स्यायन जी के अभी तक केवल दो उपन्यास 'शेखर: एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' प्रकाशित हुए हैं, परन्तु केवल 'शेखर: एक जीवनी' मात्र से ही उनकी गणना हिन्दी के शीर्ष स्थानीय उपन्यासकारों में होने लगी थी। शैली का जो निखार, रूप-विधान की जो ताज़गी और बौद्धिकता का जो रूप हमें इस उपन्यास में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' से लेकर 'गोदान' और 'चित्रलेखा' तक उपन्यासों को एक निश्चित आकार और ढाँचा प्राप्त हो गया था। पर 'शेखर: एक जीवनी' इन सबसे अलग आया। वास्तव में रूप और शिल्प की दृष्टि से यह बड़ा ही सशक्त प्रयोग था। उसके रूप-विधान की इस मौलिकता के ही कारण कई समीक्षक उसे उपन्यास की संज्ञा देने को ही तैयार नहीं होते क्योंकि इसमें कथानक और घटनाक्रम कार्य-कारण की परम्परा में बँधा नहीं है। सारा उपन्यास स्मृत्यालोक (Flash-back) टेकनीक पर लिखा गया है। मृत्यु के समीप पहुँच कर बहुधा मनुष्य की चेतना अतिरिक्त रूप से प्रबुद्ध हो उठती है। उस समय क्षणमात्र में ही पूरा जीवन आँख के आगे कौंध जाता है। अतः फ्लैश-बैक पद्धति का प्रयोग करते समय उपन्यासकारों ने अकसर मृत्यु की छाया उपस्थित की है। 'शेखर' के इस स्मृत्यालोक की भी पृष्ठभूमि मृत्यु ही है। शेखर को फाँसी की सजा हुई। मृत्यु की अनिवार्यता के इस बोध के आलोक में उसने अपना सारा जीवन उरेहना चाहा। मूल्यांकन चाहा। उपन्यास का पहला शब्द ही है...

'फाँसी।'

....

वह फिर प्रश्न करता है...

"सिद्धि कैसी...काहे की? मेरी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी...मेरे जीवन की क्या थी?... मैं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहा हूँ, अपने अतीत जीवन को दुबारा जी रहा हूँ।"

यह जो अतीत जीवन दुबारा जिया जाता है, स्पष्ट है कि घटनाओं और परिस्थितियों में नहीं भावों और स्मृतियों में जिया जाता है। ये स्मृतियाँ खण्ड चित्रों (Fragments) में आती हैं। इसी कारण इनमें घटनाओं और व्यापारों की कार्यकारण शृंखला नहीं होती। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण अनेक आलोचक इसके कथाक्रम पर अस्वाभाविकता का आरोप करते हैं। परन्तु जैसा कि एक लेखक ने कहा है, "अनुक्रम इसमें घटनाओं और दृश्यों का नहीं भावों और मनःस्थितियों का है। इन्हीं भावों और मनःस्थितियों के उत्तरोत्तर विकास का उन घटनाओं और दृश्यों के साथ जिन पर वे आश्रित हैं चित्रण और विश्लेषण करना ही उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य है। ये चित्र अपने आप में बहुत कुछ स्वतन्त्र होते हुए भी समन्वित प्रभाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।"

'शेखर : एक जीवनी' के अब तक दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। दोनों भागों में लगभग 500 पृष्ठ होंगे। इन 500 पृष्ठों में शेखर, उसका अहं, उसका विद्रोह और उसकी बौद्धिकता ही व्याप्त है। प्रथम भाग में शेखर अपने बचपन की छोटी-छोटी घटनाओं और मन पर विविध स्थितियों में पड़े हुए संस्कारों को हमारे सामने उपस्थित कर अपने व्यक्तित्व की मानसिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण उपस्थित करता है। दूसरे भाग में उसकी समस्त कर्म प्रेरणाओं और चिन्तन प्रणाली की भूमिका उपस्थित की गयी है।

जीवनी में शेखर का पूरा व्यक्तित्व एक विद्रोही का व्यक्तित्व है। अहं, भय तथा काम उसके जीवन की मुख्य वृत्तियाँ हैं। भय और काम का तो वह किसी सीमा तक उन्नयन कर लेता है पर उसका अहं और विद्रोही स्वभाव उसे कभी सामाजिक राहों पर नहीं चलने देता। वह प्रत्येक वस्तु, व्यवस्था, संस्था और स्थिति के प्रति विद्रोह करता है। उसकी कल्पना है कि जीवन ऐसा होना चाहिए शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरुद्ध, निरन्तर श्रेष्ठ और प्रगतिशील, घरबार के बन्धनों से मुक्त और विद्रोही। लेकिन समाज के बन्धन उसकी इस अराजक मनोवृत्ति को बढ़ावा नहीं देते। फलतः उसका अहं विक्षुब्ध हो उठता है। वह ध्वसंशील हो जाता है। शेखर का सशक्त व्यक्तित्व नकारात्मक रूप ग्रहण कर लेता है। पर अब तक उसके दो ही भाग आये हैं। जीवनी का तीसरा भाग यदि कभी आया तो हो सकता है कि बच्चन सिंह की यह आशा पूरी हो कि शेखर अपनी प्रेमिका शशि की बलि से आवश्यक सम्बल ग्रहण करके जीवन और जगत को नया आलोक दे सके।

शिल्प और भाषा की दृष्टि से वात्स्यायन का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' और आगे बढ़ी हुई चीज है। सभी आलोचकों ने यह मुक्त कण्ठ से स्वीकारा है कि 'नदी के द्वीप' में हिन्दी गद्य का प्रौढ़तम रूप मिलता है। इस उपन्यास का कैनवस और छोटा हो गया है। शेखर का व्यक्तित्व परिवार, समाज और देश के अनेक सूत्रों से उलझा रहा पर इस उपन्यास का सारा कथानक ही भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्र माधव

के चौखटे में कसा है। इन सभी पात्रों की विचित्र मानसिक स्थितियों एवं तदनुरूप क्रिया-व्यापारों का अंकन, उनके प्राकृतिक परिवेश और रंगीनी के साथ हुआ है।

इस उपन्यास के सभी पात्र उच्च शिक्षा प्राप्त बौद्धिक वर्ग के व्यक्ति हैं, जो बहुधा इलियट और लारेंस को उद्धृत करते रहते हैं। कुछ लोगों ने भुवन और शेखर को एक ही माना और रेखा में शशि की प्रतिच्छाया देखी है; पर वास्तव में यह साम्य ऊपरी है। असलियत में जहाँ से शेखर समाप्त हो जाता है वहाँ से भुवन का प्रारम्भ है। भुवन में शेखर का दर्पस्फीत व्यक्तित्व बुझ गया है। विद्रोही शेखर भुवन के रूप में गृहस्थी के आदर्श को स्वीकार करता है और विवाह को सहज धर्म मानता है। परन्तु उसे आवश्यक रूप से महिमामण्डित करने के कारण उसके चरित्र की सही अवधारणा नहीं हो पायी। गौरा अत्यन्त समर्पणशीला और भुवन के व्यक्तित्व के सम्मुख नतशिर है। चन्द्रमाधव एक मीडियाकर मध्यवर्गीय चरित्र है, जो जीवन में केवल सनसनी और रोमांस चाहता है। केवल रेखा का व्यक्तित्व वह प्राणवान रीढ़ है जो सारे उपन्यास को सँभाले है, उसमें भुवन जैसी तेजस्विता और बौद्धिक जागरूकता है। रेखा के सारे चरित्र में एक अजब दृढ़ता है जिसके सम्मुख भुवन छोटा जान पड़ता है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता और पीड़ा के दर्शन में अज्ञेय जी का गहरा विश्वास है। बुद्धि को उन्होंने जीवन की पथनिर्देशिका के रूप में स्वीकारा है और पीड़ा को व्यक्तित्व का परिष्कार करने वाली शक्ति के रूप में। अज्ञेय जी का यह कथन स्वयं उनके जीवन दर्शन को सधे ढंग से उपस्थित करता है : "दुःख सबको माँजता है और चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने किन्तु जिनको माँजता है उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

हिन्दी आलोचना का विकास

आलोचना के सम्बन्ध में एक बात हमेशा याद रखने की है कि वह आलोच्य, यानी कि जिन कृतियों की आलोचना होनी है, उनके साथ गहरे भाव से सम्बन्धित रहती है। आलोच्य और आलोचना की धाराएँ समानान्तर होती हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्‌भावना करता है, जो उसके अनुरूप होती है। परन्तु एक सक्रिय शक्ति होने के कारण वह रचनात्मक साहित्य को नियन्त्रित या किसी विशेष दिशा की ओर प्रेरित भी करती है।

हमारे साहित्य में काव्य सम्बन्धी विवेचनों को देखने पर जान पड़ता है कि भक्तिकाल का सम्पूर्ण विवेचन भक्ति भावना की ओर मोड़ दिया गया था। वहाँ पर काव्यशास्त्र की उपेक्षा घोषणापूर्वक कर दी जाती है। 'कवित विवेक एक नहीं मोरे', कवि का सारा ध्यान अध्यात्म या इष्टदेव की ओर रहा। इसी कारण 'रामचरितमानस' आदि की असाहित्यिक टीकाएँ भी चल निकलीं।

रीतिकाल के कवियों का काव्यादर्श बदला। वहाँ 'पदझंकार मात्रेण' मन हरने की ओर अधिक ध्यान रहा। इसीलिए सारा विवेचन काव्यपक्ष के नियमबद्ध निरूपण की ओर लगा रहा।

भारतेन्दु युग में आकर हमारे साहित्य निर्माण में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। कविता का स्वरूप ही नहीं बदला, गद्य के क्षेत्र में उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि ऐसी रचनाएँ होने लगीं, जिनका कि पहले के साहित्य में कहीं पता नहीं है। गद्य का क्षेत्र यों भी बुद्धि-प्रधान है, अतः उसके विवेचन में बौद्धिकता का अधिक प्रवेश हुआ, फिर काव्य की समीक्षा में तो रस, अलंकार पद्धति चल सकती थी, पर गद्य के क्षेत्र में जहाँ नये उपन्यास, निबन्ध या नये-नये अनुवाद आ रहे हों, यह पुराना मानदण्ड समर्थ नहीं होता।

आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्म इन्हीं समस्याओं से प्रारम्भ होता है। अनुवादों की भाषा और मूलरचना के भावों की रक्षा का प्रश्न भी था। परन्तु यह प्रारम्भिक काल था। यहाँ पर कोई नियमित व्यवस्थित मानदण्ड भी नहीं था। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार गुण-दोष विवेचन पत्र-पत्रिकाओं में प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु जी की

'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा 'कविवचन सुधा' नामक पत्रिकाओं में 'समालोचना' के नाम पर कुछ नोट प्रकाशित होते थे, परन्तु किसी रचना की विस्तृत समीक्षा सबसे पहले पं. बालकृष्ण भट्ट और बद्री नारायण चौधरी प्रेमघन ने प्रस्तुत की। बाबू गदाधर सिंह के 'बंगविजेता' के अनुवाद की आलोचना प्रेमघन जी ने पाँच पृष्ठों में की थी। सन् 1882 में उन्होंने तथा बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' नामक नाटक की कठोर आलोचनाएँ कीं। प्रेमघन जी की आलोचना तो 'आनन्दकादम्बिनी' के 21 पृष्ठों की है। पर यह सारी आलोचना स्थूल गुण-दोष विवेचना तक ही सीमित है।

दूसरा चरण

आधुनिक हिन्दी आलोचना का दूसरा चरण आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के आगमन से प्रारम्भ होता है। द्विवेदी जी शिक्षक थे, संशोधक थे और थे सुधारक। भाषा का परिमार्जन करके उसका रूप स्थिर करने के साथ-साथ उन्होंने सामाजिक उत्थान और देश प्रेम के साहित्य को भी प्रेरणा दी। उन्होंने साहित्य के रूप की अपेक्षा उसकी वस्तु पर अधिक बल दिया। यद्यपि उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था, फिर भी प्राचीन गुण-दोष विवेचनवाणी शैली का प्रभाव उन पर काफी है, तथा इस समय तक कोई परिपुष्ट शास्त्रीय आधार भी हिन्दी आलोचना को नहीं मिल सका। इस निर्बलता के कारण द्विवेदी जी की आलोचनाएँ छिछली एवं हल्की प्रतीत होती हैं।

सन् 1897 में प्रकाशित नागरी प्रचारिणी पत्रिका तथा 1900 में प्रकाशित सरस्वती का भी हिन्दी आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग है। उन पत्रिकाओं ने अब तक की विकसित शैलियों का भरपूर उपयोग कर उन्हें और दृढ़ किया।

सन् 1900 के आसपास से ही नागरी प्रचारिणी सभा एवं बाबू श्यामसुन्दर दास के प्रयत्नों से अनुसन्धान एवं खोज का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। इस खोज एवं अध्ययन कार्य से सहस्रों लुप्तप्राय पुस्तकों का पता चला। 'पत्रिका' में भी सर्वश्री राधाकृष्ण दास, श्यामसुन्दर दास, एडविन ग्रीब्स, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि के अनुसन्धान पूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सर्वश्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्यामसुन्दर दास एवं मोहन लाल विष्णु पण्ड्या के गम्भीर लेख निकले। खोजरिपोर्टों एवं लुप्त ग्रन्थों के अनुसन्धान का फल मिश्रबन्धुओं का महाकाय ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' नाम से आया। इसमें कवियों के नाम परिचय तथा ग्रन्थों का उल्लेख है, समीक्षा का कोई विशेष प्रयास नहीं, फिर भी साहित्यिक इतिहास लिखने वालों के लिए यह पुस्तक सदैव मार्गप्रदर्शक का कार्य करेगी। यह ग्रन्थ सन् 1913 में प्रकाशित हुआ था।

तुलनात्मक समालोचना

इसी के थोड़ा पहले ही बिहारी के रूपचमत्कार से अभिभूत पं. पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक आलोचना की पद्धति प्रारम्भ की थी। उन्होंने सन् 1907 की जुलाई की सरस्वती में बिहारी और फारसी कवि सादी की तुलनात्मक आलोचना प्रकाशित करायी। सरस्वती में ही सन् 1907 और 1908 में उन्होंने ये लेखमालाएँ और प्रकाशित करायीं जिनमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्यों तथा संस्कृत और हिन्दी कविता के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की चर्चा की।

तुलनात्मक समालोचना का पहला वास्तविक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सन् 1910-11 में प्रकाशित होने वाला मिश्रबन्धुओं का हिन्दी 'नवरत्न' है, जिसमें इन्होंने हिन्दी के नौ सर्वोत्तम कवियों की तुलनात्मक समीक्षा की। उसमें देव को तुलसी और सूर के बराबर कहा गया। तब पं. पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी की सतसई नामक पुस्तक में बिहारी को सतसई की चली आती हुई परम्परा के बीच में रखकर तथा हिन्दी, फ़ारसी, उर्दू की शृंगारिक कविता के साथ तुलना करके उन्हें शृंगार रस का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया। इसका उत्तर पं. कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' तथा इसका भी उत्तर लाला भगवान दीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर दिया। इस पद्धति ने कुछ समय के लिए हिन्दी आलोचना को बेकार शब्दजाल में उलझाया भी, पर एक लाभ भी पहुँचाया कि पाठकों एवं लेखकों में अन्य भाषाओं के अध्ययन की प्रवृत्ति जाग्रत हुई।

शुक्ल जी : नवीन आलोचनादर्श के प्रतिष्ठापक

आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में हिन्दी गद्य का तृतीय उत्थान सन् 1918 के लगभग से माना है। इस समीक्षा के बारे में उन्होंने लिखा है, "इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन से आगे बढ़ कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छान-बीन की ओर भी ध्यान दिया गया।" कहना न होगा कि इस नवीन आलोचनादर्श के प्रतिष्ठापक स्वयं शुक्ल जी थे, पर वे अपनी ही कलम से अपने बारे में कैसे लिखते?

शुक्ल जी की आलोचना की सबसे बड़ी देन है साहित्य को समाज के साथ सम्बन्धित करना। एक ओर उन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर कवियों, उनकी कृतियों तथा साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों को परखा तथा दूसरी ओर 'काव्य में लोक मंगल' के सिद्धान्त के द्वारा साहित्य की सामाजिक जिम्मेदारी की ओर संकेत किया।

उन्होंने कवियों के भावपक्ष और कलोपक्ष की मार्मिक व्याख्याओं के साथ ही उनके मूल्यांकन का भी प्रयत्न किया, परन्तु नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण मूल्यांकन

के समय उनसे बहुधा चूक हो गयी है। तुलसी उनके आदर्श थे और उसी तुला पर तोलने के कारण अनेक प्राचीन श्रेष्ठ कवियों तथा नयी काव्यधाराओं के बारे में शुक्ल जी की समीक्षाएँ भ्रान्तिहीन नहीं रहीं। इसके अतिरिक्त उनकी वैयक्तिक रुचियाँ भी आड़े आ जाती थीं।

परन्तु फिर भी वे हमारे साहित्य के सर्वश्रेष्ठ समालोचक हैं। समालोचना के व्यावहारिक रूप के भी वे अग्रणी हैं तथा उनके सैद्धान्तिक पक्ष के तो अकेले प्रतिनिधि। उन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्र के शब्दों को ग्रहण कर उनमें नया अर्थ भरा, अपने ढंग से उनकी व्याख्या की। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाओं का जितना श्रेष्ठ समन्वय एवं सन्तुलन शुक्ल जी में प्राप्त हो जाता है, उतना अन्य किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

शुक्ल जी के रास्ते पर

शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति को अपना कर बहुत से लोग आगे बढ़े। इनमें सर्वश्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, शिलीमुख, चन्द्रबली पाण्डेय, गुलाबराय आदि प्रमुख हैं। पर इनके बारे में ध्यान देने योग्य बात है कि शुक्ल जी के नीतिवादी दृष्टिकोण का जहाँ उन्होंने त्याग किया, वहीं उनके लोक मंगल और सामाजिक दायित्व वाले दृष्टिकोण का भी पूर्ण ग्रहण ये नहीं कर सके। इसीलिए इनकी आलोचनाएँ बहुधा एकांगी हो गयी हैं। इसी धारा की अन्तिम परिणति छात्रोपयोगी आलोचनाओं में हुई।

शुक्ल जी की समीक्षा पद्धति को और अधिक विकसित किया पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉ. नगेन्द्र ने। द्विवेदी जी ने शुक्ल जी के सामाजिक स्वर को अधिक उदात्त मानवतावाद पर प्रतिष्ठित किया तथा साहित्य धारा को एक अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में देखा। पं. नन्ददुलारे वाजपेयी ने शास्त्रीय तथा सौन्दर्यवादी दोनों धाराओं का सामंजस्य कर जिस पद्धति को आगे बढ़ाया, उसे लोगों ने सौष्ठववादी समीक्षा कहा है। डॉ. नगेन्द्र पर मनोविश्लेषण शास्त्र का भी प्रभाव है, पर शुक्ल जी के रसवाद को उन्होंने सैद्धान्तिक पक्ष में और आगे बढ़ाया तथा नये साहित्य को भी सहानुभूति दी।

दो नयी धाराएँ

सन् 36 के आसपास से हिन्दी आलोचना का स्वर फिर बदला। यहाँ से दो प्रमुख समीक्षाधाराएँ सामने आती हैं। पहली मनोविश्लेषणात्मक, दूसरी समाजशास्त्रीय या प्रगतिवादी। पहली केवल कलाकार के व्यक्तित्व की खोज करती है तो दूसरी साहित्य के सामाजिक कारणों और उसकी उपयोगिता पर ही बल देती है। पहली

धारा के गण्यमान्य समीक्षक इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, नलिन विलोचन शर्मा आदि हैं, तथा दूसरी के शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि। पर इधर हाल में इन दोनों धाराओं का स्वस्थ समन्वय भी दृष्टिगोचर हुआ है। इलाचन्द्र जोशी, देवराज, नामवर सिंह, यहाँ तक कि शिवदान सिंह चौहान तक में यह देखा जा सकता है।

किसी भी देश की आलोचना बिना खोज और अनुसन्धान के आगे नहीं बढ़ पाती। खोज कार्यों के परिणामस्वरूप हम किसी युग या लेखक की प्रमुख विशेषताओं को समझ पाते हैं। कवि की रचनाओं के मूल पाठ निश्चित किये जाने पर उसके वास्तविक अर्थों को जाना जा सकता है। इस तरह युग और व्यक्ति दोनों के मूल्यांकन में आलोचना सहायक हो सकती है। अनुसन्धान क्षेत्र के अगुआ बाबू श्यामसुन्दरदास हैं। फिर तो मिश्र बन्धुओं एवं शुक्ल जी ने इस परम्परा को और आगे बढ़ाया। धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों के माध्यम से यह कार्य बढ़ता ही गया। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय में निर्गुण कविता का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया। उसके पश्चात् तो विश्वविद्यालयों, स्वतन्त्र संस्थाओं एवं व्यक्तियों के माध्यम से यह शृंखला बढ़ती रही। सर्वश्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, डॉ. दीनदयालु गुप्त, डॉ. मुंशीराम शर्मा, डॉ. भगीरथ मिश्र, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. माताप्रसाद गुप्त आदि ने अनुसन्धान कार्य को बराबर आगे बढ़ाया।

इस प्रकार हिन्दी आलोचना विविध क्षेत्रों में निरन्तर आगे बढ़ रही है। अब वह केवल व्याख्या से आगे बढ़कर मूल्यांकन की ओर प्रभावित है। शीघ्र ही हम इस दिशा में भी समृद्ध साहित्यों तक पहुँच जायेंगे।

युगप्रभात : मार्च, 1959

चरित्र प्रधान कहानियाँ

कथा-कहानियों की परम्परा मानव सृष्टि जितनी पुरानी है। रवीन्द्र बाबू ने अपनी काव्यात्मक शैली में इसी बात को यों कहा है—"नदी जैसे जल-स्रोत की धारा है, मनुष्य वैसे ही कहानी का प्रवाह।" स्रष्टा की इस कथात्मक परम्परा का प्रारम्भिक बिन्दु है मनुष्य की अभिव्यक्तीकरण की शक्ति का उदय। जब से मनुष्य ने अपने जीवन-व्यापारों के प्रति सजग अनुराग का अनुभव किया और उसे व्यक्त करने की अदम्य वासना से अभिभूत हुआ, तभी से कहानी का जन्म माना जा सकता है। मानव-जागरण के प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में कहानी और उसके तत्त्व विद्यमान हैं। वामन की कथा, शुनःशेप की कथा, ययाति और दधीचि की कथाएँ काफी प्रसिद्ध हैं। वैदिक काव्य तक आकर मनुष्य ने मनुष्य के प्रति सहानुभूति सीख ली थी। प्यार और भय की भावनाएँ स्थिर हो गयी थीं, जीव-जगत हमारी भावनाओं के निकट आ गया था, अतः उस युग की कहानियों के अतिमानवीय चरित्रों में इन मानवीय गुणों एवं भावनाओं की स्थापना की गयी। उपनिषदों की दार्शनिक कहानियों में उस युग की जिज्ञासु और चिन्तक प्रज्ञा अभिव्यक्त हुई है। संस्कृत में उन ललित काव्यों की कथावस्तु के अन्तर्गत सुषमापूर्ण उपवनों के वे चित्र, जिनमें उद्दाम यौवन उमंग की तरंगें लेता है, सुरबालाओं के मदिर अपांग नीलकमलों की सृष्टि करते हैं, जो सुधा की धाराओं से परिपूर्ण हैं, हमें उन युगों के नागरों एवं नरेशों की विलास-क्रीड़ा की याद दिलाते हैं। अस्तु अपने युग के यथार्थ को अभिव्यक्त करती हुई, कहानी नाना रूपों में आगे बढ़ती गयी।

"देवता और राक्षस, हितोपदेश, परियों की राजकुमारी और एक था राजा, से कहानी आरम्भ हुई। वह तो बचपन था और सुनने वाले भी बच्चे या बालस्वभावी थे। फिर दुनिया आगे बढ़ी, रईसों और नवाबों के किस्से तथा फ़साने सुने। नये शौक आये और नयी कहानियाँ बनीं। तथा आज तो राजा ही नहीं रहा तो 'एक था राजा' से कहानी कौन शुरू करे? आज का पाठक या श्रोता अब परियों या राजकुमारियों की जगह अपने जीवन की कहानियाँ पसन्द करने लगा है। कहानी आज मनोरंजन का साधन मात्र नहीं

है, वह जीवन-मर्म का उद्घाटन करने वाले साहित्यि का सबलतम रूप है।"
(आज : कहानी विशेषांक)

कहानी के प्राणदायक अणु

अतः प्राचीन कहानियों से सिलसिलेवार सम्बन्ध होने पर भी आज की कहानियाँ नितान्त भिन्न आधार-भूमि पर अपने पैरों पर खड़ी हैं। अपने ऐतिहासिक रूप में वे प्राचीनतम हैं, पर नये रूप में हिन्दी में तो वह उपन्यास से भी बाद की वस्तु है। डॉ. त्रिगुणायत के शब्दों में—

"प्राचीन कहानियों में अद्भुत घटना-वैचित्र्य, अति प्राकृतिक वर्णन, चमत्कारपूर्ण चित्रण मिलते थे, किन्तु आज की कलापूर्ण कहानी में इसके स्थान पर संवेदना, कौतूहल, उत्सुकता आदि जाग्रत करने की क्षमता को महत्त्व दिया जाता है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, स्वाभाविकता और यथार्थता आदि छोटी कहानी के प्राण-प्रदायक अणु हैं। इसके अतिरिक्त उसकी शैली और शिल्पविधि, पात्र-योजना और विषय-वस्तु सभी में अभूतपूर्व परिवर्तन हो चुका है। कहना यों चाहिए कि व्यक्तिवाद और मनोविज्ञान के आगमन के साथ-साथ हमारे साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोणों में महान् अन्तर उपस्थित हुआ। देवता और अलौकिक का स्थान मानव ने ले लिया। उसका विविध कोणों और स्थितियों से चित्रण, अध्ययन और विश्लेषण होने लगा। 'क्या हुआ' का स्थान 'क्या हो रहा है' 'कैसे हो रहा है' 'क्यों हो रहा है' आदि ने ले लिया है।"

मनोविज्ञान के फलस्वरूप प्राचीन ऐतिहासिक प्रणाली, सुधारवादी कथानकों एवं व्यापक सामाजिक चित्रों के स्थान पर चरित्र की सूक्ष्मताओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मनोविज्ञान से भी आगे बढ़ कर अब कथा साहित्य में मनोविश्लेषण की ओर झुकाव है। इस पद्धति में मनुष्य अच्छा या बुरा नहीं चित्रित किया जाता, क्योंकि उसके बाह्य सामाजिक कार्यों का कोई महत्त्व नहीं है। उसमें विविध प्रकार के मनोभावों, संघर्षों एवं अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण ही परम काम्य है। जोड का कहना है "Psychology teaches that a human being is more like a river than a bundle of qualities." उसकी यह प्रवहमानता विभिन्न स्थितियों में विभिन्न मनोदशाओं को सूचित करती है।

मनोविज्ञान से मनोविश्लेषण की ओर

आज की कहानियों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं बहुसंख्यक वर्ग चरित्र प्रधान कहानियों का ही है। हिन्दी में गुलेरी जी की सन् 1915 में प्रकाशित, 'उसने कहा

था' तथा प्रेमचन्द की सन् 1916 में प्रकाशित 'पंचपरमेश्वर' से कहानियों में शील निरूपण एवं चरित्र प्रतिष्ठा के व्यापक प्रयत्न दिखायी देते हैं। 'उसने कहा था' में विविध स्थितियों के मध्य एक सात्विक प्रेमी का चरित्र सजीव किया गया है।

चरित्र प्रधान कहानी का मुख्य उद्देश्य पात्रों का मनोवैज्ञानिक आधार पर चरित्र विश्लेषण और चरित्र चित्रण होता है। उदाहरण के लिए हम प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'कफ़न' को ले सकते हैं। यह एक श्रेष्ठ, चरित्र प्रधान कहानी है। घर के भीतर बहू प्रसव-पीड़ा से कराह रही है और बाहर उसका पति और ससुर आग के किनारे बैठे ताप रहे हैं, पर भीतर कोई नहीं जाता, क्योंकि उन्हें डर है कि आग में भूने जा रहे आलुओं को दूसरा खा जायेगा, उनकी यह भूख बीमार तक नहीं पहुँचने देती उन्हें। स्त्री पीड़ा से मर जाती है, पर ये दोनों निकम्मे, कामचोर और गरीब रोते हुए बैठे रहे। गाँव के लोगों ने कफ़न के लिए चन्दा करके रुपये दिये। वे दोनों बाजार से बजाय कफ़न खरीदने के शराब की दूकान में जा पहुँचे। गोश्त खाया, चंटपटे लिये और पूरे रुपये की दोनों ने शराब पी डाली। उनकी धारणा है कि कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढाँकने को चिथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए। शराब पी कर दोनों फिर नाचने लगे, उछले भी, कूदे भी, गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये, अभिनय भी किये। और आखिर नशे में मदमस्त होकर वहीं गिर पड़े।

यहीं पर कहानी की चरम सीमा भी है और समाप्ति भी। ध्यान देने की बात है कि चरम सीमा मनोवैज्ञानिक अनुभूति के सत्य पर प्रतिष्ठित हुई है। फलतः ये चरम सीमाएँ नितान्त कलात्मक हुई हैं और उनमें किसी प्रकार की उपदेशयोजना या उपसंहार को नहीं जोड़ा गया।

वर्गगत विशेषताओं के साथ चरित्रगत व्यक्तित्व

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में–

> *"विकास युग में चरित्र प्रधान कहानियों के सर्वश्रेष्ठ लेखक प्रेमचन्द हैं। इनकी कहानियों में मनोविज्ञान अपने तात्विक रूप में अधिक प्रयुक्त हुआ है।"*

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियाँ अधिक आदर्शवादिनी और घटना-प्रधान हैं, पर बाद को वे मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों के प्रधान चितेरे बन जाते हैं। साहित्य में आने वाले चरित्रों को साधारणतः दो भागों में बाँटा जा सकता है : वर्ग गत चरित्र तथा विशिष्ट चरित्र। पर श्रेष्ठ चरित्र-विधान वह है जो वर्गगत विशेषताओं के संयोजन के साथ ही चरित्र का व्यक्तित्व भी खड़ा कर सके। प्रेमचन्द की कहानियों में अधिकांश चरित्र ऐसे ही हैं। 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'कफ़न', 'सुजान भगत', 'नशा', 'मंत्र', 'बूढ़ी काकी' आदि उनकी श्रेष्ठ चरित्र प्रधान कहानियाँ हैं।

उनकी कहानियों में राव, रंक, दुखी मजदूर, दुर्बल हृदय, मिल मालिक, पतित पण्डित, ईर्ष्यालु प्रोफेसर, डॉक्टर, दफ्तर के बाबू और गलियों के शोहदे तथा आवारे अपने चरित्र-वैविध्य के साथ उपस्थित मिल जाते हैं। 'बूढ़ी काकी' की यह मनोभावजन्य संवेदना देखने योग्य है, "खूब लाल-लाल, फूली-फूली गरम (पूरियाँ) होंगी। रूपा ने भलीभाँति मोयन दिया होगा। कचौरियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूरी मिलती तो जरा हाथ में लेकर देखती। क्यों न चलकर कड़ाह के पास सामने ही बैठूँ। पूड़ियाँ छन-छन कर तैरती होंगी। कड़ाह से गरम-गरम निकलकर थाल में रक्खी जाती होंगी।"

यद्यपि प्रसाद जी मूलतः भावना और वातावरण के निर्माता हैं, पर उन्होंने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के आधार पर कुछ श्रेष्ठ चरित्र प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। 'गुण्डा', 'सालवती', 'मधुआ', 'ममता', 'घीसू', 'नूरा' आदि ऐसी कहानियाँ हैं। एक आलोचक के अनुसार "गुण्डा का ननकू सिंह ऐसा प्रतिनिधि पुरुष चरित्र है कि इससे पुरुषत्व और पुरुष के दायित्व को गर्व हो सकता है।"

पं. विशम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' की 'ताई' भी एक श्रेष्ठ चरित्र प्रधान कहानी है, जिसमें भतीजे के मुँड़ेर पर से गिर जाने के आकस्मिक आघात से उसके चरित्र में एक व्यापक परिवर्तन हो जाता है। पं. भगवती प्रसाद बाजपेयी की 'मिठाई वाला' चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व के धरातल पर सफल मनोविश्लेषण का उदाहरण उपस्थित करती है। सुदर्शन की 'सूरदास', 'मास्टर', 'संन्यासी' आदि भी चरित्र प्रधान कहानियाँ गिनी जायेंगी। भगवती चरण वर्मा की 'दो बाँके' में अपने ढंग के अनोखे टाइप चरित्र हैं।

व्यावहारिक मनोविज्ञान से आगे बढ़कर मनोविश्लेषणवादी पद्धतियों को अपना कर चरित्र सृष्टि के माध्यम से कहानी कहने वालों में प्रमुख हैं जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय। जैनेन्द्र की मूल चेतना दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक है। जैनेन्द्र के चरित्र अधिकांशतः अन्तर्मुखी होते हैं, उनमें घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व पर्याप्त मात्रा में होता है। 'एक रात', 'राजीव की भाभी,' 'आशुतोष', 'जाह्नवी' उनकी कतिपय व्यक्ति-चरित्र प्रधान कहानियाँ हैं। अज्ञेय की कहानियों की आत्मा भी चरित्रमूलक ही है। उनमें अज्ञेय का अहं एवं विद्रोहात्मक रूप उभरकर आया है। 'छाया', 'साँप', 'रोज', 'नम्बर दस', 'कोठरी की बात' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। इलाचन्द्र जोशी का मनोविज्ञान सबसे अधिक एकेडेमिक है। इस कारण उनमें बहुधा अस्वस्थ विकृतियों की प्रधानता हो गयी है। 'होली', 'अनाश्रित', 'परित्यक्ता', 'जारज', 'पागल की सफाई' जोशी जी की कुछ कहानियों के शीर्षक हैं।

यशपाल, अश्क, अमृतराय, महादेवी वर्मा, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, होमवतीदेवी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि अन्य अनेक कहानीकारों ने श्रेष्ठ चरित्र प्रधान कहानियाँ दी हैं। इधर के नये लेखकों में राजेन्द्र यादव, भारती, शिवप्रसाद

सिंह, सत्येन्द्र शरत, मार्कण्डेय, कमल जोशी और ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने अनेक अविस्मरणीय चित्र चरित्रों के उपस्थित किये हैं।

चरित्र चित्रण के लिए दो शैलियों का प्रयोग बहुधा होता है—विश्लेषणात्मक और नाटकीय विश्लेषणात्मक पद्धति में लेखक स्वयं चारित्रिक रेखाओं को स्पष्ट करता है। जैसे—"वह सरल, उदार, दानी, क्रोधी, हट्टा कट्टा है।" गुलेरी जी की 'उसने कहा था' में नाटकीय शैली का प्रयोग हुआ है। बालक की भावनाओं का यह संकेत से भरा नाटकीय चित्रण कितना व्यंजक है—"कुड़माई हो गयी" का उत्तर मिलता है...

"हाँ, हो गयी"

"कब"

"कल। देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू"

लड़की भाग गयी। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया। एक छबड़ी वाले ने भी दिन-भर की कमाई खोयी, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अन्धे की उपाधि पायी। तब कहीं घर पहुँचा।

कहानी में चरित्र चित्रण का महत्त्व सबसे अधिक है। सीमित क्षेत्र के भीतर चरित्र की रेखाओं को स्पष्ट करना जहाँ एक ओर प्रतिभा और कुशलता की अपेक्षा रखता है, वहीं दूसरी ओर सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का। कहना न होगा कि हमारे कहानीकारों ने इस कठिन कार्य, चरित्र-विधान को कुशलतापूर्वक निभाया है।

युगप्रभात : जुलाई, 1959

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के नाम और काव्य से हम सभी परिचित हैं। पन्त जी छायावाद के श्रेष्ठ कवि हैं तथा प्रगतिवाद के प्रारम्भिक उन्नायकों में से हैं। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है, "प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य...संगीत भी खो बैठता है। ...छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि छायावाद नयी परिस्थितियों के उपयुक्त न था तथा नयी परिस्थितियों में जिस छायावादी काव्य की रचना हो रही थी, वह काव्य की शक्ति से युक्त भी नहीं रह गया था। छायावाद की ही एक अन्य प्रमुख कवयित्री महादेवी वर्मा के इन शब्दों में उसकी एक कमजोरी तथा नये युग की एक आवश्यकता का दिग्दर्शन और होता है। महादेवी जी के अनुसार वह "व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा।" यानी कि युग की गति समष्टि अर्थात सामूहिक जीवन की ओर थी। छायावाद की 'अतिकाल्पनिक' उड़ान भरने वाली कल्पना ने एक हरीभरी ठोस जनपूर्ण धरती का आश्रय लिया।

परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि छायावादी काव्य प्रवृत्तियों के प्रति यह प्रतिक्रिया आकस्मिक नहीं थी। पूँजीवाद का नग्न स्वरूप यों भी सारे संसार के सामने स्पष्ट होता जा रहा था। सन् 1930 के आसपास दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातें घटीं। एक तो सारे संसार में एक भयंकर मन्दी आयी, जिसने चारों ओर एक निराशा की व्यापक लहर को फैलाया और इसी बीच 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद लागू की जाने वाली पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता भी सामने आयी। सन् 17 की क्रान्ति स्वयं संसार के बुद्धिजीवियों को इतना अपनी ओर नहीं खींच सकी जितना कि इस सफलता ने। पूँजीवाद की आर्थिक मन्दी से त्रस्त संसार को समाजवादी व्यवस्था और मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति आशा की किरण-समान दिखाई पड़ी। परिणामतः सारे संसार में मार्क्सवाद और समाजवाद की भावना तेजी से फैली। विशेषकर नवयुवक

वर्ग इसकी ओर मुड़ा। सारे संसार के साथ भारतवर्ष में भी यही विचारधारा आयी। पं. जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण आदि व्यक्ति इसके प्रति आकर्षित हुए। कांग्रेस में ही एक वाम पक्षीय मोर्चा कांग्रेस समाजवादी दल के नाम से संगठित हुआ। इस प्रकार वातावरण में व्याप्त समाजवादी प्रवृत्ति की भूमि पर सन् 1936 में लखनऊ में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में हुआ। 'प्रगतिवाद' शब्द और प्रवृत्ति दोनों को यहीं से आगे बढ़ने का, फैलने का अवसर और अधिक मिलता है।

मार्क्सवाद एक ऐतिहासिक जीवन-दर्शन है। उसके अनुसार इतिहास कोई हौआ नहीं है। इतिहास की गति को समझा जा सकता है। और समझकर उसकी प्रगति में सहायता की जा सकती है। उसके अनुसार हमारा समाज निरन्तर गतिशील है, विकासमान है। हम अनेक प्रकार के युगों को पार कर वर्तमान अवस्था में पहुँचे हैं। समाज की यह गतिशीलता द्वन्द्वात्मक मानी है मार्क्स ने। यानी कि समाज के पाज़िटिव और निगेटिव दो तत्त्वों का निरन्तर संघर्ष होता रहता है और इसी संघर्ष से एक नयी चेतना उत्पन्न होती है। विकास के इस दौरान में वर्गों का उदय हुआ, आर्थिक व्यवस्था के आधार पर जिनमें कि एक शोषक होता है और दूसरा शोषित। वर्गों के इस संघर्ष से समाज आगे बढ़ता है। मार्क्स के अनुसार अन्ततः एक ऐसी क्रान्ति होगी जिसमें शोषण की सारी व्यवस्था समाप्त होकर सत्ता सामान्य जनवर्ग के हाथों में आ जायेगी। मार्क्सवाद की इस संक्षिप्त रूपरेखा द्वारा आप वर्ग संघर्ष, समाज की गतिशीलता आदि को समझ सकते हैं। उसकी एक विशेषता विशेष याद रखने की है कि कला-साहित्य आदि भी उत्पादन-वितरण की आर्थिक व्यवस्था एवं वर्गों के संघर्ष से सम्बन्धित होते हैं। उसके अनुसार श्रेष्ठ साहित्य, कलाएँ आदि सदैव अपने समय की गतिशील शक्तियों के साथ जाने-अनजाने रहता है। परन्तु एक बात इस प्रसंग में ध्यान में रखनी होगी कि प्रगतिवादी कविता का जन्म मार्क्सवाद से नहीं हुआ है। सन् 1930 के बाद की स्थितियाँ ऐसी पैदा हो गयी थीं जिनमें कि पन्त को 'युगान्त' में छायावाद को समाप्त मानकर 'युगवाणी' में प्रगतिवादी पद्धति को स्वीकार करना पड़ा। प्रसाद जैसे अतीत प्रेमी कलाकार ने 'कंकाल' और 'तितली' का यथार्थवादी चित्रण किया। प्रेमचन्द और उनके उपन्यास पहले से ही सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित थे। शुक्ल जी ने आलोचना के क्षेत्र में 'लोकमंगल' स्थापना पर जोर देकर साहित्य के सामाजिक पक्ष पर बल दिया। मार्क्सवाद के आकर्षण और चेतना ने इस साहित्य को आगे बढ़ने में सहायता अवश्य पहुँचायी है। 'प्रगतिशील' या 'प्रगतिवाद' शब्द भी हमने मार्क्स की शब्दावली से न लेकर अंग्रेजी के 'प्रोग्रेसिव लिटरेचर' से लिया है, जो इस समय की साहित्यिक स्थिरता एवं दमघोंट वातावरण के विरुद्ध लिखे जाने वाले सामाजिक उद्देश्य युक्त साहित्य के लिए प्रयुक्त हुआ था।

स्पष्ट है कि यह प्रगतिवादी काव्य हमारे साहित्य का स्वाभाविक बढ़ाव है, ऊपर से लादा गया तत्त्व नहीं है। जिन पन्त ने एक समय नारी की रूपराशि का आकर्षण अस्वीकार करते हुए कहा था—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे
उलझा दूँ लोचन?

उन्होंने ही आगे कहा—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर
मानव! तुम सब से सुन्दरतम।

इस प्रकार विशुद्ध वायवीय कल्पना के स्थान पर हमें सामान्य मनुष्य-समाज के प्रति एक सहज आकर्षण दिखाई देता है।

प्रगतिवाद के प्रारम्भिक दिनों में हमें अनेक ऐसी प्रवृत्तियों के भी दर्शन उसमें होते हैं जो परम्परा के विरुद्ध-सी हो रही थीं। इन प्रवृत्तियों के मूल कारणों की विवेचना करने का यहाँ स्थान नहीं है, परन्तु ये सब छायावाद एवं तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिक्रिया मात्र थीं। अश्लीलता, निराशा, आक्रोश एवं विध्वंस की प्रवृत्तियाँ सामयिक जीवन से सम्बन्धित थीं। परन्तु ज्यों-ज्यों प्रगतिवादी कवि अधिक प्रबुद्ध होता गया, उसका इतिहास-दर्शन अधिक स्पष्ट हुआ, त्यों-त्यों सामाजिक यथार्थ के स्वस्थ स्वरूप का चित्रण भी हुआ। परन्तु साथ ही प्रगतिवादी काव्य का आन्दोलन एक दल विशेष के साथ जुड़ गया और कोई राजनैतिक दल का साहित्य और साहित्यकार का अनुशासन करने लगता है, तब उसमें विकारों का आ जाना स्वाभाविक है। प्रगतिवादी कवि भी इस राजनैतिक पार्टी के निर्देशों एवं सिद्धान्तों के अनुरूप काव्य-रचना करने लगे। कुछ दिनों तक तो रूस और लाल सेना का स्तुतिगान, किसान-मजदूरों के प्रति सहानुभूति तथा पूँजीपतियों, मिल मालिकों, धर्म, ईश्वर आदि के प्रति युद्ध का निर्घोष ही प्रगतिवादी काव्य की विषयवस्तु माने जाते रहे। नागार्जुन, शिवमंगल सिंह सुमन, केदार अग्रवाल, शील, अंचल, शंकर शैलेन्द्र आदि प्रगतिवाद के इस फ़ौजी Militant रूप के उद्‌घोषक थे।

प्रगतिवाद की मुख्य विशेषता सामाजिक यथार्थवाद है, जो इस फ़ौजी रूप में तिरोहित हो गया था, क्योंकि इसमें केवल कुछ बँधे-बँधाये चरित्र, बँधी-बँधायी स्थितियों के भीतर आने लगे थे, जिनके प्रति कुछ निश्चित निन्दा-स्तुति सूचक वाक्यों का प्रयोग भी किया जाता था। परन्तु आगे चलकर दृष्टिकोण का विकास हुआ। कुछेक को छोड़कर ऊपर गिनाये हुए कवियों के अतिरिक्त रामविलास शर्मा, त्रिलोचन, भारत भूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र आदि कवियों ने इसे आगे बढ़ने में और सहायता प्रदान की। दृष्टि अधिक निर्मल होती है। प्रकृति, जीवन आदि के

प्रति एक नया स्वस्थ दृष्टिकोण विकसित होता है। एकाध उदाहरण सुनिए। यह है केदार अग्रवाल की वसन्ती हवा–

चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर, चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा, किया कान में कू
उतर कर मगी में, हरे खेत पहुँची
वहाँ गेहुँओं में लहर खूब मारी
पहर दोपहर क्या, अनेकों पहर तक
इसी में रही।

इस कविता को यदि पन्त के छायावादी बादल से मिलाकर देखा जाये तो बात अधिक साफ होगी। पन्त का बादल जहाँ बादल के यथार्थ स्वरूप की अपेक्षा कवि की कल्पना का 'मोहक इन्द्रजाल अभिराम' अधिक है, वहीं यह कविता यथार्थता के सहज उल्लासमय स्वरूप से युक्त है। यही नहीं, उसकी भाषा शैली और रूपविधान भी बदल गया है। यहाँ लोकगीतों की धुन, बोलचाल की लय, सरल शब्दों का चयन एवं रूपक की सहजता छायावाद से एकदम पृथक है। प्रगतिवाद जब सामाजिक जीवन के निकट आया तो उसकी शैली को भी उसके निकट आना आवश्यक हो गया। पन्त ने कहा भी कि मैं विश्व को ग्रामीण नयन से देख रहा हूँ और इस दृष्टि के शिल्प विधान का भी संकेत कर दिया है–

खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त
औ युगवाणी बहती अयास।

अब तक क्षुद्र मानी जाने वाली अकाव्यात्मक वस्तुओं का प्रवेश विषय और उपमान दोनों क्षेत्रों में हुआ, परन्तु यह सरलता जितनी सरल दिखाई देती है, वास्तव में काव्य सृजन की दृष्टि से उतनी सरल है नहीं। प्रगतिवादी कविता का एक मुख्य स्वर व्यंग्य का भी रहा है और भाषा व्यंग्य के लिए जितनी शक्तिशालिनी चाहिए उतनी अन्य क्षेत्रों में नहीं। प्रगतिवाद ने यह सूक्ष्म शक्ति भाषा को दी है।

अन्त में हम एक आलोचक के शब्दों में कहना चाहेंगे:

"प्रगतिवाद का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के निरन्तर विकास का इतिहास है जो केवल राजनीतिक जागरण से आरम्भ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक समस्याओं की और स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।"

युगप्रभात : दिसम्बर 1959

प्रयोगवाद : परम्परा का विकास

हिन्दी में प्रयोगवाद की चर्चा सन् 1943 में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से प्रारम्भ होती है। यह संकलन ग्रन्थ है जिसमें सात नये कवियों की प्रकाशित-अप्रकाशित रचनाएँ संकलित की गयी हैं। इसके मानी हैं कि प्रयोगवादी रचनाएँ सन् '43 के पूर्व ही प्रकाश में आने लगी थीं, पर ध्यान 'सप्तक' के प्रकाशन के बाद ही उधर केन्द्रित हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद के बीज उस उत्तर-छायावादी गीतिकाव्य में विद्यमान हैं जो अस्पष्टता और अरूप वैयक्तिकता के विपरीत स्पष्ट आत्माभिव्यंजन एवं प्रणयभंगिमा लेकर आया था; अथवा स्फीत कल्पना के स्थान पर यथार्थ एवं आकांक्षा के नये धरातलों को पकड़ने की चेष्टा कर रहा था। पन्त, निराला, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, रामविलास एवं अज्ञेय की सन् '37 के बाद की कविताओं में इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों का पृथक्-पृथक् अथवा समन्वित प्रभाव दिखाई देता है। सन् 1939 में 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में नरेन्द्र शर्मा द्वारा प्रकट किये गये मन्तव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होंने 'प्रवासी के गीत' में संगृहीत रचनाओं को हिन्दी गीतिकाव्य के उत्तरार्ध में रखते हुए पूर्वार्ध के कवियों को प्रधानतः 'सौन्दर्योपासक' तथा असीम अनन्त के अनुयायी बताया। इनमें भी "सौन्दर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर गयी।" (यह संकेत निराला-पन्त की ओर है।) आगे समसामयिक परिस्थितियों का विवेचन करते हुए कवि नरेन्द्र का कहना है, "ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था। निराशावादियों और नियतिवादियों के आगमन से हिन्दी गीतिकाव्य का उत्तरार्ध शुरू होता है।" कहना न होगा कि प्रयोगवादी रचनाओं के मूल में आलोचकों ने बहुधा निराशा, कुण्ठा और पलायन को ढूँढ़ना चाहा है। यह वह ऐतिहासिक परिस्थिति थी, जो मध्यम वर्ग के कवि को प्रभावित कर रही थी, जिसमें आसन्न युद्ध का संकट, राष्ट्रीय आन्दोलन की निराशा, मध्यम वर्ग की गिरती हुई अवस्था और शिक्षित जन की हताशा मिली हुई थी।

प्रयोगवाद या नयी कविता पर इलियट आदि पश्चिमी कवियों के प्रभाव की बहुधा चर्चा होती है पर सन् '39 की मई में लिखी उपर्युक्त भूमिका के अगले पैराग्राफ

में ही नरेन्द्र जी ने लिखा है, "जिनकी दृष्टि अन्तर्मुखी थी उन्हें सब हालोमैन के रूप में दिखलाई पड़े और जिनकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं उनके सामने वेस्टलैण्ड का प्रसार था।" वास्तव में यह होरी की निराशा और मनु की प्रलय-विध्वस्त प्रकृति थी जो अब और अधिक संकुचित होकर मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन के 'एकान्त' में पैठ गयी थी। बकौल नरेन्द्र शर्मा,

> *"हम देखते हैं कि उत्तरार्ध का निराशावाद बराबर अधिक भीषण होता जाता है। इसका प्रधान कारण यही था कि बाहर-भीतर के असन्तोष के कारण कवि की प्रवृत्तियाँ उसके भीतर केन्द्रीभूत होती गयीं, आहत अहंकार ने उग्र रूप धारण कर लिया और कवि निराशा से चीत्कार कर उठा।... यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियों के व्यक्तीकरण के साधन बाहर समाज में नहीं मिलते तब वह जैसे बाहर ठोकर खाकर, अपने लिए अपने ही भीतर कामनाजन्य भावनाओं और कल्पनाओं का एक संसार बना लेता है। लेकिन कल्पना उसका कब तक साथ देगी? शाम के रंगीन बादलों-सी यह कल्पना बालू की भीत-सी भी तो नहीं है। उसकी आत्मचेतना, उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं से टकराकर गतिरुद्ध हो जाती है, और उसके अन्तर में धुएँ की तरह घुमड़ने लगती है। जैसे-जैसे वह 'आज मुझसे दूर दुनिया' का अनुभव करता है। उसका अहंभाव और तीव्र-गति से जाग्रत होता जाता है।"*

इस लम्बे उद्धरण को देने का तात्पर्य है कि उस समय के इस सजग कवि का आत्मालोचन (जो काफी दूर तक सही है) उपस्थित किया जा सके। पर नरेन्द्र जी ने समस्या का एक ही पहलू उपस्थित किया है। इस आहत अभिमान के संक्रमण का एक अन्य क्षेत्र भी था जहाँ वह अपने व्यक्ति को एकदम भुलाकर आवेश में तोड़-फोड़, क्रान्ति आदि के नारे लगाता है। व्यक्ति वही मध्यवर्गीय है, समस्याएँ, परिस्थितियाँ और प्रभाव भी वहीं हैं, केवल अभिव्यक्ति का रूप बदल गया। एक आत्मकेन्द्रित हो गया और दूसरा भीतर से खोखला। एक अपने को नष्ट करना चाहता है और दूसरा सारी दुनिया को एक ही मुक्के में चूर-चूर। एक अपने को संसार का सबसे अधिक प्रतिभाशाली महान व्यक्ति मानता है, दूसरा अपने को सबसे अधिक शक्तिशाली और वरेण्य स्वीकार कराना चाहता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से घुली-मिली रहीं—एक पीढ़ी के कवियों में, एक ही कवि में भी, उनका स्वस्थ सामाजिक आधार पर समन्वय सन् '50 के बाद 'नयी कविता' में ही हो सका है। ये दोनों भूमिकाएँ ही प्रयोगवाद और प्रगतिवाद कही गयी हैं।

संक्षेप में उपर्युक्त भूमिका के अन्तर्गत उन सभी तत्त्वों की ओर संकेत हो गया है जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य को जन्म दिया। यह हम आगे देखेंगे कि कल्पना के स्थान पर उस कौन-सी नयी शक्ति का सहारा नये कवियों को मिल गया जिनसे

उनका काव्य 'क्षयी रोमांस' से बच गया तथा 'अन्तर के अविश्वास (भाग्यवाद) तथा दुखवाद को तोड़' नहीं तो पचा अवश्य सका। 'नयी कविता' में दुख और पीड़ा की पूजा भी है तथा अविश्वास और अनास्था का स्वर भी—परन्तु यह दोनों उत्तर-छायावादी गीत-काव्य की निराशा और अविश्वास से भिन्न हैं, इनका विस्तार से विवेचन यहाँ पर अप्रासंगिक रहेगा। यहाँ पर तो हमें प्रयोगवाद की मानसिक पीठिका पर स्थित उन कविताओं को देखना है जिनकी परम्परा 'प्रयोगवाद' में आयी है। 1938 ई. में पन्त को यह नवदृष्टि मिली थी कि—

खुल गये छन्द के बन्ध
प्रात के रजत पाश
अब, गीत मुक्त
और युगवाणी बहती अयास।
बन गये कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम?

युगवाणी की यह 'अयासगति' हिन्दी-काव्य के विकास में महत्त्वपूर्ण चरण है। छायावाद की भाषा रम्यता और पालिश से बोझिल होकर प्रयाससिद्ध हो गयी थी। उसे जीवन की सहज-अयासगति की ओर आना पड़ा। यह यथार्थ की गहरी होती हुई चोट का तकाजा था जो जीवन के हर क्षेत्र में दिवास्वप्नों को छोड़कर पृथ्वी की ओर खींच रहा था। छायावाद की सृजनात्मक सम्भावनाओं से हीन कल्पना-बहुल और बोझिल भाषा का नहीं, निराला के उद्दाम वेग को वहन करने वाली गतिशीला और प्रेमचन्द की सहजता को समेटने वाली भाषा का विकास हो रहा था। बच्चन, नरेन्द्र के गीतों में बोलचाल का यही पुट है। 'अनामिका' (निराला) में प्रकाशित इस कविता की भाषा में भी यही गुण विद्यमान है—

लोग गाँव-गाँव को चले
कोई बाजार, कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघिया, लँगोटा ले सँभले
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान

अप्रैल '39 के 'रूपाभ' में 'अनामिका' की समीक्षा करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा का ध्यान ऐसे अंशों की भाषा की कर्कशता और ठेठपन की ओर गया था। उस काल के इस सचेत समीक्षक का निम्न मन्तव्य उस समय की बढ़ती हुई रुचि का परिचायक है, "युग की प्रगति देखते ऐसा जान पड़ता है कि नौजवानों को यह कर्कशता और भाषा का यह ठेठपन ही आगे प्रभावित करेगा।" रामविलास जी का अनुमान व्यर्थ नहीं गया। प्रयोगवादी काव्य में भाषा का भदेसपन भी आया और डॉ. नगेन्द्र जैसे समीक्षकों को यह भदेसपन अखरा भी, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सूक्ष्म, श्रुतिप्रिय एवं तत्सम पदावली-प्रधान भाषा निःशेष हो गयी। निराला

और पन्त की भाषा का आभिजात्य-स्वर 'अज्ञेय' आदि में विकसित हुआ; परन्तु यह स्वर मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं की व्यंजना के एक नये स्तर पर घटित हुआ। कल्पनाशीलता के स्थान पर प्रौढ़ता एवं गरिमा भाषा के गुण बने। निराला और अज्ञेय के इन दो अंशों की तुलना कीजिए–

(1) *मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार,*
नहीं जानती क्यों तू इतना करती मुझको प्यार।
तेरे सहज रूप से रंग कर,
झरे गान के मेरे निर्झर,
भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार।

(प्रिया से : निराला)

(2) *आँसू से भरने पर आँखें और चमकने लगती हैं।*
सुरभित हो उठता समीर, जब कलियाँ झड़ने लगती हैं।
बढ़ जाता है सीमाओं से जब तेरा यह मादक हास।
समझ तुरत जाता हूँ मैं–अब आया समय विदा का पास।

(इत्यलम् में अज्ञेय)

पाठक देखेंगे कि दोनों में ही कथनोपकथन की भंगिमा एक विशेष अभिजात गरिमा से युक्त है। 'प्रवासी के गीत' में संगृहीत, 'क्या जगत में भ्रान्ति ही है?' में भी इस संलाप-शैली का रूप विद्यमान है तथा निम्नलिखित कविता में उन छोटी-छोटी भाव-वृत्तियों (Short moods) को पकड़ने का प्रयास दिखाई देता है जिन्हें आगे चलकर प्रयोगवाद और 'नयी कविता' ने एक विशिष्टता के रूप में उपलब्ध किया–

कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सम्मुख!
क्षण भर को तो दिन भर के सब था भूल गया श्रम दुख!
सहसा सफेद दीवारों पर आयी हल्की सी छाया,
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण, तड़ित-सा ध्यान तुरत यह आया!
पर मुड़ कर जब देखा, बाहर फिर धूप विहँस कर निकली,
मेरे मन में सुधि आयी थी, छाई थी रवि पर बदली।

इस कविता में सामान्य बोलचाल की रीति (Diction) तथा भाषा की अनलंकृत सहजता के साथ आत्मचेतन कवि का आत्मकथ्य भी द्रष्टव्य है। नरेन्द्र की 'तुम्हें याद है क्या उस दिन की' प्रसिद्ध कविता भी इसी श्रेणी की है जिसमें बातचीत की लय एवं अकृत्रिम भाषा के भीतर उस छोटी-सी स्मृति को सजीव किया गया है जिसने सारे जीवन को सुरक्षित कर दिया है। पूरी कविता में एक भी उपमान नहीं है पर सम्पूर्ण कविता द्वारा जो एक सम्पूर्ण क्रियाशील बिम्ब (Functional image)

हमारे सम्मुख खड़ा होता है वह नये काव्य की मूल्यवान् सम्पत्ति है और छायावाद की उपमान-बहुलता से काफी आगे बढ़ा हुआ कदम भी है।

उपमान और चित्र की बात आ गयी तो फिर तनिक निराला की ओर लौट चलें क्योंकि 'कवि' सम्पादक का यह कथन उचित ही है कि 'नयी कविता' के विकास की अनेक धाराओं का मूल निराला का काव्य ही है। 'नयी कविता' के कवि उस धारा के ही नये व्यक्तित्व हैं। निराला की अलंकरण-शैली की श्रेष्ठ कविता 'सन्ध्या सुन्दरी' से सभी परिचित हैं–

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।
तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,–
किन्तु जरा गम्भीर,– नहीं हैं उनमें हास विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से,
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर-पथ से चली।
अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

ठीक इसी कविता की परम्परा में ऐसी ही कविता एकदम नये कवि कुँवर नारायण की है, दोनों की भावभूमि भी लगभग एक है, पर भाव को जिस 'टोन' में कहा गया है वह तो नया ही है, साथ ही बिम्ब की स्फीतबहुलता सिमटकर अपेक्षाकृत अधिक मितव्ययी बिम्ब में बदल गयी है। कविता है–

ओस-न्हाई रात
गीली सकुचती आशंक,
अपने अंग पर शशि-ज्योति की सन्दिग्ध चादर डाल
देखो
आ रही है व्योमगंगा से निकल

इस ओर
झुरमुट में सँवरने को..........दबे पाँवों

x x x

कामना
कुछ व्यथा
भावों की सुनहली उमस,
चंचल कल्पना
यह रात और एकान्त..........
छन्द की निश्चित गठन से जब सभी
समान जुट आये
फिर भला उस याद ही ने क्या बिगाड़ा था
........कि वो न आती?

परन्तु इन दोनों कविताओं के मध्य 'अनामिका' (काल सन् 1938-39) में स्वयं निराला की कविताओं में इमेजिस्ट सम्प्रदाय की यह मितव्ययिता यथार्थ के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण आ गयी थी। यह कड़ी द्रष्टव्य है जिसमें नारी-रूप-वर्णन में कवि भावाकुल नहीं हो उठा–

नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार–
सामने तरुमालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप;

(वह तोड़ती पत्थर : निराला)

छन्दों के बारे में निराला के मुक्त छन्द-प्रयोग को पन्त, नरेन्द्र शर्मा और आगे चलकर अंचल और बच्चन ने ही नहीं स्वीकार किया, स्वयं प्रसाद जी ने मुक्त छन्द को अपनाया था। बाद में द्वितीय महायुद्ध की कड़वाहट और अतिरिक्त बौद्धिकता एवं काव्य के अनेकमुखी रूपों ने छन्दों को मुक्त होने में कहीं अधिक सहायता दी।

एक बात और : 'जब जगत के विविध रूप नाम कलात्मक भाव' (पन्त की पीछे उद्धृत कविता) बनने लगे तभी उसमें अब तक अकाव्यात्मक मानी जाने वाली

अनेक क्षुद्र वस्तुओं (Trivials) का प्रवेश हुआ। स्वयं पन्त जैसा संस्कारी कवि 'नीम', 'चींटी', 'दो लड़के' आदि कविता के विषय बनाता है तथा निराला तो आदि विद्रोही था ही। इस प्रकार काव्य-क्षितिज को नया विस्तार मिला। ठूँठ भी कविता में आया और किसान की नयी बहू की आँखें भी, एवं 'द्वितीया नायिका के प्रति' (अज्ञेय) कहे गये नितान्त अनूठी अनुभूतियों वाले वचन भी परिगणित हुए।

'रूपाभ' में फरवरी '39 में ही भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' यथार्थ का नया विस्तार लेकर उपस्थित होती है और आसन्न महायुद्ध की पृष्ठभूमि पर अप्रैल-मई '39 में रामविलास शर्मा की 'विश्वशान्ति' 'रूपाभ' में ही प्रकाशित हुई। यह कविता बाद को तार सप्तक में संकलित रूप में भी आयी। इस काल में शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर आदि की भी कविताएँ बराबर प्रकाशित हो रही थीं।

ऊपर हम इलियट के 'हालोमैन' और 'वेस्टलैण्ड' का जिक्र कर चुके हैं। परन्तु इस युग में (1930-40) इंग्लैण्ड में 'माडर्निस्ट' आन्दोलन जोर पर था और वहाँ भी मार्क्सवाद तथा वैज्ञानिक उपादानों को काव्य के उपकरण-रूप में ग्रहण करने की विशेष प्रवृत्ति थी। सेसिल डे लेविस, ऑडेन, स्पेण्डर, लुई मैक्नीस आदि कवि-लेखक इस आन्दोलन के पुरस्कर्ता थे। हिन्दी में भी इस आन्दोलन की लहरें आ रही थीं—मध्यवर्ग अधिक सुशिक्षित एवं प्रबुद्ध होने लगा था, उसके अध्ययन क्षेत्र का विस्तार हुआ था, अतः यह कोई आश्चर्य की बात न थी। गिरिजाकुमार माथुर के 'मंजीर' संग्रह (सन् 1940) की भूमिका में 'निराला' ने इस प्रभाव को लक्षित किया था—

"इस समय गाँधीवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद और अत्याधुनिकवाद का हिन्दी-साहित्य में तूफान उठा हुआ है। काव्य में इसके धक्के तेजी से लग रहे हैं।" यह अत्याधुनिकवाद 'माडर्निस्ट मूवमेण्ट' ही था। इस भूमिका से यह भी पता लगता है कि राजनैतिक मतवाद इस समय तक काव्य के क्षेत्र में भी (कथा-साहित्य के क्षेत्र में तो बहुत पहले से) गहरी तरह से आ गये थे। परन्तु उस समय तक उनका स्वरूप काव्य में अत्यधिक स्थूल रहा, बाद को 'नयी कविता' के क्षेत्र में वे अधिक आन्तरिक भूमिका में प्रतिष्ठित हो अपेक्षाकृत सूक्ष्म चेतना का कार्य कर सके; पर यह तो स्वाभाविक विकास था।

वास्तव में सन् '30 के बाद की विश्वव्यापी मन्दी, शिक्षितों की बेकारी, वैयक्तिक आन्दोलनों की असफलता, रूस की सफलता, आसन्न महायुद्ध की विभीषिकामयी आशंका तथा बढ़ते हुए दमन-चक्र ने वह अवस्था उत्पन्न कर दी थी जिसमें 'भाव-शबलता से प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना' काम नहीं कर पाती थी। अब या तो आक्रोश और विद्रोह का अनगढ़ स्वर समीचीन था या फिर 'अन्तर अहं की गुफा में लीन क्षयी रोमांस' के गीत ही गम गलत कर सकते थे। एक तीसरा स्वर इनके मध्य में था जो कभी अहंलीन हो सकता था तो कभी क्रुद्ध वीर्य की फुफकार भी गुँजा सकता था तथा आवेश के धीमा पड़ने पर शान्तिपूर्वक सोच भी सकता था।

वास्तव में मध्यवर्ग (कवि और पाठकों का जो मुख्य वर्ग है) की मुख्य पूँजी बौद्धिक शक्ति ही है। जिस समय इसे वह भुला देता है तब या तो अतिरिक्त कल्पना में बह जाता है या फिर तीव्र निराशा में डूबता है। समस्याओं के तीव्र झोंकों ने उसकी बुद्धि को झनझना दिया और इस बौद्धिक शक्ति से शक्तिवान बनने की चेष्टा में वह लगा। इस बौद्धिकता ने ही पन्त को मार्क्सवाद की ओर उन्मुख किया था और इसी ने नये कवि को स्फीत कल्पना के बालुकाधार से हटाकर बौद्धिक दृष्टि से समस्याओं के आमने-सामने खड़ा कर दिया। ये लोग घबड़ाए, अनिश्चय, आशंका और अनास्था भी जागी पर अन्ततः एक बौद्धिक दृढ़ता ने इन्हें खड़े रहने की आधार-भूमि दी। प्रयोगवादी-प्रगतिवादी कवियों की यह पीढ़ी परिस्थितियों की मार से बीच-बीच में लड़खड़ाती रही, पर उसने विवेक को यथासम्भव स्थिर बनाये रखा। सन् '50 के बाद दोनों के मध्य के मिथ्या भ्रम दूर होने प्रारम्भ हुए तथा कहीं अधिक दृढ़ विवेक-निष्ठा पर 'नयी कविता' की समन्वित स्थापना हो सकी। बहुधा नयी कविता के प्रसंग में बौद्धिकता का आरोप आलोचक लगाते हैं, परन्तु वास्तव में बौद्धिकता प्रयोगवादी काव्य की विभूति है। 'नयी कविता' पुनः संवेदनशीलता और बिम्बविधायकता को स्वीकार करती है, परन्तु 'प्रयोगवादी काव्य' के लिए बौद्धिकता अनिवार्य हो गयी थी। इस बौद्धिकता ने काव्य की समुचित परम्परा को विकसित होने में सहायता दी। जिन लोगों ने इस बौद्धिकता को नहीं स्वीकारा, वे एक प्रकार की छिछली कल्पनाशीलता एवं प्रेम की हल्की-फुल्की भावनाओं से भरी कविताएँ लिखकर कवि-सम्मेलनों में कीर्ति अर्जित करते रहे। इसी कारण हिन्दी का छायावादोत्तर गीत-काव्य अपने व्यापक दायित्व को छोड़कर जनप्रिय होते हुए भी मुख्य काव्य-परम्परा से पृथक् हो गया; परन्तु बौद्धिकता की शक्ति से शक्तिमान बना काव्य 'प्रयोगवाद' समसामयिक जीवन के दबाव में विकसित होने वाली परम्परा की उपयुक्त कड़ी था जो अपना दाय 'नयी कविता' को सौंपकर ही हटता है।

'आलोचना और आलोचना'

पं. प्रतापनारायण मिश्र और उनका युग

भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् उस युग के प्रमुख साहित्यकार पं. बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा था—

"अब इस चन्द्र (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) के अस्त होने पर उनके उद्भट लेख की बची-बचाई कणिका यदि कहीं बच रही है, तो कानपुर निवासी 'ब्राह्मण' सम्पादक के लेख में देखी जाती है।"

यानी कि प्रतापनारायण मिश्र को भारतेन्दु का उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया है। सचमुच ही भारतेन्दु के समृद्ध दाय को सँभालने की शक्ति उनमें थी।

बहुधा इस बात पर बार-बार जोर दिया जाता है कि समाज और साहित्य का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में उपलब्ध होता है, वैसा अन्य युगों में दुर्लभ है। युग के प्रति यह जो अतिरिक्त सजगता थी, इसका कारण ढूँढ़ा जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा कि समसामयिक जीवन के प्रति जितनी सघन जागरूकता पं. प्रतापनारायण मिश्र में प्राप्त होती है, उतनी भारतेन्दु में भी नहीं मिलती। भारतेन्दु का दायरा बड़ा था, प्रतिभा बड़ी थी, कार्यक्षेत्र विशाल था, पर प्रतापनारायण जी तो सारे साहित्य का लक्ष्य ही बनाये हुए थे—

पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे न देश कलेश।
जैसे कंता घर रहे, तैसे रहे विदेश।

जागरण-युग

भारतेन्दु-प्रतापनारायण युग हमारे साहित्य का पुनर्जागरण-काल है। इसका प्रारम्भ हम स्थूल रूप से सन् 1800 के आसपास से मान सकते हैं। सन् 1757 में प्लासी-युद्ध के बाद अंग्रेजी शासन देश में अपनी नींव दृढ़ करता है। उसे अपेक्षित शक्ति प्राप्त होती है। 1764 ई. में होने वाले बक्सर युद्ध के बाद तो उसका प्रसार वर्तमान उत्तर प्रदेश तक हो जाता है। शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद शासन के दौरान में भारतीयों और अंग्रेजों में अधिक घनिष्ठ सम्पर्क आवश्यक हो गये। शिक्षा, धर्म,

साहित्य आदि अनेक क्षेत्रों में एक जीवन्त और शक्तिशाली जाति की निकटता हमने प्राप्त की। सन् 1800 में शासन की आवश्यकताओं के अनुरूप कलकत्ते में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना हुई तथा श्रीरामपुर मिशनरी ने 1801 से 1832 के दौरान में इंजील आदि की लाखों प्रतियाँ भारतीय भाषाओं में छापकर बँटवायीं। इस प्रकार प्रशासकीय स्तरों के अतिरिक्त भी धर्म और शिक्षा में बहुत कुछ आयात किया जा रहा था। प्रेस की स्थापना ने इस सारे कार्य और परिस्थिति को अत्यधिक वेग प्रदान किया। सन् 1826 में हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदंत मार्तण्ड' आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों की ही उपज था। वास्तव में इस सारे कोलाहल को पत्रों के माध्यम से कोआरर्डिनेट किया गया। समन्वय एवं सन्तुलन के चरम प्रयत्न आगे चलकर भारतेन्दु, प्रतापनारायण एवं बालकृष्ण भट्ट के पत्रों में प्राप्त होते हैं। उस सन्तुलन और समन्वय (Coordination) का ही एक रूप 'ब्रह्म समाज' की स्थापना भी थी, जिस पर कि पश्चिमी विचार-सरणि की गहरी छाप थी। ईसाई मिशनरियों ने अपने प्रचार द्वारा धर्म-सम्बन्धिनी दृष्टि और सजगता ही नहीं दी, शास्त्रार्थ और प्रचार की एक नयी शैली भी दी, जिसे आगे आर्यसमाजियों तक ने अपनाया। 'फोर्ट विलियम कॉलेज' ने दुहरा पार्ट अदा किया। एक ओर तो वह भारतीय पण्डितों को यूरोपीय साहित्य और विचारधारा के निकट लाया और दूसरी ओर यूरोप के सुधी जनों को भारतीय साहित्य के रस की ओर आकृष्ट किया, जिसके आधार पर आगे चलकर भारत-विद्या (Indology) नामक एक विशिष्ट ज्ञान एवं अध्ययन-शाखा ही विकसित हुई। यहीं यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि 19वीं शती के यूरोप की समस्त रीति-नीतियों की प्रेरक शक्ति राष्ट्रीयता थी। अतः विचारधाराओं के आयात में यह शक्ति भी धीरे-धीरे भारत की ओर आ रही थी। धीरे-धीरे इसलिए कि भारतीय भूमि अभी पूरी तरह उसके लिए अनुकूल नहीं बन पायी थी। अभी भारत टुकड़ों में बँटा था, एक केन्द्रीय शक्ति का पूर्णरूपेण आभास नहीं हुआ था। यह कार्य शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसलिए उत्तरार्द्ध में ही आकर हमें राष्ट्रीय चेतना की बलवती अभिव्यक्ति अपने साहित्य में प्राप्त होती है।

सामन्तों का मोहभंग

अस्तु, उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध की उस सांस्कृतिक-वैचारिक स्थिति के साथ ही साथ अंग्रेजी रोलर आगे बढ़ता जा रहा था। मैकाले का भारतीय संस्कृति को जीतने का ही उद्योग नहीं चल रहा था, क्लाइव से लेकर डलहौजी तक अनेक शासकों की राज्य-लिप्सा भी बराबर बढ़ावे पर रही तथा सन् 1849 के अन्तिम सिक्ख-युद्ध के पश्चात् वे भारत के एकमात्र प्रभुत्वसम्पन्न शासक हो गये। (यहाँ

यह ध्यान देने की बात है कि देश में एक केन्द्रीय शक्ति, सारे देश में एक जैसी शासन व्यवस्था और परस्पर गुम्फित शासन-सूत्रों ने राष्ट्रीयता की भावधारा को विकसित करने में अत्यधिक सहायता दी।) यह युग राजनीतिक दृष्टि से सामन्तों के मोहभंग का था जिसके साथ धर्म-भावना, वीरपूजा-वृत्ति तथा अपरिचितों द्वारा अपमानित होने की हीनता-भावना ने मिलकर 1857 की क्रान्ति को जन्म दिया था। यह विद्रोह राष्ट्रीय ही था, पर राष्ट्र और राष्ट्रीयता की तत्कालीन विकास स्थिति में ही। उसे आज की राष्ट्रीयता की धारणा के साथ मिलाकर देखना अधिक न्यायसंगत न होगा।

द्विविध स्थितियाँ

विद्रोह असफल होता है, रोलर अन्तिम कंकड़ों को भी कूट देता है और अब इस समतल भारत पर उन आर्थिक नालियों का निर्माण अधिक तेजी से प्रारम्भ हुआ जिनका बहाव इंग्लैण्ड की ओर था। देश से धन खिंच-खिंचकर इंग्लैण्ड की ओर जा रहा था। अकाल और महामारियाँ बढ़ रही थीं, जिन्होंने पुनः एक प्रकार का असन्तोष उत्पन्न करना शुरू किया।

दूसरी ओर एक नया मध्यवर्ग सम्मुख आ रहा था जिसमें नवशिक्षित, सरकारी नौकर, लंकाशायर—मैन्चेस्टर की मिलों के लिए माल भेजने वाले और वहाँ से आये माल को बेचने वाले मध्यवर्ती व्यक्ति एवं नये जमींदार आदि थे। इस वर्ग के भीतर हर्ष और उत्साह था, आशा का संचार हुआ था। इन्हें सरकारी, गैर-सरकारी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत सम्मान भी प्राप्त हो रहा था। साधारण जनता भी कम से कम एक क्षेत्र में अच्छाई का अनुभव कर रही थी—मुगल शासन के अन्तिम दिनों में जो एक अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी; देश में न तो व्यवस्था थी न कानून; जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली स्थिति थी; ठगों और पिण्डारियों आदि का जोर बढ़ गया था; उसका अंग्रेजी राज में आकर अन्त हो गया। 'नवाबी' (अव्यवस्था के लिए प्रचलित सामान्य शब्द) के स्थान पर लोगों को कानून की सुरक्षा मिली। इस अकेले तथ्य ने भारतीय जनता में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शासन के प्रति प्रशंसा का भाव जाग्रत किया। यद्यपि भारतेन्दु जैसे प्रबुद्ध जनों से यह छिपा न रहा कि इस राज्य में 'इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक धारा' भी है, पर यह तो आन्तरिक बात थी, अंग्रेज के हित के प्रश्न पर होने वाला प्रश्न था, अन्यथा सामान्यतया एक प्रकार की सुरक्षा की भावना देश में उत्पन्न हो गयी थी; परन्तु शीघ्र ही निलहे गोरों आदि के अत्याचारों से इस कानूनी डंके की निस्सारता भी सिद्ध होने लगी।

द्वित्वमूलक भाव

अस्तु, इन विविध प्रकार की द्विविध स्थितियों के मध्य इस युग के लिखने-पढ़ने वालों का दल पल रहा था। और इसी स्थिति में लिखा हुआ वह साहित्य है जिसमें एक ओर अंग्रेजी शासकों की प्रशंसा भी की जा रही थी और दूसरी ओर अंग्रेजी शासन के प्रति निन्दा का भाव भी अभिव्यक्त हो रहा था। अम्बिकादत्त व्यास 'कटोरिया सी विकटोरिया रानी' की स्तुति करते हैं। भारतेन्दु बाबू 'अंग्रेज राज के सुखसाज' की बात उठाते हैं तथा पं. प्रतापनारायण मिश्र युवराजकुमार का स्वागत करते हुए कहते हैं—

भारत माता आज तुम्हें दिल जाय जुड़ानी।
जुग-जुग जीवहु हृदय कमल सूरज सुखदानी।।

परन्तु शीघ्र ही अपना असन्तोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जो लोग आप से नाना प्रकार के वेश बनाकर मिलने आते हैं, वे भारत की वास्तविक स्थिति का आपको आभास नहीं होने देते और स्वयं मिश्र जी भारत-दुर्दशा का वर्णन करने बैठ जाते हैं। कहना यों चाहिए कि वे समस्त दुर्दशा का मूलमन्त्र जान लेते हैं—

यह कर केवल हेतु यहै जो ह्यांकर सब धन,
टिक्कस व्यापारादि पन्थ है पहुँचत लन्दन।
फिर ह्वां ते यहि ओर कबहुँ कैसे हु नहिं आवत,
बस याही ते दुःख दारिद्र दुरदसा सतावत।

लेकिन इन लोगों को अभी यह आशा बनी थी कि धन विदेश चले जाने वाली 'ख्वारी' शीघ्र ही दूर हो जायेगी। अभी उन्हें विक्टोरिया की घोषणा पर विश्वास बना हुआ था तथा अंग्रेजी राज्य-नीति का असली स्वरूप पूरी तरह उघड़ा न था। भारतेन्दु जब कला-कौशल, इंजीनियरिंग आदि विद्याओं को भारत में स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, उस समय उन्हें यह स्पष्ट ज्ञात न था कि अंग्रेजी नीति मूल रूप से इन सबकी विरोधिनी है। वास्तव में इस युग के लेखकों के मन में था कि हमारे सर्वोच्च शासक (राजा-रानी, वाइसराय) बहुत अच्छे हैं, उनके अभिप्रायों (Intentions) पर सन्देह नहीं किया तथा बुराई नीचे उसका अमल करने वाले कर्मचारियों में उन्होंने देखी। अंग्रेजी शासन-प्रणाली एकबद्ध (Integrated) मशीन है, जिसका हर पुर्जा दूसरे के साथ जुड़ा है; यह तथ्य भारतीय शासन-व्यवस्था के अनुकूल न था, यहाँ पर राजा व्यक्तिगत सुख-दुख का ख़याल रखने वाला माना गया है। इसी कारण राजा और राज्य कर्मचारी का ऐसा द्वित्वमूलक भाव इन लेखकों में पाया जाता है। इस तथ्य का प्रतिबिम्ब तत्कालीन राजनीति में भी देखा जा सकता है। पेटीशन, मेमोरेण्डम, अपील, प्रस्ताव, डेलिगेशन आदि उस समय की कांग्रेस के मुख्य शस्त्र थे; तथा माँग थी एक सीमित क्षेत्र के भीतर स्वशासन। मध्यवर्ग का यह मोहभंग तो 19वीं शती के अन्तिम

वर्षों एवं बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशक में भली प्रकार होता है जब कि शिक्षितों की बेकारी, दुर्दशा, महामारी, अकाल, महँगाई, निर्धनता आदि सारी प्रार्थनाओं, अपीलों आदि के बावजूद बढ़ते गये। तभी भारतेन्दु, प्रतापनारायण आदि का अपेक्षाकृत मृदुल विरोध बालमुकुन्द गुप्त के तीखे 'शिवशम्भु के चिट्ठे' में बदल जाता है।

पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण

कोई भी देश जब लम्बी मोहनिद्रा के बाद जागता है तो वह अपने अतीत की ओर उसी प्रकार निहारता है, जैसे सोकर उठा हुआ व्यक्ति पिछली साँझ और रात के स्वप्नों को सबेरे सबसे पहले सहेजता है। यह स्थिति प्रत्येक पुराने देश के नवजागरण-काल में आती है। यूरोपीय रिनैसां में भी प्राचीन ग्रीक और रोमन सभ्यताओं के प्रति गहरी रुचि जाग्रत हो गयी थी। उसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह भी है कि अतीत का गौरव वर्तमान अधोगति में मनुष्य को वह विश्वास देता है जिससे कि भविष्य के प्रति वह आस्थावान बन पाता है। हमारे देश के नवजागरण में भी यह अवस्था आयी। सामाजिक, धार्मिक जीवन में आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज जैसी संस्थाओं का उदय आकस्मिक नहीं था। 'आर्य-समाज' की बहुत बड़ी ऐतिहासिक देन है कि उसने अपने पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण के द्वारा अतीत की महिमा को इतना अधिक उजागर किया कि उससे सम्पूर्ण राष्ट्र में एक दृढ़ आत्मविश्वास जग सका। वास्तव में यह पुनरुत्थानवादी आन्दोलन वह भूमि थी जिस पर कांग्रेस का राजनीतिक बीज पनप सका।

पं. प्रतापनारायण मिश्र में अपने समकालीन लेखकों एवं प्रबुद्ध जनों की भाँति नवजागरण की यह प्रथम अवस्था बराबर प्राप्त होती है। वे स्थान-स्थान पर इस बात का संकेत करते हैं कि हम अतीत में कैसे महान् थे और अब कितने हीन हो गये हैं तथा यत्र-तत्र भविष्य के लिए निर्देश भी दे देते हैं। 'प्रताप-लहरी' की कुछ ही कविताएँ ऐसी होंगी जिनमें ऐसे संकेत न प्राप्त हों; अन्यथा वे इस चेतना से भाराक्रान्त-से दिखाई देते हैं–

तब लखि हौ जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत
तहँ चौथाई जन रूखी रोटी तरसत।

–ब्रैडला स्वागत

तथा–

धर्म गयो धन बल गयो, गयी विद्या अरु मान।
रही सही भाषा हती, सोऊ चाहति जान।।

इसीलिए इस द्रष्टा का स्पष्ट मत है–

सब तजि गहौ स्वतन्त्रता, नहिं चुप लातैं खाव।
राजा करै सो न्याव है, पांसा परै सो दाँव।।

अपने 'स्वतन्त्रता' नामक निबन्ध में मिश्र जी ने स्पष्ट घोषित किया है, "यदि आप योग्यता रखते हों अथवा धन, जन, बल, छल इत्यादि की सहायता से योग्य बन जायें तो आपको भी आप से आप मिलकर रहेगी, नहीं तो योजना वह है जिसने त्रैलोक्यव्यापी विष्णु भगवान को बावन अंगुल का बना दिया।"

हिन्दू-राष्ट्रवाद

जैसा द्विधाविभक्त दृष्टिकोण हम इन लेखकों में अंग्रेजी शासन के प्रति पाते हैं, वैसा ही बहुधा मुसलमानों के प्रति भी मिलता है। लोगों ने इसीलिए बहुधा इन पर संकीर्णतावादी होने का या तो आरोप लगाया है या फिर इनके हिन्दू-राष्ट्रवाद (जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद का सखा रहा है) की पीठ ठोंकनी चाही है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अलग हटाकर साहित्य को देखने पर ऐसे ही मिथ्या-भ्रमों की सृष्टि होती है। मान्यताओं और धारणाओं की भी एक ऐतिहासिक सीमा होती है। उस युग तक राष्ट्रीयता की विस्तृत धारणा नहीं बन पायी थी। एक प्रकार की जो चेतना जाग्रत हो रही थी, उसमें 'अपनेपन' का भाव प्रमुख था और यह 'अपनापन' भारतीय प्रकृति और आर्यसमाज आदि के फलस्वरूप धर्म की ओर अधिक झुका हुआ था। इसके अतिरिक्त पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से अतीत को देखने पर भी मुसलमानों से पूर्व का युग आवश्यक से सामने आता है, क्योंकि भारतीय विद्या, कला, पराक्रम और वैभव का पतन मुसलमान शासन में प्रारम्भ हो गया था। (यह ध्यान में रखने की बात है कि इस ह्रास का कारण धार्मिक नहीं है।) इसी कारण मिश्र जी 'हिन्दी, हिन्दू हिन्दुस्तान' का नारा लगाते हैं, अन्यथा उन्हें अच्छी तरह ज्ञात है कि, "...जितना दारिद्र्य मुसलमानों के सात सौ वर्ष के प्रचण्ड शासन द्वारा न फैला था उतना, वरंच उससे भी अत्यधिक, नीतिमय राज्य में विस्तृत है।" तथा वाजिद अली शाह की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था, "तुमने अपनी प्रभुता के समय हिन्दू-मुसलमान दोनों को अपनी प्यारी प्रजा समझा है। यह तुम्हारा एक गुण ऐसा है कि यदि तुममें सचमुच के सहस्र दोष भी होते तो भस्म कर देता।"

वर्तमान की सजगता

प्रसिद्ध कलावादी आलोचक ए.सी. ब्रैडले का मन्तव्य है कि "यदि किसी कविता के लिए महान् जैसी कोई वस्तु होना है तो उसे एक अर्थ में वर्तमान से सम्बद्ध अवश्य होना चाहिए। उसकी विषयवस्तु कुछ भी हो, परन्तु उसे वह कुछ जीवन्त अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिए जो उन मस्तिष्कों में विद्यमान है, जहाँ से वह आती है तथा

जिन मस्तिष्कों में जाती है।" प्रतापनारायण जी में वर्तमान क्षण की यह सजगता बौद्धिक और भावात्मक दोनों स्तरों पर पूरी तरह विद्यमान है। उनका विचार-तंतु ही नहीं, वक्तव्य भी आधुनिक ही है। निबन्ध तो उनका एक भी ऐसा नहीं, जिसमें समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति न हो, तथा अधिकतर अपनी कविताओं में अवसर पाते ही वे वर्तमान को स्थापित कर देते हैं। कहाँ तो होली के रागरंग और उल्लास का वर्णन और कहाँ बीच में ही वे कहने लगे—

महँगी और टिकस के मारे सिगरी वस्तु अमोली है।
कौन भाँति मनैए, कैसे कहिये होली है।।

तीक्ष्ण व्यंग्य

कभी-कभी यह सजगता काव्य के कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से अनुचित प्रतीत होती है। वास्तव में यदि इस युग के लेखकों का लेखक-कलाकार की दृष्टि से कम से कम महत्त्व प्रकट करना चाहें तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि मिश्र जी, भारतेन्दु तथा उनके अन्य सहयोगियों के कृतित्व के आधार पर उस युग के इतिहास के एक बड़े अंश की पुनर्रचना हो सकती है; इतिहास का स्थूल बाहरी रूप ही नहीं, उसके आन्तरिक मन्तव्यों तक पहुँचा जा सकता है। सामाजिक इतिहास के इन गहरे व्यंग्यों में छिपे मन्तव्यों को समझना कठिन नहीं है—

कलिकोष—

कचहरी—कच माने बाल और हरी माने हरण करने वाली, अर्थात् मुण्डन (उल्टे छुरे से मूँड़ने वाली) जहाँ गये मुड़ाये सिद्धि।

हाकिम—दुखी कहता है हा! (हाय) तो हुजूर कहते हैं 'किम' अर्थात क्या है बे। अथवा क्यों बकता है।

अंग्रेजी राज्य की कानूनी व्यवस्था और शासन की वास्तविक स्थिति पर इससे अधिक सटीक टिप्पणी क्या हो सकती है?

'इलबर्ट बिल' पर भी उनकी लम्बी कविता है तथा काले सिपाहियों की यह गति भी स्पष्ट है—

उदर हेत जे शिर बेंचन पलटन महं जाहीं
गोरे रंग बिनु ठीक आदरित नाहीं?

पेट के लिए सिर बेचने की इस मजबूरी पर कौन-सा सहृदय शोक न प्रकट करेगा। उनकी प्रखर राजनीतिक चेतना और अंग्रेजी कूटनीति के स्वरूप को निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

1. *नित हमरी लातैं सहैं, हिन्दू सब धन खोय।*
   खुलै न इंगलिस पालिसी, जन्म सफल तब होय।।

2. *सर्वसु लिए जात अंग्रेज,*
हम केवल लेक्चर के तेज।
श्रम बिनु बातैं का करती हैं,
कहु टेटकन गाजैं टरती हैं।

आर्यसमाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोरक्षण, ब्रेडला तथा युवराज-आगमन, लार्ड रिपन के सुधार, कांग्रेस शिक्षा कमीशन, भाषा-समस्या, बेगारी-प्रथा आदि पर उनकी कविताएँ अथवा टिप्पणियाँ बराबर उपलब्ध होती हैं।

"बुद्धि और बुद्धिमानी के द्वारा अनुमोदित व्यवहार ही का नाम धर्म है।" यह कथन आज के किसी बुद्धिवादी का नहीं, बल्कि पं. प्रतापनारायण मिश्र का है। बौद्धिकता और विवेक-निष्ठा के कारण इन लेखकों में अत्यधिक सन्तुलन आ गया था। ये लोग यदि एक ओर प्राचीनता की स्तुति करते थे तो दूसरी ओर नवीनता का स्वागत। एक ओर पोंगापन्थी पण्डितों, धर्म के आडम्बरी ठेकेदारों और अन्धरूढ़ियों की बखिया उधेड़ते हैं तो दूसरी ओर स्वदेश और निजी संस्कारों को भूल पश्चिम की नकल करने वालों की भयंकर खिल्ली भी उड़ायी है—"कपड़े ऐसे कि उनमें कोई देशी सूत न हो। यदि हिन्दुस्तानी के हाथ से न लिये गये हों तो और अच्छा।"

वे पदार्थ-विद्याओं को सीखने का भी आवाहन करते हैं; भारतेन्दु बाबू ने तो इंजीनियरिंग कॉलेज खोलने का भी स्वप्न देखा था। देशी वस्तुओं का व्यवहार, उद्योग-धन्धों की स्थापना, नौकरी नहीं, अन्य प्रकार के रोजगारों की ओर इन सभी लेखकों का झुकाव था।

प्रतापनारायण जी की रूखी चर्चा ही इस निबन्ध में हो सकी है। यों वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबन्धकार हैं। उनके साहित्य का रसलोक ऐसा भी है जिसमें व्यंग्य है, हास्य है, चुहल है और है ज़िन्दादिली, जहाँ पर भाषा स्वयं भाषण करने लगती है, शब्द नृत्य करने लगते हैं, और वक्तव्य मूर्तिमान हो उठता है, जहाँ सारे दोष 'अत्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः' के अनुसार तिरोहित हो जाते हैं। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही प्रसिद्ध साहित्यकार बालमुकुन्द गुप्त ने उनका जीवन-चरित्र लिखते हुए कहा था—

"पण्डित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत-सी बातें बाबू हरिश्चन्द्र की-सी थीं। कितनी ही बातों में यह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे; पर एक आध में बढ़कर भी थे। ...जिस गुण में वह कितनी ही बार हरिश्चन्द्र के बराबर हो जाते थे, वह उनकी कवित्व-शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शक्ति थी। हिन्दी गद्य और पद्य के लिखने में हरिश्चन्द्र जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रतापनारायण भी वैसे ही थे।"

युगप्रभात : अगस्त, 1959

बालकृष्ण भट्ट

आज हिन्दी भारतराष्ट्र की राज्यभाषा है। बड़े परिमाण में लोग अब इस भाषा में साहित्य रचना करते हैं। अर्थ और सम्मान भी हिन्दी के लेखक को दुर्लभ नहीं रहे। परन्तु कभी उस युग के बारे में सोचिए, जब हिन्दी का लेखक राष्ट्रीय जागरण की प्रातःवेला में उत्पन्न हुआ था; जब उगती हुई चेतना को बढ़ाना उसका प्रमुख कर्तव्य था, उस समय हमारा मस्तक अपने आप उन दृढ़चेता साहित्यकारों के सम्मुख झुक जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट की त्रयी के अतिरिक्त उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे लेखकों ने हमारी भाषा और साहित्य को पुष्ट करने में जो त्याग और परिश्रम किया है वह सचमुच गर्व ही नहीं, अनुकरण की भी बात है। मध्यवर्ग के इन प्रबुद्ध व्यक्तियों ने सामाजिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक किसी भी कठिनाई के आगे कभी सर नहीं झुकाया।

सफल निबन्धकार

इन लोगों को खड़ी बोली को सब प्रकार से समर्थ बनाना भर ही न था, बल्कि इन्हें अपने साहित्य को जनता तक पहुँचाने का उपाय भी स्वयं करना था। उन्होंने स्वयं घर-घर जा कर पाठक बनाये, स्वयं पत्रों का सम्पादन किया, प्रकाशन की व्यवस्था सँभाली और खुद ही नाना प्रकार के निबन्ध, कहानियाँ, टिप्पणियाँ और नाटक आदि उन पत्रों में लिखे। भारतेन्दु युग के सभी लेखकों ने इसी कारण किसी न किसी पत्र का प्रकाशन और सम्पादन अवश्य किया। नयी चेतना को लोगों तक पहुँचाने में गद्य का निबन्ध रूप ही सब से अधिक सहायक सिद्ध हुआ, क्योंकि उसकी शैली एवं निहितार्थ सबसे अधिक प्रत्यक्ष होते हैं। इसीलिए भारतेन्दु युग में निबन्ध साहित्य की ही सर्वाधिक रचना हुई। डॉ. रामविलास शर्मा ने एक स्थान पर ठीक लिखा है कि "जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली, उतनी कविता और नाटक में नहीं मिली।" परन्तु पत्रकारिता के स्वभाव से युक्त इन स्फुट गद्य-खण्डों को वास्तविक रूप से निबन्ध की वैयक्तिकता और कलात्मकता प्रदान करने वाले थे बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र।

भट्ट जी के साहित्यिक कृतित्व के अनेक पक्ष हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी को निबन्धों के अतिरिक्त उपन्यास और नाटक मिले, तथा लगभग 32 वर्षों तक उन्होंने 'हिन्दी प्रदीप' का गौरवमय सम्पादन भी किया।

यह सहज ही सोचा जा सकता है कि जिसने 32 वर्षों तक 'हिन्दी प्रदीप' के कलेवर को भरा हो, उसके निबन्धों की संख्या कितनी अधिक होगी? इस निबन्ध राशि में हमें विविध विषयों पर विश्लेषणात्मक, भावात्मक अथवा व्यंग्यात्मक शैलियों में लिखे निबन्ध पढ़ने को मिलते हैं। हिन्दी में पहली बार शुद्ध और परिमार्जित निबन्ध लिखकर एक़ बड़े अभाव की ही पूर्ति उन्होंने नहीं की, बल्कि उन्हें इस प्रकार सजाया-सँवारा कि उनके प्रवाह, भावाभिव्यंजनक्षमता और रोचकता ने पाठकों को भी अपनी ओर खींचा।

तीन प्रमुख विशेषताएँ

यदि विषय के अनुरूप देखा जाये तो बालकृष्ण भट्ट ने साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। वर्णन कौशल की दृष्टि से भी उनके निबन्धों को वर्णनात्मक, कथात्मक, भावात्मक और विचारात्मक अनेक उपविभागों में बाँटा जा सकता है। उनके निबन्धों की तीन प्रमुख विशेषताएँ आपको सर्वत्र विद्यमान मिलेंगी। पहली बात यह कि उन्होंने निबन्धों को सर्वत्र रोचक बनाने का प्रयास किया है। हिन्दी में जब पढ़ने वालों की संख्या बहुत थोड़ी थी, तब यह आवश्यक भी था। सन् 1900 में नव प्रकाशित 'सरस्वती' की नीरसता और गम्भीरता की आलोचना करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में भट्ट जी ने लिखा, "सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है। लेख पढ़ कुन्द कली के समान दाँत न खिल उठें तो वह लेख ही क्या।" भट्ट जी ने विनोद और हास्य का प्रयोग गम्भीर विषयों को सरल और रोचक ढंग से उपस्थित करने के लिए किया है। उनके निबन्धों की दूसरी प्रमुख विशेषता आकार का छोटापन है। वे कहा करते थे कि न जाने कैसे लोग बड़े-बड़े निबन्ध लिख डालते हैं। और तीसरी बात जिसने कि उन्हें अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध निबन्धकार चार्ल्स लैव और हैज़लिट के निकट ला बिठाया है, उनकी व्यक्ति-निष्ठता है। उनका व्यक्तित्व सभी निबन्धों में प्रमुख रहा है। अपने वर्णनात्मक और विचारात्मक निबन्धों में भी वे यथातथा नहीं रह पाते। अपने सिद्धान्तों और विश्वासों को वे आरोपित करते चलते हैं। इसी कारण उनके निबन्धों में आपको वह गुण न मिलेगा जिसे वैज्ञानिकता कहते हैं।

भट्ट जी के वर्णनात्मक निबन्धों में भी कल्पना प्रधान हो उठी है। इन निबन्धों में उनका व्यक्तित्व कल्पना की उड़ान के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। विशुद्ध तथ्यात्मक और आँखों देखा वर्णन इनमें प्राप्त नहीं होता। 'इंगलिश पढ़े सो बाबू

होय, जाति पाँति पूछे नहीं कोय', 'दरिद्र की गृहस्थी', 'कार्तिक स्नान', 'मेला ठेला', 'वकील', 'हिन्दुस्तान के रईस' आदि उनके वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

विविध विषय, विविध ढंग

स्वप्नों को माध्यम बनाकर भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने कतिपय कथात्मक निबन्ध लिखे हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य किसी न किसी प्रकार का व्यंग्य रहता था। भट्ट जी ने भी ऐसा ही निबन्ध 'एक अनोखा स्वप्न' नामक लिखा है। कथात्मक निबन्धों के भीतर ही जीवनीप्रधान और आत्मचरितात्मक निबन्धों को भी लिया जा सकता है। 'एक अशरफी का आत्मवृत्तान्त', 'कट्टर सूम की नकल', 'श्री शंकराचार्य' और 'गुरु नानक देव' उनके ऐसे ही निबन्ध हैं।

भट्ट जी ने कुछ बहुत सुन्दर भावात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। भावात्मक निबन्धों की विद्वानों ने 'प्रलाप' और 'तरंग' नामक दो शैलियाँ मानी हैं। भट्ट जी 'प्रलाप' शैली के लेखक थे। 'आँसू', 'जगत प्रवाह', 'चन्द्रोदय', 'मधुप', 'भालपट्ट' आदि इसी शैली के अन्तर्गत हैं।

उन्होंने साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक विषयों को लेकर विचारात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। इन निबन्धों की संयत तर्क प्रणाली, सरसता, भाषा की विदग्धता और भाव-प्रकाशन क्षमता अपूर्व है। विचारात्मक निबन्धों में भट्ट जी का प्रखर बुद्धिवादी रूप उभर कर आया है। केवल रूढ़ि और परम्परा समर्थित मान्यताओं का इनमें उन्होंने कस कर खण्डन किया है। 'आत्म त्याग', 'आशा', 'उपमा', 'रसाभास', 'कल्पनाशक्ति', 'भक्ति', 'तर्क और विश्वास' आदि भट्ट जी के विचारात्मक निबन्ध हैं। स्पष्ट है कि इतने विविध विषयों पर इतने विविध ढंगों से हिन्दी में कम लेखकों ने लिखा है। उनके मौजी और आकर्षक व्यक्तित्व का कुछ पता निबन्धों के आकर्षक शीर्षकों से चल जाता है। 'हिन्दी प्रदीप' की फाइलों में 'माँगिबो भलो न बाप से जो विधि राखै टेक', 'रोटी तो किसी भाँति कमा खांय मुछंदर', 'कौतुक', 'आँख', आदि शीर्षकों के निबन्ध आपको मिल जायेंगे।

उपन्यास और नाटक

भट्ट जी ने इस निबन्ध राशि के अतिरिक्त 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान' नामक दो उपन्यास भी लिखे हैं। ये दोनों ही उपन्यास आकार में छोटे और सोद्देश्य हैं। दोनों ही उपन्यासों में नीति और अनीति, सत् और असत् के संघर्ष में नीति और सत् को विजयी दिखाया गया है। दोनों ही उपन्यासों की उपादेयता शिक्षात्मक है। वास्तव में उस युग के अधिकांश उपन्यास सामाजिक और धार्मिक

सुधार, जीवन की उन्नति आदि को लेकर ही लिखे गये हैं। कला की दृष्टि से इन उपन्यासों का महत्त्व नहीं है, परन्तु विषय की दृष्टि से नयी चेतना और नये विवेक को फैलाने में इन उपन्यासों का बड़ा हाथ रहा है। भट्ट जी ने नूतन ब्रह्मचारी में अपनी कामना प्रकट की है कि उसे पढ़कर साधारण जन भी नायक का अनुगमन कर सकें। उपन्यास का नायक अपने चरित्रबल से डाकुओं के सरदार को भी सुमार्ग पर ले आता है। 'सौ अजान एक सुजान' में कुसंगति में पड़े हुए सेठ के लड़के को चन्द्रशेखर नामक एक सुजान के द्वारा सद्वृत्ति और सदाचार के रास्ते में लाने का वर्णन है। भट्ट जी ने उपन्यास के अन्त में अपना उद्देश्य लिखा है कि इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चन्द्र था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा। वास्तव में उपदेश के ऊपर उपन्यास का न उठ पाना उस काल की उपन्यास की सीमा थी।

भट्ट जी ने नाटक भी लिखे हैं। उनके मौलिक और अनुवादित नाटकों की संख्या बीस के लगभग है। मृच्छकटिक, किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध आदि संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। भारतेन्दु युग के जिन्दादिल साहित्यकारों ने प्रहसनों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डों पर गहरे व्यंग्य किये हैं। भट्ट जी ने भी 'शिक्षादान', 'जैसा काम वैसा परिणाम' आदि प्रहसन इसी परम्परा के अनुरूप वेश्यावृत्ति और नशेबाजी आदि पर लिखे हैं। अच्छी-खासी संख्या होते हुए भी भट्ट जी के नाटकों का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान हमारे नाटक साहित्य में नहीं हैं। चरित्रसृष्टि आदि की दृष्टि से ये नाटक काफ़ी कमज़ोर हैं और कथानक भी विशृंखलित हैं।

प्रगति के समर्थक

भट्ट जी का साहित्यिक कृतित्व अधूरा रहेगा यदि उनके पत्रकार व्यक्तित्व की चर्चा न की जाये। निष्पक्षता, निर्भीकता और स्वतन्त्र विचार भट्ट जी के व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग थे। उन्होंने जीवन भर रूढ़ियों से लोहा लिया। शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में 'बालकृष्ण भट्ट असामान्य रूप से स्वतन्त्र द्रष्टा विचारक थे तथा परिवर्तन और प्रगति के समर्थक और परम्परा निर्वाह के घोर विरोधी थे।' स्त्रियों को समाज में नीचा स्थान देने के कारण उन्होंने मनु को बुरा-भला कहा। जनता में राजनैतिक जागरूकता का अभाव उन्हें बहुत खटकता था। बहुधा वे इस चेतना को जाग्रत करने के लिए लिखा करते थे। अकाल, महामारी, टैक्स आदि को लेकर उन्नीसवीं शताब्दी में उन्होंने विदेशी शासन पर सीधी चोट की थी। 'ब्राह्मण' सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र की राय में 'हिन्दी प्रदीप' उनका श्रेष्ठ सहयोगी था। हिन्दी प्रदीप के द्वारा उन्होंने हिन्दी आलोचना के सूत्रपात में भी प्रमुख योग दिया है। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में एक बार 'प्रदीप' के बारे में लिखा था कि जब से यह साहित्यिक

पत्र हुआ, तब से इसमें एक से एक उत्तम लेख प्रकाशित होने लगे। प्राचीन संस्कृत कवियों के जीवन चरित्र लिखने में भी यह पत्र अद्वितीय था।

उनकी शैली में भी उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। संस्कृत तत्सम शब्दावली में ये 'चन्द्रोदय' का वर्णन कर रहे हों या 'अकिल अजीरन रोग' में तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग हो, सर्वत्र बालकृष्ण भट्ट दिखाई पड़ते रहते हैं। जहाँ तक शब्दों के चयन का प्रश्न है, उनका किसी भाषा विशेष की ओर झुकाव न था। भाव के प्रकाशन में भाषा योग्य हो, उनका केवल इतना ही मन्तव्य रहता था। इसी कारण संस्कृत की अलंकारिक पदावली के साथ ही अज़हद, नाजनखरा, नाइत्तिफाकी, संजीदगी आदि उर्दू शब्द और एजूकेशन, सोसाइटी, सरकुलेशन, स्टैण्डर्ड, सोशल कान्फ्रेंस आदि अंग्रेजी शब्दों का निस्संकोच प्रयोग उनकी शैली में मिलता है।

'समझाव बुझाव' जैसे बोलियों के प्रयोग भी उनमें प्राप्त होते हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग उन्होंने अपने समकालीन प्रतापनारायण मिश्र की ही भाँति खूब किया है, खास तौर से उनकी व्यंग्यात्मक शैली में तो इनकी प्रचुरता है।

संक्षेप में कहना चाहें तो प्रचलित और सरल शब्दावली, शब्दों का कुशल प्रयोग, विचारों की स्पष्टता, कल्पना का समुचित उपयोग, हास्य-व्यंग्य का रुचिर समावेश तथा भावानुरूपिणी भाषा उनकी शैली की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ हैं। डॉ. श्रीकृष्ण लाल ने उन्हें हिन्दी गद्यशैली का जन्मदाता माना है, और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नें उनके साहित्यिक कृतित्व के आधार पर उन्हें अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबन्धकार एडीसन और स्टील के समकक्ष माना है।

युगप्रभात : सितम्बर, 1959

हरिवंशराय बच्चन

छायावाद के वैभव के दिनों में ही अपना अलग स्वरमार्ग लेकर आने वाले कवियों में हरिवंशराय बच्चन का नाम प्रमुख है। एक ओर वे हालावाद के प्रमुख प्रतिष्ठापक माने जाते हैं और दूसरी ओर संक्षिप्त आत्मपरक गीतों के प्रमुख गायक।

काव्य विकास

बच्चन के तीस से अधिक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनका ध्यान से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनके काव्य में विकास और परिवर्तन की एक सतत चेष्टा विद्यमान है। सामान्यतः उनके काव्य विकास को हम चार भागों में बाँट सकते हैं–

(1) **प्रारम्भिक चेष्टाओं का युग** : इस युग में प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर 'मधुबाला' तथा 'मधुकलश' की रचनाएँ आती हैं। इसी युग में 'उमर खैयाम की मधुशाला' का अनुवाद भी उन्होंने किया था। इस युग की रचनाओं में छायावादी शैली के स्पष्ट प्रमाण हैं। यद्यपि शीघ्र ही बच्चन जी ने छायावाद की रूढ़ धारा से अपने को अलग कर लिया। छायावाद की अरूपता, वायवीयता एवं कुहासे से अलग होकर अपनी शुद्ध ठोस वैयक्तिक अनुकृतियों को उन्होंने 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि रचनाओं में अभिव्यक्त करना चाहा है। इतना अवश्य है कि छायावाद की वैयक्तिकता, आत्मपरकता, निराशा एवं वेदना आदि तत्त्व उनके इस काव्य में आधाररूप में विद्यमान रहे हैं। जिस मस्ती, मादकता, वासना एवं विलास के गीत उसने गाये हैं उनके मूल में अवसाद की गहरी छाया बराबर विद्यमान रही है। क्षणभंगुर जीवन के मध्य जीवन को किसी प्रकार भोग लेने की लालसा शक्ति का चिह्न है। मिट्टी तन, मस्ती का मन तेजी से बदल रही शक्तिशाली दुनिया के मध्य एक असहाय-से लगने वाले व्यक्ति का यह वस्तुतः क्रन्दन और नैराश्य है। जीवन से जुड़कर, उस सम्पृक्ति की शक्ति का अनुभव नहीं कर पाता। वस्तुतः यह पलायनवाद छायावाद की ही तलछट था–इसे 'उमर खैयाम' की भावभूमि के समान समझने का भ्रम न करना चाहिए। छायावाद जहाँ रहस्य, आध्यात्मिकता, अतीन्द्रियता के भुलावे में

भटकाता रहा, वहाँ बच्चन ने जीवन की सहज वृत्तियों की जय 'हाला', 'प्याला', 'साकी' आदि प्रतीकों के माध्यम से घोषित की। उन प्रतीकों के आधार पर ही लोग उन्हें 'हालावाद' का प्रवर्तक मानते हैं—पर यह वाद चल नहीं सका क्योंकि अपने मूल स्वरूपों में उसका रूप न तो निर्दिष्ट है और न विशिष्ट। छायावाद के साथ ही इस 'वाद' की भी समाप्ति हो गयी।

बच्चन की इन प्रारम्भिक कविताओं में एक सहजता और मार्दव है। उनका शब्दभण्डार ऋजु-कोमल एवं बोलचाल की शब्दावली के निकट है। पर यह सरलता अभिधागत नहीं है। लक्षणा और व्यंजना के सार्थक और गहरे प्रयोग उनमें हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि 'हाला' आदि वस्तुतः प्रतीक ही हैं। वस्तुतः उनकी शैली पर उर्दू की सादगी और रवानगी का गहरा असर है—पर उनकी मूल संवेदना हिन्दी-काव्य-परम्परा के अन्तर्गत ही है। उनके काव्य का शिल्पविधान भी भाषा के समान ही सहज और नैसर्गिक प्रतीत होता है—सचेतक भाव से सँवारा-सजाया, और ऊपर से थोपा हुआ नहीं।

'मधुबाला' की कविताओं से हमें बच्चन की काव्य-प्रतिभा के विकास के निश्चित संकेत मिलने लगते हैं। भावनाओं की आत्मीय गहराई एवं सरलसुबोध भाषा ने कवि की इन कविताओं को बहुत लोकप्रिय बनाया। उन कविताओं का संगीतमय वातावरण भी एक प्रमुख विशेषता है। पात्र, कुम्भकार आदि जिन परम्परागत प्रतीकों का उसने प्रयोग किया है उन्हें भी अपनी कथा-भंगिमा से एक नये चमत्कार से भर दिया है। शैली का प्रसाद गुणों व्यंजनाश्रित होकर ही एक होता है।

'मधुकलश' तक पहुँचते-पहुँचते कवि पर नाना भाँति के आक्षेप होने लगे थे। उनसे दुःखी होकर 'कवि की वासना', 'पथभ्रष्ट' आदि कविताओं में अपने आलोचकों को उन्होंने जो उत्तर दिये हैं वे काफी मार्मिक बन पड़े हैं—

"कह रहा जग, हो रहा वासनामय उद्गार मेरा।"

बच्चन जी का कृतित्व 'मधुकलश' की कतिपय कविताओं से एक नये स्तर पर प्रतिष्ठित होता दिखने लगता है। कवि भावनाओं की गम्भीरता को समझने लगता है और उसकी नितान्त वैयक्तिकता में एक निर्वैयक्तिक वैयक्तिकता के दर्शन होने लगते हैं। 'तीर पर कैसे रुकूँ, आज लहरों से निमन्त्रण' में नयी समाप्तिक वास्तविकता के दर्शन भी होने लगते हैं। भाषा अलंकरणों से एकदम अलग होकर सादगी की प्रभा से भर उठती है। पर उसकी व्यंजनात्मकता और बढ़ जाती है।

(2) श्रेष्ठ सृजन का युग : 'मधुकलश' की कतिपय कविताओं से लेकर 'आकुल अन्तर' तक की कविताएँ इस युग में सम्मिलित हैं। 'निशा आमन्त्रण' एवं 'एकान्त संगीत' इस युग के सर्वोत्तम संकलन हैं। इन्हें बच्चन की सर्वोत्तम रचनाएँ कहना उपयुक्त ही होगा। 'निशा निमन्त्रण' में भावनाओं की पृष्ठभूमि में प्राकृतिक दृश्ययोजना है—

बीत चली सन्ध्या की वेला
धुँधली प्रतिपल पड़ने वाली
एक रेख में सिमटी लाली
कहती है, समाप्त होता है सतरंगे बादल का मेला!

इस प्रकार इस दृश्यावली का अत्यन्त निपुण उपयोग लेखक ने अपनी वेदना को व्यक्त करने के लिए किया है। 'एकान्त संगीत' तक पहुँचते-पहुँचते वेदना उतनी गहरी हो जाती है कि यह दृश्यावली भी हट जाती है और कवि मात्र अपनी-अपनी अन्तर्वेदना में केन्द्रित हो जाता है। जिससे 'अब मत मेरा निर्माण करो' जैसे नितान्त आत्मपरक एवं श्रेष्ठ गीत फूट पड़ते हैं। एक प्रकार का गहन आत्मनिवेदन आत्म... सादगी एवं अलंकार विहीन...के माध्यम से व्यक्त होता है। प्रारम्भिक युग का अलंकृत सांगीतिक वातावरण समाप्त हो जाता है और भावना का आन्तरिक संगीत ही अवशिष्ट रह जाता है। भावनाओं का यह आवेग गीतों को अत्यन्त संक्षिप्त भी बना देता है। उनकी कुछ त्रयोदश-पदियाँ हिन्दी के श्रेष्ठतम गीतों में सहज ही परिगणनीय हैं। उनकी गठन में रीतिकाल के श्रेष्ठतम संग्रथित सवैयों की भाँति अन्तर्योजना का मार्मिक उपयोग हुआ है। 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' की वेदना बहुल परम्परा में ही 'आकुल अन्तर' की भी रचना हुई है—पर इस संग्रह में गहराई की अपेक्षाकृत आभास मिलने लगता है। बहुत से आलोचक 'आकुल अन्तर' के बाद बच्चन के काव्य-व्यक्तित्व का विघटन मानने लगते हैं।

(3) **बाह्याकर्षण का युग** : जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'आकुल अन्तर' तक बच्चन वैयक्तिक अनुभूतियों के ही कवि रहे हैं। बाह्यजीवन के प्रति राग का स्पन्दन उनमें नहीं था। पर धीरे-धीरे बाह्य जीवन के प्रति भी आकर्षण उत्पन्न हुआ। 'वेदना' की कमी ने स्वाभाविक रूप से आत्मस्थ के स्थान पर उन्हें परस्थ बनने में सहायता दी। इसलिए उनके काव्यविकास के इस तृतीय चरण को बाह्याकर्षण या समाजोन्मुखता का युग भी कह सकते हैं। 'सतरंगिनी', 'बंगाल का काल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल' इस रचनाकाल के ही अन्तर्गत हैं। 'सतरंगिनी' इस लोकजीवन के प्रति प्रतिक्रिया का पहला संग्रह है। उसे अन्तर के वेदना के स्थान पर सतरंगी दुनिया अधिक आकर्षित करती है। पर बच्चन के कवि-व्यक्तित्व की मूल आधारभूमि वस्तुतः वैयक्तिक वेदनाओं के गायन की है। उनका शिल्प इस भूमि से ही उभरकर हिन्दी-कविता को नयी भाषा और काव्यशिल्प दे सका था। परन्तु 'सतरंगिनी' इत्यादि में शिल्प लगभग उसी स्तर पर विद्यमान रहता है। जबकि आधारभूमि बदलने लगती है। इसी कारण इस युग की रचनाओं का शिल्पविधान कविता से उद्भूत न ज्ञात होकर ऊपर से थोपा हुआ प्रतीत होता है। वस्तुतः बच्चन मूलतः और अनिवार्यतः गीतकार हैं। गीतकार सदैव आत्म का गायक होता है—बाह्य जीवन की विषमताओं, सामाजिक दायित्वों आदि का वर्णन प्रबन्धकार

द्वारा ही सफल हो सकता है। 'बंगाल का काल' में बहिर्गत भुखमरी की विभीषिका मानवीय सहानुभूति की बौद्धिक प्रतिक्रिया मात्र जगा जाती है और उनमें भावात्मक उद्रेक का अभाव मिलता है। 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' में युग-मानस के चित्र कहीं भी मार्मिक अनुभूतियाँ नहीं जगा पाते। यहाँ तक कि महात्मा गाँधी की मृत्यु से सम्बन्धित बच्चन के काव्य के अंश हमारी संवेदना को अधिक नहीं उभार पाते। इन रचनाओं में उक्ति-वैचित्र्य है एवं तर्क की एक सामान्य योजना भी—पर उनमें क्षीण होती हुई कविशक्ति ही दिखती है। इसी युग में 'हलाहल' नामक उनका एक संग्रह और निकला था, पर वह वस्तुतः प्रथम युग का ही अवशिष्ट रूप है।

बच्चन के सचेत व्यक्तित्व ने तृतीय युग की अपनी असफलताओं के मूलकारण को शायद भाँप लिया था। कुछ अर्से के बाद बच्चन बाह्य भौतिक जीवन, सामाजिक समस्याओं या हलचलों को छोड़ पुनः वैयक्तिक अनुभूतियों के क्षेत्र में लौटते हैं, पर 'निशानिमन्त्रण' काल से एक स्पष्ट अन्तर आ जाता है।

(4) **अभिद्यात्मक प्रयोगों का युग :** 'निशानिमन्त्रण', एकान्त संगीत आदि में वे विरहजन्य गहरी वेदना की आकुल अभिव्यक्ति करते हैं वहीं इस चतुर्थ चरण में, आकर वे सुख, प्रसन्नता, मिलन, प्रेम की परितुष्टि रूप के आकर्षक चित्रों आदि की ओर झुकते हैं। इसका कारण सम्भवतः उनका वैयक्तिक जीवन का अनुभव है। पहले वाले युग में पत्नी की मृत्यु से पीड़ित विधुर कवि की वेदना थी पर इस समय तो विवाह करके वे 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' गाने लगते हैं। एक प्रकार से वे अपनी तात्कालिक जीवनप्रणाली का औचित्य सिद्ध करना चाहते हैं। उनका तर्क होता है—

बीत गयी सो बात गयी

औचित्य सिद्ध करने की प्रक्रिया में उसकी सहज बोलचाल की भाषा तो बनी रहती है पर उसकी व्यंजनाशक्ति क्षीण हो जाती है। और मिलन-यामिनी, प्रणय पत्रिका, 'मैं ही नहीं', 'आरती और अंगारे', 'बुद्ध और नाचघर', 'त्रिभंगिमा' एवं 'चारखम्भे चौंसठ खूँटे' आदि के प्रणय कविता आदि के गीतों में प्रेम की मात्रा अधिकाधिक अभिव्यक्ति होकर रह गयी है। प्रकृति के प्रतीकों आदि के सहारे यद्यपि कुछ मिलनगीत सुन्दर भी बन पड़े हैं। 'मिलन-यामिनी' का गीत एक श्रेष्ठ रचना माना जायगा, पर सब मिलाकर इन कविताओं में वेदना का अभाव है।

अभिधात्मक गीतों की यह प्रवृत्ति बच्चन में बराबर बढ़ती गयी है और 'आरती और अंगारे', 'बुद्ध और नाचघर', 'धार के इधर-उधर', 'त्रिभंगिमा' एवं 'चार खम्भे चौंसठ खूँटे' में उन अभिधात्मक गीतों का बाहुल्य है जिनमें अपने व्यतीत जीवन की स्मृतियों को ही कुरेद-कुरेद कर गीतों की बच्चन द्वारा स्थापित शैली में ही ढालने की चेष्टा की गयी है। इसी कारण कवि के निम्न कथन के साथ सहानुभूति होती है—

यौवन का वह सावन जिसमें
जो चाहे जब रस बरसा ले,

पर मेरी स्वर्गिक मदिरा को
सोख गये मिट्टी के प्याले,
अगर कहीं तब तुम आ जाते
जी भर पीते, भीग नहाते;
रस से पावन है मन भावन, विधना ने विरचा ही क्या है?
अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है?

इधर पिछले दशक में बच्चन ने काव्य के क्षेत्र में नये प्रयोग भी किये हैं। मुक्त छन्द में भी उन्होंने बड़ी संख्या में कविताएँ लिखी हैं। मुक्त छन्द और लोकगीतों की धुनों के आधार पर भी उन्होंने बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं। उनकी मुक्त छन्द की अधिकांश कविताएँ व्यंग्यपरक हैं या सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त देने वाली। 'बुद्ध और नाचघर' शीर्षक कविता इस दृष्टि से पठनीय है। उसका व्यंग्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत है। दुनिया ईश्वर को भी किस प्रकार व्यर्थ कर देती है इसकी व्यंग्यात्मक प्रतीति कवि बताता है—

उसने बनवाकर मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर
खुदा को कर दिया है बन्द;
ये हैं खुदा के जेल,
जिन्हें यह देखो तो इसका व्यंग्य—
कहती है श्रद्धा-पूजा के स्थान।
कहती है उनसे,
'आप यहीं करें आराम
दुनिया जपती है आपका नाम,
मैं मिल जाऊँगी सबह-शाम,
दिन-रात बहुत रहता है काम।'
....
....
जहाँ खुदा की नहीं गली दाल,
वहाँ बुद्ध की क्या चलती चाल,
वे थे मूर्ति के खिलाफ
इसने उन्हीं की बनाई मूर्ति,
वे थे पूजा के विरुद्ध
इसने उन्हीं को दिया पूज
उन्हें ईश्वर में था अविश्वास,
इसने उन्हीं को कह दिया भगवान,
वे आये थे फैलाने को वैराग्य

मिटाने को सिंगार-पिटार
उसने उन्हीं को बना दिया शृंगार।

लोकगीतों के आधार पर लिखी कविताएँ 'त्रिभंगिमा' एवं 'चार खम्भे चौंसठ खूँटे' में संकलित हैं। लोकधुनों पर आधारित कुछ गीत मार्मिक लगते हैं यद्यपि वैयक्तिक अनुभूतिपरकता की गहराई का इनमें अभाव है। 'त्रिभंगिमा' का एक गीत इस प्रकार है—

महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे
महुआ के।
यह खेल हँसी
यह फाँस फँसी
यह पीर किसी से मत कह रे।
महुआ के नीचे मोती झरे।

इन गीतों की धुन ही लोकगीतों की नहीं है, बहुधा अप्रस्तुत योजना एवं अभिप्राय भी लोकगीत से ली गयी है। सोन मछरी, छतनार बिरवा, सोनपरी, गंगा की लहर आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। लोकबोलियों के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। परन्तु इन गीतों का 'कथ्य' आधुनिक जीवन की किसी न किसी समस्या की ओर संकेत करता है।

बच्चन जी ने अनुवादों के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'उमर खैयाम की मधुशाला' हिन्दी में सबसे अधिक लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण अनुवाद है। इधर शेक्सपियर के नाटकों का वे पद्यानुवाद भी कर रहे हैं। इनमें मैक्बेथ एवं आथेलो अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। माइकेल ब्रीचर की 'नेहरू: ए पोलिटिकल बायोग्राफी' के संक्षिप्त संस्करण का प्रामाणिक अनुवाद भी उन्होंने किया है।

'बच्चन' ने अपने प्रारम्भिक रचनाकाल में कुछ कहानियाँ भी लिखी थीं जो 'प्रारम्भिक रचनाएँ: भाग 1' में संकलित हैं? 'नये पुराने झरोखे' में उनके रेखाचित्रों, वार्ताओं, भूमिकाओं आदि का संग्रह किया गया है।

सब मिलाकर छायावादोत्तर युग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवियों में बच्चन का नाम भी आदर कें साथ उल्लेखनीय है। वे निरन्तर काव्य की नयी भूमियों को तोड़ने की चेष्टा कर रहे हैं और हमें आशा है कि भविष्य में वे कहीं अधिक श्रेष्ठतर कृतियाँ दे सकेंगे।

कानपुर : साहित्य पीठ के रूप में

कानपुर नया शहर है। भारतीय पूँजीवाद के विकास की भाँति ही अनियोजित, बेतरतीब एवं विचित्र रूप से बसे हुए इस नगर का साहित्यिक-सांस्कृतिक जीवन इस विकास की शक्तियों एवं निर्बलताओं से आक्रान्त रहा है। पर नगर की बात कहने के पूर्व जनपद को याद कर लेना अधिक अच्छा रहेगा—जनपद तो नया नहीं है न। कालिदास के भूगोल में उसका स्थान है। यक्ष ने मेघ को अलकापुरी की जो राह बताई थी, उसमें उसे ब्रह्मावर्त जनपद के ऊपर से उड़कर जाना था—

ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः

पर यह भी नयी बात हुई, और पुरानी दुनिया में चला जाये। आदिकवि के काव्य की सृजन-भूमि यही है और यहीं के किसी जंगल में ही शायद क्रौंच के बधिक को उन्होंने छन्दोमयी वाणी में शाप दिया था एवं वर्तमान कानपुर नगर से केवल 46 मील दूर पर स्थित कालपी महर्षि वेदव्यास की सृजनस्थली है। (कालपी का हस्तनिर्मित कागज उद्योग सम्भवतः उस विराटकाय महाकाव्य की बाहरी रूपरेखा याद करा देता है। कागज है, लिखने वाले गणेश एवं लिखाने वाले वेदव्यास भले ही न हों)। पर भटक रहे हैं—अतीत की स्मृतियाँ भटकाती भी खूब हैं।

सदियाँ गुजर जाती हैं। प्रतापी गुप्त राजाओं के कला वैभव के चिह्न यत्र-तत्र मिल जाते हैं और निकट ही 'कान्यकुब्ज' की राज्यलक्ष्मी उत्तरापथ का केन्द्र बन जाती है। गुर्जर, प्रतिहार, वाकाटक, पाल एवं गाहड़वाल राजाओं की पराक्रमी वाहिनियाँ इस जनपद से होकर गुजरी होंगी—कौन जाने, कोई गवाही देने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। न गाहड़वाल गोविन्दचन्द्र के तुरंगों की दुर्धर्ष टापों से यहाँ की भी धरती की धूल आकाश में छाई होगी। रामकथा के एक तीसरे गायक (वाल्मीकि एवं कालिदास ऊपर आ चुके हैं) भवभूति ने सीता की व्यथा-कथा इस जनपद से बहुत दूर बैठकर नहीं लिखी। विरह-विदग्ध राम की सीता-संप्रयोग की वह याद कितने ही सहृदयों के चित्त को आन्दोलित करती है—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।

अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः
अविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्।

इतिहास के रथ में लगे हुए दिन-रात के पहिये रुकते नहीं। उत्तर-मध्य युग में कानपुर जनपद न तो धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है न राजनैतिक दृष्टि से। पर प्रतिभा इन सबकी राह नहीं देखती। अचानक ही एक छोटे से गाँव के गरीब ब्राह्मण परिवार में जैसे ज्योति के बीज बो दिये गये।

बड़े भाई चिन्तामणि रीतिकाल के प्रारम्भिक आचार्यों में से एक हुए, बीच के मतिराम रीतिकाल के रस-निर्झर कवियों में से अन्यतम सिद्ध हुए एवं छोटे भाई भूषण राष्ट्रवाद एवं वीररस के श्रेष्ठतम कवि गिने गये। तीनों भाई प्रतापी और सिद्धवाक—सरस्वती की कृपा का अद्‌भुत संयोग था।

और दिन बीतते हैं—सामन्तशाही (पतनोन्मुख) होकर खण्ड-खण्ड होती जाती है। छोटे-छोटे राजा और नवाब, जमींदार, मालगुजार या सरिश्तेदार एवं इन्हीं की आश्रय छाया में पलने वाले छोटे-छोटे कवि। यह रीतिकाल का उत्तरार्ध था। इन सब कवियों के नाम जानकर क्या करेंगे? पं. नरेशचन्द्र चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक हिन्दी साहित्य का विकास और कानपुर में इन सबकी प्रामाणिक सूची उपस्थित कर दी है।

समय देवता का रथ अप्रतिहत वेग से बढ़ता जाता है। राजे और नवाब हटते हैं, कम्पनी बहादुर का अमल होता है। यन्त्र युग का प्रारम्भ नयी शिक्षा, नयी ज्योति, उदारतावादी विचारधारा के बीच उभरता हुआ मध्य वर्ग। यह मध्य वर्ग ही देश की मस्तिष्क एवं रीढ़ बनने की क्षमता (कम से कम पूँजीवाद की प्रारम्भिक स्थिति में) लेकर आया था। परम्परा से प्राप्त पुराने बौद्धिक केन्द्रों में भी बुद्धि का यह नया आवेग उत्थित होता है और नये नगरों, उद्योग एवं व्यापार के नये केन्द्रों में भी यह जन्म लेता है। एक साथ अचानक ही साहित्य के क्षेत्र में एक नयी पीढ़ी उभरती दिखाई देती है। यह पीढ़ी एक अजब संक्रान्ति में खड़ी थी। पुराने संस्कार शिकंजे से छोड़ नहीं रहे थे, नयेपन को अपनाने के लिए बुद्धि और विवेक उकसा रहे थे। पर जीवन के नये अंकुर मृदुल-पल्लव होते हुए भी पीले पत्तों की कठोरता को पराजित करने में समर्थ होते हैं। संस्कृति एवं विद्या की नगरी काशी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस पीढ़ी के अगुआ हैं और उनके श्रेष्ठतम सहयोगी बनते हैं—उद्योग व्यापार के विकासमान नगर के पं. प्रतापनारायण मिश्र। यह मध्य वर्ग के नये उठान एवं सामन्तशाही का पतन था। किसी जमींदार का आश्रय छोड़ कर ललितप्रसाद त्रिवेदी 'ललित' कानपुर में गल्ले की दुकान में काम करना शुरू करते हैं। सामन्तशाही नहीं अब कवि को पूँजीवाद में साहित्येतर जीविका ढूँढ़नी पड़ती है। पर बुद्धिजीवी इतनी जल्दी हारता नहीं है। नये प्रकार की गोष्ठियाँ बनने लगीं, जिनमें रसिक के रूप में मध्यवित्तीय जन भाग लेने लगे। 'ललित' जी के सभापतित्व में प्रारम्भ हुआ कानपुर का 'रसिक समाज' ऐसी ही गोष्ठी थी। राय देवीप्रसाद पूर्ण

इस समाज के प्राण थे—साहित्यचर्चा होती, समस्यापूर्तियाँ होतीं, एवं इस चेतना को प्रसारित करने वाला नया अस्त्र 'रसिक वाटिका' पत्रिका भी रसिक समाज की ओर से प्रकाशित होती थी। इस पत्रिका के पहले ही 'ब्राह्मण' का तेज फैल चुका था। हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान का ही नारा उस पत्र ने बुलन्द नहीं किया था, 1883 ई. से प्रकाशित होने वाले इस पत्र के सम्पादक ने घोषणा की थी—

जिन धन धरती हरी सो करिहैं कौन भलाई।
बन्दर काके मीत कलन्दर केहिके भाई।।

वास्तव में ब्राह्मण और उसके सम्पादक प्रतापनारायण जी उस उठती हुई पीढ़ी के व्यक्ति थे, जो मध्य वर्ग के उगते आशावाद का प्रतीक थी, जिन लोगों ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को प्रारम्भ ही नहीं किया, शक्ति भी दी थी। उगता हुआ कानपुर, उगता हुआ मध्य वर्ग एवं उभरता हुआ हिन्दी साहित्य का नया स्वर। नाथूराम शंकर शर्मा की ओजस्वी प्रखर वाणी यहीं चमकती है और जूही मुहल्ले के एक साधारण से घर में बैठकर ही हिन्दी भाषा और साहित्य का 15 वर्षों तक नियमन और निर्देशन अध्यापक की गुरु गम्भीर मुद्रा से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी करते हैं। उनके द्वारा लगाई गयी साहित्य जूही पुष्पित-पल्लवित हो रही है।

इस समय तक भारतीय पूँजीवाद विकृत नहीं हुआ था। मध्य वर्ग अभी हताश नहीं हुआ था। आर्यसमाज जैसे सामाजिक संगठन, कांग्रेस जैसे राजनैतिक संगठन दृढ़ होते जा रहे थे। उद्योग एवं व्यापार एवं शासन के नये केन्द्र विकसित होते हुए मध्य वर्ग से भर रहे थे और कुछ समय तक साहित्यिक-बौद्धिक कार्यकलापों के केन्द्र भी यहीं बनते प्रतीत होते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि ईसा की उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर बीसवीं शती के प्रथम तीस वर्षों तक कानपुर अनेक ज्योति पुरुषों की कर्मभूमि बन जाता है—साहित्यिक केन्द्र बन जाता है। इस बीच केन्द्र काशी भी नहीं,. प्रयाग भी नहीं कानपुर रहता है। अकेले 'प्रताप' को केन्द्र बनाकर ही एक समूची पीढ़ी उभरती प्रतीत होती है। गणेशशंकर विद्यार्थी हैं, मैथिलीशरण गुप्त हैं, माखनलाल चतुर्वेदी हैं, बनारसीदास चतुर्वेदी भी केन्द्र से बाहर होते हुए भी गुरुत्वाकर्षण से बँधे हैं। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के अड्डे भी इसी केन्द्र में हैं। प्रेमचन्द जी भी कुछ दिनों के लिए चक्कर लगा जाते हैं। सनेही जी हैं, उनका सुकवि अखबार है और है एक प्रतिभाशाली शिष्य वर्ग। भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव का भी कार्यक्षेत्र कानपुर बनता है। और भी छोटे-बड़े दर्जनों व्यक्ति हैं, जिन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया है।

भारतेन्दु युग में संस्कृति के पुराने पीठ वाराणसी से जो साहित्य का नया रूप उदित हुआ था, वह द्विवेदी युग में उद्योग-व्यापार द्वारा बने नये नगर—कानपुर को केन्द्र बनाकर आगे बढ़ता है। पर ऐसा लगता है कि संस्कृति के सूक्ष्म-विकास के

लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता थी, उनका महाजनी सभ्यता वाले कानपुर में अभाव था। केन्द्र एक बार फिर सरक कर प्रयाग पहुँच जाता है (और अब शायद वह दिल्ली की ओर संचरणशील है)। मन में एक सहज प्रश्न उठता है कि अचानक ही यह बिजली कैसे मार गयी कि कानपुर साहित्यिक कार्यों में इतना पिछड़ गया। कभी तो ऐसा लगता है कि यहाँ पर अभी द्विवेदी युग ही चल रहा है।

पर भविष्य निराशा से भरा नहीं लगता। कानपुर में मेडिकल और टेक्नोलॉजिकल शिक्षण संस्थान खुल चुके हैं। विश्वविद्यालय भी एक निश्चित सम्भावना प्रतीत होता है। हमें विश्वास है कि अगले दस वर्षों में कानपुर पुनः भारतवर्ष के बौद्धिक नक्शे में भली प्रकार आ सकेगा।

ग्राम्या : 1957/58

कानपुर : बौद्धिक सांस्कृतिक ह्रास और नये दूत

एक सज्जन थे प्रबुद्ध पाठक और दूसरे प्रमुख लेखक। प्रथम लखनऊ में रहते हैं और दूसरे दिल्ली में। पिछले दिनों थोड़ा-सा अन्तर देकर अलग-अलग दोनों ने एक ही सवाल किया, 'कानपुर तो औद्योगिक नगर है, उसमें आधुनिकता का विद्रोह-विक्षोभ और गन्ध क्यों नहीं है?' कुछ क्षणों के लिए मैं निरुत्तर रह गया; बल्कि यों कहें कि स्तब्ध हो गया। बात में कड़वी सचाई थी। कानपुर नगर सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं बौद्धिक दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ है। उस समय अपने उन दोनों जिज्ञासु परिचितों को मैंने जो उत्तर दिया था वह आज भी हमें गलत नहीं मालूम पड़ता। मुझे लगता है कि पूँजीवाद और उद्योगीकरण के साथ ही कानपुर में व्यावसायिकता तो बढ़ गयी, पर इनकी जो श्रेष्ठ और सूक्ष्म संस्थाएँ होती हैं, उनका अभाव रहा—जैसे कि विश्वविद्यालय, अच्छे अखबार, रेडियो स्टेशन आदि। परिणाम इसका यह हुआ कि बौद्धिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति कानपुर में अपना कैरियर बनाकर नहीं रह सके (अपवादों की बात मैं नहीं करता)। अवसर मिलते ही वे बराबर भागते रहे (और अब भी भाग रहे हैं) तथा नगर सांस्कृतिक-बौद्धिक दृष्टि से शनैः-शनैः पिछड़ता ही गया। संस्थाएँ खड़ी की गयीं, चन्दे इकट्ठे हुए, धनपतियों को फुसला कर उनसे कुछ ले लेने की या कि ले सकने के लिए प्रसन्न रखने की स्कीमें बनती रहीं। पर स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति भला कर सकने के स्थान पर बुरा करती रही। मेरा तो विश्वास है कि जब तक कानपुर में एक श्रेष्ठ विश्वविद्यालय की स्थापना नहीं होती, यह बड़ा नगर बौद्धिक दृष्टि से दरिद्र ही रहेगा।

कानपुर की इस स्थिति के कारण ही बहुधा संस्थाओं के प्रति मेरे मन में एक अरुचि उत्पन्न हो गयी (यद्यपि संस्थाओं से जबरदस्ती सम्बद्ध बना ही रहा)। इस मनःस्थिति में ही जब उस दिन अपने एक मित्र के हाथ में 'ऐम्बैसेडर' (राजदूत) का कई रंगों का चमकदार लेटरपैड देखा तो मन में लगा कि यह भी पूँजीपतियों या सरकार से कुछ ऐंठने वाली संस्था ही होगी। पर नहीं, मेरा पूर्वाग्रह मिथ्या था। पिछले दिनों (जब से विश्वविद्यालय की चर्चा जोर पकड़ती है, मेडिकल कॉलेज खुलता है, टेक्नोलॉजी का उच्च संस्थान स्थापित होता है—या अन्य ऐसी ही संस्थाएँ प्रकाश में

आती हैं जैसे कि अधिक कॉलेज, अधिक सम्पन्न पुस्तकालय आदि) प्रकाश की कुछ किरणें दिखाई पड़ी हैं। 'ऐम्बैसेडर' भी उन्हीं में से एक है। पिछले छह महीने में ही इस संस्थान ने अधिक सम्पन्न न होते हुए भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किये। इस बीच एक दर्जन से अधिक संगीत, नृत्य एवं नाटक के कार्यक्रम संस्था ने आयोजित किये हैं। यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि संगीत के कार्यक्रम तो निश्चित रूप से सचमुच ही ऊँचे दर्जे के हुए थे। इनमें से 'भारतीय संगीत सिंफनी' तो अपने आपमें एक साहसपूर्ण प्रयोग ही कही जायेगी।

इस संस्था द्वारा खेले गये नाटकों में मंच-कौशल में निरन्तर विकास की चेष्टा की गयी। इसके आयोजक सचमुच ही सफल हुए हैं। इतना अवश्य है कि अभिनीत नाटकों (नयी समस्या, दीया बुझ गया, सराय के बाहर) में अभिनय-अतिरेक एवं मुद्राओं पर अधिक बल दिये जाने के कारण वैसी सहजता नहीं आ पाती थी। कभी-कभी मेलोड्रैमिटिक प्रभाव प्रमुख हो उठता था। सबसे अधिक स्वागत की बात इनमें थी—महिला अभिनेत्रियों के रूप में कुल कन्याओं का आगमन। कतिपय अन्य संस्थाओं ने भी नाटकों का अभिनय अथवा पाठ आयोजित किया। इस प्रकार सब मिलाकर लगा कि कम से कम कुछ कलाओं के क्षेत्र में कानपुर अपनी जड़ता दूर करना चाहता है। रंग शिल्प की नाना कल्पनाओं में डूबे रहने वाले सिद्धेश्वर अवस्थी अभी उस दिन चर्चा कर रहे थे कि वे 'ऐम्बैसेडर' के तत्त्वावधान में 'कामायनी' का छाया नाटक दिखाने जा रहे हैं, जिनमें 'विस्टा विज़न' का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वे मंच पर कुछ नये प्रयोग कर रहे हैं। पर उनकी चर्चा तो तभी होगी, जब उन्हें प्रत्यक्ष देख लिया जायेगा।

धर्मयुग : 15 सितम्बर, 1961

कानपुर : कानपुर कनकैया

कानपुर बहुत से हैं : आप किस कानपुर चलना चाहते हैं? टूरिस्ट गाइड की तरह बता सकता हूँ कि कानपुर वह है जहाँ ब्रह्मा की कीली वाला ब्रह्मावर्त या बिठूर है : कतकी पूनो को वहाँ गंगा-स्नान करने से पुण्य-लाभ होता है। वह सृष्टि का आदि बिन्दु है—आखिर ब्रह्मा की कीली तो वहीं गड़ी है—तर्क मत कीजिएगा। वहीं आदि काव्य लिखा गया था। वाल्मीकि आश्रम वहीं पर है। लव-कुश का शौर्य वहीं खुल कर सामने आया था—पिता का विरोध करने की परम्परा कानपुर से ही तो शुरू हुई थी। वहीं कहीं सीता की याद राम ने की होगी जिसे बहुत दिन बाद थोड़ी ही दूर पर कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर में बैठे भवभूति ने सुना था।

टूरिस्ट गाइड आपको बता सकता है कि भूषण, मतिराम या चिन्तामणि यहीं पैदा हुए थे। गुप्तकाल के मन्दिरों के अवशेष (भितरी गाँव) दिखा सकता है। पर आप जनपद नहीं शहर देखना चाहते हैं और शहर के नये होने का हाल यह है कि स्टेशन से निकलते ही सड़क हाल्सी रोड है और मुहल्ला कलक्टरगंज, फिर तो जनरल गंज, कर्नल गंज, मैकराबर्ट गंज ही नहीं मेस्टन रोड, लाटूश रोड, कम्पनी बाग, परेड मैदान भी मिलेंगे। यहाँ तक कि डिप्टी का पड़ाव और अफीम कोठी भी बताएँगे कि शहर अंग्रेजी राज की पैदावार है। इन्हीं के साथ मनीराम की बगिया होगी, लाठी मुहाल होगा, ग्वाल टोली या खटियाना या गड़रिया मोहाल होंगे, रामनारायण बाजार, बकरमण्डी होगी, चमनगंज होगा, घुमनी मोहाल पड़ेगा और हर्ष नगर, अशोक नगर, आर्य नगर, स्वरूप नगर, किदवई नगर जैसे नवजागरण या स्वातन्त्र्योत्तर काल के नाम भी होंगे? असल में कानपुर की सही तसवीर उपस्थित करती है यह तुकबन्दी जो कानपुर में भी सुनी जा सकती है और उसके आसपास के जिलों में भी :

कानपुर कनकैया जेहिमाँ बना घाट सरसैया,
ऊपर चले रेल का पहिया, नीचे बहे गंगा मैया।

कानपुर ऐसा ही शहर है। ऊपर रेल का पहिया, विज्ञान का यन्त्र—गति का प्रतीक चलता रहता है, पर नीचे गंगा मैया, पौराणिकता और पुरातनता का पूरा आडम्बर लिए बहती रहती है। इसी गंगा में प्रतिदिन हजारों लोग अपने पापों को धोने

सबेरे-सबेरे जाते हैं। इसी गंगा के परमट और सरसैया घाट के किनारे सैकड़ों, हजारों भिखमंगे धर्म-भिक्षायापन कर सड़क के किनारे झोंपड़ी बना कर ऐश की जिन्दगी काटते हैं।

अच्छा आपको तो शहर देखना है। चलिए, रिक्शा कर लेते हैं। बसें तो यहाँ बहुत कम ही चलती हैं और वह भी किन्हीं विशेष सड़कों पर ही। टैक्सी भी केवल चार-छह ही हैं—महँगी भी पड़ेगी। अतः रिक्शा ही कर लेते हैं। टूरिस्ट गाइड से आप पूछ रहे हैं कि यहाँ दर्शनीय स्थान क्या-क्या हैं? बिना सोचे टूरिस्ट गाइड कहेगा, 'काँच का मन्दिर, फूल बाग, कम्पनी बाग, रामदास का मन्दिर, जे.के. मन्दिर, कमला रिट्रीट, मोती झील। किन्तु आज वृहस्पतिवार है, कमला रिट्रीट का पास तो आज मिलेगा नहीं। आपको शाम की ही गाड़ी से जाना है। मोती झील तो शाम को ही देखने योग्य होती है, अभी तो धूप बहुत है। जे.के. मन्दिर भी बारह बजे बन्द हो जायेगा।'

तब तक शहर देखेंगे। यही कलक्टरगंज है। यह नेहरू जी की मूर्ति और फव्वारे तो इसी साल लगे हैं; पहले तो सूना चौराहा था। साहब, लाख मना करने पर भी ये ठेले वाले नहीं मानते। दोनों तरफ से ठेले चलने के कारण घण्टों के लिए रास्ता बन्द। हम लोगों का क्या, छोटा-सा रिक्शा जिधर से चाहा निकाल लिया पर इनके मारे रास्ता मिले तब न। है क्यों नहीं, पर थोड़ा चक्कर लगाना पड़ेगा। यह है बादशाही नाका यानी हाल्सी रोड, शहर की प्रमुख सड़क, व्यस्त सड़क, शहर की सब सड़कों को अपने में मिला लेती है, इसीलिए हाल ही में इसके किनारे के वृक्षों को काट कर विशुद्ध सड़क बना दिया गया है।

सड़क के दोनों ओर सबसे शक्तिशाली व्यापार लोहा और उसकी दुकानें। लोहे की कूटने, पटकने, तोड़ने की तीखी आवाज, झनझनाहट से पूरी लोहाई गूँजती रहती है। सड़क के किनारे ठेले जिनमें टनों लोहा लादा जा रहा है, उतारा जा रहा है। वह देखिए सड़क के किनारे पराँठा वाला बैठा है। पूरे दस साल से यहीं रहता है—सड़क के ही किनारे। यहाँ सड़क के दोनों ओर इन ठेलों की लम्बी कतार लग जाती है। इन ठेले वालों का यही घर है। रात को खाना, गाना-बजाना, नशे में झूमना, कभी-कभी जूता-लात।

यह मेस्टन रोड है, पुराना शाही बाजार, जहाँ हर प्रकार की सुन्दर वस्तुएँ मिलती हैं। बायें हाथ अन्दर हटिया बर्तन बाजार और पास ही तम्बाकू गली है, जहाँ तम्बाकू बनाने की खटपट की ताल किसी संगीत की ताल से कम नहीं होगी। प्रयाग नारायण का मन्दिर का बाजार एक प्रसिद्ध स्त्रियोपयोगी बाजार है। इसके बाद जनरल गंज का पुराना फुटकर बाजार जहाँ कीमती से कीमती और सस्ता से सस्ता कपड़ा भी मिलेगा। आधुनिक साज-सजा से मुक्त लाला लोग यहाँ फर्श पर ही शुद्ध सफेद गद्दी पर मसनद लगाये बढ़िया मलाई धोती और मलमल का शुद्ध सफेद कुर्ता पहने, पान खाए दिखाई देंगे। पास ही कपड़े का थोक बाजार नौघड़ा है, जिसकी गलियाँ अपने

पतलेपन के लिए प्रसिद्ध हैं। शायद ये गलियाँ शुरू-शुरू में 'वन वे ट्रैफिक' को ही ध्यान रखकर बनाई गयी होंगी। कभी जल्दी में कोशिश करने पर भी दो व्यक्ति साथ-साथ इन गलियों में नहीं घुस सकते। शक्कर पट्टी, तिलयाना, दालमण्डी, बान बाजार, किराना बाजार भी यथा नाम तथा गुण के प्रतीक हैं। किन्तु परेड का मैदान सार्वजनिक कार्यों में आने वाला मैदान—रामलीला, कपड़ा बाजार, पुराने कपड़ों और विभिन्न वस्तुओं का बाजार, जूता बाजार, सब्जी बाजार, राजनैतिक सभाएँ, मजदूर सभाएँ सभी वहीं दिखाई देंगे। ठीक इसके सामने नवीन मार्केट कपड़े का आधुनिक साज-सज्जायुक्त दो मंजिला बाजार है। शहर के बीच में सबसे लम्बी सड़क यही है जिसमें सभी प्रमुख बाजार, प्रमुख सिनेमाघर, होटल, रेस्त्रां आ जाते हैं। चुन्नी गंज से लेकर माल रोड तक शाम को इस सड़क पर बड़ी रौनक रहती है।

जैसे रामपुरी चाकू मशहूर है, इलाहाबादी अमरूद और बनारसी पान, वैसी ख्याति थी आज से कुछ वर्ष पूर्व 'कनपुरिये' की। वह भय और आतंक के कारण सारे देश में प्रख्यात था। कुछ ऐसी सामाजिक और चारित्रिक विशिष्टताएँ थीं, उसमें कि लोग 'गुरु' कहा करते थे। अनधिकारिक रूप से कानपुर के बाहर वही नगर का प्रतिनिधित्व करता था।

अपराधियों का रैन बसेरा : कानपुर यों भी अपराधों में अग्रणी रहा है। पुलिस के आँकड़ों के अनुसार यहाँ सबसे अधिक हत्याएँ होती हैं। किन्तु आज वह 'कनपुरिया' कहीं चिराग लेकर ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता। विगत बीस वर्षों में विभिन्न नगरों, जिलों और राज्यों से आकर बसने वाले लाखों व्यक्तियों की सांस्कृतिक विविधता का केन्द्र बन जाने के कारण यह नगर अपने उस कलेवर से भी वंचित हो गया। कानपुर का अपना कोई परिवेश नहीं, न सांस्कृतिक और न धार्मिक। गंगा जी के पावन तट पर बसा होने पर भी जो तीर्थ नहीं बन सका, उत्तर प्रदेश का मैनचेस्टर होते हुए भी जो आधुनिक नहीं हो सका और श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे अमर बलिदानी का साहचर्य भी जिसे राजनीतिक रूप नहीं दे पाया—ऐसा संस्कारद्रोही नगर कानपुर ही है, जो अपने ही कलुष और विषाद में खो गया है।

गन्दे हाते : 16 वर्ष पूर्व स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने यहाँ के गन्दे एवं नर्क-तुल्य हातों को देखकर इस नगर को 'जाहिल' नगर की उपाधि दी थी। एक गन्दी बस्ती को देखकर उनकी आत्मा काँप उठी थी। क्रोध से उनका चेहरा तमतमा गया था। उन्होंने कहा था, 'इनमें जानवरों को भी नहीं रहना चाहिए—जला कर इन्हें खाक कर दें।' पर वाह रे कानपुर! जिस हाते ने सारे देश को हिला कर रख दिया था, वह अपनी समस्त कुरूपता और गन्दगी के साथ आज भी ज्यों-का-त्यों कायम है।

इतिहास : इस नगर का इतिहास अधिक से अधिक 150 वर्षों के घेर में सिमटा हुआ है। स्वातन्त्र्य संग्राम के अमर सेनानी तांत्या टोपे और मराठा साम्राज्य के अन्तिम दीपक नानाराव पेशवा के नाम कानपुर के ऐतिहासिक गौरव के प्रतीक

हैं। सतीचौरा के घाट और बीबी घर में प्रतिकार की भावना से सत्ता के मद में चूर अंग्रेजों की नृशंस हत्याएँ आज भी रोंगटे खड़े कर देती हैं।

यह 'इण्डस्ट्रियल स्टेट' है। नये और पुराने कारखाने अब यहीं खोले जा रहे हैं—शहर से काफी दूर। लोहे का फर्नीचर, ताले, पेन, बर्तन, शीशा, मोटरों के छोटे-छोटे पुर्जे, लोहे के अन्य सामान आदि के कारखाने बड़ी शीघ्रता से यहाँ खुल रहे हैं। इस के अतिरिक्त पूरे शहर में लघु उद्योगों का जाल बिछा ही हुआ है। पीतल का छोटा-मोटा सामान, प्लास्टिक की वस्तुएँ, चमड़े का सामान, रँगाई, छपाई के कारखाने, चप्पलों, साइकिलों के कारखाने, बेतरतीबी से जगह-जगह पर दिखाई देते हैं। कुल मिलाकर सारा शहर औद्योगिक गतिविधियों से भरा पड़ा है।

सौ वर्ष पूर्व इस नगर में सर्वप्रथम एल्गिन मिल की स्थापना हुई थी। अंग्रेज कानपुर को एक औद्योगिक केन्द्र के रूप में विकसित करना चाहते थे। तब से अब तक हजारों मिल-कारखाने यहाँ खुल गये हैं। उत्तर प्रदेश में यह उद्योगों का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया है। यहाँ के मिल-कारखानों में डेढ़ लाख से भी अधिक श्रमिक काम कर रहे हैं; और यही कारण है कि अब यह नगर मुख्यतः श्रमिकों का नगर बन गया है। पन्द्रह लाख की आबादी का यह नगर एक महानगर का रूप धारण करने के सपने देखने लगा है।

यहाँ का मजदूर पहले की अपेक्षा सुखी है। आज से बीस वर्ष पहले का मजदूर भूख और बीमारी का प्रतीक था। जी तोड़ कर परिश्रम करने के बाद भी उसके बच्चे भूखे रहते थे। अपनी कभी न मिटने वाली थकान दूर करने तथा अपनी गरीबी पर जी-भर हँसने के लिए वह जहरीली शराब पीकर अपने आपको तबाह कर लिया करता था; पर आज वैसी स्थिति नहीं है।

एक जमाना वह भी था, जब कानपुर ही साहित्यिक गढ़ था। पं. प्रतापनारायण मिश्र, पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', निराला, प्रेमचन्द आदि महान् साहित्यकार यहाँ की ही उपज कहे जायेंगे। इनमें से कुछ तो रहते भी यहीं थे और कुछ साहित्यिक क्षेत्र होने के कारण अकसर यहाँ आया करते थे। गोष्ठियों, विचारों का आदान-प्रदान, नौका-विहार आदि होता और एक आदर्श साहित्यिक वातावरण रहता। किन्तु समय का चक्र कि साहित्य के क्षेत्र में यह बिल्कुल भिन्न हो गया है। पाण्डित्य तो यहाँ के हिन्दी साहित्यकारों की वसीयत में ही दर्ज है। अतः उन्हें ज्ञान के क्षेत्र में भटकना और मौलिक चिन्तन की प्रक्रियाओं से पुनः गुजरना ही होगा। हाँ, साहित्यिक समारोहों के स्थान पर 'जयन्ती समारोह एवं अभिनन्दन-पत्र भेंट' का अवश्य प्रचलन हो गया है। आये दिन अभिनन्दन समारोह गूँजते हैं—साहित्यकार के स्थान पर नेता लोगों के ही सही। गोष्ठियों या सांस्कृतिक कार्यक्रमों को कभी-कभी अति आधुनिकता कह कर उड़ा दिया जाता है। कुछ दिनों से सांस्कृतिक क्षेत्र में पुनः इस ओर जागृति दिखाई दे रही है।

साहित्य के साथ-साथ सांस्कृतिक गतिविधियाँ भी यहाँ कम नहीं हैं। अनेक संस्थाएँ हैं—नाटक साल में पाँच ही होते हैं—किन्तु फिल्मी और लोकप्रिय संगीतकारों के कार्यक्रम प्रायः साल भर होते रहते हैं। लोगों में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए बड़ी भूख है; बल्कि अब तो यह एक फैशन हो चला है।

शिक्षा : तीन प्रमुख कॉलेज दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज, क्राइस्ट चर्च कॉलेज, एस.डी. कॉलेज जो अपनी विभिन्न विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध हैं। विद्यार्थी वर्ग को काफी संघर्षमय दिनों से गुजरना पड़ता है। आन्दोलन, गम्भीर झगड़े तो इस वर्ग का निश्चित कार्यक्रम है। वर्ष में कुछ महीनों के लिए कॉलेज तो किसी न किसी माँग को लेकर अनशन के कारण बन्द ही हो जाते हैं। नवयुवक विक्षुब्ध है—बौखलाहट उसके चरित्र का स्थायी अंग बन गया है। विद्यार्थियों में नेतागिरी व्यावसायिक स्तर पर की जाने लगी है। नगर के अधिकांश कॉलेजों के संचालन-सूत्र एक ही व्यक्ति के हाथ में हैं, जिसके विरुद्ध प्रायः प्रतिवर्ष विद्यार्थी आन्दोलन करते हैं। प्रदर्शन होते हैं और प्रबन्धकों के खिलाफ जेहाद करने के लिए भी। किन्तु स्कूलों तथा कॉलेजों में व्याप्त भ्रष्टाचार को छिपाने के लिए प्रबन्धक विद्यार्थी-नेताओं को पैसे से खरीद लेते हैं। फलतः शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। प्रबन्धकों की जेबें गरम हो रही हैं। स्कूल खोलना एक राजनैतिक आवश्यकता बन गया है; क्योंकि प्रभाव के साथ-साथ धनोपार्जन का भी सबसे आसान मार्ग यही है। स्कूलों तथा कॉलेजों की संख्या में नित्य प्रति उन्नति दिखाई दे रही है; किन्तु शिक्षा के स्तर में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई।

चिकित्सा के क्षेत्र में आलम यह है कि अस्पतालों में शैया इतने कम हैं कि कानपुर जैसे बड़े औद्योगिक शहर की बीमारियों का सामना वे नहीं कर सकते। हालत यह है कि लोग बीमार होने पर अपने घर से ही चारपाइयाँ ले जाने लगे हैं। किसी नेता का जोर हो तो अवश्य अस्पताली बेड मिल सकता है।

जन-जीवन जैसे मरणासन्न अवस्था में है। नया नेतृत्व पुराने 'अखाड़ियों' के कारण उभर नहीं पाता। राज्य का प्रमुख और सबसे बड़ा नगर होने पर भी यहाँ का कोई भी प्रतिनिधि आज तक उत्तर प्रदेश सरकार में मन्त्री का पद तक नहीं पा सका। नेताओं की पारस्परिक कटुता का राज्य के नेताओं द्वारा फायदा उठाया जाता रहा है। विगत पाँच वर्षों तक नगर की सारी राजनीति महापालिका तक सीमित थी। वहाँ भी नगर प्रमुख का पद नागरिक जीवन में पूँजीपतियों को घसीट लाया, जिन्होंने रुपये के बल पर महापालिका से अपने स्वार्थों की सिद्धि की, भ्रष्टाचार को जी भर कर पनपने दिया और जनजीवन को सदा के लिए लूला-लँगड़ा बना दिया।

दिनमान : 30 सितम्बर, 1966

तत्कालीन परिदृश्य पर लेख
(1951-1966)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की घातक कूटनीति

भारत में प्रजातन्त्र के खतरे

राज्य और साहित्य : विवाद की भूमिका

संगीत एवं साहित्य समारोह

डाक विभाग : साहित्यिक पत्रिकाएँ

भाषा आयोग की रिपोर्ट : स्थिर चित्त एवं वस्तुगत दृष्टिकोण की आवश्यकता

दक्षिण में अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी अधिक समझी जाती है

उत्तर प्रदेश की डायरी

लखनऊ का यंग पेण्टर ग्रुप

कुटीर उद्योग और कलात्मक अभिरुचि

बाड़ा अंग्रेजी के चारों ओर बनाइए, हिन्दी के नहीं!

अनुभव का विराट विग्रह

प्यारे प्रधानमन्त्री

युद्ध और व्यक्तित्व

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की घातक कूटनीति

तथाकथित सत्याग्रह आन्दोलन वापस लेने के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्यवाही पिछले कुछ दिनों स्थगित-सी रही। पर इधर कुछ दिनों से संघ ने एक नये रूप में सर उठाया है। संघ का गुप्त प्रचार इस ढंग से प्रारम्भ हो गया है कि उसके कट्टर विरोधी राष्ट्रीय नेता उसके प्रचार में सहयोग दे रहे हैं। यद्यपि यह सहयोग अनजाने रूप में है। यह गुप्त ढंग है अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद की आड़ में संघ का प्रचार। यहाँ पर मुझे थोड़ा-सा इसी 'विद्यार्थी परिषद' के बारे में विचार करना है।

संघ के अवैध होने के पश्चात, संघ का काम लगभग बिल्कुल ठप हो गया था। पर जब संघी नेता जेलों से छोड़े गये, 'पाँचजन्य' इत्यादि प्रकाशित होने लगे, तो नवयुवक विद्यार्थी वर्ग पर फिर से अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए तथा इसी आड़ से अवैध होते हुए भी संघ का प्रचार करने के लिए 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद' की स्थापना की गयी। संघी पत्रों ने इस विद्यार्थी संस्था का बड़े जोर-शोर से प्रचार आरम्भ किया। पर शीघ्र ही संघ ने अपना सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस कारण यह विद्यार्थी संस्था अपने शैशव काल ही में कागज के बण्डलों में बाँध कर रख दी गयी। इसके भाग्य विधाता जेलों में पहुँच गये। इसका प्रचार एवं कार्य सभी रुक गया। पर संघियों के छूटने पर इसको पुनरुज्जीवित किया गया। अब हम थोड़ा-सा संघ और विद्यार्थी परिषद के आपसी सम्बन्ध का भी विचार कर लें।

संघ का विधान प्रकाशित हो चुका है। उसने सांस्कृतिक क्षेत्र में ही रहने का निश्चय किया है। उसके स्वयंसेवकों को किसी भी राजनैतिक दल में सम्मिलित होने का अधिकार है। पर इतनी बड़ी कार्यकर्ता शक्ति संघ किसी राजनैतिक दल में क्यों देने लगा, तथा उसका तो सदैव से राजनैतिक सत्ता हथियाने का उद्देश्य रहा है। अतः इस समय संघ अप्रत्यक्ष रूप से अपने लिए राजनैतिक भूमि तैयार करना चाहता है। और इसी उद्देश्य से अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद का संगठन किया गया है। संघ ही के कार्यकर्ता और नेता परिषद के कार्यकर्ता और नेता हैं। एक ओर तो संघ केवल सांस्कृतिक संस्था रहेगी तथा दूसरी ओर नाम बदल कर हिन्दू डिक्टेटरशाही की स्थापना का प्रयत्न किया जायेगा; और नाम रहेगा कि संघ विशुद्ध

सांस्कृतिक संस्था है। यही संघ और परिषद का सम्बन्ध है कि संघ ही अप्रत्यक्ष रूप में मूल शक्ति है तथा नाम उसका है 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद।'

'विद्यार्थी परिषद' गाँवों में अपना अड्डा स्थापित करने एवं अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए साक्षरता प्रसार का एक बड़ा मनमोहक कार्यक्रम लेकर मैदान में आयी; पर कोई भी कार्यक्रम चाहे वह कितना भी रचनात्मक क्यों न हो, जब तक उसे जनता एवं सरकार का सक्रिय सहयोग प्राप्त नहीं होता, वह सफल नहीं होता। और फिर उस दशा में तो यह और भी कठिन था, जबकि परिषद को लोग संघ संस्था समझते थे। अतः साक्षरता-प्रसार के कार्यक्रम के पश्चात 'परिषद' के नेताओं के सम्मुख प्रमुख प्रश्न था कि सरकार और जननेताओं का सहयोग किस प्रकार लिया जाये। अतः इसके लिए मन्त्रियों, नेताओं आदि के आशीर्वाद और सन्देश लेने का जाल रचा गया।

इस जाल में सबसे पहले फँसे विधान परिषद के अध्यक्ष देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी। अप्रैल में जब डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी गाँधी स्मारक निधि के सम्बन्ध में कानपुर आये थे, तो परिषद का एक डेपुटेशन प्रसाद जी से मिला। उनके सामने अपने गानों में शिक्षा-प्रचार का सुनहरा कार्यक्रम रखा और अपने लिए एक सन्देश माँगा। राजेन्द्र बाबू शायद इस संस्था से अपरिचित थे; क्योंकि विद्यार्थी परिषद का प्रभाव केवल युक्तप्रान्त में और वह भी लखनऊ और कानपुर में ही अधिक था। कार्यक्रम सुन्दर था ही, राजेन्द्र प्रसाद जी ने परिषद के वास्तविक रूप और उद्देश्य का पता न लगाकर अपना शुभ सन्देश दे दिया। परिषद के नेताओं को सन्देश नहीं प्राण मिला। वह तो यह चाहते ही थे।

परिषद के नेतागण उसी सन्देश को लेकर श्री शिवनारायण टण्डन, जंगबहादुर सिंह प्रभृति स्थानीय नेताओं से मिले और उनका सहयोग प्राप्त किया। यह लोग कॉलेजों आदि के प्रधानाध्यापकों से भी मिले। जिस किसी ने राजेन्द्र बाबू का सन्देश देखा वही सहयोग देने को उद्यत हो गया। कानपुर के बाहर लखनऊ, इलाहाबाद आदि के कार्यकर्ताओं ने वह सन्देश लिखित मँगा लिया, और अपने-अपने यहाँ के स्थानीय नेताओं से सहयोग लेना प्रारम्भ किया। यही नहीं वे लोग अलग-अलग प्रत्येक मन्त्री से मिलने लगे और अपने-अपने कार्यक्रम तथा राजेन्द्र प्रसाद जी के सन्देश सामने रखने लगे। कार्यक्रम तथा सन्देश से प्रभावित होकर मन्त्रियों आदि ने अपने-अपने लिखित आशीर्वाद दे दिये; तथा इन लोगों ने एक और बड़ी चाल खेली और वह थी अपने को साम्प्रदायिक रंग से साफ बचा लेना। इसके लिए उन्होंने कानपुर में मुसलिम कॉलेज और क्राइस्ट चर्च कॉलेज के प्रिंसिपलों को अपने शिक्षण शिविर में भाषण देने के लिए बुलाया।

हलीम कॉलेज के हॉल में शिक्षण शिविर भी किया गया। इस प्रकार वातावरण परिषद के एकदम अनुकूल तैयार हो गया। सरकार और जनता जब दोनों ही

सहयोग दे रहे हों, तो फिर क्या पूछना। लेकिन हाँ, अभी एक बात तो रह ही गयी थी कि सरकारी मशीनरी का तो सहयोग मिला ही न था। इसके लिए कार्यकर्तागण जिलाधिकारियों आदि के पास मन्त्रियों के सन्देशों आदि को लेकर पहुँचे। अधिकारियों ने इन्हें देखकर अपने से नीचे वर्ग के अधिकारियों के पास सर्कुलर भेज दिये कि इन शिक्षा प्रचारकों के साथ सहयोग किया जाये। इनके कार्य में किसी प्रकार की बाधा न डाली जाये। अतः अब इस बात की भी शंका न रह गयी कि पुलिस आदि उनके कार्य में संघ का कार्य कहकर बाधा डालेगी। इस प्रकार परिषद का कार्य अब जोर-शोर से आरम्भ कर दिया गया है। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि इलाहाबाद में इन संघी प्रचारकों को सरकारी जीपें और लाउडस्पीकर भी दिये गये हैं। इस प्रकार सरकारी साधनों पर खुलेआम संघ का कार्य हो रहा है। 'परिषद' के कार्यकर्ता गाँवों में जायेंगे, नाम के लिए तो शिक्षा प्रसार होगा। कुछ समय तो दिखाने के लिए शिक्षा प्रसार में दिया जायेगा। बाकी समय में संघ का प्रचार किया जायेगा। कांग्रेस सरकारों के प्रति क्षोभ का वातावरण बनाया जायेगा। शारीरिक उन्नति के नाम पर संघ की रीति पर शायद व्यायाम कराए जायेंगे। अतः सरकार का यह कर्तव्य है कि इन शिक्षा प्रचारकों की गतिविधि पर सतर्क दृष्टि रखे। इन्हें शिक्षा प्रचार से आगे कोई प्रचार करने की सुविधा न दी जाये।

यह तो हुई विद्यार्थी परिषद। अब जैसा कि मुझे विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है संघ आगे भी इसी प्रकार की कल्पित संस्थाओं को स्थापित करके अपना राजनैतिक उद्देश्य पूरा करना चाहता है। इस प्रकार की संस्थाओं में 'नागरिक परिषद' और 'अखिल भारतीय किसान परिषद' शायद अगली संस्थाएँ होंगी।

नगरों की जनता को अपनी ओर आकर्षित करके अपने लिए अनुकूल राजनैतिक वातावरण बनाने के लिए 'नागरिक परिषद' बनाई जायेगी। कानपुर नगर में तो इस ओर प्रयास प्रारम्भ भी हो चुका है।

गाँवों का अगला कार्यक्रम शायद होगा किसान परिषदों की स्थापना करके राजनीति में सीधे घुसा जाये। विद्यार्थी परिषद के कार्यकर्ता प्लेटफॉर्म तो गाँवों में बना ही लेंगे; फिर उसी पर से किसान परिषद का प्रचार किया जायेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संघ का उद्देश्य है कि रा. स्व. संघ स्वयं तो एक मूल शक्ति या कार्यकर्ता शक्ति के रूप में सुरक्षित रहेगा और तमाम दूसरी संस्थाएँ बनाकर राजनैतिक उद्देश्य पूरा करेगा।

दैनिक विश्वमित्र : 1951/52
(सम्पादक के नाम पत्र)

भारत में प्रजातन्त्र के खतरे

ईसा की बीसवीं शताब्दी आधी बीत चुकी है और समस्त संसार दुहाई देता है केवल दो बातों की—प्रजातन्त्र एवं शान्ति की। युग का उद्देश्य एवं माँग यही है। पर वास्तविकता क्या है? अधिकांश स्थानों में प्रजातन्त्र की मखौल उड़ाई जा रही है। उस पर आगे-पीछे से, दायें-बायें से प्रहार पर प्रहार होते हैं। भारतवर्ष में भी आज यही स्थिति है।

प्रजातन्त्र की परिभाषा देते हुए कहा गया है—जनता के लिए जनता द्वारा संचालित जन-सरकार। भारतवर्ष में राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति के साथ-साथ किसी-न-किसी रूप में जन-प्रतिनिधियों की महत्ता बढ़ती गयी। 1862, 1892, 1897, 1909, 1919 और 1935 के वैधानिक सुधारों ने भावी प्रजातन्त्र की नींव बनने का काम किया। पर वास्तव में जड़ यहीं से कमजोर हो जाती है। यह नींव स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं हुई थी। कृत्रिमता के साथ-साथ इसमें फिरकेपरस्ती और साम्प्रदायिक भावनाओं को भयंकर प्रश्रय दिया गया था। ऐसी दशा में हमारी जनता को जो प्रजातान्त्रिक ढंग की शिक्षा मिली; उसमें भ्रष्टाचार, स्वार्थ, जन-भावना-दमन, भ्रामक प्रचार, द्वेष और असहिष्णुता साधारण बातें थीं। प्रजातन्त्र की वास्तविक भावनाओं, कार्य-पद्धति से परिचित होने का हमें अवसर ही नहीं मिल सका। परिणाम हुआ कि 1947 में जब हमने वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना करनी चाही, तो उसका भवन-निर्माण भी बहुत कुछ अपने आप उसी ढंग पर हो गया। झूठे वादे और प्रलोभन, प्रचार और व्यक्तिगत द्वेष, वैयक्तिक अथवा वर्गगत स्वार्थों को लेकर दलों का निर्माण। यह सब प्रजातन्त्र के स्वरूप को उमड़ने नहीं दे रहे। वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गयी जन-सरकार के लिए आवश्यक है कि देश में दो और अधिक से अधिक तीन दल हों। पर हमारे यहाँ वास्तविक अर्थ में केवल एक पार्टी है, जिसमें कि असंख्य छोटे-छोटे ग्रुप हैं, अन्य दलों के हाथ में या तो स्पष्ट कार्यक्रम का अभाव है या फिर संगठन की कमी।

कम्युनिस्ट पार्टी ने दक्षिण में काफी शक्तिशाली विरोध स्थापित किया है एवं यह विरोध बड़ा हितकर है, प्रजातन्त्र के लिए। परन्तु वहाँ समस्या दूसरी ही उपस्थित

है। कम्युनिस्ट दल प्रजातन्त्रवाद के इस स्वरूप पर विश्वास नहीं करता तथा उनका घेरा बड़ा संकुचित मतवादी है। उनके पास स्पष्ट सामाजिक दर्शन है; परन्तु अत्यन्त रूढ़ कार्य प्रणाली है। प्रजा समाजवादी दल बहुत बिखरा एवं विशृंखल दल है। बिहार, यू.पी. एवं बम्बई के बाहर उसका अस्तित्व सम्भवतः शून्य-सा है। यदि मुझे क्षमा किया जाये, तो जिस प्रकार कांग्रेस के पास किसी सुष्ठु सामाजिक दर्शन का अभाव है, उसी प्रकार प्रजा समाजवादी दल के पास भी। वैयक्तिकता इस दल में भी उसी मात्रा में विद्यमान है, जिस मात्रा में कांग्रेस में। अन्य वामपक्षी दल तो केवल कागज पर ही हैं। दक्षिण पन्थी दलों में जनसंघ अत्यन्त प्रतिगामी संस्था है। यों जनसंघ को अब तक कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है; परन्तु उसने भारतीय राजनीतिक चेतना में एक बड़े खतरनाक तत्त्व को जन्म दिया है; वह तत्त्व है अप्रत्यक्ष रूप से अधिनायकतन्त्र में आस्था उत्पन्न करना। युग की माँग के अनुकूल न होने के कारण यद्यपि अभी खुले रूप से कहने का साहस नहीं पड़ता; किन्तु लुके-छिपे रूप में यह आवाज सुनाई पड़ने लगी है। पर मजा यह है कि यह डिक्टेटरशिप ऑफ प्रोलेतैरियत न होकर डिक्टेटरशिप ऑफ मिडिल क्लास के रूप में आ रही है। यदि हम इस समय अपने देश की परिस्थितियों का विवेचन करें, तो हमें बहुत कुछ प्रथम महायुद्धोत्तरकालीन जर्मनी की-सी दशा दिखाई पड़ेगी। 150 वर्षों के शोषण ने हमारी आर्थिक अवस्था को नितान्त जर्जर कर दिया। देश में पैदावार की कमी भी है; चीजों की कमी भी है; मूल्य भयंकर रूप में बढ़े हुए हैं। जनता में थकान और असन्तोष, परेशानी और कलह है। पर आजादी मिलने के पूर्व से ही एक सब्जबाग का दृश्य आँखों के सम्मुख घूम रहा था। देश में प्रजातान्त्रिक सरकार कायम हुई, जिसने प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक व्यक्ति और समूह को प्रसन्न एवं सन्तुष्ट बनाना चाहा। पर सभी को सुख पहुँचाने वाले साधन उपलब्ध न थे। सरकार को अन्दर और बाहर से अनेक विरोध, कार्यक्रमों को असफल बनाने के उद्योग का सामना करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार के निराशा और क्षोभ के वातावरण के मध्य जर्मनीं में नाजीवाद का जन्म हुआ था। सबसे पहला काम जो हिटलर ने किया, वह था हार और क्षोभ का वातावरण उत्पन्न करना। हमारे देश में भी अधिकांश राजनीतिक दलों से नारे लगवाए जाते हैं। यह आजादी झूठी है। वे हमारे देश की उस महान् घटना पर काला परदा डाल देना चाहते हैं, जिसने हमें संसार के समुन्नत राष्ट्रों के बराबर ला पहुँचाया है। जिस ऐतिहासिक दिवस ने हमें अपनी व्यवस्था के प्रति सचेत भावना से देखना सिखाया है एवं जिसका प्रभाव हमारे सांस्कृतिक प्रयत्नों को एक अपूर्व बल दे रहा है, स्पष्ट है कि यह नारा अधिकांश रूप में जनसंघ और कम्युनिस्ट ग्रुप से आ रहा है; और यह दोनों दल अधिनायक तन्त्र के किसी न किसी रूप में हानिकर हैं। पर इस विराट सत्य पर परदा डालने का प्रयत्न करना अपनी आँखें स्वेच्छा से बन्द कर लेना है।

ऊपर मैं संकेत कर चुका हूँ कि मध्य वर्ग की तानाशाही अधिक भयंकर तत्त्व के रूप में हमारी राजनीति में प्रविष्ट हो रही है। अधिक भयंकर इसलिए कि इस तन्त्र के भीतर आर्थिक एवं सामाजिक सम्बन्ध की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है। इसका दर्शन और नीति तर्क में नहीं, भावना पर आश्रित है। आज हमारे यहाँ मध्य वर्ग सबसे अधिक निराश, विक्षुब्ध एवं Frustrated वर्ग है। अपनी दशा सुधारने के लिए कोई सुस्पष्ट आयोजना उसके पास नहीं है। पूँजीपति के पास धन है। वह अपनी तुष्टि उपलब्ध कर लेता है। मजदूर अपने संगठनों से अपनी माँग पूरी करा लेते हैं। किसान नागर-सभ्यता से असम्पृक्त, शिक्षाजन्य असन्तोष से अछूता एवं हद दरजे का आस्थावान, कर्मफल विश्वासी एवं नियतिवादी प्राणी है। उसे आन्दोलन एवं युद्ध की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। रह जाता है बौखलाया हुआ मध्य वर्ग। मध्यम वर्ग में भी दो तरह के प्राणी होते हैं। अधिक बुद्धिमान एवं कम बुद्धिमान।

अधिक बुद्धिमान डिक्टेटरशिप को अपने एक सुदृढ़ संगठन के रूप में लेते हैं, जिसके द्वारा वे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के स्वप्न देखते हैं। कम प्रतिभाशाली व्यक्ति सोचने लगता है कि हो सकता है कि डिक्टेटरशिप में ही सुख प्राप्त हो सके; और इस प्रकार अनजाने उस दिशा में आगे बढ़ जाता है। वास्तव में मध्य वर्ग किसी भी देश की सामाजिक चेतना की रीढ़ होता है। हमारे देश की intelligentsia बौद्धिक श्रेणी की यह मानसिक अवस्था राष्ट्र के राजनीतिक और आर्थिक भविष्य के लिए एक बड़े संकट का आवाहन कर रही है।

मध्य वर्ग की इस विक्षोभित प्रवृत्ति का प्रभाव कांग्रेस जैसे प्रजातान्त्रिक दलों पर भी पड़ता है। वहाँ पर इसने एक दूसरा रूप धारण कर लिया है। कतिपय क्षेत्रों में इस प्रकार की चर्चाएँ होने लगी हैं कि पं. नेहरू डिक्टेटर बन जायें और कांग्रेस एकमात्र शासक दल। ऐसा मत प्रकट करने वाले बड़ी ही हास्यास्पद दलीलें दिया करते हैं। वे बहुधा दो बातें कहा करते हैं। एक तो कांग्रेसजनों के आपसी मतभेद और दूसरे पण्डित नेहरू की व्यापक लोकप्रियता। उनके अनुसार कांग्रेसजनों के वैयक्तिक स्वार्थों के सम्मुख अब देश के उठने की कोई सम्भावना नहीं रही। परस्पर के संघर्ष समस्त नीतियों एवं कार्यक्रमों को खोखला बनाये हुए हैं। शासन के भ्रष्टाचार एवं कुनबापरस्ती इसी कारण बढ़ रही है एवं शासन तन्त्र में शिथिलता का आधिक्य और सख्ती की कमी हो रही है। इन आक्षेपों को स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट हमें नहीं; पर इलाज इनके लिए दूसरा है तथा सामाजिक पृष्ठभूमि भी इनकी दूसरी ही है, जिसकी ओर कि मैं बाद को संकेत करूँगा, तब तक मैं दूसरी दलील को ले रहा हूँ। कहा जाता है कि पिछले निर्वाचनों में कांग्रेस की विजय का एकमात्र कारण नेहरू जी थे; तथा कांग्रेस की शक्ति केवल नेहरू जी की शक्ति है। यह सारी बातें बड़े ही संगठित ढंग से प्रचारित की जा रही हैं; पर तथ्य क्या वास्तव में यही हैं? नेहरू जी की लोकप्रियता के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी क्या मैं यह पूछ सकता हूँ

कि यदि नेहरू जी आज कांग्रेस से पृथक हो जायें तो उनकी प्रतिष्ठा ऐसी ही बनी रहेगी? क्या कांग्रेस से अलग होकर नेहरू जी को किसी अन्य संगठन विशेष की शरण न लेनी पड़ेगी। क्या नेहरू का वैयक्तिक स्वरूप उनके संगठन के स्वरूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है? बड़े दुख की बात है कि बीसवीं सदी के इस वैज्ञानिक युग में भी हम वीरपूजा के उसी आदिम भाव से लिपटे हुए हैं, जिसमें कि व्यक्ति को राष्ट्र, जाति या समाज से बड़ा मान लिया जाता है। हम भूल जाते हैं कि नेहरू जी की प्रतिष्ठा और प्रभाव को ढोने वाले घोड़े कांग्रेस के कार्यकर्ता संगठक अन्य सदस्य आदि हैं। मेरा यह निश्चित मत है कि यदि नेहरू जी आज कांग्रेस से पृथक हो जायें, तो उनकी लोकप्रियता में एक अनिवार्य प्रश्नचिह्न उपस्थित हो जायेगा। वे बड़े भी हैं, तो कांग्रेस संगठन के द्वारा। स्वयं सम्भवतः नेहरू जी इस बात को भली भाँति जानते हैं और समझ रहे हैं तथा इसी कारण उन्होंने जीवन-भर दूसरा संगठन बनाने की इच्छा नहीं की। इस संस्था से ऊपर व्यक्ति को रखने को तैयार नहीं हैं। व्यक्तिवाद से नेहरू जी को कितने विरोधों का सामना अपने निर्वाचन में करना पड़ा था। यह प्रत्येक समझदार जानता है। नेहरू की वाणी में इसलिए बल भी है कि उनके अन्दर तीन व्यक्तित्व समाए हुए हैं : (1) प्रधानमन्त्री, (2) कांग्रेस अध्यक्ष, (3) नेहरू स्वयं। प्रजातन्त्रवाद को हमारे देश में सबसे बड़ा खतरा वर्तमान विभाजक मनोवृत्तियों से है। ये विभाजक मनोवृत्तियाँ दो प्रकार की हैं—प्रथम सामूहिक-सामुदायिक, प्रादेशिक एवं भाषा सम्बन्धी; द्वितीय व्यक्तिगत, जिसमें वैयक्तिक स्वार्थ-उन्नति, गुटबन्दी एवं कुनबापरस्ती आदि है।

किसी समय ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ आपस में इतनी अधिक घुलमिल जाती हैं कि वहाँ कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना मुश्किल हो जाता है। विभाजन की प्रवृत्ति का मूल खोजने हमें बहुत दूर नहीं जाना है। यों तो इसकी जड़ें हमें ईसा की 10वीं सदी के आसपास से मिलेंगी, जबकि नाना ऐतिहासिक एवं सामाजिक कारणों के कारण हिन्दू धर्म वर्जनशील धर्म के रूप में विकसित हो रहा था। आचार-प्रवणता एवं जाति-शुद्धता तथा प्रादेशिक सामन्तवाद यहीं से प्रारम्भ हुए थे। पर बीच में सन्तों की वाणी ने उस स्वर को दबा दिया था, अपने हृदय रस से। रीतिकालीन कवियों ने भी उस स्वर को विलास-रागिनी की चादर के नीचे ढका ही रहने दिया। इस बीच में जो सांस्कृतिक जागृति हुई, उसके कारण प्रान्तीय भाषाओं के प्रति भी एक अभूतपूर्व मोह जाग उठा है। वास्तव में यह सांस्कृतिक जागरण की पहली सीढ़ी होती है, जबकि अपने अतीत एवं संकीर्ण सीमा के भीतर वर्तमान के प्रति मोह जाग्रत होता है। इसके लिए आग्रहपूर्वक एक भाषा की प्रतिष्ठा आवश्यक है और निश्चयपूर्वक वह भाषा है संस्कृतनिष्ठ हिन्दी। हमारे देश में व्यावसायिक क्रान्ति एवं तज्जन्य नागरिक सभ्यता का अभी प्रारम्भ ही हुआ है। और इसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया है व्यक्तिवाद का जन्म। परन्तु इस व्यक्तिवाद में स्वार्थों का बढ़ना अनिवार्य है एवं

उनके फलस्वरूप पारम्परिक अन्तर्विरोध और सत्ता हथियाने के षड्यन्त्र भी सम्मुख आयेंगे। अतः इस व्यक्तिवादिता का समाजीकरण किया जाना चाहिए, जहाँ व्यक्ति स्वतन्त्र इकाई न हो समाज की संघटक इकाई हो; जहाँ समाज का हित ऊपर हो व्यक्ति का नीचे; जहाँ भारतवर्ष ऊपर हो और उसके नीचे कांग्रेस या प्रजा-समाजवादी दल और फिर उसके बाद नेहरू या जयप्रकाश। समाज की ऐसी अवस्था में ही व्यक्ति को पूर्णतया विकसित होने का अवसर मिल सकता है; क्योंकि इस व्यवस्था के भीतर प्रतिद्वन्द्विता का स्थान सहयोग और सहकारिता ले लेती है। अतः देश में सांस्कृतिक प्रयत्नों की स्थापना के लिए एक भाषा तथा राष्ट्रीय साहित्य के विकास एवं निर्माण का सामूहिक प्रयत्न होना चाहिए।

विश्वमित्र : 14 फरवरी, 1954

राज्य और साहित्य : विवाद की भूमिका

पिछले कुछ दिनों से राज्य और साहित्य के सम्बन्ध को लेकर एक प्रकार का वैचारिक आन्दोलन हिन्दी में चलता आ रहा है। आगामी 3-4-5 मई को परिमल, प्रयाग की ओर से राज्याश्रय और साहित्य पर एक लेखक परिगोष्ठी आयोजित की गयी है। यह प्रश्न किस पृष्ठभूमि पर स्थित है, इसका हम यहाँ विवेचन करना चाहते हैं।

भारतीय आकाश पर स्वतन्त्रता के आगमन के बाद हमारे सामने विकास के जो नये क्षितिज उन्मुक्त हुए, उनमें साहित्य और साहित्यकार के भी अपने वातायन थे। जुलाई, 1953 की आलोचना के सम्पादकीय में नयी पीढ़ी के कुछ प्रतिनिधियों ने, 'यह झुटपुटा प्रभात का है, सन्ध्या का नहीं' कहते हुए यह घोषणा की थी कि 'इस वाणी का आधार हमारी वह महान् शान्तिवादी परम्परा है, जिसने आज दोनों शिविरों के राष्ट्रों के सम्मुख एक नया नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस वाणी का आधार भारतीय जनता का वर्तमान अभाव, पीड़ा, संकट, दारिद्र्य और दुख की चेतना है और उससे मुक्त होने के लिए उसका जो प्रजातान्त्रिक प्रयास है, उसमें इन नये लेखकों की अटूट आस्था है।'

सामाजिक पुनर्निर्माण के इस महान् अभियान में लेखक के व्यक्तित्व की पुनर्प्रतिष्ठा हुई। उसे सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा। साहित्यकार, पत्रकार और राजनीतिक कार्यकर्ता के बहुमुखी कार्य करने वाले अनेक व्यक्ति शासन के उच्च पदों पर आसीन हुए अथवा विधायक बने। स्वाभाविक रूप से इन लोगों के मन में अपने कलाक्षेत्र के सहयोगियों के प्रति ममत्व था, ये लोग भारतीय कलाओं के प्रेमी ही नहीं उसमें सक्रिय सहयोग देने वाले लोग थे। इन लोगों के कारण भी लेखक कलाकार एवं उसके सृजन को ऊँचा स्थान मिला। जनतान्त्रिक पद्धति के विश्वासी इन शासकों ने जनता तक कला को पहुँचाने के अनेक प्रयास करने चाहे। रेडियो, सूचना एवं प्रकाशन जैसे विभागों में साहित्यकारों की नियुक्तियाँ हुईं। आये दिन सुनाई पड़ने लगा कि अमुक व्यक्ति रेडियो पर इतने वेतन पर नियुक्त हुआ, अमुक कवि इतने के Contract पर जाने को राजी हुआ या अमुक लेखक ने इतनी ऊँची तनख्वाह माँगी और न मिलने पर नियुक्ति अस्वीकृत कर दी। इनको सुन-सुन कर कुछ लोगों के मुँह में पानी भरता रहा। रेडियो प्रसारण में भी साहित्यिक कार्यक्रमों की संख्या बढ़ी, सरकारी अखबारों

के द्वारा अच्छे पारिश्रमिक की व्यवस्था हुई। इस आर्थिक सम्पन्नता ने एक प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता को जन्म दिया, जिससे कुछ लेखक बहुधा साहित्य के व्यापक उद्देश्य, सहज अनुभूति एवं स्वचिन्तन की राह से हटे। उन्होंने या तो विद्वेषवश आलोचनाएँ कर आतंकित करना चाहा या अनावश्यक एवं अपमानजनक ढंग से चाटुकारिता प्रारम्भ की। मन्त्रियों, साहित्यकार अफसरों एवं अफसर साहित्यकारों—यह चाटुकारिता सभी की प्रारम्भ हुई। परिणामस्वरूप कुछ लेखकों के लेखन का स्तर भी गिरा। परन्तु यह कहना ग़लत होगा कि सरकारी विभागों में जाने वाले हर साहित्यकार का लेखन स्तर गिरा है। अन्य कार्यों में फँसे रहने का कारण सृजन परिमाण का घटना दूसरी बात है, पर उच्च सार से उतरना पृथक् है। अमृतलाल नागर ने 'बूँद और समुद्र', जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' अपनी नौकरी के दिनों में लिखे थे। गिरिजाकुमार की श्रेष्ठ कविताएँ पन्त की 'अतिमा', अज्ञेय की 'बावरा अहेरी' की सम्भवतः अधिकांश रचनाएँ सरकारी पद पर रहते हुए लिखी गयी हैं।

अस्तु, इस स्थिति में कुछ स्वतन्त्रचेता, अतिजागरूक व्यक्तियों ने एक प्रकार की आशंका का अनुभव किया कि सरकार नौकरी, पदवी, पुरस्कार, प्रकाशन, प्रसारण आदि के माध्यम से लेखक की स्वतन्त्रता का अपहरण कर रही है।

यह बात भी हिन्दी के दो कैम्पों (हिन्दी में कैम्पों की स्थिति नकारना वास्तविकता से आँखें मूँदना है) से आयी है। 'नया पथ', 'हिन्दुस्तान', 'राष्ट्रवाणी', 'क्षितिज', 'कल्पना', 'त्रिपथगा' आदि विविध पत्र-पत्रिकाओं में इस प्रश्न पर विचार किया गया है। पिछले अंक में 'कलजुग' ने भी 'सत्ता और साहित्य' विषयक एक निबन्ध प्रकाशित किया था। एक पक्ष का तर्क तो यह है कि 'शासनतन्त्र एक दल-विशेष के हाथों में है, जिसके अपने हित और स्वार्थ हैं, जो अधिकतर आभिजात्य हितों और स्वार्थों से सम्बन्धित हैं। ऐसी स्थितियों में सत्ता के प्रभाव में साहित्य के चले जाने से केवल एक दल विशेष एवं वर्ग विशेष के हितों को ही लाभ अधिक पहुँचेगा।' दूसरे पक्ष ने अपनी राजनीति को इतना प्रत्यक्ष न होने देकर उसे अपेक्षाकृत अधिक सैद्धान्तिक रूप देते हुए व्यक्तिगत आक्षेपों के माध्यम से अधिक उभारा। एक तीसरे कैम्प ने इस भय को अनावश्यक भी माना। हिन्दी की अपनी गजगति के अनुकूल एक बड़ा भाग इस सबसे तटस्थ और चुप रहा; जैसे उसने इस सबको अनावश्यक माना हो।

सामाजिक संगठनों में राज्य और धर्म सबसे अधिक शक्तिशाली एवं सम्मान प्राप्त संस्थाएँ रही हैं; तथा इनसे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए लोग आकुल रहे हैं। कालान्तर में धर्म की महिमा घटती गयी तथा राज्य दिन प्रतिदिन शक्तिशाली होता गया। आधुनिक काल में तो राज्य की सीमाएँ सर्वव्यापी हो उठी हैं; क्योंकि उसका क्षेत्र अब शासन व्यवस्था ही नहीं सामाजिक सुरक्षा और कल्याण भी मान लिया गया है। सामाजिक उन्नति और पुनर्निर्माण के हर पहलू को उसके अन्तर्गत समझा जाता है। ज़ाहिर है कि ऐसी दशा में कला, साहित्य आदि उससे नितान्त असम्पृक्त नहीं रह सकते हैं। हाँ,

उसके द्वारा इनका नियमन रचनात्मक निर्माण के लिए हानिकर अवश्य हो सकता है। पर विचार करने की बात यह है कि क्या वाकई ऐसा नियमन हमारे यहाँ हो रहा है?

यह प्रश्न बहुधा इस स्तर पर उठाया जाता है जैसे कि साहित्यकार साधारण जन से बहुत पृथक अलौकिक प्राणी है। रस की अलौकिकता के बाद यह व्यक्तित्व की अलौकिकता का भाव अधिकांशतः उसकी कुण्ठाओं की सृष्टि का जिम्मेदार है। उसको विशिष्ट सुविधाएँ मिलने का कोई सवाल नहीं उठता। केवल रचनाकार के कार्य और रचना विधान की मानसिक जिम्मेदारियों के अनुकूल कुछ सुविधाएँ मिल सकती हैं।

एक प्रश्न और है कि हमारे प्रजातन्त्र में नाना प्रकार की विचारधाराओं वाले दल हैं। इन दलों के सक्रिय कार्यकर्ता सिम्पैथाइजर्स साहित्यकार भी हो सकते हैं। यदि साहित्यकार राज्याश्रय में अपने स्वतन्त्र चिन्तन, जिम्मेदारियों अथवा ईमानदारी से धुरीहीन हो सकता है तो राजनीतिक साहित्यकार कार्यकर्ता कहाँ तक अप्रभावित रह सकता है? दलगत अनुशासन एवं स्वाधीन चिन्तन की संगति किस बिन्दु पर बैठती है यह विचारणीय है। इस विचार विनिमय का दलगत स्तर से ऊपर रहना अपेक्षित है। जिन लेखकों ने प्रभात के उस झुटपुटे की घोषणा की थी, वही आज इस संकट का साइरन बजा रहे हैं। इसलिए इसकी सतर्क विवेचना और आवश्यक हो जाती है।

प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि अपने देश के अनुषंग में नहीं तो कम से कम पश्चिम के प्रसंग में अवश्य। रूसी साहित्यकारों की परतन्त्रता पर बहुत कुछ पढ़ा-लिखा जा चुका है। इधर फ्रीवर्ल्ड के चैम्पियन अमरीका से जो खबरें आयी हैं और भी चौंकाने वाली हैं। वहाँ कब किसको कम्युनिस्ट फतवा देकर परेशान, अपमानित या भयंकरतम दण्ड से दण्डित किया जा सकता है, यह कोई नहीं कह सकता। मैकार्थीवाद प्रतिदिन बढ़ाव पर है। अतः यदि हमारे यहाँ इस प्रकार के विचार बराबर होते रहें, तो भविष्य में भी इस प्रकार के खतरों से हम बचे रह सकते हैं; क्योंकि यदि अभी खतरा नहीं है, तो आगे आ सकता है और यदि है तो उसके प्रति हम सावधान हो सकते हैं। स्वतन्त्रता की रक्षा तो होनी ही चाहिए।

इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि सरकारी नीति एवं उस नीति को लागू करने वाली नौकरशाही के मन्तव्यों में तो कोई अन्तराल नहीं है? हमारा अनुमान है कि हमारे यहाँ जो स्वतन्त्रता के अपहरण या विपथगा बनने-बनाने का सवाल है उसके मूल में नौकरशाही (Beaurocracy) अधिक विद्यमान है। आवश्यकता इस बात की है कि राजकीय पदों पर जाने वाले साहित्यकार नौकरशाही के चंगुल से बचे रहें, क्योंकि यह जकड़ने वाला पंजा ही नहीं है, फैलने वाला रोग भी है। मनोवृत्ति के रूप में इसका प्रसार अत्यधिक घातक है। हमने कष्ट के साथ यह अनुभव किया है कि अनेक साहित्यकार इस मनोवृत्ति में पड़ गये हैं और ऐसे छिन्नमूल व्यक्तियों को भविष्यहीन ही कहा जा सकता है।

कलजुग : अप्रैल, 1957

संगीत एवं साहित्य समारोह

विकास की अनेक दिशाओं में देश की सरकार के जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनमें साहित्य, संगीत और चित्रकला की अकादमियों की स्थापना महत्त्वपूर्ण कार्य है। इनके माध्यम से सरकार इधर दो वर्ष से प्रति वर्ष एक आयोजन कर कुछ पद, प्रतिष्ठा और पुरस्कार भी बाँटती है। आकाशवाणी इन सब कार्यों के लिए अत्याज्य साधन संस्था है। वैसे वह अलग वस्तु है, फिर भी वह राष्ट्रीय हित को दृष्टि में रखकर कार्य करती है। कितनी और किस प्रकार की सफलता इन सब प्रयत्नों के द्वारा साहित्य, संस्कृति और कला के उन्नयन में राष्ट्रीय सरकार प्राप्त कर रही है यह विचारणीय विषय है।

इसी मास के प्रारम्भ में संगीत और साहित्य अकादेमी दो संस्थाओं के दो बृहत् समारोह दिल्ली में हुए हैं। इनमें भाग लेने वाले कलाकार और साहित्यकार अभी हाल ही में मंच से उठे हैं। स्मृति-पटल पर तनिक विहंगम दृष्टि डालने से कला के इन सृजनशील प्रतिनिधियों का कितना सहयोग देश के सांस्कृतिक निर्माण में रहा—पाठकों को इसका सहज की परिज्ञान हो जायेगा।

पहला आयोजन संगीत गोष्ठी का था।

कहना न होगा आलोच्य संगीत-गोष्ठी में अतिअपेक्षित, वर्तमान संगीत सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार उतनी गहराई और लोक-व्यापक धरातल पर न हो सका, जितना कि अपने नन्हे-मुन्ने पद की खैर माँगने वाले इन कलावन्तों की कला का प्रदर्शन। इसलिए जहाँ राष्ट्रपति के कर-कमलों द्वारा पारितोषिक वितरण कर इस समारोह ने स्वतन्त्र भारत में भारतीय संगीतज्ञों के सम्मान की ऐतिहासिक स्थापना की, वहीं भारतीय संगीत की अनेक जीवन्त शैलियों के इन संवर्द्धकों की विचारणा द्वारा समारोह किसी सामंजस्य से इस संगीत की कोई एक सामान्य भावभूमि उपस्थित करने में असफल रहा। कहने के लिए समारोह में देश के विख्यात गायक, वादक एवं नृत्यकार तो थे ही, कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ अभिनेता, निर्देशक तथा गीत-कथा संवाद लेखक भी थे। इनको समुचित सम्मान देकर सरकार जिस राष्ट्रीय परम्परा का परिपोषण करती है, वह अवश्य ही महनीय है। किन्तु अनेक दृष्टियों से उसमें गुटबन्दी, पारस्परिक सहयोग का अभाव और क्षुद्र स्वार्थ-साधन की भावना के कारण

बड़ी रुग्णता है। इस ओर प्रयास रहा तो अवश्य ही ये संस्थाएँ देश के सांस्कृतिक नवनिर्माण में निष्कलुष और लोकप्रिय वातावरण बना कर रहेंगी।

दूसरा आयोजन था आकाशवाणी का साहित्य समारोह। विभिन्न भारतीय भाषाओं के लगभग 200 सुकृती साहित्यकारों का जमघट था। 5-6-7 अप्रैल, तीन दिन तक रहा। पिछले वर्ष का समारोह इसी आकाशवाणी पर काव्य-विषयक हुआ था। इस वर्ष चर्चा में कथा-साहित्य को चुना गया था।

किन्तु कुछेक को छोड़कर इस मंच पर जुटने वाले महाभाग अधिक वही लोग थे, जो इस साधना के क्षेत्र में अपरिचित थे। पढ़ी जाने वाली लघु कथाओं का जहाँ मूल भाषा के साथ चलने वाला हिन्दी अनुवाद समारोह की एक महत्त्वपूर्ण वस्तु था, वहीं विभिन्न भारतीय भाषाओं के कथा-साहित्य पर पठित निबन्ध तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उस पर पड़ने वाले तद्देशिक संस्कारजन्य प्रभाव बताने में नितान्त अधूरे और अपर्याप्त थे। इसका विशेष कारण मंच को सुशोभित करने वाले अधिकांश वह अयोग्य साहित्यिक जीव थे, जो अनुकूल वातावरण पाकर ऐसे स्थानों को अपने उपलब्ध साधनों के द्वारा सदैव हथियाने को आतुर रहते हैं। आकाशवाणी के इस प्रयास का महत्त्व हम अवश्य ही स्वीकार करते हैं, किन्तु इस आयोजना की परम्परा को विशुद्ध बनाने के लिए विवेक सहित कोई सुनिश्चित कार्य-प्रणाली अपनानी पड़ेगी, तब भविष्य में इन आयोजनों की सफलता में कोई शंका नहीं रह जायेगी।

कलजुग : अप्रैल, 1957

डाक विभाग : साहित्यिक पत्रिकाएँ

विचारणीय विषय है कि एक दिशा में हमारी राष्ट्रीय सरकार साहित्य के सत्कार और संवर्द्धन में अपनी विविध कार्य-प्रणालियों द्वारा जहाँ अधिक सक्रिय जागरूकता का परिचय दे रही है, वहीं दूसरी दिशा में उसके डाक विभाग की यह 'पालिसी' जो पिछले दिनों से उन सभी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के ऊपर जो कविता, कहानी अथवा निबन्ध और आलोचना प्रधान हैं, चलाई जा रही है, कि 'न्यूज पेपर' के अतिरिक्त अन्य सभी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं को समाचार-पत्र के तुल्य डाक के टिकट में उन्हें तभी भेजा जा सकेगा, जबकि उनका प्रकाशन डाक विभाग के पंजीकरण के नियमानुसार हो। यह सब क्या है?

किसी भी भाषा में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का अपना सुनिश्चित उद्देश्य और उसकी रीति-नीति के अनुसार उनका प्रकाशन दायित्व प्रकाशकों और सम्पादकों पर होता है। हिन्दी-उर्दू में भी अनेक जनप्रिय पत्र-पत्रिकाएँ अपने मौलिक उद्देश्य को लेकर लम्बे समय से प्रकाशित हो रही हैं। अभी-अभी यह भी सामने आया है कि प्रयाग के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री मेहरोत्रा ने मित्र प्रकाशन लिमिटेड, प्रयाग की हिन्दी और उर्दू की 8 मासिक पत्रिकाओं 'माया' आदि के समादेश प्रार्थना-पत्र को स्वीकार किया और उत्तर प्रदेश के पोस्ट मास्टर जनरल को आदेश दिया कि उक्त पत्रिकाओं के लिए पंजीकरण का नवीनीकरण कर दें।

स्मरण रहे कि 'कलजुग' के प्रकाशक की ओर से भी उक्त क्षेत्रीय पी.एम.जी. से इसी पंजीकरण के सम्बन्ध में आज से दो मास पूर्व प्रार्थना की गयी थी; किन्तु अब उत्तर मिला है कि आपकी प्रार्थना इसलिए अस्वीकृत की जाती है कि आपकी पत्रिका डाक विभाग के पंजीकरण के नियमानुसार नहीं प्रकाशित होती है।

खेद का विषय है कि जब हम अनेक कठिनाइयों के बावजूद 'कलजुग' का प्रकाशन कर उसे सार्वजनिक हित में देश के कोने-कोने में पहुँचाना चाहते हैं, तब डाक विभाग की यह विसंगति हमारे उत्साह और प्रगति में कितनी बाधक ही नहीं घातक बनकर हमारी अग्नि परीक्षा लेना चाहती है। इस कठिनाई को हमारे जैसे

अनेक भुक्तभोगी ही ठीक-ठीक जान सकते हैं। आशा है कि ऐसी सभी प्रार्थनाएँ, जो डाक विभाग से साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की हैं, उक्त समादेश के अनुसार अविलम्ब स्वीकृत की जायेंगी और इस सम्बन्ध में विचार कर सरकार स्वयं डाक विभाग के उच्चाधिकारियों को आदेश देगी।

कलयुग : अप्रैल, 1957

भाषा आयोग की रिपोर्ट : स्थिर चित्त एवं वस्तुगत दृष्टिकोण की आवश्यकता

सरकारी भाषा आयोग की रिपोर्ट को प्रकाशित हुए काफी समय होने को आया, अब तक उस पर नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की जा चुकी हैं। यह हर्ष की बात है कि अधिकांश प्रतिक्रियाएँ उसके पक्ष में हुई हैं। वास्तव में आयोग ने जितना शान्ति एवं पूर्वग्रह रहित दृष्टिकोण से विचार किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। कमीशन की राय में 'अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के बारे में केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही सोचा जा सकता है'। तथा इस निष्कर्ष तक किसी विदेशी भाषा के विरुद्ध पूर्वग्रह के कारण, उसमें संचित साहित्य-सम्पदा एवं उपलब्ध वैज्ञानिक ज्ञान की उपेक्षा करके अथवा केवल देशभक्ति की भावनाओं के कारण नहीं पहुँचा गया है। फिर भी किसी विदेशी भाषा का किन्हीं विशेष कार्यों में अथवा द्वितीय भाषा के रूप में प्रयोग तथा उसका मुख्यतया शिक्षा के सामान्य माध्यम, शासन, सार्वजनिक जीवन एवं देश के दैनन्दिन जीवन के कार्यों में, प्रयोग में, एक स्पष्ट अन्तर है। यही वह पक्ष है, जिसको सुधारने का प्रयत्न किया गया है। इस मत के द्वारा आयोग ने अपने मूलभूत विचारों को वैज्ञानिकता प्रदान कर दी है।

हिन्दी को संविधान ने बहुमत की भाषा होने के कारण स्वीकार किया है; अतः उसके किसी से श्रेष्ठ होने का प्रश्न नहीं उठता; तथा इसीलिए वह ठीक अंग्रेजी के वर्तमान स्थान को ग्रहण भी न करेगी। इस मत को प्रकट करने के बाद भी यदि हिन्दी के साम्राज्यवाद की दुहाई दी जाती है, तो इसे बुद्धि-विभ्रम ही कहा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त निजी क्षेत्रों में किसी भी भाषा के प्रयोग द्वारा जो भाषा सम्बन्धी सन्तुलन (Linguistic Equilibrium) स्थापित करने की बात आयोग ने सुझाई है, वह भी कम महत्त्व की नहीं है।

सरकार के अखिल भारतीय विभागों में द्विभाषी स्वरूप को रख कर (अन्तःप्रदेशीय एवं विभागीय कार्यों के लिए हिन्दी तथा स्थानीय रूप से वहाँ की भाषा में जनता से व्यवहार) भी इस सन्तुलन को स्थापित करने का श्लाघनीय प्रयत्न हुआ है।

न्यायालयों के क्षेत्र में छोटी कचहरियों में प्रादेशिक भाषाएँ, सुप्रीम कोर्ट में

हिन्दी (अंग्रेजी में बहस करने और निर्णय देने की सुविधा के साथ) तथा हाईकोर्टों में दोनों दिशाओं में मुख करके समन्वय करने का प्रयत्न उन अनेक समस्याओं का समाधान करता है जिनसे बहुधा लोग परेशान हो उठते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में भी कमीशन ने जिस क्रमिक विकास को सुझाया है, वह सहानुभूतिपूर्वक विचार करने योग्य है। अंग्रेजी के सम्बन्ध में यह कहा जाना कि साहित्यक भाषा (Literary Language) के स्थान पर 'बोध-ग्रहण' की भाषा (Language of comprehension) के रूप में पढ़ाना अधिक उचित होगा, ठीक ही है।

वास्तव में भाषा की समस्या पर जिस निष्पक्षता एवं स्वार्थ-भावना रहित ढंग से विचार करने की आवश्यकता है, उसे हम नहीं प्राप्त करते तथा उस पर 'निज भाषा श्रेष्ठतावाद' लादने का प्रयत्न करते हैं। भाषा आयोग के इस प्रतिवेदन के प्रकाशन के पश्चात मद्रास इत्यादि में इसके विरुद्ध विद्यार्थियों के प्रदर्शन हुए। ऐसी मनोवृत्ति वर्तमान परिवेश में हीन मनोवृत्ति का द्योतक है। अगर यही शक्ति जो आन्दोलनों एवं प्रदर्शनों में व्यय होती है, स्कूलों एवं कॉलेजों में यदि वाद-विवाद एवं परिगोष्ठियों की आयोजना द्वारा विवेचन करने में लगाई जाये, तो भाषा की समस्या अधिक आसानी से हल हो सकती है।

इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि भाषा की समस्या पर विचार करते समय देश के बड़े-बड़े मस्तिष्क भी वैयक्तिक भावनाओं की पृष्ठभूमि में ही विचार करते हैं। ये लोग अपनी व्यक्तिगत योग्यता, जो अंग्रेजी के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, को अंग्रेजी की देन समझ बैठते हैं। पर वास्तव में ऐसे लोगों के लिए तो प्रतिवेदन में कह दिया गया है कि 45 वर्ष से अधिक अवस्था वाले व्यक्तियों से हिन्दी में उस योग्यता की आशा न की जाये जो उन्हें अंग्रेजी में प्राप्त है।

इतना अब हर एक के मस्तिष्क में स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भारतवर्ष की सामान्य भाषा अंग्रेजी नहीं बनी रह सकती। साक्षरता का प्रसार अंग्रेजी के माध्यम से असम्भव है। पता नहीं डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी जैसा विद्वान एवं भाषाशास्त्री कैसे यह बात कहता है कि अंग्रेजी को बनाये रखना आवश्यक है। स्वयं डॉ. चटर्जी ने किसी जमाने में हिन्दी का समर्थन किया था; पर उनका वर्तमान मन्तव्य यह सूचित करता है कि अन्ततः संकीर्ण भावनाएँ मनुष्य के सारे ज्ञान को आच्छादित कर लेती हैं। अतः यदि इसे सिद्धान्ततः स्वीकार भी कर लिया जाता है कि हिन्दी को राजभाषा एवं अन्तःप्रदेशीय व्यवहार की भाषा बनाना है, तो उसका अविलम्ब प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में प्रारम्भ हो जाना चाहिए। वह सक्षम बन जाये तब प्रयोग में लायी जाये ऐसा अतार्किक तर्क है कि उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने का मन ही नहीं चाहता। भाषा तो प्रयोग से शक्तिशालिनी एवं व्यवहार सक्षम बनती है। वह कोई व्यक्ति नहीं है कि उसे टानिक पिला कर बलवान बना लिया जाये। आखिर इसका प्रमाण क्या कि इस समय भाषा सक्षम है और इस समय अक्षम।

उसके (भाषा) द्वारा कोई परीक्षा पास करने की व्यवस्था भी यदि डॉ. चटर्जी एवं डॉ. सुब्बारायण कर देते तो शायद स्व. खेर को यह न कहना पड़ता कि इन मतवैभिन्य सूचक टिप्पणियों में Inaccurate and substantiated statements हैं।

वास्तव में डॉ. सुब्बारायण का यह मत भी अत्यधिक भ्रामक है कि यदि प्रतिवेदन को देश पर लागू करने का प्रयत्न किया गया तो हिन्दी तत्काल ही अहिन्दी भाषियों पर लाद दी जायेगी। रिपोर्ट ने अनेक स्तरों एवं अनेक स्थितियों के भीतर हिन्दी के प्रयोग को रखकर उसकी सीमाओं का संकोच किया है तथा हिन्दी के क्रमिक व्यवहार पर ही बल दिया है।

डॉ. चटर्जी एवं डॉ. सुब्बारायण ने प्रतिवेदन (रिपोर्ट) की आत्मा के विरुद्ध इस प्रकार के अनेक भ्रम एवं मिथ्या संशय उठाने चाहे हैं, जो कि देश के बौद्धिक वर्ग को पथभ्रष्ट बनाने में सहायक हो सकते हैं।

अब समय आ गया है कि देश के अनेकमुखी निर्माण में भाषा की समस्या को भी राजनीतिक स्वार्थों, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं एवं प्रदेशीय संकीर्णताओं से मुक्त कर निष्पक्ष मति, स्थिर चित्त एवं वस्तुगत दृष्टिकोण से विचार किया जाये। भाषा आयोग को इसी दृष्टिकोण से विचार प्रारम्भ करने पर हम बधाई भी देते हैं।

कलजुग : जून-जुलाई, 1957

दक्षिण में अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी अधिक समझी जाती है

इन गर्मियों में 12 मई से 20 जून तक मैसूर विश्वविद्यालय के आमन्त्रण पर भाषाविज्ञान का ग्रीष्म सत्र मैसूर में हुआ था। राकफेलर फाउण्डेशन की सहायता से लिंग्विस्टिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, डेकन कॉलेज, पूना एवं मैसूर विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में होने वाले इस ग्रीष्म सत्र में भारत के प्रत्येक अंचल से विभिन्न भाषा-भाषी विद्वान, अध्यापक और विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। इस बहुभाषा जमात में रहने का अवसर मिलने पर मैंने भाषा-समस्या का कुछ अध्ययन करना चाहा, विशेषकर दक्षिण भारत में।

विवाद के विस्तार में जाने से पूर्व मैं अपना एक निश्चित मन्तव्य प्रकट कर देना चाहता हूँ, जो मैंने दक्षिण भारत जाकर ही भली भाँति उपलब्ध किया है। मेरा अब यह और भी दृढ़ मत है कि भारत की अन्तःप्रदेशीय व्यवहार की भाषा हिन्दी ही हो सकती है—अंग्रेजी नहीं। यदि एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश के सामान्य जन के पारस्परिक सम्पर्कों का भारतीय जनतन्त्र और राष्ट्र के विकास में तनिक भी योगदान उचित माना जा सकता है, तो इस सम्पर्क की माध्यम भाषा हिन्दी होगी। मद्रास, बैंगलोर और मैसूर ही नहीं—शिवसमुद्रम प्रपात, सोमनाथपुरम, श्रीरंगपट्टन, हसन, बेलूर, हलेबिद, श्रवणबेलगोला जैसे छोटे स्थानों पर हिन्दी जानने वालों की संख्या नगण्य नहीं है।

जिस समय मैं कानपुर से चला था, उस समय मन में कुछ ऐसी धारणा थी कि दक्षिण भारत्त में सभी अंग्रेजी जानते हैं। वहाँ सामान्य रूप से अंग्रेजी ही बोली जाती है। पर यह धारणा खण्डित हुई पहले-पहल बैंगलोर में। बगल में बैठे एक युवक से जब मैंने अंग्रेजी में पूछा कि बैंगलोर में दर्शनीय स्थान क्या हैं, तब उसका उत्तर था कि 'अंग्रेजी मैं नहीं जानता। मुझसे कन्नड़ या हिन्दी में कहिए।' इसी प्रकार मैसूर के बाजारों में रेशमी साड़ी खरीदते समय या साग-सब्जी-फल लेते समय अथवा ताँगे वाले से होस्टल तक का भाड़ा तय करने में हिन्दी ही सहायक होती थी—अंग्रेजी में बोल कर केवल किंकर्तव्यविमूढ़ मुद्रा ही दृश्यमान होती थी। इसका अर्थ यह नहीं

कि वहाँ अंग्रेजी का व्यवहार नहीं होता। अंग्रेजी का व्यवहार उत्तर भारत से अधिक होता है, पर सामान्य जन की पहुँच के वह बाहर है।

उत्तर बनाम दक्षिण

मध्य वर्ग के भीतर अंग्रेजी के प्रयोग-बाहुल्य के ऐतिहासिक सामाजिक कारण हैं। उत्तर भारत में अंग्रेजी का प्रयोग-प्रसार बँगाल को छोड़कर अन्य स्थानों पर काफी देर से प्रारम्भ हुआ। फिर अंग्रेज, अंग्रेजी और अंग्रेजियत का जितना तीव्र विरोध 1857 से 1947 तक उत्तर भारत (विशेषकर उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश) में हुआ, उतना अन्य स्थानों पर नहीं हुआ। यह एक ज्वलन्त सत्य है कि राष्ट्रीय-संग्राम की केन्द्र धुरी अधिकांशतः उत्तर भारत में ही रही है। इसका एक अनिवार्य परिणाम हुआ है कि इन प्रदेशों में श्रेष्ठ बौद्धिक मस्तिष्क सरकारी नौकरियों की ओर नहीं गये। व्यापार की रुचि बढ़ी, उद्योगों पर ध्यान दिया, वकालत शुरू की, लिखने-पढ़ने या पढ़ाने के काम लिए, राजनीति के चक्कर में सींखचों के भीतर-बाहर रहे—पर सरकारी नौकरियों की ओर निगाह हेठी ही रही—अंग्रेजी कभी उन पर हावी नहीं हो सकी। इन प्रदेशों में हिन्दी आन्दोलन और राष्ट्रीय आन्दोलन पर्यायवाची रहे हैं। यह मुक्ति का आन्दोलन देशी भाषाओं की भी मुक्ति का आन्दोलन था। इसी पृष्ठभूमि में पला-बढ़ा हिन्दी भाषी कभी-कभी खीज उठता है कि हिन्दी का विरोध क्यों हो रहा है? उसकी समझ में नहीं आता कि उसने तो देशी भाषाओं को उठाने का प्रयत्न किया है और आज उस पर हिन्दी साम्राज्यवाद का आरोप लगाया जाता है। बहरहाल यह आरोप तो शुद्ध राजनीतिक चाल मात्र है, इसलिए उसके पचड़े में हम यहाँ नहीं पड़ते। तनिक दक्षिण की भी मनोभूमि समझ लेने पर समस्या आसान हो जायेगी।

दक्षिण में अंग्रेजी ने अड्डा भी पहले जमाया। ईसाई मिशनरी भी वहाँ बहुत पहले से काम कर रहे थे। इन ईसाई परिवारों में अंग्रेजी धीरे-धीरे मातृभाषा का रूप धारण करती गयी (इस प्रवृत्ति को अंग्रेजी राज्य में अत्यधिक बढ़ावा मिलता रहा)। राष्ट्रीय संग्राम भी उतना व्यापक और गहरा वहाँ कभी नहीं हो सका, इस कारण भी देशी भाषाओं के प्रति वहाँ वह जागरूक दृष्टि नहीं अपनाई जा सकी। इस कारण जब तमिल जैसी प्राचीन साहित्य से समृद्ध भाषा के वक्ता भी यह गुहार लगाते हैं कि अंग्रेजी देश में अनिश्चित काल तक राजभाषा के रूप में रहनी चाहिए तब हमें आश्चर्य न होना चाहिए। (यद्यपि हिन्दी भाषी के दिमाग में यही बात सबसे अधिक उलझन उपस्थित करती है कि ये लोग तमिल के लिए न कहकर अंग्रेजी के लिए क्यों कहते हैं?)

यहीं एक कटु सत्य की ओर मैं इंगित करना चाहूँगा। दक्षिण में सरकारी नौकरियों

की ओर प्रारम्भ से ही बड़ा तीव्र आकर्षण रहा है (इसके आर्थिक कारण हैं जिन पर इस समय हम नहीं जायेंगे)। दक्षिण के लोगों में जाने-अनजाने यह भावना भर गयी है कि हिन्दी के राजभाषा हो जाने पर नौकरियों में अनुपात कम पड़ जायेगा। यह अनुपात शायद कम भी पड़ा है; क्योंकि स्वतन्त्रता के बाद अब हिन्दी प्रदेशों में भी सरकारी पदों के प्रति दुराव की भावना नहीं रह गयी है। पर राजनीतिक स्वार्थलिप्त जन इस तथ्य को तोड़-मरोड़ कर यह दोष हिन्दी पर लादने का प्रयास करते हैं। आज जीवन में अर्थ और जीविका इतनी प्रधान हो उठी है कि हमारा यह तर्क व्यर्थ चला जाता है कि व्यापक राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान रखना चाहिए। अपनी नौकरियाँ सुरक्षित बनी रहें चाहे राष्ट्र-सम्बन्ध-स्थापक इकाई-भाषा त्याज्य क्यों न बना दी जाये! यह स्थिति तो यहाँ तक बढ़ गयी है कि राष्ट्रीयता की मूल भावना ही खतरे में पड़ने लग गयी है।

तमिल के एक बड़े विद्वान से बात चल रही थी, उन्होंने कहा कि पोस्टकार्डों और अन्तर्देशीय पत्रों पर हिन्दी में नाम क्यों लिखा रहता है। उनको कौन समझाए कि ये वे अप्रत्यक्ष साधन हैं जो बहुत शीघ्र अन्तर्देशीय माध्यम को जनप्रिय बनाते हैं। दक्षिण को हिन्दी में पता लिख कर यदि आप पत्र छोड़िए तो डेडलेटर ऑफिस होकर वह 8-10 दिन के पहले नहीं पहुँचा सकता। सामान्य जन के पारस्परिक सम्पर्क की माध्यम भाषा कौन हो सकती है, इस बात का उत्तर देने में कोई भी समर्थ नहीं होता।

समस्याओं का भण्डार

इस सारी परिस्थिति का प्रभाव वहाँ के साहित्य पर भी पड़ा है। पता नहीं, श्री प्रभाकर माचवे को यह बात पसन्द आयेगी या नहीं, क्योंकि उनके अनुसार हर नया आन्दोलन, विचार या सिद्धान्त हिन्दी में देर में आता है; परन्तु मुझे तमिल आदि के अध्यापकों से बातें करने पर ऐसा लगा कि जिन्हें साहित्य में 'माडर्न ट्रेंड' कहते हैं, वे हिन्दी में तमिल आदि की अपेक्षा कहीं अधिक मात्रा में हैं। जितनी जागरूकता हिन्दी में है, उतनी शायद बंगला और मराठी को छोड़ कर किसी भी अन्य भारतीय भाषा में नहीं है। जो ऊपरी बौद्धिक वर्ग के लोग आये, वे अंग्रेजी में लिखते-पढ़ते रहे—या फिर यदि उन्होंने तमिल की ओर दृष्टि उठाई तो उसके प्राचीन समृद्ध साहित्य के अध्ययन में लगे, पर जीवित वर्तमान के राग-विराग को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे माध्यम रूप चुनने में अधिक अनुराग नहीं दिखाया।

एक सज्जन से वहाँ बात हुई। तमिल में अन्नामलाई यूनिवर्सिटी से उन्होंने ससम्मान एम.ए. किया है। पुरातत्त्व में उनकी गहरी दिलचस्पी है तथा द्रविड़ मुन्नेत्र कड़घम के अनन्य प्रशंसक थे। उनके अनुसार द्रविड़ संस्कृति का अब तक सही

अध्ययन नहीं हुआ (भारतीय संस्कृति पर वहाँ कोई रचनात्मक दृष्टिकोण नहीं है, ऐसा उनके कड़घम का कहना है)। भारतीय संस्कृति में आर्य-द्रविड़ तत्त्व कितना मिलकर समन्वित हो गया है इस पर उन लोगों की कोई दिलचस्पी नहीं है। इस संस्था के अनुसार मद्रास के मन्त्रिगण (कांग्रेसी) सदैव केन्द्र की ओर निहारते रहते हैं—शायद उन्हें एक दल के शासन के नियमों और अनुशासनों का पता नहीं है। इन सज्जन के कथनानुसार तमिल के अधिकांश लेखक, कलाकार, फिल्म-निर्माता आदि इस मुन्नेत्र कड़घम से सम्बन्धित हैं और उसके सिद्धान्तों के अनुरूप लिखते हैं। मेरा अपना अनुमान है कि यह गलत बात होगी—लेखक स्वतन्त्र प्राणी होता है—पर यदि सही है तो वहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं का ईश्वर ही मालिक है।

हिन्दी में नये विचार

अब रह जाता है, राजाजी जैसे लोगों द्वारा किया जाने वाला हिन्दी-विरोध। दक्षिण वास्तव में आज समस्याओं का भण्डार बन गया है। तमिलनाडु में (कर्नाटक में भी) ब्राह्मण-अब्राह्मण झगड़ा एक भयंकर रूप धारण कर चुका है। कहते हैं, वहाँ ब्राह्मणों के लिए आजीविका का एक ही साधन रह गया है होटल चलाना। अन्यत्र कहीं उनकी पूछ नहीं है। ऐसी स्थिति में पुराने ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा या नेतृत्व सभी कुछ खतरे में पड़ गया है। ये लोग ऐसी स्थिति में अपने विरुद्ध आने वाली इस लहर को हिन्दी-विरोध की ओर मोड़ने का प्रयास करते हैं। उधर इन साम्प्रदायिक संकीर्ण संस्थाओं के कार्यक्रम और नीति में उत्तर-विरोध, आर्य-विरोध, हिन्दी-विरोध सभी कुछ सम्मिलित है। इन संस्थाओं के कर्णधार यह देखते हैं कि राजाजी जैसे लोग जो उत्तर भारत में भी समादृत हैं, उनका यह रुख संस्थानों की अन्य नीतियों को बढ़ाने वाला है, अतः इस विरोध को मोड़ने की बात इस समय वे स्वीकार कर लेते हैं। व्यक्तिगत रूप से इन लोगों का सम्मान और प्रतिष्ठा बनी रह जाती है।

परन्तु इस सबका अर्थ यह नहीं है कि दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रति अनुराग की कमी है। जो सबसे बड़ा शुभ लक्षण दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का है, वह है स्त्रियों में हिन्दी की लोकप्रियता। लोग भूले न होंगे कि उत्तर भारत में भी कश्मीर, पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ विशेष वर्गों में हिन्दी-प्रसार का अधिकांश श्रेय महिलाओं को है। 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की परीक्षाओं में महिलाओं की संख्या बहुत अधिक होती है। मैसूर में तो मुझे ज्ञात हुआ कि इन लोगों ने छोटी-छोटी पाठशालाएँ सशुल्क या निःशुल्क कायम कर रखी हैं, जिनमें पास-पड़ोस की लड़कियाँ, औरतें आकर हिन्दी पढ़ती हैं। यहाँ तक कि जो लोग हिन्दी का विरोध करते हैं, वे भी अपने परिवारों में हिन्दी के अध्ययन पर बल देते हैं।

मैसूर के भाषाविज्ञान वाले स्कूल के खाने के मेस में जिस समय सभी भाषाओं के बोलने वाले इकट्ठे होते थे, उस समय यह ध्यान देने की बात होती थी कि असमी हो या गुजराती, कश्मीरी हो या उड़िया, परोसने वाले से उन्हें हिन्दी में ही माँगना पड़ता था (क्योंकि कन्नड़ वे जानते नहीं थे)। यह इस बात का प्रमाण है कि अन्त:प्रदेशीय व्यवहार की भाषा हिन्दी ही हो सकती है।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 26 अक्टूबर, 1958

उत्तर प्रदेश की डायरी

उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति और उसके प्रकाशन

उक्त संस्था, उसके प्रकाशन एवं विक्रय को लेकर इधर वर्तमान और भूतपूर्व मुख्यमन्त्रियों का एक मतभेद सार्वजनिक रूप से सामने आया है। वर्तमान मुख्यमन्त्री के अनुसार उक्त संस्था के प्रकाशन लोकप्रिय नहीं हुए (यानी उपयोगी नहीं हैं। लोकप्रियता और उपयोगिता के मध्य कोई न कोई कसौटी वाला सम्बन्ध गुप्त जी अवश्य मानते होंगे!) और केवल 50,000 रुपये की पुस्तकें ही बिक सकी हैं। समिति के अब तक के अध्यक्ष डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी थे; सम्भवतः नीति-परिवर्तन में उन्हें समिति की अध्यक्षता त्यागनी पड़ी है। इस तथ्य को दर्दनाक ही नहीं, शर्मनाक कहते हुए भूतपूर्व मुख्यमन्त्री बाबू सम्पूर्णानन्द का कहना है कि उसके प्रकाशन अत्यन्त उच्चकोटि के हुए हैं और उनकी बिक्री 3 लाख रुपये की हुई है। बिक्री के ये तथ्य कितने ठीक माने जायें? दरअसल यह बात महत्त्वपर्ण नहीं है कि कितने की बिक्री हुई और बिक्री में मुफ्त बाँटी गयी पुस्तकें भी आती हैं या नहीं। यह बात भी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि नरेन्द्रदेव पुस्तकालय के लिए कुछ समय पूर्व वर्तमान मुख्यमन्त्री ने पुस्तकें माँगी थीं, या नहीं।

वस्तुतः प्रकाशन की स्पष्ट नीति एवं सुचारु व्यवस्था की बात ही इस सम्बन्ध में मुख्य है। पर लगता है कि उत्तर प्रदेश सरकार का मन इस सम्बन्ध में स्थिर नहीं है। इन पंक्तियों के लिखते-लिखते समाचार आया है कि 'हिन्दी समिति' का पुनर्गठन किया गया है। उसमें लिए गये व्यक्तियों के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं कहना, परन्तु नीति परिवर्तन का जो संकेत है, वह बहुत शुभ नहीं है। सम्भवतः अब 'हिन्दी समिति' सन्दर्भ पुस्तकें न छापकर विभिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करेगी। समझ में नहीं आता कि सामान्य व्यवसायी प्रकाशक से 'हिन्दी समिति' किस प्रकार भिन्न हुई। 'हिन्दी समिति' के पिछले प्रकाशनों पर भी हमारा यही आरोप है कि कला, साहित्य, दर्शन आदि पर प्रकाशित कतिपय पुस्तकें किसी भी तरह सामान्य पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा बेहतर नहीं हैं। इस दिशा में 'हिन्दी

समिति' को 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद' से प्रेरणा लेनी चाहिए। बहरहाल हम इस 'वणिक मनोवृत्ति' पर उत्तर प्रदेश सरकार को बधाई नहीं दे सकते।

पुनर्गठन और नीति की इस चर्चा में ही हमें यह याद दिलाने की इच्छा होती है कि इधर केन्द्र के अनुकरण पर विभिन्न राज्य सरकारों ने प्रदेशीय 'साहित्य अकादमियों' की स्थापना की है। क्या उत्तर प्रदेश सरकार ऐसी ही किसी 'स्वशासित अकादमी' की स्थापना नहीं कर सकती? इस सम्बन्ध में हमारा यह भी सुझाव है कि प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी अकादमी' और 'हिन्दी समिति' को एक में मिलाकर ऐसी ही अकादमी की स्थापना की जाये। इस 'अकादमी' में केवल हिन्दी के प्रोफेसर ही नहीं, विभिन्न विषयों के विद्वान भी हों और हिन्दी-उर्दू के सृजनशील लेखक भी। इस संस्था द्वारा हिन्दी-उर्दू-मिलन का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा सकेगा।

यह संकीर्ण मनोवृत्ति

जिस समय सारे देश में विघटनवादी प्रवृत्तियों को दबाने की बात उठ रही हो, उसी समय भीतर से यह विषधर कैसे-कैसे रूपों में प्रकट होता है, इसका प्रमाण अभी हाल में कानपुर में मिला। यहाँ एक 'मारवाड़ी पुस्तकालय तथा सार्वजनिक वाचनालय' नाम की संस्था है। संस्था के पास एक बड़ा पर अपेक्षाकृत अनुपयुक्त भवन है, और आधुनिक हिन्दी पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। पुस्तकालय के समस्त सदस्यों को उसकी व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार था। पर इधर विभिन्न संस्थाओं को हथियाने का जो आन्दोलन चला है, उसी के अन्तर्गत संस्था की एक बैठक में विधान में यह परिवर्तन किया गया कि कार्यकारिणी के तीन-चौथाई सदस्य केवल मारवाड़ी रहेंगे। इसकी एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई कि कुछ लोगों ने कहा कि नारा यह लगना चाहिए कि कानपुर में केवल कानपुर जिले के लोग ही रहेंगे। ज़ाहिर है कि इस प्रकार की क्षुद्र और संकीर्ण मनोवृत्तियाँ हमारे भीतर गहरे पैठ गयी हैं और वे विभिन्न रूपों में सामने आती रहती हैं तथा पुस्तकालय जैसे बौद्धिक-सांस्कृतिक केन्द्र भी उनसे बच नहीं पाते।

यह मौसम, ये मीठे फल और लखनउवा रहन-सहन!

भक्तिकाल के अन्त और रीतिकाल के प्रारम्भ में एक हिन्दी कवि हुए हैं, सेनापति। उन्होंने लिखा है 'जेठ की दुपहरी कि मानो अधरात हैं', इसकी सार्थकता उस दिन समझ में आयी, जब मेरे मित्र ने ठीक एक बजे कानपुर से लखनऊ (जीप द्वारा) चलने की सोची। उनके बहुत से तर्कों में से एक तर्क यह भी था कि इस समय रास्ता एकदम खाली मिलेगा और हम लोग एक घण्टे में ही लखनऊ पहुँच जायेंगे।

रास्ता सचमुच ही एकदम सुनसान 'अधरात' का, अन्तर इतना ही कि 114 डिग्री 'टेंपरेचर' की लू के जो थपेड़े लग रहे थे, वे इस आश्वासन से भी कमजोर पड़ते नहीं महसूस होते थे कि लखनऊ पहुँचते ही सफेदा खरबूजा मिलेगा, जो इतनी लू चलने के कारण जरूर मीठा हो गया होगा। खरबूजा विशेषज्ञों का कहना है कि लू जितनी ही चलती हैं—खरबूजा उतना ही अधिक मीठा होता है। और इसी कारण जब 21 मई को कुछ पानी बरस गया, तो गर्मी से राहत पाने पर भी कुछ शौकीनों ने अफसोस ज़ाहिर किया कि खरबूजे की फसल को नुकसान पहुँचेगा। यह आप लोगों को शायद न मालूम हो कि लखनऊ के नफासत पसन्द नवाब (लखनऊ में कोई एकाध नवाब नहीं रहता था—इसे बहुवचन मानकर चलें) अपने घरों के जेवर और बर्तन गिरवी रखकर सफेदा खरबूजा खाया करते थे। सुनते हैं कि एक साल जब किसी विदेश-यात्रा में रवीन्द्रनाथ को आम नहीं मिले, तो उन्होंने कहा था कि इस वर्ष को मैं अपनी जिन्दगी में गिनना पसन्द नहीं करूँगा। रवीन्द्र-प्रशंसक नाराज न हों, जो उनसे भी पहले लखनउवा लोगों ने इसे जीवन में ढाल लिया था। बहरहाल अब न तो वे नवाब रहे और न वे शौकीन उगाने वाले, पर जिसने पिछले 10-12 वर्षों में सब्जीमण्डी के चक्कर लगाये हैं, वह जानता है कि मण्डियाँ खरबूजों के लिए छोटी पड़ गयी हैं; कानपुर की स्टेशन रोड पर सवेरे निकलना कठिन हो जाता है। प्रदेश भर में कहीं लखनऊ के सफेदे की धूम है और कहीं कानपुर-फर्रुखाबाद के मटियार वाले मोहते हैं, इलाहाबादी 'कजला' अपना अलग ही स्वाद रखता है। शाम होते-होते यह सारा माल गायब हो जाता है। नवाब भले न हों, पर खाने वाले हैं और उनके लिए उगाने वाले भी। इसलिए अगर आप खरबूजे के, आम के, लीची के, तरबूज के शौकीन हैं, तो फिर इन धूल भरे अन्धड़ों, इस थपेड़ेवाली लू और इन उमसवाली रात से कतई नहीं घबरा सकते। गर्मी के मजे लेना लखनऊ ही जानता है। 'एयरकण्डीशण्ड ऑफिस' या 'कूलर लगा कमरा' गर्मी के आनन्द का बाधक है। सवेरे सब्जीमंडी से दशहरी और सफेदा लाएँ; दोपहर में फालसे का ताजा शरबत, शाम को दूधिया ठण्डाई और फिर चिकन का कुरता, पायजामा (या धोती और रेशमी कुरता) तथा नागरा जूता पहनकर लखनऊ के 'पार्कों' की हवा खाई गयी—यानी मौसम की गरमी भी अनुभव होती रही और उसकी तेजी को भी कम करते रहे। यही गर्मी का असली मजा है; और इसे लखनऊ में आकर सीखिए।

धर्मयुग : 9 जुलाई, 1961

लखनऊ का यंग पेण्टर ग्रुप

उस दिन हजरतगंज में कुछ चक्कर काटने के बाद ऊबकर कॉफी हाउस में जा बैठा। सोचा था कि एक प्याली गरम कॉफी पीकर कानपुर वापस लौट जाऊँगा। पर तभी भाई ठाकुरप्रसाद सिह से चित्रकला की चर्चा होने लगी और मैंने लखनऊ में 'यंग पेण्टर्स ग्रुप' की चर्चा की। वे भी जैसे चमक उठे और दूसरी मेजों से 3-4 आदमी उठा लाये। उस सारी औपचारिक-अनौपचारिक बातों की चर्चा बेकार होगी। बस यों समझें कि वहाँ से उठकर सीधे कलाकार जे.एन. सिंह के साथ ही उनके स्ट्रडियो जा पहुँचे। उसके बाद के तीन घण्टे कलालोक-निवास के थे। जे.एन. सिंह, नजमुल हसन और श्रीमुनि सिंह की कृतियों ने सारी थकावट दूर कर दी—मन एक अहेतुक उल्लास से भर उठा।

मौलिक चित्रकार : जे.एन. सिंह

जे.एन. सिंह नितान्त मौलिक कलाकार हैं। लखनऊ आर्ट स्कूल में उन्हें दाखिला मना कर दिया गया था; और फिर वे द्रोणाचार्य की प्रतिमा भी नहीं पा सके। पर इस कृति में इतना कुछ कहने के लिए भरा था कि बिना गुरुदीक्षा के ही उन्होंने अपने आप अपने शिल्प को विकसित किया—माध्यमों के प्रयोग किये और आज भी प्रयोगरत यह प्रौढ़ कलाकार अपनी कला को अपेक्षित मेच्योरिटी दे सका है। चित्र (मुख्य रूप से लाइन ड्राइंग) मूर्ति, तार, लकड़ी, कैमरा आदि विविध माध्यमों से उन्होंने अपने को, अपने चतुर्दिक फैले जीवन को उसके साधारण-असाधारण क्षणों में पकड़ा है। सिंह भावमुद्राओं एवं गति की लय के चित्रण में असाधारण रूप से दक्ष हैं। यह बात फोटोग्राफी के माध्यम से की गयी 'न्यूज स्टडीज' में भी देखी जा सकती है तथा लकड़ी, तार या प्लास्टर ऑफ पेरिस में अंकित मूर्त बिम्बों में भी। लकड़ी में अनायास 'घुणाक्षरन्याय' वाली आकृतियों के अनुरूप उसे तराश कर उन्होंने जो आकार प्रदान कर दिये हैं, वे सम्पूर्ण रूप से गति के व्यंजक हो गये हैं। वास्तव में अपने शिल्प में वे सर्वत्र रेखाओं के धनी हैं। एक ओर 'बछड़ा' या 'सुनहरा मृग' यथार्थ की सही प्रतिमाएँ हैं, तो दूसरी ओर 'योद्धा', 'बेकारी', 'शोक' आदि के साक्षात प्रतीक हैं। नकाब चित्रों में उनकी कल्पना अत्यन्त ऐब्सट्रेक्ट रूपों

की ओर गयी है। वास्तव में उनमें 'अरूप' एवं 'सरूप' का अद्भुत सम्मिलन है। आदेश (The Command) उनके मूर्ति-शिल्प का श्रेष्ठतम उदाहरण माना जा सकता है। चुपचाप काम करते जाने वाला यह कलाकार हमारे सर्वोत्तम 'शिल्पकारों' में गिना जा सकता है। उसमें एक दुर्लभ-सा क्लासिकल स्पर्श हम पाते हैं।

उत्साही चित्रकार : नजमुल हसन

नजमुल 'यंग पेण्टर्स ग्रुप' के सदस्य हैं—अत्यन्त मस्त और उत्साह से भरे। मौलवी के घर में पैदा हुए इस व्यक्ति में कलाकार की वह तटस्थता है, जिसके आधार पर उसने 'अलीगढ़' शीर्षक जैसा शक्तिशाली चित्र बनाया है। 'अलीगढ़' में मुसलिम साम्प्रदायिकता को एक चेहरे के प्रतीक के माध्यम से उपस्थित किया गया है। विभिन्न रंगों के द्वारा आकार प्राप्त इस चित्र में साम्प्रदायिकता की वीभत्सता, संहारकता एवं विकृति इतनी स्पष्ट है कि देखते ही दर्शक उसके संकेतों से जैसे दहल उठता है। इसी प्रकार 'खजुराहो' शिल्प के प्रभाव के तले कतिपय रेखाओं के द्वारा 'हर-गौरी' का जो युगनाद रूप उसने चित्रित किया है, वह भी अपनी बोल्डनेस के लिए प्रशंसनीय है। 'अन्तरिक्ष अवधारणा' (Spatial Concept) पर उनके कई चित्र हैं, जो लेखक की व्यापक कल्पनाशीलता ही नहीं, आधुनिकता के भी द्योतक हैं। नजमुल वस्तुतः आधुनिक कलाकार हैं—अपने शिल्प में भी और कथ्य में भी। सिंह यदि रेखाओं के धनी हैं तो नजमुल रंगों के। गहरे रंग जैसे हरा, समुद्रनील, सिन्दूरी, चमकदार लाल उनके प्रिय रंग हैं। इस समय उन पर वानगॉग का गहरा प्रभाव है।

पुरानी शैली के चित्रकार : श्रीमुनि सिंह

नजमुल के नितान्त विपरीत श्रीमुनि सिंह के चित्र हैं। वे पुरानी शैली के चित्रकार हैं—पर पुराने विषयों के नहीं। मुगल और राजपूत-कांगड़ा शैलियों के समन्वय पर चित्रित उनके चित्र आधुनिक बात को पुराने शिल्प में कहना चाहते हैं और यह अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। वाजिदअली शाह पर सृजित उनकी चित्रावली, धर्मशाला लैण्डस्केप एवं ज्वालामुखी मन्दिर उनके श्रेष्ठतम चित्रों में से हैं।

लखनऊ छोटा शहर है और बदकिस्मती से प्रदेश की राजधानी भी। परिणामस्वरूप यहाँ दिखाई पड़ सकने वाली मुख्य कार्यवाही राजनैतिक ही लगती है। पर उस दिन ऐसा लगा कि जैसे कुहरे से एक नया शहर (श्री जे.एन. सिंह के एक फोटोग्राफ के अनुसार) एक नयी जिन्दगी उभर रही है; और ये और इनके जैसे अन्य कलाकार उस नगर के श्रेष्ठतम नागरिक हैं, प्राण हैं, जो लखनऊ को राजनीति के बाँध तोड़ प्रवाह और बाढ़ से बचा ले जायेंगे।

धर्मयुग : 20 अगस्त, 1961

कुटीर उद्योग और कलात्मक अभिरुचि

कुटीर उद्योगों में गाँधी जी की जो रुचि थी और उनके विकास के लिए उन्होंने जो कुछ किया, वह सर्वविख्यात है। यह हर्ष और सन्तोष का विषय है कि आज का शिक्षित समाज ज्यादा से ज्यादा संख्या में कुटीर उद्योगों को कलामक अभिरुचि के प्रतीक के रूप में स्वीकार करता जा रहा है।

इधर स्वतन्त्रता के बाद भारतीय लोक रुचि में एक विचित्र परिवर्तन हुआ है—पहले लोग भीतर से पुराने संस्कारों वाले होते थे और ऊपर पश्चिमी शैली के चित्रों तथा फर्नीचर, पर्दों और सजावट की चीजों में विदेशी शैली का अनुकरण किया करते थे। पर अब भीतर से हम लोग पश्चिम को आत्मसात कर रहे हैं एवं ऊपर से भारतीय कला (शिष्ट और लोक दोनों ही) के पैटर्न को अपनाने की चेष्टा कर रहे हैं। देश के भिन्न-भिन्न भागों में फैले शानदार हैण्डीक्रैफ्ट एम्पोरियम, विशालकाय हैण्डलूम हाउस एवं आकर्षक खादी भवन तथा ग्राहकों से भरे इन सबके कक्ष इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। एक दूसरा तथ्य इस सम्बन्ध में याद रखने लायक है कि पहले सजावट की प्रवृत्ति ऊपरी वर्ग तक सीमित थी; अब यह निम्नमध्य वर्ग तक पहुँच गयी है—भले ही बीवी की फटी साड़ी के पर्दे बनाकर ही इस रुचि को क्यों न सन्तुष्ट करना पड़े। इन दोनों तथ्यों ने मिलकर बड़ी मात्रा में सुरुचिपूर्ण भारतीय कला-पैटर्नों में निर्मित वस्तुओं के लिए एक बाजार उपस्थित कर दिया। कुछ ही दिनों में कुछ विशेष डिजाइनों से बाजार पट गये; कुछ अश्लील अमरीकन डिजायनें भी सिनेमा की कृपा से आने लगीं। समझदार लोगों ने स्टैण्डर्ड एवं सुरुचि सम्पन्न डिजाइनों की आवश्यकता का अनुभव किया। सरकार भी अपनी मन्थर गति में इस आवश्यकता को सूँघ सकी और परिणामस्वरूप ऐसे सेण्टर स्थापित हुए, जिनमें से कि एक में उस दिन मैं लखनऊ में अचानक ही घुस गया था यानी कि सेण्ट्रल डिजाइन सेण्टर।

बहुधा सरकारी विभागों की प्रकृति के विपरीत मेरी पूछताछ का, सेण्टर में काम

करने वाले लोगों ने, समुचित उत्तर दिया। मालूम हुआ कि वस्त्र-छपाई, वस्त्र-धुलाई, चीनी-पात्र, धातु-पात्र तथा काष्ठ-कला के पाँच विभाग हैं तथा इनमें उपयोगी या सजावट की चीजों के लिए नये-नये डिजाइनों को विकसित किया जाता है। डिजाइन के विकास में इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि एक ओर तो वस्तु के अपने उपयोग में बाधा न पड़े (यानी कि कॉफी के प्याले से सचमुच ही कॉफी पी जा सके) तथा भारतीय लोक-कला या शास्त्रीय कला के पैटर्न या मोटिफ भी उपस्थित किये जा सकें। सब मिलाकर कला के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास इससे सम्भव है। यह काम वस्तुतः आवश्यक तो है, पर कठिन कम नहीं है। जिन्हें हम कला की निधि समझते हैं, उन अजन्ता के मोटिफों को कॉफी सेट या परदे के कपड़े या लैंप स्टैण्ड में उतार देना—यह क्षुरस्य धारा पथ ही है। पर मैं सेण्टर के कलाकारों को बधाई देना चाहता हूँ कि उन्होंने इस पथ को पार किया है। कॉफी सेट पर अजन्ता के हाथी का मोटिफ अत्यन्त आकर्षक और जानदार बन पड़ा है।

इसी प्रकार सजावट के लिए मैनपुरी शैली में तारकशी के काम में चित्रित 'नृत्य मण्डली' उत्कृष्ट डिजाइन का नमूना उपस्थित करती है। लोककला में पर्दे के कपड़े में छापने के लिए 'माँ और शिशु' की डिजाइन किसी भी श्रेष्ठतम विदेशी डिजाइन के समक्ष रखी जा सकती है। साँची क्रा स्तूप, ताजमहल, विजयस्तम्भ, कुतुबमीनार, मन्दिर-द्वार आदि को एक पर्दे के डिजाइन में एक साथ उपस्थित करके मानो कला की निधियों को जनता में बिखेरने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार नये-नये आकारों को विकसित करने का, प्रयास भी काष्ठकला, चीनी-मिट्टी-पात्र एवं धातु-पात्र विभागों में दिखाई दिया। चीनी-मिट्टी का गमला और उसमें अंकित मोहनजोदड़ो का वृषभ, पीतल के रंगीन बर्तन, नयी डिजाइन का लकड़ी का फर्नीचर एवं सजावट का सामान, पीतल का झाड़ और प्लेट, लकड़ी की ट्रे या ऐश ट्रे और उसका तारकशी का काम, बुना हुआ परदा आदि (जिनमें से कुछ के चित्र यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं) इस डिजाइन सेण्टर में विकसित डिजाइनों के कुछ उम्दा नमूने हैं।

पूछने पर ज्ञात हुआ कि डिजाइन-निर्माण के पश्चात उसे उत्पादन-विशेषज्ञ एवं अन्य कला-मर्मज्ञ पास करते हैं, उसके बाद वह डिजाइन सम्बन्धित वस्तु के उत्पादन-केन्द्रों में उत्पादन के लिए भेज दी जाती है। वहाँ पर बड़ी मात्रा में तैयार करके वह बाजारों में बिकने के लिए आ जाती है। यह सुनकर, डिजाइन सेण्टर के कार्य से प्रभावित, देवीशंकर अवस्थी बाहर यह संकल्प लेकर निकले कि अभी हजरतगंज के हैण्डीक्रैफ्ट एम्पोरियम से हाथी वाला कॉफी का सेट खरीद लेंगे एवं 'माँ और शिशु' वाला पर्दे का कपड़ा तथा कुछ अन्य सजावट की चीजें अपने ड्राइंगरूम के लिए खरीदेंगे (गोकि अपने पाठकों को इतना मैं बता देना चाहता हूँ कि देवीशंकर अवस्थी के पास कोई ड्राइंगरूम नहीं है; हाँ, उनको यह विश्वास है कि जब पर्दे, सोफासेट, सजावट की चीजें हो जायेंगी, तो फिर ड्राइंगरूम अपने आप

हो जायेगा। ठीक भी है—रही बात थोड़ी जीन, लगाम, घोड़ी। एक सज्जन को घोड़ी खरीदनी थी, उसके लिए दाना, भूसा रखने की जगह, बाँधने की रस्सी आदि सबकी व्यवस्था कर ली; केवल जीन, लगाम और घोड़ी ही रह गयी थी।) पर लखनऊ का हजरतगंत ही नहीं, तब से दिल्ली की हर दुकान में वे इन डिजाइनों को ढूँढ़ रहे हैं; मिली अब तक नहीं हैं। अब आभास यह हो रहा है कि डिजाइन सेण्टर डिजाइनों का म्यूजियम बना रहा है और उत्पादक अपनी कला-क्षमता के आगे इन डिजाइनों को बाजार में लाने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। पर यही तो सरकारी विभागों की कार्य-पद्धति है—स्वतन्त्रता के बाद 'आटोनामी' भी तो आयी है। 'गोपी का काम निराला' : हर विभाग अपनी गजगति पर चले—अजन्ता गज मोटिफ तो इस पद्धति में स्वीकार हो गया; अलग से चित्रित करने की क्या आवश्यकता?

धर्मयुग : 1961

बाड़ा अंग्रेजी के चारों ओर बनाइए, हिन्दी के नहीं!

(अंग्रेजी की रक्षा के लिए एक तर्क और एक योजना)

(हिन्दी और अंग्रेजी की समस्या पर हम विद्वान समीक्षक डॉ. अवस्थी की यह प्रतिक्रिया सादर प्रस्तुत कर रहे हैं। इस टिप्पणी के प्रारम्भिक अंश को पढ़ने से पहले यह धारणा बनती है कि मानो वे हिन्दी के आन्दोलन के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन पूरी टिप्पणी पढ़ने के बाद आप पाएँगे कि उनको चिन्ता यह है कि हिन्दी को प्रतिष्ठित करने की बात केवल आवेग या भावना से न कही जाये, तर्क और सन्तुलित चिन्तन के साथ कही जाये और अंग्रेजी के प्रति अनावश्यक भय का परित्याग कर उसे उतना ही महत्त्व दिया जाये, जो उपयोगी हो—न उसका अनावश्यक आधिपत्य हो, न उसके प्रति अनावश्यक भयजन्य आक्रोश। यह ठीक ही है।

उन्होंने स्वयं इस बात का संकेत किया है कि यह आवेश सम्भवतः इसी कारण है कि उच्च पदीय शासक, वयोवृद्ध नेता और बड़े अखबार अपनी सारी शक्ति का दुरुपयोग हिन्दी से उसका न्यायपूर्ण अधिकार छीनने में कर रहे हैं। 'अंग्रेजी हटाओ' की बात भी जहाँ कही गयी है, वहाँ उसका तात्पर्य यही है कि जिन अनधिकारपूर्ण स्थानों पर छलबल से अंग्रेजी प्रतिष्ठित कर दी गयी है, वहाँ से 'अंग्रेजी हटाओ' और भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठित करो। जब महात्मा गाँधी ने अंग्रेजों से कहा था 'भारत छोड़ो' तो यह नहीं कहा था कि वे यात्री, सामान्य नागरिक या विशेषज्ञ या मित्र बन कर भी यहाँ नहीं रह सकते। उन्होंने यही कहा था कि भारतीयों के जन्मजात अधिकारों को हड़प कर जहाँ अंग्रेज बैठे हैं, वहाँ से उन्हें हटाना ही होगा।

डॉ. अवस्थी ने अन्त में कहा है कि हिन्दी वाले अंग्रेजी को घर की सुरक्षा देना चाहते हैं, बशर्ते वह घर की मर्यादा मान कर अपनी सीमा के अन्दर रहे। यह दृष्टिकोण अत्यन्त उचित है। हम तो यही प्रयास कर रहे हैं कि हिन्दी को पहले अपने घर में इतना अधिकार तो मिले कि वह

दूसरी भाषा की सुरक्षा की व्यवस्था कर सके। अभी तो हिन्दी पन्त जी के शब्दों में–'अपने ही घर में प्रवासिनी' है। **–सं. धर्मयुग)**

सोचता था कि 'धर्मयुग' सम्पादक को बधाई देनी चाहिए–*हिन्दी के प्रश्न पर एक देशव्यापी आन्दोलन के लिए।* पर इस आन्दोलन का रूप बहुत कुछ 'गोरक्षा आन्दोलन' की शक्ल ग्रहण करता जा रहा है। नाना प्रकार के आग्रही, दुराग्रही, सुआग्रही व्यक्ति साहित्यिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राष्ट्रीय, प्रजातन्त्रीय, तानाशाही, बहुमती, जनमती, उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी, पश्चिमी आदि तक दे रहे हैं। किसी को हिन्दी अंग्रेजी से हारती प्रतीत होती है और किसी को हिन्दी वालों से ही। कोई उसमें न्यस्त स्वार्थों की बात उठाता है, तो कोई राष्ट्रीय एकता का सपना साकार होता देखता है। यों, चर्चा का यह रूप अस्वाभाविक इसलिए नहीं है कि इस देश के स्वर्गीय प्रधानमन्त्री नेहरू जैसे लोकप्रिय नेता और शक्तिशाली शासक, राजाजी जैसे आदरास्पद वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ, 'स्टेट्समैन' जैसे सन्तुलित अखबार (एवं ऐसे ही तमाम उच्च पदस्थ व्यक्ति या संस्थाएँ) बराबर हिन्दी पर शर-सन्धान करने के लिए आतुर रहते हैं, मौके की तलाश में रहते हैं और मारते रहते हैं। सम्भवतः इसी की प्रतिक्रिया में महारथियों से लेकर पदाति सैन्य के शूरमाओं तक की यह सेना व्यूह बाँध कर खड़ी हो रही है हिन्दी के चारों ओर। पर कभी-कभी लगता है कि यह व्यूह, विरुद्ध-व्यूह की अपेक्षा, कहीं अधिक दिग्भ्रमित और अपने लक्ष्य तथा कार्यक्रम के बारे में अस्पष्ट है। इससे भी अधिक खेदजनक बात है कि इस भ्रम और अस्पष्टता में हमें अंग्रेजी के हिमायती ढकेलते हैं अपने शब्दजाल से और हम उसके शिकार भी सुविधा से बन जाते हैं। 'लिंगुआ फ्रैंका', 'ऑफिशियल लैंग्वेज', 'नेशनल लैंग्वेज', 'स्टेट लैंग्वेज', 'लिंक लैंग्वेज', 'एसोशिएट लैंग्वेज' जैसे कितने ही शब्दों का निश्चित, अनिश्चित प्रयोग किया जाता है। शिक्षा के माध्यम को लेकर विचित्र-विचित्र तर्क दिये जाते हैं और इन सबकी उचित परीक्षा किये बगैर, एक भावुक आवेग से प्रदीप्त होकर, हम भी तर्क देते हैं या निराशा प्रकट करते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात सबसे अधिक भुला दी जाती है कि हिन्दी 'गऊ' नहीं है, जो उसकी रक्षा के लिए बाड़े बनाये जायें और इसे 'धर्मयुद्ध' के स्तर पर लाकर 'अंग्रेजी हटाओ' का नारा निनादित किया जाये। हिन्दी के लिए यह भी सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है कि उसके बोलने वाले कितने प्रतिशत हैं, और न अब तर्क देने की आवश्यकता है कि 'लिंगुआ फ्रैंका', 'ऑफिशियल लैंग्वेज', 'लिंक लैंग्वेज' आदि की सभी परिभाषाओं में हिन्दी समर्थ रूप से चाकचौबन्द बैठती है। अंग्रेजी से भयभीत होने की भी उसे आवश्यकता नहीं है। अंग्रेजी के पक्षधरों के वक्तव्यों की, अगर सतर्क मीमांसा कीजिए, तो पिछले एक-दो वर्षों से उनमें एक ऐसा स्वर व्यक्त होने लगा है, जो यह बता रहा है कि वे एक हारती हुई लड़ाई लड़ रहे हैं। इन

लोगों की मोर्चेबन्दी अब केवल एक बिन्दु पर है कि अंग्रेजी को अधिक से अधिक समय तक और अधिक से अधिक क्षेत्रों में बनाये रखा जाये। इसीलिए आवश्यकता इस बात की है कि अंग्रेजी को अधिक से अधिक सीमित क्षेत्रों के भीतर रहने को विवश किया जाये। बाड़ा अंग्रेजी के चारों ओर बनाया जाना चाहिए न कि हिन्दी के।

परन्तु इस कार्य को करने के पहले अंग्रेजी की शक्ति, आवश्यकता एवं अनिवार्यता को भी अनाविल चित्त से विचार लेना चाहिए। अंग्रेजी वाङ्मय की शक्ति से हम सभी परिचित हैं। शास्त्र-ज्ञान हो या रसात्मक साहित्य, अंग्रेजी संसार की समृद्धतम भाषा मानी जा सकती है। सब मिलाकर उसके बोलने, समझने या व्यवहार में लाने वालों की संख्या भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शायद सर्वाधिक है। हम हिन्दी के लेखक भी अंग्रेजी के माध्यम से यथेष्ट शक्ति अर्जित करते आये हैं या कि चिन्तन-मनन के लिए प्रेरणा लेते आये हैं। काव्यरूप, शैली-शिल्प, समीक्षा-पद्धतियों, दर्शन और विचार, ज्ञान-विज्ञान के विविध रूप और सूचनाएँ—ये सब हमें अंग्रेजी के माध्यम से मिलते आये हैं। यहाँ तक कि अपने देश के बारे में भी हमारा अधिकांश ज्ञान अंग्रेजी के माध्यम से ही उपलब्ध हुआ है। अतः अपने होशोहवास से दुरुस्त शायद ही कोई हिन्दी लेखक होगा, जो इस स्रोत से अपने को काट लेना चाहेगा। बल्कि अब तो आकांक्षा यह बढ़ती जा रही है कि इस स्रोत के अतिरिक्त अन्य स्रोतों—यथा रूसी, फ्रेंच, स्पैनिश आदि—को भी अधिक से अधिक अपने देश के बौद्धिक-प्रवाह से जोड़ने की चेष्टा की जाये।

इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्व. प्रधानमन्त्री नेहरू और उन्हीं की तरह सोचने वाले बहुत से लोग अकसर हवाला देते रहते हैं कि संयुक्त अरब गणतन्त्र या जापान या अन्य किसी देश में अंग्रेजी का पढ़ना अनिवार्य कर दिया गया है या कि रूस जैसे देश में भी अंग्रेजी का प्रचार पिछले दिनों बहुत बढ़ा है। और इस तर्क के आधार पर हिन्दी या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के हिमायतियों की संकीर्णता सिद्ध की जाती है। परन्तु वस्तुतः यह तर्क तनिक परीक्षा करने के बाद बूमरैंग सिद्ध होता है और इन अंग्रेजी के हिमायतियों पर ही प्रहार करता है।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, जानबूझ कर कुहासा इन अंग्रेजीपरस्त लोगों द्वारा पैदा किया जाता है। बहुधा अधूरी बात या अधूरी सूचना के माध्यम से यह मिथ्या सृष्टि खड़ी की जाती है। यहीं यह कह देना भी प्रासंगिक होगा कि झगड़ा इस बात में नहीं है कि 'सरकारी कामकाज किस भाषा में हो'; बल्कि द्वन्द्व का वास्तविक क्षेत्र शिक्षा है—वहाँ किसका प्रभुत्व रहे; या यों कहें कि शिक्षा का माध्यम क्या हो? क्योंकि आगे के सारे परिवर्तन इसी पर निर्भर हैं। संयुक्त अरब गणतन्त्र, रूस या जापान का उदाहरण देने वाले ये शूरवीर यह बताना भूल जाते हैं कि इन देशों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है और अंग्रेजी का प्रचार या अनिवार्य अध्यापन एक अलग विषय के रूप में स्वीकृत है।

अभी हम स्वयं ऊपर कह चुके हैं कि अंग्रेजी के स्रोत से हम कटना नहीं

चाहते; हम अंग्रेजी पढ़ते हैं, और अधिक पढ़ना चाहते हैं। पर सवाल है कि किस रूप में? यही वह स्थान है, जहाँ पर अंग्रेजी को बाड़ाबन्द करने की आवश्यकता है। अंग्रेजी पढ़ाई जाये; अच्छे से अच्छे अध्यापकों द्वारा पढ़ाई जाये; आवश्यकता पड़े तो अंग्रेज अध्यापकों को बुलाकर पढ़वाई जाये; उसके ऊँचे स्तर को बराबर बनाये रखा जाये। परन्तु यह सारा अध्यापन एक अलग विषय के रूप में होना चाहिए। बल्कि हम तो यहाँ तक स्वीकार करने को तैयार हो सकते हैं कि अंग्रेजी के समस्त अच्छे विद्यार्थियों को विशेष छात्रवृत्तियाँ दी जायें। पर शिक्षा-माध्यम के रूप में उसका स्वीकरण घातक भी है और अनावश्यक भी। जिस व्यक्ति को हायर सेकेण्डरी पास करके किसी दफ्तर में क्लर्क बनना है, दुकान पर बैठना है या किसी शिल्पिक व्यवसाय में लग जाना है, उसके लिए अंग्रेजी की आवश्यकता का प्रतिपादन तो पं. नेहरू भी नहीं कर पाते थे। अतः उच्चतर माध्यमिक स्तर तक शिक्षा-माध्यम के लिए अंग्रेजी अनावश्यक भार प्रतीत होती है।

तब प्रश्न उठता है कि विश्वविद्यालय-स्तर पर शिक्षा का माध्यम क्या हो? राजाजी और उनके तमाम भाई-बन्धु कहेंगे—'अंग्रेजी'; इसलिए कि उच्चतर क्षेत्रों में बिना उसके कार्य नहीं चलेगा। आप पूछ सकते हैं क्यों? उनका सहज उत्तर होगा कि उच्चतर ज्ञान-विज्ञान आपकी भाषाओं में नहीं है, इसलिए अंग्रेजी अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। यही नहीं, इसी भूमि पर खड़े होकर वे एक गहरा वार और करना चाहेंगे कि अचानक विश्वविद्यालय-स्तर पर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने से अड़चन होती है। स्तर गिरता है, अतः माध्यमिक स्तर से ही अंग्रेजी को माध्यम के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए; और अगर सारे राज्य तैयार नहीं होंगे, तो वे लोग एक 'सेण्ट्रल बोर्ड ऑफ सेकेण्डरी एजुकेशन' बना लेंगे, जो सारे देश में एक अभिजात वर्ग पैदा करने के लिए अंग्रेजी माध्यम वाला सेकेण्डरी सिस्टम चालू कर देगा। उसी से निकले हुए विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में अच्छे अंक प्राप्त कर सकेंगे; एवं इस प्रकार वर्ग और समूह का सिद्धान्त अक्षुण्ण बना रहेगा। अगर आप तर्क दें कि माध्यम के रूप में हिन्दी आदि का प्रयोग प्रारम्भ कीजिए—उनमें ज्ञान-विज्ञान धीरे-धीरे उपलब्ध हो जायेगा, *तो यह तर्क जितने समय की माँग करता है, उतना आज की आपाधापी वाली जिन्दगी में कोई देने को तैयार नहीं है?* वस्तुतः यह किसी अंग्रेजीपरस्त का तर्कमात्र नहीं है—यह एक गम्भीर समस्या है, जिसे सीधे मुँह पकड़ने की आवश्यकता है। जिस द्रुतगति से विज्ञान आगे बढ़ रहा है उसे देखते हुए 10-15 वर्ष पीछे हो जाने के अर्थ सामान्य नहीं होंगे। *इसी कारण आवश्यकता एक ऐसे कार्यक्रम की है जो एक ओर अंग्रेजी से कटने भी न दे और दूसरी ओर इस देश की भाषाओं को भी समृद्ध करे। समस्या अंग्रेजी हटाओ की नहीं है, बल्कि अंग्रेजी को उसके उपयुक्त स्थान पर केन्द्रित करने की है। समस्या है कि हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं को अपना दायित्व निबाहने का अवसर मिले तथा देश की बौद्धिक सम्पदा की क्षति भी न हो।*

इस सम्बन्ध में अगर एक बात साफ हो जाये कि किसी विषय या वस्तु का ज्ञान-ग्रहण और उसकी अभिव्यक्ति दो अलग-अलग प्रक्रियाएँ हैं, तो समस्या कुछ सुलझ सकती है। रस-साहित्य के क्षेत्र में हम सभी जानते हैं कि भारतीय लेखकों ने अंग्रेजी से कितना ग्रहण किया है, पर उनकी अभिव्यंजना का माध्यम अंग्रेजी न होकर भारतीय भाषाएँ रही हैं। क्या यही ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में सम्भव नहीं है। मेरा अनुमान है कि इसकी सम्भावना वहाँ पर और अधिक है। अगर उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में एक अलग विषय के रूप में अंग्रेजी भाषा (साहित्य नहीं) का अच्छा ज्ञान प्राप्त कराया जा सके, तो कोई कारण नहीं है कि विश्वविद्यालय-स्तर पर मातृभाषाओं के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करते हुए भी इन विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता में कोई अन्तर पड़े। अध्यापक और विद्यार्थी अंग्रेजी के माध्यम से अधिकाधिक ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करते रहेंगे; (क्योंकि इस भाषा की समझ उन्हें हो चुकी होगी) पर उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम अपनी-अपनी भाषाएँ होंगी। रट्टू तोता मार्का विद्वानों को अलग कर दिया जाये, तो सच्चाई यह है कि इससे पढ़ने-पढ़ाने में अधिक सुविधा होगी। और इसी प्रक्रिया में भारतीय भाषाएँ भी अधिकाधिक समृद्ध होती जायेंगी। यों जहाँ तक उच्चतर शुद्ध विज्ञान का प्रश्न है, सभी जानते हैं कि उसमें एक नयी प्रतीक भाषा का प्रयोग बराबर बढ़ता जा रहा है और अंग्रेजी, हिन्दी या रूसी जैसी संज्ञाएँ वहाँ निरर्थक-सी लगने लगती हैं। वहाँ पर झगड़ा कोई नहीं खड़ा करता। पर वहाँ तक पहुँचने के रास्ते की जो भाषागत प्रक्रिया है, उसके लिए क्या हो?

हम समझते हैं कि अब इसकी जोरदार माँग होनी चाहिए कि माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी का स्तरीय ज्ञान उन विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य कर दिया जाये, जो विश्वविद्यालयों में जाने के अभिलाषी हैं—अभिलाषी अपनी योग्यता के आधार पर, पिता के पद या सम्पत्ति के आधार पर नहीं। पर शिक्षा का माध्यम प्रारम्भ से लेकर विश्वविद्यालय पर्यन्त मातृभाषा ही रहे। अंग्रेजी के अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए देश में सौ-पचास संस्थाएँ इस प्रकार की खोली जायें, जिनमें कि विदेशी भाषा के रूप में अंग्रेजी को पढ़ाने का प्रशिक्षण दिया जाये। विश्वविद्यालय-स्तर पर भी प्रत्येक वर्ष तीन-चार सप्ताह का एक विशेष पाठ्यक्रम विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य कर दिया जाये, जिसमें कि उन्हें अंग्रेजी भाषा-सम्बन्धी रिफ्रेशर कोर्स दिया जाये। शर्त केवल इतनी है कि तत्काल शिक्षा का माध्यम, प्रश्नपत्रों के उत्तर देने का माध्यम हिन्दी एवं प्रादेशिक भाषाएँ घोषित की जायें।

इतना फिर दुहरा रहा हूँ कि रक्षणीय अंग्रेजी है और हम हिन्दी वाले भी उसके लिए एक घर के अन्दर की सुरक्षा देना चाहते हैं और इस घर की मर्यादा को उसे स्वीकार करना ही होगा।

धर्मयुग : 26 जुलाई, 1964

अनुभव का विराट विग्रह

अलाव जल रहा था। देवनारायण मामा बता रहे थे—'अवध के किसानन कै जाँच जवाहरलाल कइ रहे हैं। हम दूजने साथ-साथ घूमित रहे। भूख लागै तो जवाहिर लाल कहैं लाव चना और हम सबते जबरदस्ती लइके कुरता की खतैतिन (जेबों) मां भरी लेयं। हम पंच सकुचाईं कि इनके कपड़ा पेरिस मां धोए जात हैं औं ई भूंजे चना कैसे चबइहैं? मुला, बड़ी तागति (शक्ति) है—दुपहरिया की दुपहरिया जुटे रहत हैं कामे मां।' आदि आदि बातें मन्त्रमुग्ध की भाँति मैं सुनता रहता था—तब आठ-नौ साल का था। देवनारायण मामा से बार-बार नेहरू जी के बारे में पूछता—लगता कि मामा ऐसी दिव्य दृष्टि दे देंगे, जिससे मैं सम्पूर्ण जवाहरलाल को उपलब्ध कर लूँगा। तभी एक दिन बैलगाड़ियों में हम लोग लालगंज (जिला रायबरेली) के लिए चल दिये। बैलों के गले की घण्टियाँ बजती थीं और मुझे लगता था कि जवाहरलाल मेरी पीठ थपथपा देंगे। उनके रंग-बिरंगे चिह्न अपने आप उभरते थे—कुछ किंवदन्तियों एवं बड़े-बूढ़ों की चर्चा के कणों के आसपास मिश्री के डलों के समान बनते जा रहे थे। सूर्यास्त के आसपास वे आये। कुछ कह कर चले गये; और कुछ-कुछ नहीं याद, केवल एक शब्द 'विनोबा' अब तक कानों में गूँज रहा है। अब जानता हूँ कि सन् 40 के व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन के प्रथम सत्याग्रही विनोबा भावे की बात कही थी। पर शब्द नहीं, रूप मुझे याद है। मंच के निकट ही बैठकर उनको देखा था। छूने का मन हुआ था; पर छू नहीं पाया था। लौटते समय फिर घर वालों की कुछ बातें कानों में पड़ती रहीं और दूसरे दिन अपने मिडिल स्कूल के अंग्रेजी मास्टर से जाकर कहा कि नेहरू जी को मैं देख आया—उनका चेहरा लक-लक चमक रहा था—ब्रह्मचर्य का तेज था। उन्होंने मुझे डाँटते हुए कहा कि 'तुम मूर्ख हो—ब्रह्मचर्य के माने भी जानते हो कि खाली सुन आये हो।' माने तो अब जानने लगा हूँ; पर तब तो वह ऐसा गुण था, जिसे किसी भी अध्यापक के कहने से मैं छोटा नहीं कर सकता था और मैंने मन ही मन उन मास्टर साहब को गधा मान लिया था।

पाँच वर्ष और : 1945-46 : रायबरेली में पढ़ रहा था। परिवार का राजनीतिक वातावरण मेरे चारों ओर था। मैं भी स्थानीय स्टूडेण्ट कांग्रेस वगैरह का जिम्मेदार

पदाधिकारी था। एक दिन जेल से कुछ ही पूर्व छूटे हुए नेहरू जी ट्रेन से इलाहाबाद से लखनऊ जा रहे थे। रायबरेली का स्टेशन उनके जयघोष से आपूरित था। मैं भी अपने को बहुत महत्त्वपूर्ण नेता या व्यक्ति मानता हुआ स्टेशन पर व्यवस्थारत था। नेहरू जी आये : एक घुटन्ना और एक बाँहदार बनियाइन पहने। हँस-हँस कर पुराने साथियों से बातें करते रहे। लाल साहब ने चाय मँगा दी; पर भीड़ में भीतर न पहुँच सकी। मैं अपनी सारी महत्ता को भुलाए पास खड़ा केवल निहारता रहा और वे ट्रेन पर बैठ कर पुनः चले गये। सोचता रहा कि काश हैण्डिल पकड़ कर उसी डिब्बे में चला जाऊँ। पुराने चित्र में कुछ नया रंग भर लिया मैंने। पाया भी कुछ। शायद प्रेरणा, शायद भीड़ के भीतर अकेलेपन का भाव, शायद कुछ नहीं—मात्र भीड़ के जयघोष का एक निःशब्द रूप। शायद तब तक रूप ही नहीं शब्द को जानने-समझने के साथ उसे कार्यरूप में परिणत करना भी सीखने लगा था।

तब से 19 वर्ष होने को आये। नेहरू को कितनी बार देखा। सुना, पढ़ा। कभी रीझा कभी ऊबा। ऐसे भी अवसर आये; नगर में वे आये और मैं भाषण भी सुनने नहीं गया। क्यों? इसलिए कि वही घिसी-पिटी होंगी—कल अखबार में देख लूँगा। भाषा के बारे में उनका सोचना-विचारना मुझे हमेशा ऊलजलूल लगा। यह बराबर अनुभव करता रहा कि यह व्यक्ति ठोंक-ठोंक कर देश को आधुनिक बनाने में जुटा हुआ है। शायद वे अकेले व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस देश को आधुनिक बनाने में, पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों से छुटकारा दिलाने में सबसे अधिक योगदान दिया है। वैज्ञानिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता, समाजवाद, शान्ति जैसे नारों को उन्होंने भारतीय जीवन में प्रतिष्ठित किया है। 'मेरी कहानी' के संवेदनाशील वक्तव्यों को पढ़ कर उनके अकेलेपन का अहसास मुझे भी हुआ है। उनके संशयशील व्यक्तित्व में मुझे पूरे भारतवर्ष का बौद्धिक वर्ग बोलता लगा है। 'मेरी कहानी' भारतीय बुद्धिजीवी के मानसपटल का दर्पण है। पर मुझे यह भी लगा है कि जिन मूल्यों को यह व्यक्ति स्थापित कर रहा है, उन्हीं के साथ गलत सन्दर्भों को भी जोड़ देता है। अंग्रेजी बोलने के ऐक्सेंट पर बुद्धिमत्ता का विचार करना कहाँ की बुद्धिमानी है। शायद भाषा के प्रश्न पर देखा कि अखण्डता को नष्ट करने में भी उनका बड़ा हाथ आगे का इतिहासकार मानेगा। प्रजातन्त्र का इतना बढ़ा समर्थक ही भारतीय गणतन्त्र को एक प्रतिशत व्यक्तियों के हाथों सौंपने के षड्यन्त्र का अनजाने भागी बन रहा है। इस तरह उनके प्रति एक दुहरा भाव मेरे भीतर पिछले 15 वर्षों में बराबर बना रहा है; और मेरे मन पर कोई मूर्ति इन दिनों की अंकित नहीं है। मेरा खयाल था कि शायद यह बुद्धिजीवियों की दो पीढ़ियों की टकराहट है और इस टकराहट में सदैव नेहरू ही नहीं जीतते।

फिर 28 अक्टूबर 1962 : चीनी आक्रमण के 8 दिन बाद। दिल्ली विश्वविद्यालय के परिसर में नेहरू आने वाले थे। एक अजीब खामोश सरगर्मी पूरे माहौल पर छायी

हुई थी। वे विश्वविद्यालय के छात्रसंघ का उद्घाटन करने आ रहे थे। हम सभी सोच रहे थे कि आज वे युद्ध का जोशीला आह्वान देंगे; ऐसी भाषा में बात करेंगे, जो नसों को तड़का देगी, इतनी बुलन्द आवाज होगी कि कानों के पर्दे फट जायेंगे। शायद वे कहेंगे कि सभी लोग युद्ध की ज्वाला में कूद पड़ो। वे शायद जिरहबख्तर पहने किसी रोमानी योद्धा की तरह आयेंगे और सब पर छा जायेंगे।

पर यह क्या? इस बार नजदीक से बहुत दिन बाद देखा है—कन्धे कुछ झुक गये हैं, चेहरे पर झुर्रियाँ बढ़ गयी हैं और पाण्डुरता भी। पिछली बीमारी ने शायद वह 'लकलक' ज्योति ले ली है, जो मुझे बचपन में लालगंज में देखने को मिली थी। मैं इस धक्के से उबर न पाया था कि एक धीमी-सी सधी पर परिचित आवाज कानों तक पहुँची 'अजीब इत्तिफाक़ है कि आज मैं लोगों के सामने बोलने आया हूँ।' पहला वाक्य कान में पड़ा और लगा कि हाय क्या मेरी मन-कल्पित प्रतिमा खण्डित हो जायेगी? 'अरे' पण्डित जी आग बरसाने वाली भाषा का इस्तेमाल क्यों नहीं करते? लीजिए। आज चीनी झगड़े का इतिहास बता रहे हैं—पर हमें कहाँ धीरज है कि इस भूमिका पर सर पटकते रहें। खैर सुनो भी, आखिर बोल तो पण्डित जी रहे हैं। 'एक नेता था, जिसने हमें खड़ा होना, चलना सिखाया था।... हम नालायक निकल गये। उसके कौल को हम पूरा नहीं कर सके।... हमारी क्या हस्ती है...हम तो बहुत छोटे लोग हैं।...' मन ने टोका, जनजन हृदय-सम्राट! आपका स्वर ऐसा क्षमाप्रार्थी क्यों? आखिर आप इस प्रकार की शब्दावली से कहना क्या चाहते हैं? पर भाषण बढ़ता जाता है : 'मैं आप नौजवान लड़कों एवं लड़कियों के चेहरों से रोशनी लेने आया हूँ। आपसे मुझे ताकत मिलती है।' पर किसलिए 'भावी कल से यह रोशनी की उम्मीद? पुनः वही परिचित स्वर गूँज जाता है। एक दृश्य सामने खड़ा हो जाता है : 'हमारा एक लम्बा इतिहास है। पिछले हजारों बरस खड़े हमारी ओर देख रहे हैं कि इस संकट के समय हम क्या करने जा रहे हैं?' मेरे सम्मुख एक स्फटिक बिम्ब खड़ा था—अतीत (पिछले हजारों वर्ष) और भविष्य (आने वाली पीढ़ी) के बीच खड़ा यह एक व्यक्ति है या एक सेतु जो दोनों किनारों से शक्ति ले रहा है और दोनों को शक्ति एक नयी अर्थवेत्ता दे रहा है। आग बरसी नहीं पर हमें उसके विराट अनुभव का खण्ड बना दिया। मन की आतुरता तनिक कम हुई और प्रतीत हुआ कि एक भी बार आवाज को आरोह-अवरोह पर लाये बिना धीरे-धीरे नितान्त प्रशान्त स्वर में यह व्यक्ति कितनी स्फूर्ति गतिशीलता के साथ हमें एक विराट अनुभव के द्वार पर खड़ा कर रहा है। इस बिन्दु पर युद्ध भयोत्पादक नहीं रहा, हमारे आन्तरिक अनुभव का अंग बन गया। ऐसा अनुभव जो दायित्व को स्वीकारता है। मुझे लगा कि मैं फिर देवनारायण मामा के पास पहुँच गया और इस व्यक्ति-विग्रही अनुभव का एक अंश हूँ। उसी क्षण यह बुढ़ाता हुआ नेता बूढ़ा नहीं रहा—वह मेरे लिए बड़े-बड़े दुर्दान्त, वीरों से कहीं बड़ा हो गया। तभी उनके साथ-साथ खुले गले से मैंने आवाज लगाई थी—'जयहिन्द'।

पर उसके बाद : कैमरे की एक ही फिल्म पर कई बार चित्र खींचिए और जो गड्डमड्ड दृश्यावली देखने को मिलेगी कुछ वैसा ही अनुभव करता हूँ। लगता है कि प्रभाव-चित्रों का तारतम्य कहीं बिगड़ गया है। कानपुर में अचानक एक तपती दोपहरी को मृत्यु का समाचार और सारे नगर का 'स्तब्ध पवन चार', ऐसे समय दिल्ली से दूर होने की नियति का एहसास, रेडियो पर के विभिन्न वर्णन, लखनऊ हवाई अड्डे पर भस्मी का आगमन, प्रयाग में प्रवाह, जुलाई में लौट कर दिल्ली आने पर तीन मूर्ति के पास से गुजरते हुए एक टीस का अनुभव, शान्तिवन का साइन बोर्ड आदि बीसियों छायाचित्र हैं। पर इन छायाचित्रों से एक पार्श्व छवि बार-बार उभरती है...उसी तेवर और मुस्कान की मुद्रा के साथ।

चेहरा अब दिखता नहीं पर उभरता है—उभरता है अनुभव में, बोध में 'ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युत।' यह बात गाँधी को छोड़कर और किस आधुनिक व्यक्ति के बारे में कही जा सकती है कि वह पूरे राष्ट्र के अनुभव का सचेत अंग बन गया है। बल्कि कहना तो यह चाहूँगा कि यह बात गाँधी से भी अधिक नेहरू के लिए कही जा सकती है—कम से कम बुद्धिजीवी मानस के सन्दर्भ में। इसीलिए अब यह भी लगता है कि ऊपर दुहरे भाव की चर्चा करते हुए जिन निष्कर्षों पर पहुँचा था वे शायद सही नहीं थे। वे अन्तिम क्षण तक बुद्धिजीवियों को प्रभावित करते रहे—टकरा कर और विरोध के लिए पर्याप्त उत्तेजना देकर भी। किसी भी व्यक्तित्व की इससे बड़ी सार्थकता की सामान्यतः कल्पना नहीं की जाती।

आजकल : नवम्बर, 1964

प्यारे प्रधानमन्त्री

प्यारे प्रधानमन्त्री,

आज 12 जून है। अगर मैं भूलता नहीं तो आपको प्रधानमन्त्री हुए एक वर्ष बीत गया। मैं हिन्दी का एक छोटा-सा लेखक, अदना-सा अध्यापक आपको चिट्ठी—खुली चिट्ठी—लिख रहा हूँ या यों कहें कि लिखने के लिए प्रेरित हुआ हूँ। जानते हैं क्यों? इसलिए कि मैंने अपने लड़के को अंग्रेजी माध्यम वाले कान्वेंट स्कूल में भरती कराया है। उसको लेकर मेरे मन में जो संघर्ष हुआ है, जो पीड़ा हुई है, जो खुशी हुई है, उसने आपको पत्र लिखने के लिए प्रेरित किया। पहले खुशी की बात बताऊँ : मैंने कहीं किसी स्तर पर अनुभव किया कि आज मैं ऊँचे वाले वर्ग में आ गया हूँ। अब मेरा लड़का किटपिट-किटपिट अंग्रेजी बोल सकेगा और ऊँचा शासक बनने का द्वार उसके लिए मैंने खोल लिया है। मैंने अनुभव किया कि अपने उन भाइयों, मित्रों, सम्बन्धियों से आज मैं ऊपर उठ गया, जिनके बच्चे प्राइमरी स्कूलों में पढ़ रहे हैं; और आज मैं जान सका कि क्यों ऊँचे वर्ग के लोग अंग्रेजी बनाये रखना चाहते हैं। आज मेरी समझ में आ गया कि क्यों पंजाबी के लेखक डॉ. गोपाल सिंह 'दर्दी' एम.पी. ने 'स्टेट्समैन' में सम्पादक को पत्र लिखते हुए कहा था कि अपने पड़ोसी के नहीं अपने बच्चों की खातिर अंग्रेजी बनाये रखो। असल में 'अपने बच्चों' से तात्पर्य हमारे उस तबके से है जो अंग्रेजी स्कूलों में अपने बच्चों को पढ़ाने का खर्च बरदाश्त कर सकता है। तो मेरे प्यारे प्रधानमन्त्री, अपने बच्चों को कान्वेंट स्कूल में भरती कराकर आज अपने से ऊँचे वर्ग में शामिल होने की तमन्ना पूरी होने की शुरुआत हुई। इससे मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। और अगर इसी बीच कहीं आपने हिन्दी को भी यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन, विश्वविद्यालयों, टेक्निकल कॉलेजों आदि में माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया; अगर आपने प्रशासनिक भाषा के स्तर पर हिन्दी को 'वास्तविक' मान्यता प्रदान कर दी, तो मेरे साथ धोखा होगा। मुझे चोट पहुँचेगी, मेरी स्वर्ग पार कर आने की महत्त्वाकांक्षा मिट्टी में मिल जायेगी। फिर मेरा लड़का खेतिहर पं. मुन्नीलाल, छीटन पासी, मुंशी नोखे परसाद और लाला जंगी हलवाई के लड़के से किस बात में अलग रह जायेगा। यों मेरा लड़का टेबुल मैनर्स

सीखेगा, ट्विस्ट नाचेगा, फर्राटे से गलत अंग्रेजी में बोल लेगा और हमारी सरकार और समाज को इन्हीं की जरूरत है—विद्या, बुद्धि, ज्ञान, विनम्रता, सादगी आदि 'ओल्ड वैल्यूज़' हैं—दे मस्ट गो (उन्हें अवश्य खत्म होना चाहिए)। इसलिए शास्त्री जी आप यह बिल्कुल न होने दीजिए—आखिर आप भी तो अब अपने वास्तविक निम्न मध्य वर्ग को छोड़कर वहाँ पहुँचे हैं। अंग्रेजी हटने से जो व्यथा उत्पन्न होगी, वह हमारी और आपकी एक ही है।

इसी सन्दर्भ में आपसे एक दूसरी प्रार्थना है कि बहुत से लोग (आचार्य कृपलानी या डॉ. लोहिया जैसे खब्ती, सनकी, गैरजिम्मेदार लोग) आपके ऊपर जोर डाल रहे हैं कि पब्लिक स्कूलों को समाप्त कर दिया जाये। वे लोग लाख कहें कि इससे शासक और शासित वर्ग के बीच खाई बढ़ती है; इससे एक नयी वर्णव्यवस्था जन्म लेती है, इससे श्रेष्ठ मस्तिष्कों का हनन होता है; इससे जन्म से धनी, पर बुद्धि से रंक बालक उस पद पर पहुँचता है, जहाँ से देश और उसकी संस्कृति को समूल नष्ट करता है; इससे उन लोगों का जन्म होता है, जो स्विट्जरलैण्ड के एक बँगले को सारे भारत से अधिक कीमती समझते हैं और जिनके लिए हिन्दी लेखक स.ही. वात्स्यायन ही 'कामसूत्र' के लेखक भी हैं—पर आप इन तर्कों को 'नानसेंस' कह कर उड़ा दें। आप तर्क दें कि अगर सारी जनता के लिए अच्छे स्कूलों की व्यवस्था नहीं हो सकती, तो कुछ के लिए तो होने दीजिए। यद्यपि हम जानते हैं कि अगर कल आपके परिवार के बच्चे, आपके आई.सी.एस. और आई.ए.एस. अफसरों के बच्चे जिला बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी के स्कूलों में जाने लगें, तो तत्काल उनकी हालत बेहतर हो जायेगी—पर इस बात को हम कहेंगे नहीं। हम तो यही कहते रहेंगे कि उन स्कूलों का सुधरना हमारी वर्तमान आर्थिक-व्यवस्था में सम्भव नहीं है; और फिर सारे देश को तो उच्च पदों पर बैठाया नहीं जा सकता—जितनों के लिए आवश्यकता है, उतने पब्लिक स्कूल खोल दिये गये हैं। आवश्यकता पड़ने पर और खोल दिये जायेंगे। रही वर्ग-भेद की बात, सो हमने कुछ विशेष योग्यता सम्पन्न विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियाँ निश्चित कर रखी हैं—इस तरह गरीब विद्यार्थी भी तो उन स्कूलों में पढ़कर ऊपर पहुँचेंगे। आपके विरोधी कहेंगे कि हाँ, प्रजातन्त्र के नाम पर कुछ क्विज़लिंग (quisling) तो आपको बनाने ही पड़ेंगे—जो अपने परिवार, अपने स्वाभाविक वातावरण से कट कर इस नकली ऑक्सीजन में पल सकें। वे शायद यह भी कहेंगे कि ये विद्यार्थी सदैव सरकारी दान से पढ़ पाने की हीन भावना से परिचालित रहेंगे और उनके व्यक्तित्व लुंज-पुंज ही रह जायेंगे। यह भी तर्क दिया जायेगा कि गरीबों के एकाध तेज लड़के के मुकाबले अमीरों के दर्जनों मूर्ख लड़कों के वही शिक्षा प्राप्त करने के अनुपात का क्या अर्थ होता है? हो सकता है कि संसद में ये लोग आपसे आँकड़े माँग बैठें कि अब तक कितने गरीबों को (वे लड़के जिनके पिता की आय 200 रु. प्रतिमास से अधिक नहीं है) इन नवद्विज स्कूलों में जगह दी गयी है। यह भी तो पूछा जा सकता

है कि कितने साधनहीन व्यक्तियों ने अपने बच्चों के प्रार्थनापत्र भेजने की हिम्मत दिखाई है। प्यारे प्रधानमन्त्री, यह सब आपको आगाह करने के लिए मैं लिख रहा हूँ। आप अपने परम न्यायप्रिय शिक्षामन्त्री से कह दें कि इन सभी के उत्तर सोच लें, अपने सेक्रेटरी को हुक्म देकर वे आँकड़े तैयार करा लें। ऐन मौके पर तीन आने बनाम पन्द्रह आने वाली नौबत न आने पावे कि सारा प्लानिंग कमीशन और वित्त मन्त्रालय परेशान हुआ। हम नहीं चाहते कि शिक्षा मन्त्रालय के अधिकारियों की नींद हराम हो। कुछेक तर्क तो मैं ही बता सकता हूँ। उदाहरणार्थ, आप इसे कुछ मूर्ख हिन्दी वालों का दुराग्रह (या मूढ़ाग्रह) कह सकते हैं या फिर सबसे आसान तरीका होगा कि इसे कम्यूनिस्टों की तोड़-फोड़ वाली नीति बताया जा सकता है। समर्थन में आप कुछ हिन्दी वालों के पब्लिक स्कूल समर्थक वक्तव्य भी ढुँढ़वा सकते हैं। उदाहरणार्थ, नैनीताल के बिड़ला विद्या मन्दिर पब्लिक स्कूल के वार्षिकोत्सव में गोविन्द वल्लभ पन्त, सम्पूर्णानन्द, चन्द्रभानु गुप्त आदि सभी हिन्दी समर्थक गये होंगे। भूतपूर्व राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू भी किसी-न-किसी पब्लिक स्कूल को आशीष देने अवश्य पहुँचे होंगे। इन लोगों के नाम और इनके वक्तव्यों के सहारे आप पब्लिक स्कूल विरोधी हिन्दी समर्थकों को मात दे सकते हैं। और भी आप पर्दाफाश करना चाहें तो पता लगा लें, जितने भी हिन्दी के बड़े लेखक, प्रोफेसर, पत्रकार और संसद सदस्य हैं, वे सभी अपने लड़कों को पब्लिक स्कूलों में ही भेजते हैं। आखिर उन्हें भी तो अपने वर्ग-स्वार्थों की रक्षा करनी है। यह बात दूसरी है कि जिस रूप में अभी ये लोग हिन्दी को भुना रहे हैं, उसके लिए जरूरी है कि मुख से हिन्दी को बनाये रखने का नाम लेते रहें, जनता की बात करते रहें। अगर यह न करेंगे तो मन्त्रालय के हिन्दी अनुभाग, हिन्दी निदेशालय, कमेटियाँ और कमीशन आदि 'सेवक' और सेवा के नाम पर 'भुनाने' के जरिए क्या होंगे? अस्तु, यह सूची आपके लिए काफी लाभदायक सिद्ध होगी। इनमें और मुझमें अन्तर यही है कि ये स्वीकार नहीं करेंगे, पर मैं अपना उद्देश्य, अपना स्वार्थ 'कंफेस' किये लेता हूँ। अब यह कि हिन्दी वालों के अतिरिक्त जो लोग विरोध करते हैं, उनको कम्युनिस्ट, जनसंघी आदि कुछ भी कहा जा सकता है। इस आधार पर आवश्यकता पड़ जाये, तो आचार्य कृपलानी को भी प्रच्छन्न कम्युनिस्ट घोषित करने से न चूकना चाहिए—उनका सारा इतिहास कम्युनिस्ट विरोधी ही क्यों न हो। आखिर राजनीति में चमत्कार होते ही रहते हैं। अभी एक चमत्कार कुछ दिनों पूर्व सुनने में आया था कि मद्रास के हिन्दी विरोधी आन्दोलन में कम्युनिस्ट और पूँजीपति (और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र राजाजी) एक साथ थे, तो फिर कृपलानी जी अपवाद थोड़े ही हैं।

हाँ, एक बात तो भूला ही जा रहा था। एक तर्क अंग्रेजी के पक्ष में 'नेशनल इंटीग्रेशन' का है। हम लोगों को इस तर्क को बराबर दोहराते रहना चाहिए कि भारत की एक राष्ट्र के रूप में कल्पना अंग्रेजी के कारण ही सम्भव हो सकी है। प्रशासन

के ढाँचे ने इस राष्ट्रीयता के भाव को पुष्ट किया है। अगर अंग्रेजी हटी तो फिर सारा देश टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। कुछ दुराग्रही इस पर भी कहेंगे कि जनाब यह कैसी एकता 150 वर्षों में हुई कि जरा-सी बात पर बंगाली, असमी, गुजराती-मराठी, उत्तर-दक्षिण आदि के द्वन्द्व खड़ा कर देता है। इस एकता की यह कैसी मजबूती है कि पंजाबी का मजाक बंगाली उड़ाता है; बंगाली का मजाक गुजराती उड़ाता है; दक्षिण भारतीय व्यवहार उत्तर भारत में उपहासास्पद बनता है। हम एक-दूसरे के रीति-रिवाजों, रुचियों, व्यवहारों, वेशभूषाओं तक के मजाक उड़ाते हैं। अंग्रेजी की यह सीमेंट कितनी ऊपरी और कमजोर है कि जरा-सी चोट, हल्की-सी बौछार इसे उखाड़ फेंकती है। पर हम लोग इन बातों की तनिक भी चिन्ता न करेंगे और राष्ट्र का अर्थ हमारे लिए भौगोलिक ही रहेगा—मानवीय नहीं। हम इस बात को जानते रहेंगे कि अगर जैसी-तैसी भी अंग्रेजी जानने वाले 2 प्रतिशत यानी 88 लाख व्यक्ति इस देश में होंगे (जिनमें से मुश्किल से 10-15 लाख समझ में आने योग्य अंग्रेजी में लिख-पढ़ और बोल सकने की स्थिति में होंगे) पर इससे क्या? हमें तो 'बुद्धिमानों' से मतलब है, बाकी तो जनता है और बुद्धिमान इस देश में नहीं हैं, जो अंग्रेजी लिख और बोल सकता है (अंग्रेजी में समझ सकना पर्याप्त नहीं)। तो इन थोड़े से लोगों की स्वार्थगत एकता ही वास्तविक राष्ट्रीय भावात्मक एकता है। एक सामान्य भारतीय भाषा के माध्यम से उत्तर भारत, पूर्व-पश्चिम के लोगों की एकता—वास्तविक भावात्मक एकता—स्थापित हो जायेगी, उस दिन हम लोगों की स्थिति कितनी दयनीय न हो जायेगी। फिर हम 'बुद्धिमान' कैसे माने जायेंगे।

इसलिए प्यारे प्रधानमन्त्री (और आपके माध्यम से आपकी पूरी सरकार से), आपसे पुनः यह अनुरोध करूँगा कि अंग्रेजी न जाने देना, पब्लिक स्कूलों को सुदृढ़ बनाये रखना; वरना मेरे साथ धोखा होगा, मेरी इस खुशी के साथ धोखा होगा कि मेरा लड़का एक ऊँचे दर्जे के नवद्विज स्कूल में अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर रहा है।

अप्रकाशित 1965

युद्ध और व्यक्तित्व

आपने मुझसे 'युद्ध और व्यक्तित्व' पर लिखने के लिए कहा था। साथ ही इलियट की एक पंक्ति उद्धृत की थी, जिसका आशय शायद यह था कि युद्धों ने यूरोप के सौन्दर्य-बोध (या अनुभूति क्षमता) को कुण्ठित कर दिया है। यूरोप के सन्दर्भ में शायद यह बात सच होगी। दो विशाल युद्धों ने वहाँ मृत्यु को हर घर के दरवाजे ला खड़ा किया है। आसन्न मृत्यु का यह बोध कुण्ठित करने वाला हो सकता है। वहाँ के चिन्तन, दर्शन, सृजन या रहन-सहन, सभी पर युद्ध की गहरी छाया है। युद्ध के रूप के बदलने के साथ उसकी विनाशिनी शक्ति भी भीषणतर होती गयी है; और तभी वह छाया यूरोप तक ही सीमित नहीं रही। उसकी लम्बाई एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमरीका के प्रबुद्धमना व्यक्तियों को भी आक्रान्त कर सकी है। पिछले 17 वर्षों में भारत की नीतियों के निर्माता नेहरू ऐसे ही प्रबुद्ध जनों में थे। जो लोग इतनी दूर तक न तो सोच पाते हैं और न जिनकी भावनक्षमता इतने विस्तार को समेटती है; उनके लिए नेहरू या तो पहेली थे या अवास्तविक दुनिया में जीने वाले। चूँकि भारतवर्ष ने बहुत दिनों से युद्ध झेला नहीं था, हमारा स्वतन्त्रता संग्राम खासा रक्तपातहीन था और विभाजन की विभीषिका भी एक सीमित क्षेत्र को ही झेलनी पड़ी थी; अतः शान्ति की बात करना बहुतों की समझ में नहीं आता था; और इस पर अचरज भी न होना चाहिए। भारत ही नहीं, तमाम अफ्रीकी-एशियाई देशों के बहुत से नेताओं की समझ में भी, बेलग्रेड सम्मेलन में नेहरू की 'शान्ति' की बात नहीं आयी थी। पर तनिक विश्लेषण करने पर यह साफ हो जाता है कि नेहरू का विरोध करने वाले जाने-अनजाने फासिस्ट शक्तियों के साथ थे। ये फासिस्ट राष्ट्रवाद के आदर्श का ढोल तो पीटते ही थे; अकसर साम्राज्यवाद का हौवा खड़ा करने वाले भी थे। आश्चर्य न होना चाहिए कि नेहरू के विरोधी जनसंघी भी थे और माओ त्से तुंग भी। दोनों ही को नेहरू की शान्तिमयी नीति नापसन्द थी।

पर चीनी आक्रमण ने इस सन्दर्भ को तनिक बदल दिया। लगा कि जहाँ एक व्यापक सार्वभौम स्तर पर मानवीय अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, वहीं सीमित क्षेत्र के भीतर आत्मरक्षा की व्यवस्था अनिवार्य है। युद्ध से बचना चाहिए;

पर युद्ध के लाद दिये जाने पर बचाव का इन्तजाम भी जरूरी है। उग्र राष्ट्रवाद भयानक है, पर अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा या सुव्यवस्था भी ठोस सच्चाई नहीं है। युद्ध मानवीय मूल्यों का हत्यारा होता है; पर इन्हीं मूल्यों को बचाने के लिए कभी-कभी युद्ध एक अनिवार्य नियति लगने लगता है।

कुछ इसी द्वन्द्व और मनःस्थिति के बीच 'युद्ध और साहित्यकार' का दायित्व-सम्बन्धी प्रश्न उठा था। सजग, सचेत बुद्धिजीवी के नाते साहित्यकार उसी स्थिति और दृष्टि में विश्वास करता आया था, जिस पर नेहरू करते थे। पर धीरे-धीरे जो कुछ टूटता जाता है, वह इस सारे कर्म को भी किंकर्तव्यविमूढ़ बना गया, असहाय कर गया—

कभी-कभी चिड़िए आते हैं दूर क्षितिज से
अपने काल-पंख फैलाए
बैठ जाते हैं किसी स्तम्भ पर, वर्षों तक साँस रोक कर
जान पाते हम, नहीं आक्रमण की पूर्व सूचना थी यह आना
संयोग-मात्र, जैसे मछुआरों भरी डोंगियाँ लग जाया करतीं
इस तट पर
इसी बीच गिर पड़ता है, एक और स्तम्भ
जैसे टंकार धनुष की वर्षों तक गूँजा करती ध्वनि
हम असहाय देखते रहते हैं—शत्रु कहाँ हैं?
वे गायब हो गये अचानक किस सुरंग से आकर?

कमलेश ने इस कविता में जो महसूस किया था, वह अधिकांश बुद्धिजीवियों के लिए सच था (सचमुच ही, शायद भीतर कुछ दरक गया है, ढूँढें कहाँ शत्रु को, कोई संकेत नहीं, ध्वनि नहीं।) जिनके भीतर कुछ नहीं दरका था, उनका रास्ता साफ था। वे परशुराम की प्रतीक्षा में थे, वे गाँधी को उठाकर ताक में रख देना चाहते थे और उनके चेले, चीन की चटनी बना कर कवि सम्मेलनों में परोस कर टिप पा रहे थे; पर वे भाग्यशाली थे। अपनी खनखनाती वीरता में उन्हें पराजय की शर्म को भी झेल सकने की जरूरत नहीं थी। उन लोगों के लिए साहित्यकार के दायित्व का एक सीधा-सादा हल मौजूद था कि वीर रस पूर्ण गीत लिखो, युद्ध का गुणगान करो। उनके लिए पृथ्वीराज चौहान और यशवन्तराव चव्हाण के युगों में कोई अन्तर नहीं था।

मैं जानता हूँ कि आप मुझे टोकने वाले हैं कि युद्ध और साहित्यकार के दायित्व पर वक्तव्य नहीं देना है। मैं 'युद्ध और व्यक्तित्व' की ही बात करूँगा। अस्तु, चीनी आक्रमण ने देश के मानस को बदला अवश्य था। एक बार फिर से अपने सन्दर्भ और परिवेश को परिभाषित करने की आकांक्षा जन्मी थी। युद्ध के सीमित और विराट अर्थों के द्वन्द्व वाले सन्दर्भ ने तमाम चीजों को उलटने-पुलटने के लिए विवश किया था। पर इस युद्ध की आकस्मिकता, दूर निर्जन सीमाओं में अवस्थिति आदि

कारणों से यह प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन से बहुत गहरे में जुड़ा नहीं। अप्रत्यक्ष रूप से इस युद्ध ने वह भूमिका बना दी थी, जिस पर पाकिस्तानी युद्ध लड़ा जा सका। पर प्रत्यक्ष रूप में वह तत्काल तो स्तब्ध कर गया। फिर कुछ दिनों बाद पुराने लस्टम-पस्टम रूप की ओर हम लौटने लगे।

पाकिस्तान से होने वाला युद्ध इसी पिछले युद्ध की अगली कड़ी बन कर आया। चीनी आक्रमण में हुई पराजय ने सैनिक स्तर पर तैयारी के लिए उकसाया था, तो बौद्धिक स्तर पर राष्ट्रीय स्वार्थों की परिकल्पना भी जगी थी। पर राष्ट्रीय सन्दर्भ से प्रतिबद्धता का यह भाव पाकिस्तानी आक्रमण के कारण अधिक पैने रूप में सामने आया। इसके साथ चीनी आक्रमण वाली पृष्ठभूमि तो थी ही सम्भवतः यह छोटी-सी विजय भी थी। पराजय का दायित्व तो नेतृत्व पर डाल कर लोग ग्लानि-मुक्त हो सकते हैं; पर विजय का आह्लाद और श्रेय सभी लेना चाहते हैं। यह सम्भवतः उस भूमि पर भी हो रहा था, जिसके भूगोल और इतिहास (और इस तरह उसकी ठोस वास्तविकता) से हम पूरी तरह परिचित थे। शायद यह भी कि एक हजार वर्षों में पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर हमारी सेनाएँ बाहर निकली थीं और इन्होंने पूरे राष्ट्र के लिए विजय प्राप्त की थी। पर शायद सबसे बड़ी बात यह थी कि युद्ध का आभास बमों, ब्लैक-आउटों आदि के कारण व्यापक जन-समाज को भी हुआ था। पंजाब, दिल्ली या राजस्थान में तो वह घरों के अहातों से जुड़ा हुआ लगता था। युद्ध की इस निकटस्थ स्थिति के कारण बुद्धिजीवी वर्ग पर इसकी प्रतिक्रिया काफी तीखी हुई है—ऐसा मेरा अनुमान है। व्यक्तित्व के सन्दर्भ में इस प्रतिक्रिया का क्या रूप या प्रभाव रहा है, इसकी चर्चा करने से पहले एक अन्य तथ्य की ओर संकेत कर दूँ। पिछले अठारह सालों में प्रशासकीय नौकरशाही ही नहीं, नेतृवर्ग की ओर से भी लगातार एक चेष्टा हुई थी कि सामान्य-जन को 'अराजनीतिक' (डिपोलिटिसाइज्ड) बना दिया जाये। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस पीढ़ी में स्वातन्त्र्य-पूर्व युग के संस्कारों के कारण एक सामाजिक उन्मुखता का भाव था, वह कुण्ठित होता गया। दूसरी पीढ़ी, जिसने कि स्वतन्त्रता की लड़ाई या विभाजन को देखा-भोगा नहीं था, वह भी इसी बीच उग कर आती है; पर यह पीढ़ी सामाजिक सन्दर्भो से एकदम कटकर केवल निजी संसार से आक्रान्त थी। यह निजी संसार इस कदर आक्रान्ता या स्वेच्छाचारी था कि उनकी पूरी सृजनात्मक कार्यवाही इस उत्पीड़न को ही व्यक्त करती है। स्वतन्त्रता के बाद की कलात्मक, सृजनात्मक क्रियाशीलता में सप्रसंग यही दो पीढ़ियाँ हैं। इनके पहले की जो पीढ़ियाँ हैं, उनके लिए हर चीज के बने-बनाये नुस्खे हैं और हैं : कटी-छँटी भाव स्थितियाँ। वहाँ न कुण्ठित होने का अवकाश है और न इन नुस्खों या भाव स्थितियों से बाहर की दुनिया का एहसास।

तो इस लड़ाई (युद्ध की अपेक्षा इसे लड़ाई कहना ही अधिक सही होगा) ने इन पीढ़ियों के व्यक्तित्व को फिर से राष्ट्रीय-सामाजिक सन्दर्भ से जोड़ा है। निजी

संसार की स्वेच्छाचारिता या उत्पीड़न के स्थान पर इन पीढ़ियों को लगा कि इसके बाहर की दुनिया से भी एक जीवन्त सरोकार है। बन्धु, मैंने स्वयं देखा है कि जो कभी राजनीति की बात नहीं करते थे, जिनके लिए चारों ओर से घेरता अकेलापन ही था, वे भी अचानक जैसे झंझोड़ दिये गये और युद्ध की मोर्चेबन्दियों की ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दाँव-पेंचों की भी चर्चा करने लगे। इन समस्याओं से वे पूरी तरह जुड़ गये यह तो नहीं कहा जा सकता। उस दृष्टि से इस युद्ध का इतने शीघ्र समाप्त हो जाना शायद बहुत अच्छा नहीं हुआ। आप यह भी कह सकते हैं कि रचनाओं की दुनिया में तो यह दिखाई नहीं पड़ता। पर मैं रचना नहीं, बुद्धि की दुनिया की बात कर रहा हूँ और इस दुनिया में बदलाव के अर्थ हैं कि आगे-पीछे रचना की दुनिया भी कुछ न कुछ बदले। इस लड़ाई ने बुद्धिजीवी को बदला है, ऐसा मेरा विश्वास है। पर बन्धु, एक दूसरा भयंकर खतरा भी सामने है। मुझे लगता है कि इस देश की नौकरशाही और तमाम अधिनायकवादी प्रवृत्तियाँ इस जागरण से चिन्तित हो उठी हैं। चिन्तित होना स्वाभाविक भी है। राष्ट्रीय-सामाजिक सन्दर्भ से प्रतिबद्ध जागरूकता उस मनमाने रास्ते की अवरोधक है, जो प्रजातन्त्र के नाम पर धीरे-धीरे इस देश की आई.सी.एस. शाही लादती रही है। अतः पैंतरा बदल कर यह वर्ग इस समय भी पूरे देश के चिन्तन को स्तब्ध रखना चाहता है। एमरजेंसी, संकट आदि के नाम पर लोगों का मुँह बन्द रखने की चेष्टा, हर विवादास्पद प्रश्न को स्थगित करने की चेष्टा, संकटकाल में एकता और सहयोग के नाम पर विरोध की हर आवाज को दबाने की चेष्टा, इस चतुर नौकरशाही और कल्पनाहीन नेतावर्ग की मोर्चेबन्दी का सूक्ष्म रूप है। इसके साथ ही साथ युद्ध के समय उमड़ने वाली फासिस्ट शक्तियाँ भी खुल कर सामने आ रही हैं। दिल्ली, पंजाब आदि में ये शक्तियाँ सरकार के निकटस्थ सहयोग में काम करती रही हैं और वैयक्तिक उपक्रम को आतंकित करने की इंनकी भरपूर कोशिशों को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। भाई, मुझे लगता है कि बुद्धिजीवी वर्ग के लिए यह समय एक सुअवसर भी है, और चुनौती भी। निजी जगत का कवच यदि कहीं दरका है, तो उसे तोड़कर उस यथार्थ के आमने-सामने होना है, जिससे अब तक हम कतराते रहे हैं। पर यदि अपने ढीलेढालेपन से इस उपक्रम को हमने अपने हाथों से सरक जाने दिया, तो इस देश में अधिनायकशाही को आने से शायद ही रोका जा सके।

लहर : जनवरी, 1966

हिन्दी साहित्य-कोश की प्रविष्टियाँ
(1962)

उपयोगितावाद
गाँधीवाद
जनवाद
हालावाद
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
कृष्णदेव सिंह
कृष्णानन्द गुप्त
केशव प्रसाद सिंह
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'
चतुर्भुज औदीच्य
जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी'
नाथूराम शर्मा 'शंकर'
नारायण प्रसाद अरोड़ा
पद्मसिंह शर्मा
पूर्णसिंह
भगवतीप्रसाद वाजपेयी
प्रकाशचन्द्र गुप्त
प्रतापनारायण मिश्र
बदरीनाथ भट्ट
बालकृष्ण भट्ट
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
यशोदानन्दन अखौरी
रामचन्द्र शुक्ल
रामलोचन शरण
लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
लीलाधर गुप्त
विनयमोहन शर्मा
सीताराम (लाला)
सुमित्राकुमारी सिन्हा
सूर्यकान्त शास्त्री
अजितकुमार सिंह
प्रभा अध्यक्ष
रमेश
कुमारगिरि
चित्रलेखा
बीजगुप्त
यशोधरा
रत्नाम्बर
श्वेतांक

भाग-1

उपयोगितावाद

किसी भी वस्तु, विचार अथवा कार्य का महत्त्व आँकने के लिए उपयोगिता की कसौटी बहुत दिनों से चली आ रही है। किसी काल-विशेष के सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप ही उपयोगिता के प्रतिमान भी बदलते रहे हैं; पर उपयोगिता का सिद्धान्त अक्षुण्ण रहा है। उपयोगितावाद को साहित्य में सोद्देश्यतावाद की भी संज्ञा दी गयी है और इसका विरोधी सिद्धान्त 'कला कला के लिए' अथवा कलावाद के रूप में उपस्थित किया गया है।

उपयोगितावाद शब्द का प्रचार 19वीं शताब्दी में यूरोप में हुआ है। वहाँ इसका प्रतिरूप 'यूटीलिटैरियनिज्म' (utilitarianism) है। कहा जाता है कि यह ग्रीक एपीकरस (Epicurus) के आनन्दवाद का पुनरुत्थान है। यूरोप में यह अठारहवीं शताब्दी के वायवी आदर्शवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया। इसके प्रयोक्ता बेंथम (Bentham), आस्टिन (Austin), मिल (Mill) आदि व्यक्तिवादी दार्शनिक थे। उनके अनुसार राजनीतिक संस्थाएँ, राज्य की नीतियाँ आदि किसी आदर्श, काल्पनिक मानवीय अधिकारों एवं कर्तव्यों के लिए नहीं हैं; उनकी महत्ता मानवीय सम्बन्धों की एक निश्चित, स्थिर उपयोगिता के लिए सहायक होने में है। इन लोगों के अनुसार समाज के नियमन का एकमात्र सिद्धान्त होगा 'सर्वाधिक संख्या का अधिकतम सुख'। इसका स्वरूप इस काल में व्यक्तिवादी है। यह मुक्त व्यापार, पेशे की स्वतन्त्रता, व्यापार के क्षेत्र में अबाधित प्रतियोगिता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अन्य व्यक्तिवादी सुधारों की माँग करता हुआ आभिजात्य श्रेष्ठता को चुनौती देता है। उपयोगितावाद की विचारधारा में एक विचित्र विकास परिलक्षित होता है; इस व्यक्तिवादिता की परिणति होती है समाजोन्मुख विचारधारा में। मिल ने यह अनुभव किया कि व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतन्त्रता 'सर्वाधिक संख्या के अधिकतम सुख' के विपरीत जाती है। अन्ततः उसे वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगिता में भेद करते हुए द्वितीय को श्रेष्ठतर स्थान देने के लिए विवश होना पड़ा। समाजवादी विचारधारा की पृष्ठभूमि में उपयोगितावादी दर्शन का गहरा हाथ है। समाजवादी विचारधारा के ही चरम रूप 'मार्क्सवाद' में सर्वहारा वर्ग को मिली श्रेष्ठता के अनुरूप उपयोगिता की कसौटी भी

इसी वर्ग का कल्याण हो गयी तथा समाजशास्त्रीय विचारकों ने कला को वर्ग युद्ध का अस्त्र माना, उसे विचारों के प्रचार का साधन स्वीकार किया। इस प्रकार कला एवं साहित्य की उपयोगिता को सामाजिक संघर्ष एवं विकास के साथ जोड़ दिया गया।

परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, साहित्य का उपयोगितावादी दृष्टिकोण नया नहीं है। किसी न किसी रूप में उपयोगिता का प्रश्न साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है। भामह ने 'काव्यालंकार' में काव्य के तीन प्रयोजन माने थे—शास्त्रादि ज्ञान, आनन्द और कीर्ति। रुद्रट ने भी यश, इष्ट की प्राप्ति, पुरुषार्थ-सिद्धि आदि को काव्य का प्रयोजन माना है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने 'सरसोपदेशरूप प्रयोजन' स्वीकार किया है—'काव्य हृदय को प्रभावित कर कर्तव्याकर्तव्य का सरस विश्लेषण किया करता है।' काव्य से रस-प्रतीति और रस-प्रतीति से जीवनादर्शों की ओर प्रगति, ऐसी कुछ विचारधारा ध्वनि-सम्प्रदाय की रही है। मम्मट ने इस 'रसरूप काव्य-प्रयोजन' को और परिष्कृत करके उपस्थित किया। उन्होंने काव्य के छह प्रयोजन माने—(1) यश-प्राप्ति, (2) अर्थलाभ, (3) आचारज्ञान, (4) अमंगल-निवारण, (5) रस या आनन्द, (6) सरस उपदेश। इनमें कवि के प्रयोजन प्रथम चार हैं तथा कवि और सहृदय दोनों के अन्तिम दो। मम्मट की इस बात को परवर्ती आचार्यों ने लगभग स्वीकार कर लिया है। आधुनिक युग में रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य का उद्देश्य लोकमंगल और आत्मविस्तार स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि हमारे काव्यशास्त्र में विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण अपनाकर विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। प्रत्येक आचार्य ने काव्य प्रयोजनों में उपयोगिता के किसी न किसी रूप को स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि प्रारम्भ में यह उपयोगिता कवि तक सीमित थी, बाद में वह सहृदय तक विस्तृत हो गयी।

पश्चिमी काव्य-दर्शन में भी उपदेश से सम्बन्धित उपयोगिता को प्रमुख स्थान मिला है। ग्रीस में प्लेटो (Plato) के समय से ही यह मत प्रचलित है कि काव्य का पहला कार्य शिक्षा देना है। शिक्षा के क्षेत्र में भी काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि उससे बच्चे देवी-देवताओं के बारे में जानेंगे। काव्यचरित्र अनुकरण योग्य होते हैं तथा सैन्य-संचालन जैसे अनेक विषय होमर (Homer) द्वारा प्रशंसनीय ढंग से बताए गये हैं। इस शिक्षक दृष्टि का विरोध भी ग्रीस में कम नहीं हुआ। प्लेटो ने स्वयं संकेत किया कि देवता बहुधा चरित्रहीन होते हैं। एक भी आदमी देश में सेनानायक इसीलिए नहीं चुना गया कि उसकी शिक्षा होमर के काव्य के माध्यम से हुई है तथा एचिलीस (Achilles) जैसे चरित्र अनुकरणीय नहीं हैं। अरस्तू (Aristotle) ने भी काव्य के सौन्दर्यबोध वाले पक्ष पर अधिक बल दिया है। पर होरेस (Horace) ने काव्य के उपदेश वाले पक्ष को महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया। उसने कहा कि 'काव्य शिक्षा देता है, आनन्द देता है या दोनों करता है।' यह बात आनन्दवर्धन और मम्मट से बहुत दूर नहीं है। लूक्रेसिक (Lucrecic) ने भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण को ही प्रधानता दी।

आगे आकर रस्किन (Ruskin) ने तो काव्य को मुख्य रूप से उपदेशप्रधान माना है। उसके अनुसार आनन्द तो 'बाई प्रॉडक्ट' (गौण उत्पादन) है; मुख्य बात तो धर्म-भावना को तीव्र करना; नैतिक स्तर को पूर्ण बनाना और भौतिक सेवा करना है (अर्थलाभ—मम्मट ने भी स्वीकार किया है)। टाल्स्टाय (Tolstoy) ने भी काव्य के धार्मिक और नैतिक पक्ष पर जोर दिया।

19वीं शती के अन्तिम और बीसवीं शती के प्रारम्भिक भाग में 'कला के लिए कला' आन्दोलन को अधिक बल मिला। वाल्टर पेटर (Walter Pater), आस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde), ब्रैडले (Bradley) जैसे समर्थ लोगों का इसे समर्थन मिला।

स्थूल उपयोगितावाद में कुछ परिष्कार भी इस काल में हुए। एक तो यह विचार आया कि कला आत्मा को ऊँचा उठाती है; बगैर किसी प्रकार की प्रत्यक्ष शिक्षा का आश्रय लिए और दूसरा यह सुझाव कि वह आत्मा के लिए रंजनकारी है, मानसिक शक्ति-प्रदायिनी है। नवमानवतावादी [मोर (More), इरविंग बैबिट (Irwing Babbitt)] आदि लेखक को मानवीय नियमों के प्रति जिम्मेदार देखते हैं और ये नियम वस्तुगत नियमों से भिन्न हैं।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, उपयोगिता के रूप और प्रतिमान बदलते रहे हैं। कलाओं की शैक्षिक और उपदेशात्मक उपयोगिता प्राचीन काल से मान्य रही है और किसी न किसी रूप में वह आज भी मान्य है। कला की नैतिक उपयोगिता भी स्वीकार की जाती रही है। आधुनिक युग में रस्किन, टॉल्सटाय और गाँधी नैतिक-आध्यात्मिक उपयोगितावाद के समर्थक हुए हैं। कलाएँ आनन्द देती हैं, रंजन करती हैं, यह भी उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही है। भारतीय काव्य-चिन्तन में तो काव्य को पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति कराने वाला माना गया है। कम्युनिस्ट सिद्धान्तों में ढलकर कला वर्गयुद्ध का शस्त्र बन जाती है और अब कम्युनिस्ट ही नहीं, भारत जैसे देश में वह योजना प्रचार का अंग बन गयी है। इतना ही नहीं, शीतयुद्ध ने कलाओं की एक नयी उपयोगिता को जन्म दिया है—एक-दूसरे के ऊपर तीव्र प्रहार करने का। इस प्रकार कलाओं का उपयोग शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं, विद्वेषात्मक सम्बन्ध रखने में होने लगा है। इस तरह के उपयोगों में यह भुला दिया जाता है कि, कला मानवीय अनुभव का प्रकाशन है एवं यदि मानवीय अनुभव मूल्यवान होता है, तो कथाएँ भी मूल्यवान होती हैं। साहित्यिक-कलात्मक कृतियों के माध्यम से पाठक जीवन के अधिक समीप गहरे और ताजे सम्पर्क में आता है; वह अधिक समृद्ध जीवन जीता है। कलाओं की यही वास्तविक उपयोगिता होती है। स्थूल भौतिक उपयोगिताओं से उसका बहुत दूर का सम्बन्ध होता है।

हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-1

गाँधीवाद

'गाँधीवाद' महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (1869-1948) की विचार-पद्धति का व्यापक नाम है। गाँधी के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष थे। वे राजनेता थे, समाज-सुधारक थे, अर्थवेत्ता थे, शिक्षाशास्त्री थे और धर्मोपदेशक भी थे। समाज और शासन के संघटन तथा जीवन के अन्य अनेक पक्षों के बारे में उनके अपने विचार थे, जिनका प्रतिपादन उन्होंने अपनी दैनिक साधना के मध्य से गुजरते हुए किया था। मार्क्सवाद के समान कोई व्यवस्थित शास्त्रीय अध्ययन गाँधीवाद के पीछे नहीं है; इसी कारण उसमें किसी प्रकार क़ी तर्कजन्य पद्धति का अभाव है। उसका आधार तर्क नहीं, स्वानुभूति है। इस विचारधारा का प्रत्येक खण्ड आत्मशक्ति को लेकर चलता है। इसी कारण उसमें एक प्रकार की आध्यात्मिकता और विचार-स्वातन्त्र्य है।

गाँधीवाद को किशोरलाल मशरूवाला ने तीन भागों में विभक्त किया है : (1) वर्ण-व्यवस्था, (2) ट्रस्टीशिप, (3) विकेन्द्रीकरण। विनोबा के अनुसार गाँधी समाज की बँधी हुई कल्पनाओं को तोड़ने के स्थान पर उनका परिष्कार कर विकसित रूप प्रदान करना चाहते हैं। 'वर्ण-व्यवस्था' के अन्तर्गत उन्होंने (1) पारिश्रमिक की समानता, (2) होड़ का अभाव तथा (3) आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठाने वाली शिक्षण-योजना का प्रस्ताव किया। 'ट्रस्टीशिप' के अन्तर्गत आत्मविश्वास के साथ समस्त प्राणिमात्र के कल्याण के कार्य करना होता है। 'विकेन्द्रीकरण' के अन्तर्गत उद्योगों का ही नहीं, राजसत्ता का भी विकेन्द्रीकरण उसका अपना अभीप्सित था। लक्ष्य तक पहुँचने के लिए सत्य, अहिंसा और सेवा इन विशिष्ट साधनों का उपयोग आवश्यक माना गया है। गाँधीवाद की सबसे बड़ी देन उसकी यह विचारधारा है कि हमको साध्य के साथ-साथ साधन की पवित्रता का भी ध्यान रखना चाहिए।

सर्वोदय गाँधी का सामाजिक आदर्श है, सत्याग्रह, जीवनादर्श और रामराज्य शासनादर्श। सर्वोदय का अर्थ है सबकी उन्नति और उसका ध्येय है हृदय-परिवर्तन; हृदय-परिवर्तन अन्यायी, शोषक और अनीतिवान का। गाँधीवाद के मूल स्तम्भ दो हैं—सत्य और अहिंसा। सत्य का ही दूसरा नाम उन्होंने परमेश्वर माना है, तथा समस्त सृष्टि में एक ही तत्त्व की व्याप्ति स्वीकार कर ईश्वर और मनुष्य तथा मनुष्य एवं

अन्य जीवधारियों की एकता स्वीकार की है। इस अन्तर्भूत एकत्व के कारण ही उन्होंने माना था कि 'जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है, उसका समग्र जड़ पदार्थ पर और उसकी आत्मा पर प्रभाव पड़ता है।' इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार से समबुद्धि प्राप्त होती है और समबुद्धि से सबके प्रति अहिंसा का भाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए उन्होंने अहिंसा को सत्य का दूसरा पहलू कहा है। अहिंसा में केवल द्वेष का अभाव ही नहीं, प्रेम की सम्प्राप्ति भी है। यह प्रेम स्वार्थ, मोह, आसक्ति आदि से भिन्न होता है। इस अहिंसा में (अभावात्मक) वैरत्याग, (भावात्मक) चराचरप्रेम और पूर्ण निष्कामभाव का समन्वय है। इस समन्वय का पहला तत्त्व जैन, बौद्ध अहिंसा का है, दूसरा वैष्णव भावना का प्रसाद है और तीसरा तो स्पष्टतः गीता का प्रभाव है। ऐसी अहिंसा की प्राप्ति के लिए गाँधी ने आत्मशुद्धि को आवश्यक माना है और आत्मशुद्धि के लिए अन्य सन्तों की भाँति अहंता के त्याग को अनिवार्य माना है। अहंकार का त्याग, तप और भगवद्भक्ति से ही सम्भव है तप के लिए रागभोग का त्याग और आत्मपीड़न करना होता है तथा उनके लिए शक्ति, भगवान पर अटल विश्वास होने से प्राप्त होती है। यह तप या आत्मशुद्धि केवल उस व्यक्ति का ही कल्याण नहीं करती, आत्मा की अखण्डता के कारण सारे समाज को उन्नत बनाती है।

प्रकट है कि गाँधी के जीवन-दर्शन में त्याग और तप का प्राधान्य है तथा भोग और आनन्द का तिरस्कार। कला में भी उन्होंने शिव और सत्य पर ही बल दिया, सुन्दर को इन्होंने इन दोनों से या तो अभिन्न माना या अस्वीकार किया। गाँधीवादी विचारधारा सम्पूर्णतः जटिलता की अपेक्षा सरलता के चारों ओर घूमती है। गाँधी जी का कहना था कि मानवीय स्वभाव उतना जटिल नहीं होता, जितना कि मनोवैज्ञानिकों ने उसे बना रखा है। इसीलिए कलाओं को भी यदि आनन्द और सन्तोष का स्रोत बनना है, तो उन्हें भी सरल एवं प्रत्यक्ष होना चाहिए एवं प्रकृति के समान ही उसकी अपील तात्कालिक होनी चाहिए। स्वयं वैयक्तिक रूप से गाँधी जी प्रेरणा के लिए किसी कला की आवश्यकता नहीं समझते थे। एक बार किसी ने उनसे पूछा कि क्या आप अपनी दीवालों को चित्रों से युक्त देखना नहीं चाहते हैं? गाँधी जी ने अपने विशिष्ट ढंग से उत्तर देते हुए कहा, 'मैं तो दीवालें भी नहीं चाहता। नक्षत्रों की छाया में मैं यथेष्ट रूप से प्रसन्न होऊँगा।' पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे कलाओं के सृजन के मूल्य को स्वीकार न करते हों। पर इस मूल्य के सम्बन्ध में उनके अपने निजी विचार थे। उनके लिए प्रकृति वह आदर्श है, जहाँ पर पहुँचने के लिए कलाओं को प्रयास करना चाहिए। प्रकृति भी हमें इसलिए अपने सौन्दर्य से इतना आन्दोलित कर पाती है, क्योंकि वह सृष्टि के केन्द्र में स्थित सत्य को प्रतिच्छायित या बिम्बित करती है। इस आदर्श के अनुरूप श्रेष्ठतम कला सर्वाधिक प्राकृतिक होती है; क्योंकि वह सर्वाधिक सत्यपूर्ण भी होती है। कीट्स के इस कथन 'सौन्दर्य ही सत्य और सत्य ही सौन्दर्य' के अन्तिम हिस्से को ही गाँधी

जी मान्यता दे सकते थे। वे सौन्दर्य को सत्य में और सत्य के द्वारा देखते थे, उसके अनुसार इसी दृष्टिकोण से ही श्रेष्ठतम कला उपज सकती है। इस दृष्टिकोण के कारण तमाम रोमाण्टिक साहित्य को अपनी सराहना वे नहीं दे सके।

इस दृष्टिकोण का स्वाभाविक विकास है कि गाँधीवादी विचारधारा में कलाओं के साथ नैतिकता का सम्बन्ध अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। 'शुद्ध जीवन ही श्रेष्ठतम एवं सत्यतम कला है'। इस सम्बध में उनके ऊपर रस्किन (Ruskin) एवं टॉल्सटाय (Tolstoy) के विचारों की स्पष्ट छाया है। आन्तरिक अनुशासन, आत्म-त्याग एवं सहानुभूति को भी इस सम्बन्ध में महत्त्व प्रदान किया गया है। गाँधी जी का विचार था कि वास्तविक साधु कला की साधना ही नहीं करता, उसमें रमता भी है। इसीलिए उन्होंने ईसा मसीह को 'श्रेष्ठतम कलाकार' एवं कुरान को अरबी साहित्य की सर्वाधिक पूर्ण कृति माना है। यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है।

गाँधी जी के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण को हम एक प्रकार का आध्यात्मिक उपयोगितावाद कह सकते हैं। वास्तविक कला को मानव की अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति देना चाहिए। पर यह अन्तरात्मा उनके अनुसार निरपेक्ष न रहकर सोद्देश्य नैतिक-सामाजिक कार्यों में प्रकाशित होती रहती है। इसी कारण 'कला कला के लिए' जैसे सिद्धान्त के प्रति गाँधी दर्शन में कोई सहानुभूति नहीं मिलती। अस्तु, कला कुछ लोगों के आधिपत्य में ही न रहे, उसकी अपील सार्वभौम हो—और तभी वह प्रकृति के सन्निकट पहुँच सकेगी—यह गाँधी जी का आग्रह था। कलाकार जनता के प्रति अपने कर्तव्यों के विषय में सदैव जागरूक रहे, तभी कला अपनी सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। कला की श्रेष्ठता की कसौटी गाँधी ने उसकी उपयोगिता स्वीकार की, 'कला का सम्बन्ध नीति, हितकारिता और उपयोगिता से नहीं है, केवल सौन्दर्य से है—यह कहना सौन्दर्य और कला को न समझने जैसा है। सत्य ही ऊँची से ऊँची कला और श्रेष्ठ सौन्दर्य है, और वह नीति, हितकारिता और उपयोगिता से भिन्न नहीं हो सकता।' गाँधी के अनुसार संगीत इसलिए श्रेष्ठ है कि 'वह प्रार्थना और नैतिक उन्नति में सहायक है', किसी रस-सिद्धान्त के कारण नहीं। उनका विश्वास था, 'चित्र, गायन आदि बाह्य आकारों की अपेक्षा शुद्ध आचरण में अभिव्यक्त मनुष्य की नैतिक पवित्रता कला का उच्चतर प्रकाशन है।'

गाँधीवाद में कला आत्म-मन्थन का प्रसाद है। 'मैं कला के दो भेद करता हूँ: अन्तर और बाह्य। इनमें से किस पर तुम अधिक जोर देते हो, यही सवाल है। मेरे नजदीक तो बाह्य की कीमत तब तक कुछ नहीं है—जब तक अन्तर का विकास न हो'। 'समस्त कला अन्तर के विकास का आविर्भाव ही है। जो कला आत्मा को आत्मदर्शन करने की शिक्षा नहीं देती, वह कला ही नहीं है तथा प्राकृतिक कलाकृतियों की अपेक्षा मानुषी-कला तुच्छ और अपूर्ण है। ...जिसमें सत्य ही अभिव्यक्त है, जिसमें ऊर्ध्वगामिनी प्रकृति की अभिव्यंजना या सहायता होती है, वही सच्ची कला है।'

वास्तव में गाँधी जी एक ओर तो कलाओं को आध्यात्मिक रूप से ऊपर उठने वाला मानते थे और दूसरी ओर ठोस सामाजिक दायित्वों की माँग भी करते थे। उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि जिन कविताओं—सूर, मीरा, तुलसी, नरसी मेहता आदि की कृतियों—की ओर थी, उनसे ये दोनों उद्देश्य पूरे भी होते थे।

गाँधीवाद की सात्त्विक तापसी भावना और आनन्द तथा सौन्दर्य का तिरस्कार, कला सर्जन या आस्वादन के अधिक अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त कला सम्बन्धी यह दृष्टिकोण, साहित्य आदि की अब तक स्थापित अपनी परम्पराओं एवं अभिव्यंजना पद्धतियों के बहुत अनुकूल नहीं पड़ता है। इसी कारण उसकी सीधी तात्त्विक अभिव्यक्ति हिन्दी में ही नहीं, गुजराती में भी विरल है। कहना तो यों चाहिए कि राजनीति में भी जो, गाँधी का प्रमुख क्षेत्र रहा, उनके अनुयायियों ने अहिंसा, त्याग आदि को साधन रूप से ही अपनाया, बहुत कम लोग उनकी जीवन-प्रणाली अन्तिम रूप से ग्रहण कर उसे सिद्धि रूप में अपना सके हैं।

हिन्दी साहित्य में गाँधी-व्यक्तित्व के अनेक पक्ष, उनकी व्यवहार-प्रक्रिया के विविध रूप तथा विचार सरणि के अंश खण्डशः अभिव्यक्त हुए हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन, स्वाधीनता-संग्राम में सत्य-अहिंसा के शस्त्रों का प्रयोग, आश्रमों की स्थापना द्वारा सुधार आदि गाँधीवाद के अनेक पक्ष अभिव्यक्त हुए हैं। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गबन' उपन्यासों तथा 'नमक का दरोगा', 'समरयात्रा' एवं अन्य कहानियों में गाँधीवाद का व्यवहार पक्ष जितना उभरकर आया है, उतना किसी अन्य लेखक में नहीं मिलता। 'कौशिक', सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा एवं जैनेन्द्र अन्य कथाकार हैं, जो गाँधीवाद की यत्र-तत्र अभिव्यक्ति करते हैं। कवियों में मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' और 'साकेत' में गाँधीवादी विचारों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। बालकृष्ण शर्मा नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, 'बच्चन' एवं सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कवियों ने भी गाँधीवाद को काव्य की वाणी दी है। यों 'कामायनी' में भी यत्र-तत्र गाँधीवाद की झलक आलोचकों ने देखी है। गाँधी का तत्त्व-दर्शन अपने मूल रूप में जितना कवि सियारामशरण गुप्त में उपलब्ध होता है, उतना अन्य किसी में नहीं। नगेन्द्र के अनुसार 'सियारामशरण, 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'नोआखाली' में तो प्रत्यक्ष रूप से गाँधीवाद के सिद्धान्तों की स्थापना करते ही हैं, इनके अतिरिक्त 'आर्द्रा' और 'मृण्मयी' की काव्यबद्ध कहानियों और 'नकुल' में भी गाँधीदर्शन की ही अभिव्यक्ति है। और यही बात 'दैनिकी' आदि की विचारात्मक स्फुट कविताओं में है।' '...हिन्दी में मूलतः दो लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने गाँधीदर्शन को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है—जैनेन्द्र और सियारामशरण गुप्त। इनमें से जैनेन्द्र की स्वीकृति एकान्त बौद्धिक है। उनकी आत्मा गाँधीदर्शन के शम सात्त्विक प्रभाव को ग्रहण नहीं कर सकी है। पन्त जी को गाँधीदर्शन की शान्त परिष्कृति पूर्णतः स्वीकार्य है; परन्तु वे कदाचित उसमें अभीष्ट कला का अभाव पाते

हैं, इसलिए अरविन्द के प्रति उन्हें अधिक आकर्षण है; किन्तु सियारामशरण गुप्त के हृदय और बुद्धि दोनों का गाँधीदर्शन के साथ पूर्ण सामंजस्य है। वह उनकी आत्मा में रम गया है।' गाँधी जी की जीवन-प्रणाली की सधी अभिव्यक्ति रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' में भी प्राप्त होती है। इधर आचार्य विनोबा भावे के प्रभाव में बहुत-सा स्फुट साहित्य गाँधीवादी विचारधारा के अनुकूल रचा गया है।

गाँधी का व्यक्तित्व इतना महान् था कि समकालीन जीवन का प्रत्येक पक्ष उनसे किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ है। कला और साहित्य भी इससे अछूते नहीं रहे। इस दृष्टि से हिन्दी के अधिकांश कवि और लेखकों ने उनसे किसी न किसी प्रकार प्रभावित होकर उनकी जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है। पर इस अभिव्यंजना में सतह पर का उद्घोष और नारेबाजी की स्तुति अधिक है, गहरी अनुभूति का अपेक्षाकृत अभाव है।

हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-1

जनवाद

जनवाद के मूल में स्थित 'जन' शब्द काफी पुराना है। भारतीय वाङ्मय में जनपद जन की प्रतिष्ठा काफी प्राचीन काल से चली आ रही है। यह शब्द समूहवाची है। जनवाद के लिए हम कह सकते हैं कि यह कला, साहित्य और जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो जनसामान्य को महत्त्व देता है। परन्तु यह परिभाषा अत्यधिक व्यापक है, जनवाद जिस विशेष अर्थ में आज हमारी साहित्य-समीक्षा में प्रयुक्त होता है, वह हाल की ही बात है तथा उसके विकास का एक मनोरंजक इतिहास भी है।

कला और साहित्य में आज जनवाद जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसके पीछे एक विशिष्ट दर्शन है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने जो समाज और उसके विविध रूपों और विचारों की ऐतिहासिक व्याख्याएँ कीं, वे कला और साहित्य पर भी लागू होती हैं। साहित्य की जो मार्क्सवादी विवेचना हुई, उसी से जनवाद का प्रादुर्भाव हुआ।

रूस में अक्टूबर क्रान्ति के बाद संकीर्ण मार्क्सवादियों ने 'प्रोलेट कल्ट' तथा 'ऑनगार्ड' जैसी संस्थाओं की स्थापना की और साहित्य में मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को पूरी तरह से लागू करने पर जोर देते हुए इन लोगों ने सर्वहारा-साहित्य की माँग की। इन 'कुत्सित समाजशास्त्रियों' का बोलबाला 1932 ई. तक रहा; फिर मैक्सिम गोर्की (Maxim Gorky) जैसे कलाकारों की आवाज पर इन संस्थाओं को भंग करके 'सोवियत लेखक संघ' की स्थापना हुई तथा लेखकों के सामने एक ठोस इतिहास-सम्मत तथा क्रान्तिकारी पहलुओं वाला व्यापक जीवन-दर्शन 'सामाजिक यथार्थवाद' (दे.) के नाम से रखा गया। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार के साथ-साथ सामाजिक यथार्थवाद को अभिव्यक्ति देने वाले साहित्य का प्रचार-प्रसार भी बढ़ा और उस समय ऐसे साहित्य को 'प्रगतिशील साहित्य' (progressive literature) कहा गया है। भारतवर्ष में भी यह विचारधारा आयी और 1936 ई. में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई; परन्तु रूस के समान ही साहित्यिक क्षेत्र में यहाँ भी एक लम्बे अर्से तक काफी खींचतान और संकीर्णता चलती रही। द्वितीय विश्वयुद्ध ने संसार के साधारणजन को झकझोर दिया। उसने अनुभव किया कि राजनेता तथा कतिपय अन्य न्यस्त स्वार्थों वाले थोड़े से व्यक्ति किस प्रकार उसे युद्ध की आँच में झोंककर

आहुतियाँ देते हैं। अतः एक प्रकार की राजनीतिक चेतना सारे विश्व में आयी, फलतः साधारणजन का, विश्व के सामान्य नागरिकों का महत्त्व बढ़ा। इस सम्बन्ध में आज के दोनों शक्ति-संघटनों में यह तथ्य द्रष्टव्य है कि कम्युनिस्ट ग्रुप 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' की बात करता है और अमरीकी समूह 'पीपुल्स कैपिटलिज़्म' का नारा लगाता है। चीन की अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुई क्रान्ति ने भी साम्यवादी चिन्ताधारा में लोकतान्त्रिक भावना को समाविष्ट किया और वहाँ भी जन का आदर बढ़ा। इस प्रकार ऐतिहासिक स्थिति ऐसी हो गयी, जिसमें जनवाद एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया, पर यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे साहित्य-विवेचन में 'जनवाद' कम्युनिस्ट स्रोतों से ही आया है। 1947 ई. के आसपास भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 'जनवादी' नामक एक प्रकाशन भी किया था। इस तरह की चिन्तनधारा का जो विकास हुआ, उसे यों भी कह सकते हैं—सर्वहारा साहित्य, प्रगतिशील साहित्य, जनवादी साहित्य।

उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति में भी यह अनुभव किया जाने लगा कि रूढ़ वर्ग-संघर्ष के आधार पर प्राचीन क्लासिकल साहित्य का मूल्यांकन कठिन है। ऐसी स्थिति में एक ऐसे मानदण्ड की आवश्यकता पड़ने लगी, जिसके अनुसार मार्क्सवाद को मूलतः न छोड़ते हुए भी उदार दृष्टिकोण को अपनाया जा सके। इस नये दृष्टिकोण (मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन ने पहले भी संकीर्णता का विरोध किया था, पर उनके जोशीले अनुयायियों ने प्रारम्भ में ध्यान नहीं दिया) के अनुसार हर युग के श्रेष्ठ कवि का दृष्टिकोण जनवादी होता है। वह अपनी वर्गगत सीमाओं का उल्लंघन कर सामान्यजन का साथ देता है। 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त पर यों सहानुभूति वह हर वर्ग को दे सकता है; पर नजर अन्ततः सामान्यजन की ओर होती है। यह जनवादी परम्परा हर युग के श्रेष्ठ साहित्य में देखी जा सकती है; जबकि प्रगतिवाद एक विशेष युग के साहित्य के लिए रूढ़ हो गया है। यह युग हिन्दी में 1936 ई. से आया है और इस धारा के साहित्यकार सचेष्ट भाव से मार्क्सवादी दर्शन का उपयोग करते हैं।

यों भी कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद (दे.) की एक विशेषता उसका जनवादी दृष्टिकोण है। मार्क्स के दर्शन से, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसके अनुसार उत्पादन के प्रकारों के साथ समाज में व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध भी बदलता जाता है और तदनुसार आचारशास्त्र, साहित्य आदि भी बदल जाते हैं। परन्तु एंगेल्स ने अर्थ और साहित्य के सीधे सम्बन्ध को अस्वीकार किया है। उसके अनुसार दर्शन, धर्म, साहित्य, कला आदि आकाशचारी विचारधाराएँ हैं; इसलिए इनका अर्थ से अप्रत्यक्ष और घुमावदार ही सम्बन्ध है। विचार अन्ततोगत्वा अर्थ के द्वारा ही निर्मित होते हैं, पर निर्मित हो जाने पर वे अपने विकास का स्वतन्त्र मार्ग अपना लेते हैं; बल्कि साहित्य, दर्शन आदि भी मानव के आर्थिक सम्बन्धों के परिवर्तन के प्रेरक बन जाते हैं। यहीं पर जनवादी स्थिति

सम्भव है, जबकि वह जनता के साथ मिलकर क्रान्ति को आगे बढ़ाने में प्रेरणा देती है। मार्क्सीय साहित्यशास्त्र के अनुसार कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण उसके वर्ग की मान्यता द्वारा होता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने वर्ग की विचारधाराओं का विरोध नहीं करता। वह अपने युग की ऐतिहासिक सीमा के भीतर समसामयिक विचारों का विरोध भी करता है; क्योंकि वह केवल उपभोक्ता नहीं, निर्माता भी है और निर्णायक रूप में वह एक वर्ग का सदस्य होते हुए भी उसके प्रतिक्रियावादी तत्त्वों का विरोध कर सकता है। साथ ही कला-विशेष की अपनी परम्परा भी उस पर प्रभाव डालती है।

मार्क्सपोषित इस जनवादी विचार-सरणि के अनुसार साहित्य में मानव के सामूहिक भावों की ही अभिव्यक्ति होनी चाहिए। व्यक्ति-वैचित्र्य के लिए उसमें स्थान नहीं है। लेखक में शक्ति जनता से आती है; जनता के साथ उसका सम्बन्ध जितना ही घनिष्ठ होता है, उसमें उतनी ही अधिक रचना-शक्ति आती है और उसकी रचना में उतना ही अधिक सौन्दर्य बढ़ता है। साहित्यकार को अनिवार्य रूप से जनता का पक्षधर होना ही पड़ेगा। इन सामूहिक भावों पर भी युग का नियन्त्रण होता है; परन्तु प्रत्येक युग में भविष्य के बीज भी विद्यमान रहते हैं। उसमें विरोधों का निरन्तर संघर्ष चलता है। युग के विकसनशील तत्त्व ही कलाकार के लिए उपादेय होते हैं। सच्चे कलाकार की प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि उन तत्त्वों का दर्शन कर लेती है, जो कि सामूहिक भावों में ही अन्तर्भूत रहते हैं; बल्कि यों कहें कि सच्चे सामूहिक भावों का निर्माण उन्हीं तत्त्वों से होता है।

इस विचारधारा के अनुसार 'साहित्य' आर्थिक परिस्थितियों से नियमित होता है, लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता है। साहित्य के सभी तत्त्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं, इन्द्रियबोध की अपेक्षा भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तनशील होते हैं। दो विभिन्न युगों में अपने अभ्युदय और ह्रास की विभिन्न परिस्थितियों में एक ही वर्ग दो तरह के साहित्य का पोषण करता है। सचेत लेखक सामाजिक विकास की समस्याओं के प्रति उदासीन न रहकर शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र और जातीय संस्कृति के लिए संघर्ष करते हैं। उनके चिन्तन, लेखन और कला का लक्ष्य ऐसा होना चाहिए कि पीड़ित वर्ग मुक्ति पाये। वे अपने साहित्य और कला से सामाजिक परिस्थितियों पर तभी असर डाल सकते हैं, जब वे इन परिस्थितियों को समझें और उनके बदलते हुए रूप को अपनी रचनाओं में जगह दें।

जनवादी कलाकार वर्ण्य-विषय की तरह शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने का समर्थक है। चामत्कारिक और ऊहा-प्रधान शैली का वह विरोधी होता है। जनवादी साहित्य की भाषा को सरल और प्रवाहपूर्ण बनाना चाहता है। उसमें अलंकरण और कलाबाजी के स्थान पर अनुभूति पर अधिक जोर दिया जाता है।

अत्यधिक कोमलता और मिठास को वह ह्रासजन्य मानता है। परन्तु घटनाओं का सूखा वर्णन भी उसे अभिप्रेत नहीं, बल्कि उसके अनुसार उनके अन्तस्तल में प्रवाहित जीवनी-शक्ति का विकासमान रूप ही चित्रित होना चाहिए। कलाकार का कार्य उस शक्ति का अनावरण और घटनाओं से सम्बन्धित करना है। सौन्दर्य का स्रोत वह वास्तविकता को मानता है और वास्तविकता का यह बोध अपनी सामयिक समस्याओं में भाग लेने से आता है।

मार्क्सवादी समीक्षाओं में यों तो हर युग के श्रेष्ठ कवि और काव्य को जनवादी माना गया है, चाहे वे वाल्मीकि, व्यास और कालिदास हों अथवा कबीर, सूर, तुलसी या मीरा हों। आधुनिक काल में जनवादी धारा के प्रारम्भकर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। 'प्रसाद', प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल ने उसे आगे बढ़ाया और आधुनिक काल के जनवादियों में से कुछ प्रमुख नाम ये हैं—'निराला, वृन्दावन लाल वर्मा, यशपाल, 'अश्क', नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव तथा राहुल सांकृत्यायन। यों किसी जमाने में सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा प्रभृति साहित्यकार भी जनवादी थे।

हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-1

हालावाद

'हाला' का शाब्दिक अर्थ है मदिरा। मदिरा का गुण है उसका नशा और तज्जन्य बेहोशी। इस बेहोशी में कुछ काल के लिए अन्य सारी चिन्ताएँ और कष्ट विस्मृत हो जाते हैं और पीने वाला उतने समय तक एक कल्पित लोक में सुखी रहता है। साहित्य में इस क्षणवादी दर्शन को 'हाला' और उसके सम्बद्ध प्रतीकों—मदिरालय, प्याला, सुराही, साकी के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली और इसे 'हालावाद' की संज्ञा प्राप्त हुई। इस प्रवृत्ति के अनुसार इस क्षणभंगुर और दुःखमय जीवन में आनन्द के जो क्षण मिल सकें उनका भरपूर उपभोग करना चाहिए। हालावादी के अनुसार 'प्रिये, इतनी मदिरा आज पिला दे, जिससे कि भूत के सन्ताप और भविष्य के भय भाग जायें' (खैयाम)।

हालावाद दर्शन अपने मूल स्थान फारस में एक प्रकार का सूफी-दर्शन है। रूमी, उमर खैयाम, हाफिज, राबिया आदि फारसी सूफी कवियों ने शराब, साकी, प्याला आदि को प्रतीक बना, इनके माध्यम से परोक्ष सत्ता की चर्चा की और रोजा, नमाज आदि धर्म के बाह्याचारों का खण्डन किया। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है कि इसलाम वैराग्यप्रधान धर्म है, पर उसके भीतर से एक कलात्मक विद्रोह इन कवियों द्वारा प्रस्फुटित हुआ, जिसके अनुसार कवि जाहिद को गालियाँ देता है। शराब पीने का निमन्त्रण देता है और बुतपरस्ती पर गर्व करता है। इन सूफी कवियों ने प्रेम की अतिशय भावुकता और तन्मयता को शराब की बेहोशी में प्रतीक रूप से दिखाया। लौकिक प्रेम (साकी के प्रेम) को अलौकिक प्रेम का आधार और प्रतीक बनाया। ऊपर से ये कविताएँ वासनात्मक हैं; पर भीतर से आत्मा (आशिक) परमात्मा (माशूक) के विरह, सौन्दर्य और प्रेम की पीर इनमें व्याप्त है।

सूफी तत्त्वदर्शन के इस प्रभाव को हम मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के कुछ कवियों (जैसे कबीर) के इस दावे में देख सकते हैं, जिसमें वे ज्ञान की शराब पीने की बात कहते हैं। परन्तु आधुनिक काल में (जिस काल की उपज 'हालावाद' शब्द है) न तो यह प्रभाव फारस से आया है और न सूफीदर्शन ही इसके पीछे है। अपनी एक विशेष अवसाद और निराशा की स्थिति में फिट्ज़जेराल्ड ने 19वीं शती के मध्य में

उमर खैयाम की पचहत्तर रुबाइयों का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो पहले-पहल सन् 1859 ई. में 'रूबाइयात उमर खैयाम' के नाम से प्रकाशित हुई। ये विशिष्ट रूबाइयाँ खिन्न मन की निराशाजनक अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनमें एक प्रकार के पलायनवाद (दे.) का स्पष्ट स्वर है—खैयाम के अनुसार 'तरुशाखा के तले रोटी का एक टुकड़ा, एक सुराही मदिरा, कविता की पुस्तक और पार्श्व में गाती हुई 'तुम' हो तो यह जंगल ही मेरे लिए स्वर्ग हो जाये'। यह पलायन और निराशा इसलिए है, क्योंकि 'पैरों के नीचे बालू की जमीन खिसकती जाती है, न मालूम कितने बड़े-बड़े नरेश, सत्ताधारी एवं विद्वान आये और चले गये। अतः जीवन शराब सूख जाये, इसके पहले ही उठो और मदिरा पी-पीकर भूख बुझा लो।' 'अनागत कल अभी उत्पन्न नहीं हुआ और विगत कल मर चुका है, अतः उनका चिन्तन छोड़ 'आज' को आनन्दमय बनाओ'। इस प्रकार फिट्ज़जेराल्ड (Fitzgeral) के अनुवाद में उमर खैयाम का दर्शन विषमताओं से पलायन कर कृत्रिम बेहोशी का क्षणवादी आनन्द ग्रहण कराने वाला है। हिन्दी में यह दर्शन प्रमुखतः फिट्ज़जेराल्ड के अनुवाद के माध्यम से ही आया।

यों तो सन् 1920 ई. के लगभग 'सरस्वती' में उमर खैयाम की यदा-कदा चर्चा होनी प्रारम्भ हो गयी थी; पर सन् 1930 ई. के आसपास खैयाम की रुबाइयों के अनुवादों की धूम मच गयी। पर ध्यान देने योग्य बात है कि इकबाल वर्मा 'सेहर' को छोड़कर (इन्होंने मूल फारसी से अनुवाद किया) शेष सारे अनुवाद फिट्ज़जेराल्ड के अनुवाद के ही हुए। हालावाद के मुख्य प्रयोक्ता एवं प्रवर्तकों में से एक बच्चन ने इस प्रश्न को उठाते हुए कि ऐसी क्या विशेष सामाजिक स्थिति थी, जिसने सारे देश का ध्यान खैयाम की ओर खींचा, कहा है कि वास्तव में सन् 1930 का समय ही ऐसा था। प्रथम महायुद्ध तक भारतीय मध्य वर्ग विकसित हो गया था। शिक्षा, साहित्य, राजनीति आदि में वह महत्त्वपूर्ण बन चुका था। मध्य वर्ग के जागरण से सम्बन्धित सार्वभौम प्रवृत्ति 'व्यक्तिवाद' पूरे जोश में थी (स्वयं राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का मूल दर्शन व्यक्तिवाद का ही रूप है)। परन्तु सन् 1920 ई. से लेकर 1930-31 ई. तक लगातार सत्याग्रह संग्राम की असफलताओं, आर्थिक क्षेत्र में विश्वव्यापक मन्दी और बेकारी ने उसे अत्यधिक निराश और विक्षुब्ध कर दिया था। सामाजिक-नैतिक मूल्यों के क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान और पश्चिमी सभ्यता ने उसे उन्मुक्त मन वाला कर दिया था, पर प्राचीन मर्यादाएँ इतनी गहरी थीं कि उसकी यह स्वच्छन्दता खुलकर विकास के लिए अवकाश न पाती थी। अतः उसके मन की कुण्ठाएँ बढ़ती जाती थीं। सारे देश में अवसाद, निराशा और कुण्ठाओं का साम्राज्य था। ऐसे समय में उमर खैयाम की रुबाइयों ने उपयुक्त भूमि प्राप्त की। 'रुबाइयात मनुष्य की जीवन के प्रति आसक्ति और जीवन की मनुष्य के प्रति उपेक्षा का गीत है।' हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त (मधुप), केशवप्रसाद मिश्र, बच्चन तथा सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा प्रस्तुत खैयाम की रुबाइयात के अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यथार्थ की निराशा और तरुणाई की रोमैण्टिक इच्छाओं के संघर्ष में पड़े युवकों की एक शरणस्थली मिली मदिरालय में। बाला, हाला, प्याला के कल्पित लोक में उसे वर्तमान के गम को गर्क करने का स्थान मिला। उसने उस नशे में 'ज्ञान, ध्यान, पूजा, पोथी के स्थूल बन्धनों को तोड़ने की पुकार की, क्योंकि जब वासना तीव्रतम थी, तब उसे संयमी बनना पड़ा था। उसकी अल्पतम इच्छाओं को बन्दी बनाने वाला संसार क्रीड़ास्थल नहीं, कारागार था'। 'नवीन', 'हृदयेश', भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, पद्मकान्त मालवीय, 'अंचल' आदि अनेक कवियों ने इस मादकता और बेहोशी के गीत गाए और इन सभी में वही 'प्रतिपल के परिवर्तन के कारण क्षणवादी' दृष्टिकोण है। परिमाण और ख्याति की दृष्टि से इनमें बच्चन का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सन् 1933 ई. से 1936 ई. के बीच में उनके तीन काव्यसंग्रह 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' क्रमशः निकले। सन् 1933 ई. में ही उनका 'खैयाम की मधुशाला' अनुवाद भी आया। बच्चन को ख्याति और तीखे आक्षेप दोनों मिले। आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास उन्होंने 'मधुकलश' में किया है। वासनामय और निराशायुक्त गीत गाने के आरोप का अपने काव्य में उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि 'चूँकि कवि अपने स्वप्नों, कल्पनाओं, आकांक्षाओं को मुक्त अभिव्यक्ति देता है, इसीलिए जग उसके उद्गारों को वासनामय कहता है, पर यदि वह इन्हें छिपाता तो संसार उसे साधु समझता।' यों बच्चन ने अपनी रचनाओं को एक प्रतीकार्थ भी देना चाहा है, जिसके अनुसार जीवनधारा के तट पर ही कवि की सुन्दर-सी बस्ती है, जिसे दुनिया मधुशाला कहती है। तन की क्षणभंगुर नौका पर चढ़कर यात्री इस सरिता तट पर आकर स्वप्निल छाया प्राप्त करता है। शुष्क सत्य उपयोगी हो सकता है, पर सुखदायक तो सरस स्वप्न ही है। तथा जीवन में खोना और पाना सब नियति के अधीन है, पर यह तो दार्शनिकीकरण है। इस 'वाद' की सारी विशेषता बच्चन की इस एक पंक्ति में है—'मिट्टी का तन, मस्ती का मन, क्षणभर जीवन मेरा परिचय'।

साहित्यिक दृष्टि से छायावाद की वेदना और घनीभूत होकर निराशा में परिणत हो 'हालावाद' का रूप धारण कर लेती है। और जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों ने प्रगतिवाद को स्थापित किया, उन्होंने ही छायावाद की इस प्रक्षेपित धारा 'हालावाद' को भी सन् 1936 ई. में ही समाप्त कर दिया।

हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-1

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का जन्म सन् 1906 ई. में सहारनपुर जिला के देवबन्द ग्राम में हुआ था। प्रारम्भ से ही राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यों में गहरी दिलचस्पी लेने के कारण आपको अनेक बार जेल-यात्रा करनी पड़ी। पत्रकारिता के क्षेत्र में भी आपने बराबर कार्य किया है। 'ज्ञानोदय' का आप सम्पादन कर चुके हैं तथा सहारनपुर से आप आजकल 'नयाजीवन' नामक पत्रिका सम्पादन कर रहे हैं। आपने अपने लेखन के अतिरिक्त अपने वैयक्तिक स्नेह और सम्पर्क से भी हिन्दी के अनेक नये लेखकों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया है।

'प्रभाकर' की अबतक सात पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें 'नयी पीढ़ी, नये विचार' (1950), 'जिन्दगी मुस्करायी' (1954), 'माटी हो गयी सोना' (1957), आपके रेखाचित्रों के संग्रह हैं। 'आकाश के तारे—धरती के फूल' (1952) प्रभाकर जी की लघु कहानियों के संग्रह का शीर्षक है। 'दीप जले, शंख बजे' (1958) में, जीवन में छोटे पर अपने-आप में बड़े व्यक्तियों के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों का संग्रह है। 'जिन्दगी मुस्करायी' (1954) तथा 'बाजे पायलिया के घुँघरू' (1957), नामक संग्रहों में आपके कतिपय छोटे प्रेरणादायी ललित निबन्ध संगृहीत हैं।

'प्रभाकर' हिन्दी के श्रेष्ठ रेखाचित्रों, संस्मरण एवं ललित निबन्ध लेखकों में हैं। यह द्रष्टव्य है कि उनकी इन रचनाओं में कलागत आत्मपरकता होते हुए भी एक ऐसी तटस्थता बनी रहती है कि उनमें चित्रणीय या संस्मरणीय ही प्रमुख हुआ है—स्वयं लेखक ने उन लोगों के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को स्फीत नहीं करना चाहा है। उनकी शैली की आत्मीयता एवं सहजता पाठक के लिए प्रीतिकर एवं हृदयग्राहिणी होती है।

कृष्णदेव सिंह

जन्म 1865 ई. में भरतपुर के प्रसिद्ध राजवंश में हुआ था। भारतेन्दु युग के लेखक थे। इनका लिखा हुआ 'माधुरी रूपक' नामक एक मौलिक नाटक मिलता है तथा कुछ स्फुट कविताएँ भी हैं।

कृष्णानन्द गुप्त

जन्म ललितपुर (झाँसी) में सन् 1906 में हुआ था। लेखक के रूप में इनकी प्रसिद्धि 'प्रसाद के दो नाटक' (1933) नामक पुस्तक से हुई। इस पुस्तक में कृष्णानन्द जी ने 'स्कन्दगुप्त' एवं 'चन्द्रगुप्त' नामक प्रसाद के दो नाटकों की कटु आलोचना की है। इन्होंने इन नाटकों पर अनैतिहासिकता का भी आक्षेप लगाया है तथा इब्सन के यथार्थवादी रंगमंच के आधार पर इन नाटकों को अत्यन्त त्रुटिपूर्ण बताया है। इस पुस्तक की काफी चर्चा भी हुई, परन्तु इसके बाद इनकी कोई आलोचनात्मक कृति प्रकाश में नहीं आयी है। इनके दो कहानी-संग्रह 'अंकुर' और 'पुरस्कार' क्रमशः 1929 और 1939 में प्रकाशित हुए हैं तथा 'केन' नामक एक उपन्यास भी 1930 में प्रकाशित हुआ था किन्तु इनके कथा-साहित्य सम्बन्धी इस लेखन को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया। जीवशास्त्र पर भी एक पुस्तक 'जीव की कहानी' (1941) प्रकाशित हुई है।

इनका मुख्य कार्यक्षेत्र पिछले कुछ वर्षों से लोक-वार्ता सम्बन्धी रहा है। इन्होंने लोक-वार्ता से सम्बद्ध 'मधुकर' नामक पत्र का सम्पादन भी किया है। 'बुन्देलखण्डी कहावत संग्रह' एवं 'बृहत् हिन्दी कहावत-कोश' इस क्षेत्र में इनके मुख्य ग्रन्थ हैं। वास्तव में हिन्दी में लोक-वार्ता के शोधकर्ता और संग्राहक के रूप में इनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

केशव प्रसाद सिंह

इनका रचनाकाल 1905 ई. है। द्विवेदी युग में आकर हिन्दी-गद्य में विविधता और शैली में अपेक्षाकृत प्रौढ़ता आती है। श्रीकृष्ण लाल के अनुसार "विकास का प्रथम चिह्न केशव प्रसाद सिंह के 'आपत्तियों का पहाड़' नामक निबन्ध में पाया जाता है, जो अंग्रेजी के एक निबन्ध के आधार पर लिखा गया था" (आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ. 349)। स्वप्नों के रूप में कथात्मक निबन्ध 'भारतेन्दु युग' में भी लिखे गये थे, पर भाषा की जो व्यंजनाशक्ति एवं कला का जितना अभिराम रूप इस निबन्ध में प्राप्त होता है, उतना पहले के निबन्धों में नहीं। लेखक सुकरात की एक उक्ति पर विचार करते हुए सो जाता है और उसे एक बहुत ही रोचक स्वप्न दिखायी देता है। एक स्थान पर लोगों द्वारा फेंकी गयी आपत्तियों के बण्डलों से पहाड़ बन जाता है, फिर सभी लोग अपने-अपने मन की एक आपत्ति चुनना चाहते हैं। एक नयी आपत्तियों के अनुभव का वर्णन करते-करते लेखक जाग पड़ता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचना में लेखक की कल्पना को खुलकर खेलने एवं व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का अपूर्व अवसर मिलता है। इसी कारण कलारूप की दृष्टि से यह

निबन्ध बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। इसके अनुकरण पर अन्य कथात्मक निबन्ध भी लिखे गये हैं।

गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

उन्नाव जिले के हड़हा नामक ग्राम में सन् 1883 ई. में जन्म हुआ। मृत्यु 1972 ई. में हुई। हिन्दी और उर्दू के साथ उन्हें मिडिल स्कूल तक की शिक्षा प्राप्त हुई। इसके पश्चात् 16 वर्ष की आयु में ही सन् 1899 ई. में मिडिल स्कूल के अध्यापक हो गये। अध्यापन के साथ ही हिन्दी के प्राचीन साहित्य, उर्दू एवं फारसी साहित्य आदि का अध्ययन उन्होंने बराबर जारी रखा। प्रारम्भ से ही साहित्य के इस प्रेम ने उन्हें शीघ्र ही साहित्यसर्जन के क्षेत्र में ला खड़ा किया। सन् 1904 या 1905 में मनोहरलाल मिश्र के 'रसिकमित्र' में उनकी पहली कविता प्रकाशित हुई थी। युवक कवि 'सनेही' को एक बात का विश्वास पहले से ही था कि कवि को शिक्षा, साधनों एवं अभ्यास की बड़ी आवश्यकता होती है। वे यावज्जीवन इस तैयारी में लगे रहे। इसी कारण उनकी अभिव्यंजना सदा अत्यधिक अनुशासित एवं रचना मर्यादित रही है। कुछ दिनों की इस तैयारी एवं अभ्यास के बाद सन् 1913 में गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में उनकी 'कृषक-क्रन्दन' कविता प्रकाशित हुई थी। इस कविता ने तत्काल आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का ध्यान आकर्षित किया और उन्होंने 'सरस्वती' में लिखने के लिए 'सनेही' जी को आमन्त्रित करते हुए दहेज की कुप्रथा पर लिखने का आग्रह किया। उसी वर्ष द्विवेदी जी द्वारा दिये गये इस विषय पर उनकी कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। फिर वे लम्बे अरसे तक नियमित रूप से 'सरस्वती' में लिखते रहे। इस प्रकार गणेश जी ने उन्हें राष्ट्रीय कविताओं के लिए प्रेरणा दी एवं द्विवेदी जी ने समाज-सुधार तथा ऐतिहासिक-पौराणिक आख्यानों की ओर आकर्षित किया। स्वामी नारायणानन्द द्वारा सम्पादित 'कवीन्द्र' पत्रिका में भी 'सनेही' जी नियमित रूप से लिखते रहे—पर यहाँ पर क्षेत्र परम्पराप्राप्त विषयों का चित्रण रहा। 'कवीन्द्र' के बन्द हो जाने के कुछ दिन बाद सन् 1928 में उन्होंने 'सुकवि' नामक 'काव्य-पत्रिका' निकाली, जिसने सन् 1950 तक अनवरुद्ध गति से हिन्दी कविता के सर्जन एवं प्रसार में अपने ढंग से योग दिया है। सैकड़ों कवियों की काव्याभिव्यक्तियों को इसने उपस्थित कर उस भूमि का काम किया है, जिस पर खड़ी बोली कविता का भवन खड़ा हो सका। समस्या-पूर्तियों आदि के द्वारा भाषा का परिष्करण एवं भाव-क्षेत्र का विस्तार ही नहीं हुआ, वाग्वैदग्ध्य की भी स्थापना खड़ी बोली में हो सकी। आज के कितने ही प्रसिद्ध कवियों या लेखकों की प्रारम्भिक रचनाओं को प्रकाशित करके 'सुकवि' ने उन्हें प्रोत्साहन दिया था तथा उनकी रचनाओं की अभिव्यंजना पद्धति को 'सुकवि' सम्पादक 'सनेही' ने सँवारा

था। इस क्षेत्र में उनके प्रभाव एवं आचार्यत्व का इस बात से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी में कवियों का एक 'सनेही-सम्प्रदाय' ही है, जो कानपुर में ही नहीं, कानपुर के बाहर भी दूर-दूर तक फैला है—तथा 'सनेही' जी को अपना गुरु कहकर गौरव का अनुभव करता है। कवित्त और सवैया छन्दों में काव्यरचना इस सम्प्रदाय की मुख्य शैली है।

गया प्रसाद शुक्ल का प्रारम्भ में कविनाम 'सनेही' था, परन्तु 'प्रताप' में छपने वाली राष्ट्रीय कविताएँ उस युग में एक अध्यापक लिखे—यह सरकार को सह्य न था। परिणामस्वरूप नाना प्रकार के दबावों से बचने के लिए उन्होंने 'त्रिशूल' उपनाम से कविताएँ लिखनी शुरू कर दीं एवं उनकी भाषा में भी उर्दू का रंग कुछ गहरा कर दिया। 'सनेही' ही त्रिशूल हैं, यह बात तबतक रहस्य ही बनी रही, जबतक कि वे मई सन् 1921 में अध्यापकी छोड़कर कानपुर नहीं आ गये। परन्तु 'त्रिशूल' नाम से लिखना उन्होंने फिर बन्द नहीं किया। परुष संवेदनाएँ एवं राष्ट्रीय संघर्ष का स्वर 'त्रिशूल' नामांकित कविताओं में प्रकाश पाता रहा एवं शृंगार आदि परम्पराप्राप्त विषयों पर कविता लिखने का काम 'सनेही' नाम के जिम्मे रहा। 'सनेही' नाम से लिखी जाने वाली कविताओं में खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा दोनों ही का टकसाली रूप हमें प्राप्त होता है। 'त्रिशूल' ने खड़ी बोली हिन्दी तथा उर्दू का समन्वय अपने काव्य में करके उसे हिन्दी-उर्दू भाषी जनता के लिए सुबोध बनाना चाहा था परन्तु भाषा का यह समन्वय बहुत दूर तक सफल नहीं हो सका। इन तीनों ही काव्यभाषाओं में उन्होंने अनुमानतः बीस सहस्र से ऊपर छन्द लिखे हैं, जो दुर्भाग्यवश अबतक पूरी तरह संगृहीत नहीं हो सके हैं। इसी कारण उनके काव्य का समुचित मूल्यांकन फिलहाल कुछ कठिन है। 'प्रेम-पचीसी', 'कृषक क्रन्दन', 'राष्ट्रीय मन्त्र', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'कला में त्रिशूल', 'संजीवनी' और 'करुणा कादम्बिनी' नामक उनकी कुछ छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ ही प्रकाशित हुई हैं। खड़ी बोली हिन्दी को काव्य-माध्यम के रूप में विकसित, पुष्ट एवं प्रसारित करने में उनका स्थान किसी भी अंश में श्रीधर पाठक, 'हरिऔध' एवं मैथिलीशरण गुप्त से कम नहीं है। उर्दू की परम्परा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण खड़ी बोली की प्रकृति का उन्हें ज्ञान था और इसी कारण उसे वे इतने परिष्कृत रूप में उपस्थित कर सके थे। द्विवेदी युग के कुछ पहले से ही ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली का जो विवाद प्रारम्भ हो गया था उसमें बहुधा खड़ी बोली के समर्थकों को दोनों ही माध्यमों में लिखकर खड़ी बोली की शक्ति प्रमाणित करनी पड़ी थी। 'सनेही' जी भी ऐसे ही कवियों में थे।

राष्ट्रीय भावधारा की अपनी कविताओं में 'सनेही' जी ने एक ओर तो प्राचीन आदर्श चरित्रों एवं पौराणिक आख्यानों का इतिवृत्तात्मक वर्णन किया है तो दूसरी ओर दलित-पीड़ित-शोषित जन की वेदना का मार्मिक चित्रण करते हुए उसके निराकरण का

आवाहन कर उन्होंने पाठक की चेतना को जाग्रत एवं विशद बनाने का ऐतिहासिक कार्य किया है। 'करुणा कादम्बिनी' में संगृहीत ये रचनाएँ समसामयिक कष्ट, शोक एवं करुणा की कहानियाँ हैं, जो सीधे-सीधे भी अभिव्यक्त हुई हैं एवं इतिवृत्तात्मक युग के कवि के मुख से मिलते-जुलते पौराणिक आख्यानों के रूप में भी फूट पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त सत्याग्रह संग्राम में जाने वाले वीरों का उन्होंने स्वागत ही नहीं किया, उनके गाने के लिए बलिदानी गीतों एवं प्रयाण गीतों का भी प्रणयन किया। आर्थिक विषमता, अस्पृश्यता, भेदभाव, देश, भाषा की समस्याएँ विविध रूपों में 'त्रिशूल' के काव्य में अभिव्यक्त हुई हैं।

पर गया प्रसाद शुक्ल केवल 'त्रिशूल' ही नहीं थे, वे 'सनेही' भी थे। अपने इस 'सनेही' रूप में उन्होंने कलात्मक क्षमता का पूरा परिचय दिया है। 'त्रिशूल' की कविताएँ जहाँ अत्यधिक सामयिक एवं क्षणिक-आवेगसम्मत हैं, वहाँ 'सनेही' अधिक प्रशान्त, पर स्थायी हैं। इस दूसरे रूप में भाषा एवं संवेदना दोनों ही अधिक अनुशासित हैं। उनके शृंगार या नीति के छन्द ब्रजभाषा के सिद्धहस्त छन्दों के साथ सुविधापूर्वक रखे जा सकते हैं। अन्तर मात्र इतना है कि अत्यधिक अलंकरण के स्थान पर एक प्रकार की रोमाण्टिक कल्पना और वैयक्तिक अनुभूति उन्हें बराबर नया बनाये रही है। इसके अतिरिक्त अर्थगाम्भीर्य, बिम्बविधान, शब्दचयन एवं मुहावरेदार भाषा का प्रवाह इन छन्दों को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बना सके हैं। उर्दू परम्परा से निकट का परिचय होने के कारण उनकी अभिव्यंजना में उक्ति का चमत्कार एवं सीधेपन की वक्रता और चोट भी प्रकट हुई है। ऊहात्मक प्रसंग और चमत्कार लाने में उन्होंने अपने उर्दू-फारसी ज्ञान का समुचित प्रयोग किया है।

हिन्दी कविता को कवि-सम्मेलनों के माध्यम से जनता तक पहुँचाने का मुख्य श्रेय भी 'सनेही जी' को ही है। वे कवि-सम्मेलनों के वास्तविक प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं। इस कार्य ने हिन्दी-कविता को समाज से प्रारम्भ से ही सम्बन्धित रखने में बड़ी सहायता दी है—परन्तु कवि-सम्मेलनों ने उनकी रचनाक्षमता को भी धक्का पहुँचाया है। प्राचीन परिपाटी के रसबोध में पगी जनता को परितुष्ट करने में वे अपनी नवीनता खोते गये—उनके भाव जगत का भी सूक्ष्मता के स्तर पर विकास नहीं हो सका। इसी कारण जहाँ छायावादी कवि शिल्प एवं भाव के अत्यधिक समृद्ध एवं नूतन प्रयोगों की ओर बढ़े, वहीं वे द्विवेदीयुगीन प्रणालियों से भी पीछे हटकर रीतिकाल के प्रभाव को अधिकाधिक ग्रहण करते गये। इसका प्रमाण और प्रभाव कवि-सम्मेलनों में अत्यन्त स्थूल रूप से पाया जा सकता है। छायावादी काव्यचेतना के रसबोध में पगे श्रोता-समाज ने धीरे-धीरे 'सनेही' स्कूल के छन्दकारों को अपदस्थ कर दिया एवं नये गीतकार उस पर अपना कब्जा जमाते गये।

चतुर्भुज औदीच्य

चतुर्भुज औदीच्य (रचना-काल 1904 ई.) द्विवेदी युग के निबन्धकार थे। ऐसा लगता है कि ये उन लेखकों में से थे, जो साहित्य को जीवन का अनिवार्य अंग या व्यापार न बनाकर कभी-कभी लिखते हैं। ऐसे लेखक गौण होते हुए भी साहित्य के लिए अपेक्षित वातावरण बनाने में सहायक होते हैं। औदीच्य जी का 'कवित्व' नामक निबन्ध बहुप्रशंसित है। 'कवित्व' निबन्ध में भाव, उपादान और शैली सभी महत्त्वपूर्ण थे (श्रीकृष्णलाल: 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ. 354)। इस निबन्ध का मूलाधार बंगला के पंचानन तर्करत्न का 'कवित्व' शीर्षक निबन्ध है। यह रूप और शैली में खण्ड-काव्य के निकट पहुँचता है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में कवित्व की प्रशंसा, द्वितीय में कवित्व का जन्म, तृतीय में कवित्व का भाषा से विवाह तथा चतुर्थ में मिथ्या (कल्पना) का कवित्व से सम्बन्ध स्थापन किया गया है। "इस प्रकार लेखक ने एक बहुत ही कवित्वपूर्ण रूपात्मक कहानी की सृष्टि की, जिसमें कवित्व, भाषा, मिथ्या और कल्पना का मानवीकरण हुआ है।" सम्भवतः ऐसे ही निबन्धों को ध्यान में रखकर रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की भाषा का प्रयोग आलोचना के क्षेत्र में अनुचित माना है ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', सप्तम संस्करण, पृ. 515-516)। वस्तुतः इस निबन्ध को आलोचना के क्षेत्र से अलग कर शुद्ध कलात्मक निबन्ध के अन्तर्गत परिगणित करना चाहिए।

जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी'

जन्म सन् 1895 में उन्नाव जिले में हुआ तथा सन् 1957 में कानपुर में मृत्यु हुई। वे संस्कृत, बंगला, फारसी और उर्दू के भी अच्छे जानकार थे। कानपुर में लोहे का अच्छा व्यवसाय था।

'हितैषी' की 'मातृगीता', 'कल्लोलिनी' तथा 'बैकाली' नामक तीन कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मूल फारसी से उमरखैयाम की रुबाइयों का एक अनुवाद तथा 'दर्शना' नामक काव्य-ग्रन्थ के कतिपय अंश कानपुर से प्रकाशित होने वाली 'प्रतिमा' में प्रकाशित हुए थे—पर पुस्तक रूप में वे नहीं आ सके। इनके अतिरिक्त उनकी फुटकल कविताओं, ग़ज़लों एवं रुबाइयों का भी संकलन और प्रकाशन होना है।

'हितैषी' जी उस परम्परा के सर्वोत्तम कवि थे, जिसे 'सनेही स्कूल' के नाम से अभिहित किया जाता है। कवित्त और सवैयों के माध्यम से उन्होंने पुराने काव्य-विषयों पर ही नहीं लिखा, नयी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों एवं उपेक्षित विषयों को भी चित्रित करना चाहा है। 'कल्लोलिनी' वस्तुतः इनकी कविताओं का प्रतिनिधि संग्रह है। सवैया के अन्तर्गत मत्तगयन्द इन्हें विशेष प्रिय रहा है तथा उसे उप-अन्त्यानुप्रास

की स्थापना द्वारा अधिक नाद-सक्षम बनाया है। उनके सवैये अत्यन्त अर्थगर्भित हो सके हैं। चतुर्थ पंक्ति पर अधिक बल दिये जाने के बावजूद उनके सवैयों की सभी पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त संस्कृत के वर्णवृत्तों एवं उर्दू छन्दों का भी उन्होंने कुशल प्रयोग किया है। उनकी भाषा की प्रशंसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है, "यदि खड़ी बोली की कविता आरम्भ में ऐसी ही सजीवता के साथ चली होती, जैसी इनकी रचनाओं में पायी जाती है तो उसे रूखी और नीरस कोई न कहता" (पृ. 611)। छायावादी युग में जिस दार्शनिकता और प्रकृति-प्रेम के दर्शन हमें होते हैं वे इनके काव्य में भी विद्यमान हैं। आपकी बहुत-सी कविताएँ हास्य-व्यंग्य सम्बन्धी भी हैं। स्वाधीनता संग्राम के दौरान बहुप्रचलित पंक्तियाँ—"शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले। वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशाँ होगा" आप की ही लिखी हुई हैं।

नाथूराम शर्मा 'शंकर'

सन् 1859 ई. में अलीगढ़ जिले के हरदुआगंज नामक कस्बे में जन्म हुआ एवं वहीं सन् 1935 ई. में उनका देहावसान भी हुआ। हिन्दी, उर्दू एवं फारसी का आपको प्रारम्भ में अध्ययन कराया गया, बाद में संस्कृत में भी पूरी तरह योग्यता अर्जित कर ली। नक्शानवीसी और पैमाइस का काम सीखकर वे कानपुर में नहर विभाग में नौकरी करने लगे। अपने कार्य में तो वे दक्ष थे ही, दफ्तर के अंग्रेज अफसरों को हिन्दी भी सिखाते थे। लगभग साढ़े सात वर्ष वे कानपुर में इस पद पर काम करते रहे, फिर अचानक ही एक दिन स्वाभिमानी नाथूराम शर्मा ने अपने सम्मान के प्रश्न पर नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और जन्म-स्थान को लौट गये। जीविका के लिए उन्होंने नये सिरे से आयुर्वेद का अध्ययन किया और शीघ्र ही पीयूषपाणि वैद्य के रूप में विख्यात हो गये।

रचना का स्रोत उनमें प्रारम्भ से ही विद्यमान था। कहते हैं कि तेरह वर्ष की आयु में ही अपने एक साथी पर उन्होंने दोहा लिखा था। वह उर्दू-फारसी का जमाना था। मुशायरों का जोर था। बालक नाथूराम की सृजनशक्ति पहले से इस उर्दू माध्यम की ओर ही आकृष्ट हुई और वे हरदुआगंज के मुशायरों में शीघ्र ही अपना 'कलाम' पढ़ने के लिए आमन्त्रित होने लगे, परन्तु इस समय तक आर्य समाज की हवा बहने लगी थी—बालक नाथूराम पर उसका भी प्रभाव पड़ा एवं कानपुर आने पर वह प्रभाव ही गहरा नहीं हुआ, भारतेन्दु मण्डल के अन्यतम नक्षत्र पं. प्रतापनारायण मिश्र और उनके 'ब्राह्मण' के सम्पर्क में आये। उनकी प्रतिभा 'हिन्दी' के माध्यम से यहीं से फूटी।

'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', 'गर्भरण्डा-रहस्य' नामक ग्रन्थ आपके जीवनकाल

में ही प्रकाशित हो गये थे। सन् 1951 ई. में उनकी मुक्तक कविताओं के पाँच संग्रह (गीतावली, कविता कुंज, दोहा, समस्या पूर्तियाँ, विविध रचनाएँ) 'शंकर सर्वस्व' नामक संग्रह में एक साथ संगृहीत होकर प्रकाशित हो गये हैं। इनके अतिरिक्त 'कलित कलेवर' नामक नख-शिख वर्णन सम्बन्धित रीतिकालीन परम्परा का काव्यग्रन्थ और उन्होंने लिखा था, पर समसामयिक जीवन और प्रकृत्तियों के प्रति जागरूक शंकर जी ने उसे अपने ही हाथों नष्ट कर दिया। 'शंकर सतसई' नामक उनका एक अन्य ग्रन्थ जल कर नष्ट हो गया था।

शंकर जी का रचनाकाल भारतेन्दु युग से लेकर द्विवेदी-युग तक प्रसरित है। वे वास्तव में एक प्रकार से संक्रान्ति युग के कवि थे। उनका रचनाकाल का सबसे अधिक उर्वर समय वह था, जब आर्य समाज एवं भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ रहे थे। भारतेन्दु युग की परिणति द्विवेदी युग में हो रही थी। साहित्य के विषय ही नहीं, भाषा भी बदल गयी थी। उस समय पुराने के प्रति मोह भी था, विवेक के आलोक में नये को ग्रहण करने की चेष्टा भी की थी। महाकवि 'शंकर' में ये सभी प्रवृत्तियाँ बद्धमूल थीं।

'शंकर' जी अपनी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार तथा युगीन रुचियों में दो पूर्ववर्ती परम्पराओं से सम्बन्धित थे। एक परम्परा उर्दू-काव्य और उसके मुशायरों की थी तथा दूसरी रीतिकालीन ब्रजभाषा के कवित्त, सवैया एवं दोहों की शृंगारी परम्परा थी। दोनों ही परम्पराएँ चमत्कार एवं वाक्-कौशल पर बल देती थीं। दोनों में ही अभ्यास एवं लक्षणशास्त्र पर अत्यधिक बल दिया जाता था। पदक, पुरस्कार, उपहार एवं वाहवाही कवि के लिए नितान्त गौरव का विषय होते थे। 'शंकर' भी उर्दू और हिन्दी में चमत्कारपूर्ण कविताएँ लिखते थे, समस्या पूर्तियों में तो वे निष्णात थे। जीवन में सैकड़ों समस्या पूर्तियाँ उन्होंने कीं और उनके आधार पर सम्मानित हुए। 'भारत प्रज्ञेन्दु', 'साहित्य सुधाधर' आदि दर्जनों उपाधियाँ उन्हें अपनी इस सहज चमत्कारिणी कवित्व शक्ति के लिए प्राप्त हुई थीं। उनकी अभिव्यंजना का यह वैदग्ध्य नवीन भाषा एवं काव्य के नवीन विषयों को अपनाने के बाद भी सुरक्षित रहा।

उनका वास्तविक महत्त्व इन चमत्कारपूर्ण व्यंजनाओं की अपेक्षा उस शक्ति में निहित है, जिसके कारण वे नये जीवन की समस्याओं को समझ सके थे। उस जीवन ने उन्हें आन्दोलित एवं प्रेरित किया था। यदि यह शक्ति उनमें न होती तो न तो रीतिकाल के रस-बोध में पगा उनका मन देश-भक्ति एवं समाज-सुधार की सैकड़ों फुटकर कविताएँ एवं 'गर्भरण्डा रहस्य' जैसा प्रबन्ध-काव्य एक सामाजिक समस्या पर लिख पाते और न वे खड़ी बोली को काव्य के क्षेत्र में इतने सरस शक्तिपूर्ण ढंग से आत्मविश्वासपूर्वक प्रयुक्त कर पाते। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब गद्य-पद्य की भाषाओं को एक रूप करने के लिए 'सरस्वती' के माध्यम से प्रयास प्रारम्भ किया, तब खड़ी बोली की 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं के बारे में अपनी राय

लिखते हुए डॉ. ग्रियर्सन ने उन्हें नीरस बताया था। द्विवेदी जी ने 'शंकर' जी से 'सरस्वती' की लाज रखने की प्रार्थना की। इस प्रार्थना के परिणामस्वरूप 'शंकर' की 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताएँ पढ़कर ग्रियर्सन ने खड़ी बोली की कविताओं के सम्बन्ध में अपनी सम्मति को परिवर्तित करते हुए द्विवेदी जी को लिखा—"अब मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि खड़ी बोली में भी सुन्दर और सरस कविताएँ हो सकती हैं।" खड़ी बोली में उनके लिखे कवित्त आज भी बेजोड़ माने जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में गतानुगतिकता और आडम्बर को छिन्न-भिन्न करके सर्वथा नवीन प्रणालियों के प्रयोक्ताओं में से एक प्रमुख प्रयोक्ता का गौरव उन्हें मिलना चाहिए। देश की आर्थिक दुरवस्था, किसानों की गरीबी और दरिद्रता का उन्होंने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है—"कैसे पेट अकिंचन सोय रहे, बिन भोजन बालक रोय रहे, चिथड़े तक भी न रहे तन पै, धिक धूल पड़े इस जीवन पै।" सम्प्रदायवाद गुरुडम, धूर्तता को उन्होंने धिक्कारा है, भारत की शस्त्रहीनता पर क्षोभ प्रकट किया है। पराधीनता पर मर्मान्तक वेदना का प्रकाशन किया है। रिश्वतखोर अफसरों एवं सूदखोर महाजनों को डाँट पिलायी है। शिल्पकला की दुर्दशा पर आँसू बहाये हैं, कूपमण्डूकता का तिरस्कार किया है। धर्म के पाखण्डियों के पाखण्ड का निर्मम-भाव से उद्घाटन किया है। अपने युग की समस्त नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक समस्याओं पर उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से विचार किया है।

सुधार एवं संघर्ष-युग की प्रवृत्ति के अनुकूल यह जागरूकता यद्यपि एकदम प्रत्यक्ष एवं स्थूल रूप से प्रकट हुई है पर इससे उस प्रदेश के ऐतिहासिक महत्त्व में कमी नहीं आती, जो 'शंकर' की वाणी द्वारा हिन्दी काव्य के विषयक्षेत्र एवं भाषा को प्राप्त हुआ है। उनके मन में काव्य एवं छन्द की एकता गहरे रूप में विद्यमान थी—इसी कारण पुराने विषयों में ही नहीं, नयी शैली में भी छन्दसम्बन्धी त्रुटियाँ उनमें अपवाद के लिए भी प्राप्त नहीं होतीं। छन्दों के अनेक नये एवं सशक्त प्रयोग भी उन्होंने किये हैं। दो छन्दों के मिश्रण से नये छन्द भी उन्होंने बनाये हैं जैसे त्रोटकात्मक (मिलिन्दपाद) तथा कजली जैसे लोकछन्दों को भी उन्होंने अपनाया है। मात्रिक छन्दों में भी समान वर्णों की योजना का दुःसाध्य कार्य उन्होंने किया है। कवित्त छन्द के तो वे पण्डित थे। 'सनेही' जी ने अपने प्रारम्भिक रचनाकाल में उनसे प्रशंसा पायी थी। वास्तव में 'सनेही' एवं 'रत्नाकर' की परम्परा के वे बीज थे। उनका ब्रजभाषा कवि का रूप रत्नाकर में निखरता है एवं खड़ी बोली की घनाक्षरी-सवैया की परम्परा 'सनेही स्कूल' में पुष्पित-पल्लवित होती है।

अपने हास्य एवं व्यंग्य काव्य के लिए जिस सचोट भाषा का उन्होंने उपयोग किया है, उसके कारण 'शंकर जी' की भाषा के बारे में एक भ्रम फैल गया है कि वे परुष शब्दावली का प्रयोग करते हैं। यह बात सत्य नहीं है। उनके शृंगार, करुण एवं शान्त रस सम्बन्धी छन्दों की भाषा मृदुल एवं श्रुतिप्रिय है। अपने व्यंग्य-काव्य

में अवश्य उन्होंने मधुरता की ओर ध्यान नहीं दिया। पर यह विषय का तकाजा था। व्यंग्य-काव्य लिखने के लिए भाषा को अधिक समर्थ और शक्तिशाली होना भी चाहिए। 'शंकर' जी की भाषा में यह सत्य पूर्णतया निहित है। 'गर्भरण्डा रहस्य' में विधवाओं की बुरी स्थिति एवं मन्दिरों में चलने वाले दुराचार की इसी करारी भाषा में बखियाउधेड़न की गयी है। वास्तव में उनके सामाजिक विषयों पर लिखे गये काव्य का मूलस्वर ओजपूर्ण है। पद्मसिंह शर्मा उनके काव्य में रस, अलंकार, छन्द आदि परम्परागत तत्त्वों पर मुग्ध थे और इसी कारण आधुनिक कवियों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ एवं अनेक अंशों में प्राचीन कवियों से भी अच्छा समझते थे। इतिहासज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल ने उन्हें नयी पद्य-रचना के मूल आचार्यों में से माना था एवं इस नवीनता से अभिभूत गणेशशंकर विद्यार्थी ने उनमें 'जबरदस्त मौलिकता' देखी थी।

स्वतन्त्र काव्य-रचना के अतिरिक्त उर्दू-फारसी और संस्कृत की कविताओं एवं सूक्तियों के वे उत्तम अनुवादक भी थे। पद्मसिंह शर्मा उनसे बहुधा ऐसे अनुवाद कराया करते थे। कानपुर प्रवास में उन्होंने प्रताप नारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' के सम्पादन में भी अपना बहुमूल्य सहयोग दिया था। फिर वे केवल कोरे साहित्यिक ही नहीं थे, राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संग्राम एवं आर्यसमाज के आन्दोलनों में उन्होंने खुलकर निर्भयतापूर्वक काम किया था।

खड़ी बोली के काव्य के प्रथम निर्णायकों में नाथूराम शर्मा अग्रणी हैं एवं कविता को समाज के साथ सम्बन्धित करने का ऐतिहासिक दायित्व उन्होंने निभाया है। खड़ी बोली को उन्होंने काव्यशैली एवं छन्दों के साँचे ही नहीं दिये, अभिव्यंजनागत सामर्थ्य भी प्रदान की। उनके इसी ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही प्रेमचन्द जी ने दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य के सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में कहा था—"शायद कोई जमाना आये कि हरदुआगंज ('शंकर' की जन्मभूमि) हमारा तीर्थस्थान बन जाय।" काव्य में जिसे 'रेटारिक' तत्त्व कहते हैं, वह हमें उनके काव्य में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है, बल्कि कहना यों चाहिए कि हिन्दी-काव्य में उनकी परम्पराओं में ही यह तत्त्व आज भी अप्रमुख नहीं हो सका है।

नारायण प्रसाद अरोड़ा

27 नवम्बर, 1881 ई. को कानपुर में जन्म हुआ। 1906 ई. में क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर से बी. ए. करके वे अध्यापन-कार्य में प्रवृत्त हुए। लोकमान्य तिलक के प्रभाव में आकर वे राजनीतिक कार्यों में रुचि लेने लगे, जो यावज्जीवन बनी रही। इन्हीं राजनीतिक गतिविधियों के सिलसिले में वे पाँच बार कारावास गये तथा कानपुर नगर, उत्तर-प्रदेशीय एवं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटियों से सम्बन्धित रहने के साथ ही सन् 1924 ई. में प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य भी चुने गये। लाला

हरदयाल के सम्पर्क में रहने के कारण सशस्त्र-क्रान्तिकारियों के भी वे सहायक रहे। समाज-सुधार के विविध कार्यों में उन्होंने योग दिया। लावनीबाजों के भी आप मुख्य पोषक रहे हैं। स्वामी नारायणानन्द द्वारा लावनियों का एक संग्रह कराके उसे आपने स्वयं ही प्रकाशित भी किया है। पत्रकारिता के क्षेत्र में वे कानपुर के 'प्रताप' के प्रारम्भिक संस्थापकों में से हैं तथा 'संसार' और 'विक्रम' का सम्पादन कर चुके हैं। 'कानपुर इतिहास समिति' स्थापित करके उसकी ओर से उन्होंने कानपुर जनपद का इतिहास प्रकाशित किया है। विभिन्न विषयों पर उन्होंने लगभग 70 पुस्तकें लिखीं या सम्पादित की हैं। 'फलाहार या फल चिकित्सा', 'पहलवानी और पहलवान', 'मेरे गुरुजन', 'बच्चों से व्यवहार', 'चीटी', 'स्वाधीन विचार', 'कानपुर के प्रसिद्ध पुरुष', 'प्रताप लहरी' (सम्पादित) आदि उनकी मुख्य पुस्तकें हैं। सर्वत्र उनकी भाषा सर्वजनग्राह्य एवं शैली सुबोध है। अरोड़ा जी की मृत्यु 9 फरवरी, 1961 ई. को हुई।

पद्मसिंह शर्मा

बिजनौर जिले के एक गाँव में पद्मसिंह शर्मा का जन्म सन् 1876 ई. में हुआ था तथा उनकी मृत्यु सन् 1932 ई. में हुई। शर्मा जी हिन्दी, संस्कृत, फारसी और उर्दू के गहरे ज्ञाता थे। उन्होंने 'साहित्य', 'भारतोदय' तथा 'समालोचक' जैसे पत्रों का सम्पादन भी किया था। ज्वालापुर महाविद्यालय में उन्होंने बहुत दिनों तक अध्यापन किया। उनका घर उस समय के साहित्यकारों का प्रमुख केन्द्र था।

शर्मा जी की प्रसिद्ध पुस्तक है—'बिहारी की सतसई'। इसके अतिरिक्त 'पद्मपराग' प्रथम भाग (प्र. सन् 1929 ई.) में उनके कुछ निबन्ध संगृहीत हैं एवं 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी' नाम की पुस्तक में भाषा-समस्या पर उनके विचार संकलित हैं। शर्मा जी का एक सम्पादित ग्रन्थ है—'प्रदीप्त मंजरी'।

भारतेन्दु युग की प्रारम्भिक साहित्य समीक्षा ने पुस्तक समीक्षाओं एवं दोष दर्शन की प्रवृत्ति के बाद अपने द्वितीय चरण में जो विकास किया, उसका मुख्य श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु एवं पद्मसिंह शर्मा को है। इन तीनों में (और इनके माध्यम से उस समय की समस्त समीक्षा में) एक साम्य स्पष्ट दिखायी देता है कि तीनों का मुख्य आकर्षण-केन्द्र कवियों का अभिव्यंजना-शिल्प रहा है। काव्य की आन्तरिक भाव-संवेदना की ओर इनका ध्यान कम गया है। तीनों ने ही अभिव्यंजन-क्षमता के आकलन में भारतीय काव्यशास्त्र तथा व्याकरण-शास्त्र का सहारा लिया है।

हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के प्रवर्तकों में पद्मसिंह शर्मा का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने जुलाई, 1907 की 'सरस्वती' में बिहारी और फारसी कवि सादी की तुलनात्मक समालोचना प्रकाशित करायी। इसी अंक में शर्मा जी का एक लेख और था—"भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य"। यह निबन्ध क्रमशः 'सरस्वती' के अनेक अंकों में

निकला और 1911 ई. में जाकर समाप्त हुआ। इसी प्रकार जुलाई, 1908 ई. की 'सरस्वती' में उनका 'संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' निकलना शुरू हुआ और 1912 ई. में जाकर समाप्त हुआ। 'सरस्वती', अगस्त, 1909 ई. में उन्होंने 'भिन्न भाषाओं की कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' लिखा। इन बड़े-छोटे निबन्धों में तुलनात्मक आकलन तो नहीं था पर पारस्परिक समता दिखाने की इस प्रवृत्ति ने लोगों को उस दिशा में सोचने के लिए प्रेरित किया। वस्तुतः इन निबन्धों की आधारशिला पर ही आगे चलकर तुलनात्मक समालोचना का जोर बढ़ता है।

तुलनापरक इन पद्यों की खोज ने ही शर्मा जी को इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। इस दिशा में 'बिहारी की सतसई', जो बिहारी सतसई के भाष्य की भूमिका है, उनका प्रौढ़ प्रयोग है। इस पुस्तक में 'गाथा सत्तसई', 'आर्यासप्तशती', 'अमरुक शतक' आदि की उस शृंगारिक, साहित्यिक परम्परा का निरूपण हुआ है, जिसका अनुसरण बिहारी ने किया है। इन ग्रन्थों से बिहारी ने बहुत-कुछ ग्रहण किया है, उसी कारण कुछ आलोचकों ने बिहारी पर भावापहरण और साहित्यिक चोरी का आरोप लगाया है। पद्मसिंह शर्मा ने ऐसे स्थलों का तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण करके बिहारी की विशिष्टता और श्रेष्ठता की ओर संकेत करना चाहा है और उन्हें भावापहरण के आरोप से मुक्त करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह प्रयत्न तटस्थ और निर्भ्रान्त नहीं है। बिहारी के प्रति आग्रहपूर्ण पक्षपात रखने के कारण वे संस्कृत-ग्रन्थों के काव्य-सौन्दर्य की उपेक्षा करके बिहारी को जबरदस्ती श्रेष्ठकवि घोषित करने की चेष्टा करते हैं। 'शून्यं वासगृहं विलोक्य' तथा 'त्वं मुग्धाक्षि विनैव कंचुलिकया धत्से मनोहारिणीम्' में रस-क्षमता बिहारी के 'मैं निसहा सोयो समझि' अथवा 'पति रति की बतियाँ कही' से कम नहीं है, पर शर्मा जी ने उनमें किसी न किसी प्रकार का दोष निकालकर बिहारी को ऊँचा उठाने की चेष्टा की है।

परस्पर साम्य के इस अध्ययन में उन्होंने कतिपय समीक्षा-सिद्धान्त भी निर्धारित किये और इन सिद्धान्तों का पुष्टीकरण उन्होंने संस्कृत के अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर किया है। आनन्दवर्द्धन, राजशेखर आदि द्वारा भावापहरण सम्बन्धी चर्चाओं का उल्लेख करते हुए मौलिकता के सम्बन्ध में उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि चिरपरिचित और कवि-परम्परा से प्राप्त तथ्य को उक्ति-वैचित्र्य के साथ रख देना भी मौलिकता है। इसी प्रकार महाकवित्व के लिए किसी महाकाव्य की रचना को भी उन्होंने आवश्यक नहीं माना। वस्तुतः यह सिद्धान्त भावी स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की भूमिका ही था। शुक्ल जी से जहाँ प्रबन्धकाव्य को ही महत्ता प्रदान की थी, वहीं स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों ने मुक्तक को भी उतना ही महत्त्वपूर्ण माना। शर्मा जी इसी सिद्धान्त के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके थे।

शर्मा जी का आलोचना के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा प्रदेय है, जिसकी ओर साधारणतः समालोचकों ने ध्यान नहीं दिया है। उनका रचनाकाल यद्यपि शुद्धता

और नैतिकतावादी आर्यसमाजी 'द्विवेदी युग' था, पर साहित्यिक परम्परा के वास्तविक प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने शृंगार के रसराजत्व को स्थापित किया तथा शृंगार मात्र को अश्लील समझने की धारणा को परिवर्तित किया। यह तथ्य भी रोमाण्टिक परम्परा की ओर बढ़ावा है परन्तु इस कथन से यह अर्थ निकालना ठीक न होगा कि वे शृंगारी-परम्परा के आलोचक थे। "उनके सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है कि वे शृंगारिक परम्परा के आलोचक थे किन्तु वे समीक्षक थे शब्द और अर्थ के, शृंगारिकता से उनका सम्बन्ध न था। वे अभिव्यंजना-परीक्षा के आचार्य थे, शब्दगत तथा अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा प्रवेश था, हिन्दी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया।" (हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी : पं. नन्ददुलारे वाजपेयी, भूमिका, पृ. 2, सं. 1945 ई.)। बिहारी का काव्य-सौष्ठव प्रतिपादित करते हुए उन्होंने बिहारी की अभिव्यंजना सम्बन्धी कारीगरी की ओर ही ध्यान अधिक दिलाया है।

इस अभिव्यंजना-सौष्ठव के स्पष्टीकरण के लिए यद्यपि ये सहारा शास्त्र का ही लेते हैं पर उनकी आलोचना को शास्त्रीय समीक्षा न कहकर प्रभाववादी-समीक्षा कहना उचित है। वे अपनी बात कहने के लिए शास्त्र का उपयोग भर करते हैं या फिर कभी-कभी शास्त्र को अपनी ओर जबरदस्ती मोड़ लेते हैं, जैसे कि प्रतीयमान अर्थ से उन्होंने उक्ति-वैचित्र्य का भाव निकालना चाहा है। तुलनात्मक समीक्षा के लिए जिस तटस्थता की आवश्यकता होती है, उसका उनकी आलोचनाओं में (विशेषकर 'बिहारी की सतसई' में) नितान्त अभाव है। डॉ. भगवत स्वरूप का यह मन्तव्य ठीक लगता है कि वस्तुतः "पण्डित जी (पद्मसिंह शर्मा) की आलोचना का मूल आधार सहृदयता और प्रभावाभिव्यंजकता ही है, पर बिहारी के सौष्ठव प्रतिपादन करते हुए उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा मान्य काव्यांगों का निरूपण भी अनेक स्थानों पर किया है। ('हिन्दी आलोचना—उद्भव और विकास', पृ. 314)

इस प्रभाववादी पक्ष के कारण उनकी आलोचनाओं में गम्भीर शैली नहीं रह गयी है। जहाँ किसी उक्ति पर वे रीझे कि बस उछल पड़े और उस प्रभाव के कारणों का विश्लेषण करने के स्थान पर अपने ऊपर पड़े प्रभाव को ही अभिव्यक्त करने लग जाते थे। उनकी इस 'वाह-वाह', 'क्या खूब' वाली शैली की इसी कारण निन्दा की गयी है, परन्तु इन प्रशंसात्मक अंश को यदि थोड़ा-सा भुलाकर पढ़ा जाय तो उनकी शैली अपने लालित्य-प्रवाह तथा व्यंग्य-विनोद के कारण अत्यन्त सुपाठ्य बन पड़ी है। कहना न होगा कि ऐसी सुपठनीय समीक्षाएँ हिन्दी में कम लिखी गयी हैं। शब्द के अपेक्षित प्रयोग पर उन्होंने बहुत अधिक ध्यान दिया है।

आलोचना के अतिरिक्त शर्मा जी ने निबन्धों के क्षेत्र में भी कार्य किया है और उस दिशा में उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। द्विवेदी युग के प्रमुख निबन्ध-लेखकों में उनकी गिनती की जा सकती है। वे मूलतः शैलीकार थे। निबन्धों में कभी उन्होंने धार्मिक सद्भावना की गुहार लगायी है, कभी भगवान श्रीकृष्ण के पौराणिक चरित्र के

वर्णन के माध्यम से आधुनिककाल के नेताओं पर व्यंग्य किये हैं एवं कभी-कभी 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' जैसी मजेदार चर्चा की है। इन निबन्धों ('पद्मराग' में संकलित) की भाषा में उर्दू की मुहावरेदानी एवं बोलचाल के लहजे का प्रवाह अत्यन्त स्पष्ट है तथा यत्र-तत्र भाषण-कला का भी प्रभाव दिखाई देता है। शर्मा जी ने कविताएँ भी लिखी हैं पर उस क्षेत्र में उन्हें अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया जा सकता।

पूर्णसिंह

पूर्णसिंह की चर्चा एक श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबन्धकार के रूप में लगभग सभी इतिहासकारों ने की है। सिख परिवार में उनका जन्म 1881 ई. में हुआ था तथा मृत्यु 1931 ई. में। पेशे से वे अध्यापक थे तथा बाद को केवल अंग्रेजी में लिखने लगे थे।

पूर्णसिंह के निबन्धों की संख्या लगभग आधा दर्जन है। पर इतने ही निबन्धों से उन्होंने हिन्दी के निबन्ध-साहित्य पर अपनी छाप छोड़ी है। यद्यपि वे द्विवेदीकाल के निबन्ध लेखक थे परन्तु उनके निबन्धों में द्विवेदी युग की नीरस निर्वैयक्तिकता एवं तमाम विषयों पर लिखने की विविधता दृष्टिगोचर नहीं होती है। उनके निबन्धों में भावना का वह आवेग एवं कल्पना की जैसी उड़ान मिलती है, जिसने आगे चलकर छायावाद को विकसित किया। वस्तुतः उनके निबन्धों में हमें स्वछन्दतावादी प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके निबन्धों में द्विवेदी युग की प्रमुख प्रवृत्ति उपदेशात्मकता तथा प्यूरिटनिज्म की गन्ध तो अवश्य है परन्तु वह एक ऐसे महत् मानवीय आदर्श से परिचालित है तथा आध्यात्मिकता की एक ऐसी व्यापक किन्तु सूक्ष्म और गहन वृत्ति से प्रेरित है कि सहज ही उनके निबन्ध रोमाण्टिक धरातल का स्पर्श करने लगते हैं।

यूरोप की मशीनी सभ्यंता की जो प्रतिक्रिया हमें टाल्स्टॉय, रस्किन एवं बाद को गाँधी में प्राप्त होती है, वही पूर्णसिंह के निबन्धों की वास्तविक भूमिका है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि गाँधी से भी कुछ पहले ही पूर्णसिंह ने चरखा या हाथ से बनी वस्तुओं को मशीनी उत्पादन की अपेक्षा तरजीह दी थी। पूँजीवाद के प्रारम्भिक युग में ही श्रम और श्रमिक को जो महत्त्व उन्होंने प्रदान किया, उसे बाद को राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक प्रमुख मूल्य के रूप में स्वीकार किया। वस्तुतः भौतिक जीवन की समृद्धि के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन को वे सम्पन्न और सशक्त बनाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने "विविध सम्प्रदायों के बाहरी विधि-विधान को हटाकर उन सबके भीतर एक आत्मा का स्पन्दन, एक सार्वभौम मानवधर्म का स्वरूप देखा और अपने पाठकों को दिखाने की चेष्टा की।" इस चेष्टा में उन्होंने तार्किकता या बौद्धिकता का सहारा न लेकर मनुष्य के भावनाजगत् का स्पर्श करना चाहा है। इसी कारण उनके निबन्धों में विचार का सूत्र अत्यन्त क्षीण है और कहीं-कहीं तो वह टूट जाता है, पर अपने भावनात्मक प्रवाह में वे निश्चित रूप से पाठक को बहा ले जाते हैं।

उनके 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम', 'सच्ची वीरता' जैसे निबन्ध वस्तुतः 'निर्बन्ध निबन्ध' के अन्तर्गत रखे जाने चाहिए।

रामचन्द्र शुक्ल ने पूर्णसिंह की शैली के विषय में लिखा है, "उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य-साहित्य में नयी चीज थी। ...भाषा और भाव की एक नयी विभूति उन्होंने सामने रखी" ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. 480-81)। उनकी शैली में दो गुण एक साथ मिले-जुले रहते हैं—एक तो वक्तृत्व कला का ओज और प्रवाह, दूसरे चित्रात्मकता या मूर्तिमत्ता। इन दोनों के सम्मिलन के कारण इन निबन्धों की शैली हिन्दी में अनूठी बन पड़ी है और वह अत्यधिक प्रभावकर हो सकी है। एक ओर उनके निबन्ध स्वयं में प्रभावाभिव्यंजक एवं गहरे रूप में व्यक्तिनिष्ठ हैं तथा दूसरी ओर पाठकों के लिए नितान्त साधारणीकृत भी।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

जन्म कानपुर जिले के मंगलपुर ग्राम में सन् 1899 ई. में। नियमित शिक्षा उन्हें मिडिल स्कूल तक ही मिल सकी। उसके पश्चात् माता-पिता आदि की मृत्यु हो जाने के कारण परिवार का बोझ आपके सर पर आ गया। अमृतलाल नागर के शब्दों में "आवश्यकतावश घर की गाय, भैंस, बकरियाँ चरायीं, खलिहानों में दायँ और उड़नई का काम किया, पैसों की थैली लादकर गाँव की साहूकारी की, उसके बाद गाँव के प्राइमरी स्कूल की अध्यापकी की, शहर की लाइब्रेरी में पन्द्रह रुपये मासिक पर लाइब्रेरियन रहे, किताबों का गट्ठर कन्धे पर लादकर बेचा, बीवी के गहने बेचकर दुकानदार बने, चोरी हो गयी, बैंक की खजांचीगीरी के अप्रेन्टिस हुए; कम्पाउण्डर बने; प्रूफरीडर बने; सहकारी सम्पादक हुए; फिर सम्पादक बने..." (भ. प्र. वाजपेयी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 26)। वाजपेयी जी ने फिल्मों की दुनिया में भी अपना जोर आजमाया तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्यपरिषद् के सभापति भी रहे हैं।

वाजपेयी जी का लेखनकार्य सन् 1920 ई. के आसपास से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में उन्होंने कविताएँ लिखी थीं। 1922 ई. में जबलपुर की 'श्रीशारदा' नामक पत्रिका में उनकी पहली कहानी 'यमुना' प्रकाशित हुई थी। तब से उनका मुख्य प्रदेय कथा-साहित्य के क्षेत्र में रहा है, यद्यपि अन्य विधाओं में भी वे बराबर लिखते रहे। कहानी संग्रहों और उपन्यासों के अतिरिक्त उनके काव्य-संग्रह और नाटक भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनके 27 उपन्यासों, 11 कहानी संग्रहों, दो नाटकों एवं एक कविता संग्रह की सूची इस प्रकार है—उपन्यासः 'प्रेमपथ', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी', 'नियतिन' (प्रेम निर्वाह), 'लालिमा', 'पतिता की साधना', 'पिपासा', 'दो बहनें' (1940 ई.), 'निमन्त्रण', 'एकदा' (गुप्तधन का परिवर्द्धित रूप), 'चलते-चलते' (1951 ई.), 'पतवार' (1952 ई.), 'मनुष्य और देवता', 'धरती की साँस', 'भूदान'

(1954 ई.), 'यथार्थ से आगे', 'विश्वास का बल' (1955 ई.), 'सूनी राह' (1956 ई.), 'रात और प्रभात', 'उनसे न कहना', 'चन्दन पानी', 'निरन्तर गोमती के तट पर', 'सावन बीता जाय', 'हिरनी की आँखें', 'पाषाण की लोच', 'उनसे कह देना'। इनमें से 'मीठी चुटकी' को उन्होंने शम्भूदयाल सक्सेना एवं विजय वर्मा के साथ तथा 'लालिमा' को प्रफुल्लचन्द्र ओझा के साथ संयुक्त रूप से लिखा है। कहानी संग्रह: 'मधुपर्क', 'हिलोर', 'पुष्पकरिणी', 'दीपमालिका', 'मेरे सपने', 'उपहार', 'उतार चढ़ाव', 'खाली बोतल', 'आदान प्रदान', 'अंगारे', 'स्नेह', 'बाती और लौ'। नाटक: 'छलना' और 'राय पिथौरा'। कविता संग्रह: 'ओस की बूँदें'। इनके अतिरिक्त वाजपेयी द्वारा सम्पादित निम्न संकलन भी प्रकाशित हुए हैं: 'हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ', 'नव कथा युगारम्भ' और 'नवीन पद्य-संग्रह'। 'उर्म्मि', 'आरती' आदि पत्रिकाओं का सम्पादन भी उन्होंने किया है तथा उनकी बालोपयोगी 8 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

संयोगों एवं घटनाओं का अपेक्षाकृत अधिक सहारा लेने वाली उनकी प्रारम्भिक कहानियों में एकसूत्रता एवं इतिवृत्तात्मकता अधिक है। आगे चलकर सन् 1930-32 ई. के आसपास से उनकी कहानियों में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर विश्लेषण एवं आकलन पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस कारण कथा-सूत्र का निर्माण अधिक चमत्कारिक होने लगा। सन् '40 के लगभग उनकी कहानियों में शिल्प का एक नया विकास प्राप्त होता है। अब इतिवृत्तात्मकता को एकदम छोड़कर छोटे-छोटे घटनाखण्डों, चिन्तन एवं स्मृति अंशों के बीच से कथा-सूत्र को नियोजित करने का प्रयास प्राप्त होता है। शैली की दृष्टि से उन्होंने वर्णनात्मक, स्वगत कथन, पत्रात्मक एवं डायरी शैली आदि अनेक विधियों का प्रयोग किया है। कहानियों का ही समवर्ती विकास उनके उपन्यासों में भी देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द के बाद उभर कर आने वाली पीढ़ी के मुख्य कथाकार हैं। इस पीढ़ी ने प्रेमचन्द के व्यापक सामाजिक चित्रों के स्थान पर व्यक्ति (मध्यवर्गीय) मन के गहन चित्रण पर अधिक बल दिया था। वाजपेयी जी ने सामाजिक उद्देश्यों की अपेक्षा मध्यवर्गीय मन के विविध ऊहापोह उपस्थित किये हैं। वे हमारे प्रारम्भिक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों में से हैं। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनका मनोविश्लेषण अकादमी कम, व्यावहारिक अधिक है। इस युग में नारी कुछ शिक्षित होकर स्वतन्त्र हो चली थी—ऐसी स्थिति में प्रेम, विवाह एवं यौन नैतिकता के अनेक प्रश्न समाज को क्षुब्ध करने लगे थे। मध्यवर्ग की इन आकांक्षाओं एवं कुण्ठाओं के चित्रण में वाजपेयी अत्यधिक तटस्थ रह सके हैं, यह उनकी कलागत शक्ति का प्रमाण है परन्तु इस चित्रण का जो परिप्रेक्ष्य है, वह शरतचन्द्रीय आदर्शवाद है—इसी कारण निराश-प्रेम की वेदना को वे अत्यधिक स्फीत करके उपस्थित कर सके हैं।

उनके प्रौढ़ उपन्यासों एवं कहानियों में घटना, चरित्र या दृश्य को कुछ रेखाओं में चित्रित कर देने की शक्ति प्राप्त होती है। उनमें उनकी भाषा अत्यधिक प्रासंगिक

एवं सहजप्रवाहमयी है। धीरे-धीरे वार्द्धक्य के साथ ही वाजपेयी जी में रोमाण्टिक वृत्ति का मोह अतिरिक्त रूप से सघन होता दिखाई देता है। 'चलते-चलते' के प्रकाशन (सन् 1951 ई.) के बाद यह मोह उनके कृतित्व को आच्छन्न करता प्रतीत होता है। इसके बाद के उपन्यासों में प्रेम का वही शाश्वत त्रिकोण एवं लगातार अति काव्यात्मकता की ओर बढ़ती भाषा इन्हें शिथिल बनाती है। वे प्रेम के प्रश्नों को नये सन्दर्भ में प्रतिष्ठित नहीं कर सके। नाटक एवं कविताओं में भी उनके कथा-साहित्य की ही हलकी अनुगूँज है, पर उन क्षेत्रों में वे बहुत सफल नहीं हुए। वास्तव में सन् 1930 से 1950 ई. के बीच लिखा उनका कथा-साहित्य ही उनकी प्रसिद्धि का आधार है। मनोवैज्ञानिक कथाकार के रूप में मध्यवर्गीय जीवन की मनःस्थितियाँ इस युग के उपन्यासों में चित्रित कर उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को निश्चित रूप से आगे बढ़ाया है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

जन्म 16 मार्च, 1908 ई.। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उन्होंने अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. किया और वहीं पर अंग्रेजी-साहित्य के अध्यापक तथा बाद में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हो गये। सन् 1970 में आपकी मृत्यु हुई। उनकी निम्नांकित आलोचनात्मक पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं—'नया हिन्दी साहित्य' (1941), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि' (1955), 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' (1953), 'साहित्यधारा' (1955)। इनके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में इनके समीक्षात्मक लेख, टिप्पणियाँ एवं पुस्तक-समीक्षाएँ प्रकाशित होती रही हैं। आलोचना के अतिरिक्त इन्होंने कृति-साहित्य भी प्रकाशित कराया है। 'रेखा चित्र' (1940), 'पुरानी स्मृतियाँ' (1947) नामक रेखाचित्र संग्रह तथा 'विशाख' (1957) शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

आप हिन्दी में मार्क्सवादी समीक्षा-प्रणाली के प्रारम्भिक प्रयोक्ताओं एवं प्रगतिवाद के उन्नायकों में से एक हैं। सन् 1936 ई. के आसपास से ही प्रगतिशील साहित्य की चर्चा प्रारम्भ हुई और वही उनके लेखन का प्रारम्भिक समय है। मार्क्स-दर्शन के अनुसार उन्होंने बताया कि प्रकृति के साथ होने वाले संघर्ष में जो अनुभूतियाँ मनुष्य अर्जित करता है, साहित्य में उन्हें ही वह शब्द-बद्ध करता है। प्रारम्भ में उन्होंने आधुनिक साहित्य को अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया था, पर सन् 1950 ई. के बाद से उन्होंने मध्यकालीन साहित्य पर भी दृष्टिपात किया। पर कबीर, सूर और तुलसी पर लिखे 'आलोचना' त्रैमासिक में प्रकाशित उनके निबन्ध साहित्य की सामाजिक व्याख्या की कसौटी पर बहुत गहरे नहीं लगते। इनमें समाज की अन्तर्विरोधिनी शक्तियों एवं उनकी साहित्यिक प्रतिच्छायाओं के बौद्धिक विश्लेषण

की अपेक्षा कुछ प्रभावपरक मन्तव्य प्रकट करने की प्रवृत्ति है अथवा अत्यन्त स्थूल रूप से 'खतियाने' की। आधुनिक साहित्य में सामाजिकता एवं यथार्थ का आग्रह बढ़ाने में उन्होंने सहायता अवश्य दी है, पर बहुधा उनके द्वारा किये गये मूल्यांकन अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हो सके। उन्हें यह श्रेय अवश्य है कि प्रगतिवादी समीक्षा-प्रणाली के प्रारम्भिक रूप को उन्होंने सँवारा है, तथा हिन्दी आलोचना को शास्त्रीयता के वाग्जाल तथा पाण्डित्य के थोथे प्रदर्शन से मुक्त करके सरल, स्पष्ट एवं गतिशील बनाया है।

प्रतापनारायण मिश्र

जन्म उन्नाव जिले के बैजेगाँव में सन् 1856 ई. में हुआ था। इनके जन्म के कुछ दिनों बाद ही इनके ज्योतिषी पिता पण्डित संकठाप्रसाद कानपुर आकर रहने लगे थे। यहीं पर उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई। पिता उन्हें ज्योतिष पढ़ाकर अपने ही पैतृक व्यवसाय में लगाना चाहते थे, पर इनका मनमौजी स्वभाव उसमें नहीं रमा। अंग्रेजी स्कूल में कुछ दिनों पढ़ा, पर उनका मन वस्तुतः जमकर अनुशासनपूर्ण ढंग से पढ़ने में न लगता था। यों संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और बंगला में उनकी अच्छी गति थी। बालमुकुन्द गुप्त ने सन् 1907 ई. में प्रतापनारायण मिश्र का चरित्र 'भारतमित्र' में प्रकाशित करते हुए उसमें लिखा था कि उपर्युक्त भाषाएँ वे धाराप्रवाह बोल लेते थे। कानपुर उन दिनों लावनीबाजों का केन्द्र था और प्रतापनारायण मिश्र लावनी के अत्यन्त शौकीन थे। लावनीबाजों के सम्पर्क में आकर इन्होंने स्वयं लावनियाँ और ख्याल लिखना शुरू किया। यहीं से उनके कवि और लेखक जीवन का प्रारम्भ होता है—फिर तो आजीवन अनेक रूपों में उन्होंने हिन्दी की सेवा की। पर वे कोरे साहित्यकार नहीं थे। समसामयिक जीवन में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। कानपुर की अनेक सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं से उनका सम्पर्क था। इलाहाबाद कांग्रेस अधिवेशन में वे कानपुर से प्रतिनिधि बनकर सम्मिलित हुए थे। कानपुर में नाटक-सभा नामक एक संघटन की नींव उन्होंने डाली थी और उसके माध्यम से पारसी थियेटर के विरोध में उन्होंने हिन्दी का अपना रंगमंच खड़ा करना चाहा था। वे स्वयं कुशल अभिनय करते थे। स्त्री पात्र का अभिनय करने के लिए उन्होंने अपने पिता से मूँछें मुड़ा लेने की आज्ञा भी प्राप्त कर ली थी। भारतेन्दु के व्यक्तित्व से वे अत्यधिक प्रभावित थे तथा उन्हें अपना गुरु तथा आदर्श मानते थे। उनका स्वभाव अत्यन्त हँसोड़ था। वे वाग्वैदग्ध्य के धनी थे। अपनी हाजिरजवाबी एवं मसखरे स्वभाव के लिए वे अपने समय में कानपुर में अत्यन्त प्रसिद्ध थे। मिश्रजी की मृत्यु कानपुर में ही सन् 1895 ई. में हुई।

मिश्र जी द्वारा लिखित पुस्तकों की संख्या 50 के लगभग है। अधिकांशतः ये

सभी उनके पत्र 'ब्राह्मण' में प्रकाशित हुई हैं। उनमें से कतिपय पुस्तकाकार भी बाद को निकलीं। उनकी मौलिक पुस्तकाकार प्रकाशित रचनाएँ हैं—'प्रेम पुष्पावली', 'मन की लहर', 'दंगल खण्ड', 'लोकोक्तिशतक', 'तृप्यन्ताम्', 'प्रताप संग्रह', 'रसखानशतक' —ये उनके कविता संग्रहों के नाम हैं। 'कलि कौतुक', 'भारत दुर्दशा', 'कलि प्रभाव', 'हठी हमीर', 'गो संकट'—उनके नाटक हैं एवं 'जुआरी-खुआरी' प्रहसन तथा 'संगीत शाकुन्तल' लावनियों में लिखा गया उनका पद्य-नाटक है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसकी प्रशंसा की थी। उनके निबन्धों का संग्रह जीवनकाल में नहीं आया, बाद को नारायण प्रसाद अरोड़ा ने 'नारायण निबन्धावली' में उनके कतिपय निबन्ध संकलित किये। अब नागरी प्रचारिणी सभा काशी की ओर से उनके समस्त लेखन को 'प्रतापनारायण मिश्र ग्रन्थावली' के नाम से संकलित करके प्रकाशित किया गया है। प्रतापनारायण जी ने अपनी समकालीन परम्परा के अन्तर्गत ही बंगला से कुछ अनुवाद भी किये। बंकिमचन्द्र के 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी', 'युगलांगुरीय' उपन्यासों का अनुवाद उन्होंने किया था। 'चरिताष्टक', 'पंचामृत' एवं 'नीतिरत्नमाला' भी बंगला से अनूदित उनकी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त पाठ्यपुस्तकों के रूप में भी उनकी कतिपय रचनाएँ मौलिक या अनूदित रूप में प्राप्त होती हैं।

कविता के क्षेत्र में मुख्यतः वे पुरानी धारा के अनुवर्ती थे। ब्रजभाषा में समस्यापूर्तियाँ वे खूब किया करते थे। इन सवैयों या घनाक्षरियों का मूलस्वर भक्ति और शृंगार का होता था, पर मुख्य ध्यान देने योग्य बात है कि इन्होंने समसामयिक समस्याओं को भी अपनी काव्य-वस्तु के अन्तर्गत समेटने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। "जिन धन धरती हरी सो करिहै कौन भलाई, बन्दर काके मीत कलन्दर केहि के भाई" में अंग्रेजी राज्य की तथाकथित प्रजाहितैषी रूप पर जितना प्रखरचेतनासम्पन्न व्यंग्य है, वह भारतेन्दु में भी कठिनता से मिलता है। 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान' का नारा भी उन्होंने ही दिया था। "सब धन लिहे जात अंगरेज, हम केवल लेक्चर के तेज" में भारतवर्ष के उदारपन्थी समझौतावादियों पर आक्षेप है तथा उनकी पुकार है, "पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे न देश कलेस, जैसे कन्ता घर रहे तैसे रहे विदेस।" इस प्रकार 'ब्राडला स्वागत' के बहाने उन्होंने भारतवर्ष की दुर्गति का पद्यबद्ध चित्रण किया है। वास्तव में उनका काव्य वह सुदृढ़ भूमि है, जिस पर आगे का राष्ट्रीय एवं राजनीतिक काव्य खड़ा होता है।

मिश्र जी की उग्रता कविताओं से भी अधिक उनके निबन्धकार एवं सम्पादक व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त हुई है। इस युग के लेखकों के इन दो व्यक्तित्वों को एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिए। 'ब्राह्मण' पत्र का प्रकाशन 15 मार्च, 1883 ई. से उन्होंने प्रारम्भ किया था। सन् 1894 ई. तक यह प्रकाशित हुआ। बीच में कुछ दिनों के लिए मिश्र जी कलाकांकर से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दुस्तान' में सम्पादक होकर चले गये थे, तब 'ब्राह्मण' भी वहाँ से प्रकाशित होने लगा था। अपने अन्तिम वर्षों

में वह श्री रामदीन सिंह के खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से निकलता रहा। 'ब्राह्मण' के प्रथम अंक में ही उसके स्वरूप की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा था–"...कभी राज्य-सम्बन्धी, कभी व्यापार सम्बन्धी विषय भी सुनायेंगे, कभी गद्य-पद्यमय नाटक से भी रिझायेंगे।" तथा एक अन्य अंक में अपने उद्देश्य को बताते हुए उन्होंने लिखा, "अपने देश भाइयों का दुःख-सुख ज्यों का त्यों प्रकाश करना हमारा मुख्य कर्तव्य है।" वस्तुतः 'ब्राह्मण' और 'हिन्दी प्रदीप' ने उस युग की पत्रकारिता को बहुमुखी ही नहीं बनाया, उसे पैनापन भी प्रदान किया। इन दोनों ही पत्रों ने अपने समय की हर समस्या का स्पर्श किया है और उस पर अपनी स्पष्ट राय दी है–बिना किसी लाग लपेट के। दोनों ही पत्र (क्रमशः प्रतापनारायण मिश्र एवं बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित) उग्र राजनीतिक विचारधारा वाले पत्र हैं। राजनीतिक चेतना की दृष्टि से प्रतापनारायण जी भारतेन्दु से भी आगे थे। ढुलमुल नीति पर उनका विश्वास नहीं था और साहसपूर्वक वे विदेशी सरकार पर आक्रमण करते थे। गम्भीर विषयों के अतिरिक्त हास्य-व्यंग्य का अनोखा पुट भी 'ब्राह्मण' में हुआ करता था। 'मुच्छ', 'परीक्षा', 'ट', 'द' आदि ऐसे ही निबन्ध हैं।

'ब्राह्मण' की प्रतियों में प्राप्त उनके शताधिक निबन्ध लेखक के व्यक्तित्व की आत्मीयता एवं फक्कड़पन से ओतप्रोत हैं। जब गम्भीर विषयों पर लिखते थे तो भाषा अत्यन्त सधी और निश्चित, पर जहाँ मौज में आये कि फिर मुहावरों, कहावतों, बैसवाड़ी प्रयोगों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व फूट पड़ता था। 'दाँत', 'बुढ़ापा', 'भौंह', 'बात' आदि निबन्धों में हमें जिस आत्मीयता के दर्शन होते हैं, वह निबन्धकला का प्राण है। हिन्दी-निबन्धों के क्षेत्र में आज भी उनके जैसे कलात्मक निबन्ध-लेखकों की संख्या विरल ही है। इन निबन्धों की शैली में एक अद्भुत प्रवाह और आकर्षण है। वे सच्चे अर्थों में हिन्दी-गद्य के निर्माता एवं शैलीकार के रूप में सदैव याद किये जायेंगे। उनके निबन्धों जैसी धार एवं पैनापन हमें उस युग में केवल बालकृष्ण भट्ट में ही प्राप्त होता है। पर भट्ट जी में जहाँ पाण्डित्य का गम्भीर स्वर मुख्य था, वहीं प्रतापनारायण में सहजता का भोलापन एवं मस्ती का विलास था।

उनके नाटक यद्यपि कला की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु उस युग में नाटक और रंगमंच के लिए जो असफल सा प्रयास उन्होंने किया, वह इतिहास की वस्तु है।

केवल 39 वर्ष जीवित रहने वाला यह व्यक्ति प्रतिभा एवं परिश्रम से आधुनिक हिन्दी के निर्माताओं की बृहत्त्रयी (भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट एवं प्रतापनारायण मिश्र) में से एक है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतापनारायण जी को न तो भारतेन्दु जैसा साधन और वातावरण मिला था और न भट्ट जी जैसी लम्बी आयु, परन्तु उनका महत्त्व इन दोनों ही व्यक्तियों से किसी प्रकार कम नहीं है। इस सम्बन्ध में बालमुकुन्द गुप्त का यह कथन सत्य ही लगता है–

"पण्डित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत बातें बाबू हरिश्चन्द्र की सी थीं। कितनी ही बातों में यह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे, पर एक आध में बढ़कर भी थे। जिस गुण में वह कितनी ही बार हरिश्चन्द्र के बराबर हो जाते थे, वह उनकी काव्यत्व-शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शैली थी। हिन्दी गद्य और पद्य के लिखने में हरिश्चन्द्र जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रतापनारायण भी वैसे ही थे।" (बालमुकुन्द गुप्त : 'निबन्धावली', पृ. 2)

बदरीनाथ भट्ट

संस्कृत के प्रसिद्ध पण्डित गोकुलपुरा (आगरा) निवासी रामेश्वर भट्ट के पुत्र। जन्म 1891 ई. में हुआ। जीवन के अन्तिम वर्षों में लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में लेक्चरर रहे। साहित्य के क्षेत्र में इनकी ख्याति प्रधानतः इनके नाटकों के कारण है। कविताएँ भी लिखी हैं। 1932 ई. में इनकी मृत्यु हुई।

हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हो गया था पर उसका व्यवस्थित रूप हमें द्विवेदी युग के कतिपय लेखकों में प्राप्त होने लगता है। बदरीनाथ भट्ट उन लेखकों में से एक हैं, जिन्होंने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। 'सरस्वती' के फरवरी, 1913 ई. के अंक में उन्होंने रीतिकाव्य की भाषा का विरोध करते हुए लिखा था–

"भाषा के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है, जब असली कवित्व-शक्ति न रहने पर भी लोग बनावटी भाषा में कुछ भी भला-बुरा लिखकर शब्दों की खींचातानी दिखाते हुए अपनी लियाकत का इजहार करते हैं और चाहे जैसी अश्लील या अनर्गल बात को छन्द के खोल में दिया हुआ देख लोग उसी को कविता समझने लगते हैं।"

स्पष्ट है कि रीतिकाव्य की रूढ़िबद्ध भाषा का यह विरोध स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का बढ़ाव ही है। आगे चलकर सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में भी इसी प्रकार रीति-परम्परा और उसकी भाषा का विरोध किया था। स्वयं अपनी कविताओं में भट्ट जी ने नयी भाषा, नयी विषयवस्तु और नये काव्यरूपों का प्रयोग प्रारम्भ किया। 1914 ई. के आसपास से उनकी ऐसी कविताएँ आने लगी थीं, जो मात्र इतिवृत्तात्मक नहीं थीं, जिनमें रहस्यात्मक वृत्तियों का समावेश होने लगा था। टकसाली सवैयों या घनाक्षरियों के स्थान पर भट्टजी ने लोकगीतों के कजरी, लावनी या भक्तिकाल के कवियों जैसे पदों को अपनी कविताओं में आजमाया है। यह सारा बढ़ाव स्वच्छन्दतावाद का था। निबन्धों के क्षेत्र में भी उन्होंने 'सभा की सभ्यता' जैसे निबन्धों में व्यंग्य की प्रवृत्ति को अपनाया है। यों 'हमारे कवि और समालोचक', 'हमारी कविता की भाषा' आदि विषयपरक निबन्ध भी लिखे हैं। उनके निबन्धों में

संस्कृत के साथ ही अंग्रेजी शब्दों का निर्बन्ध प्रयोग भी गद्य की भाषा का विकास ही कहा जायगा।

बदरीनाथ भट्ट का मुख्य क्षेत्र नाटक है। वस्तुतः भारतेन्दु और प्रसाद की मध्यवर्ती कड़ी वे ही हैं। आलोचकों ने इस ओर कम ही ध्यान दिया है, पर यह कहना असंगत न होगा कि भारतेन्दु के बाद नाटक के क्षेत्र में नयी जमीन तोड़ने का काम भट्ट जी ने ही किया था। सन् 1900 ई. के आसपास हिन्दी नाटक क्षेत्र में मौलिक सृजन-शक्ति और नवोन्मेष का नितान्त अभाव दिखाई देता है। पारसी थियेटर कम्पनी के स्टेज के प्रति असन्तोष का भाव तो था पर जैसे कोई दिशा नहीं मिल रही थी। दिशा का अनुसन्धान सबसे पहले 1912 ई. में प्रकाशित बदरीनाथ भट्ट के 'कुरुवन दहन' में प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण लाल ने नोट किया है कि 'कुरुवन दहन' में "नवीन नाट्यकला के अंकुर थे" ('आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ. 213)। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि 1912 ई. में ही प्रसाद का 'करुणालय' भी प्रकाशित हुआ था पर नाट्यकला की दृष्टि से वह अपेक्षाकृत 'कुरुवन दहन' से कम महत्त्वपूर्ण है। 'कुरुवन दहन' संस्कृत के 'वेणीसंहार' नाटक का हिन्दी रूपान्तर है, जो अनुवाद न होकर नयी परिस्थितियों एवं नवीन शिल्प के अनुसार रूपान्तर ही कहा जाना चाहिए। इस नवीनता की ओर नाटक की अंग्रेजी भूमिका में भट्ट जी ने स्वयं इंगित किया है। यह भूमिका उस समय के नाटकीय विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भूमिका के अनुसार, *"इसके स्थान पर, मैंने एक दूसरा पथ ग्रहण करने का निश्चय किया, जिसमें कि मुझे अधिक स्वच्छन्दता प्राप्त होने की आशा थी। यह रास्ता इसे रूपान्तरित करने का था।... मैंने छह के स्थान पर इसे सात अंकों में समाप्त किया और नाटकीय पात्रों के भाषणों को अनेक स्थलों पर घटा, बढ़ा और परिवर्तित करके इसे यथासम्भव आधुनिक रुचियों और परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। कहीं-कहीं आवश्यक समझकर मैंने कुछ नवीन पात्र और कुछ हास्यपूर्ण संवाद बढ़ा दिये हैं। वस्तुतः मैंने इस ग्रन्थ में अंग्रेजी और संस्कृत नाटकीय विधानों का समन्वय बनाने का प्रयत्न किया है। जहाँ कहीं नाटकीय प्रसंगों के लिए आवश्यकता जान पड़ी, वहाँ 'वेणीसंहार' के अंकों के बीच रिक्त स्थलों को नवीन पात्रों के द्वारा भर दिया।"*

यह दृष्टि एक नये युग की प्रवर्तिका है। इस नाटक में वस्तु संगठन, चरित्र-चित्रण और हासपूर्ण प्रसंगों की अवतारणा करके उसे आधुनिक रुचि के अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया है। बहुधा लम्बे एवं महत्त्वपूर्ण संवादों के स्थान पर अधिक व्यंजक और सूच्य तथा संक्षिप्त संलापों का सहारा लिया गया है। कथा के विविध प्रसंगों पर बल भी नये ढंग से दिया गया, जैसे भीष्म की मृत्यु की सूचना तथा जयद्रथ-वध का अत्यन्त विस्तार से पूरे एक अंक में चित्रण। इसी प्रकार अंकों का दृश्यों में विभाजन भी नये ढंग के अनुरूप हुआ है। उनके संवादों ने कथानक के विकास तथा चरित्रों

के शीलनिरूपण में सहायता दी है। वे प्रायः सजीव और सशक्त बन पड़े हैं। इस प्रकार नाटक में निर्देशन-नैपुण्य तथा कलात्मक संयम का सौन्दर्य प्राप्त होता है। यह अवश्य है कि इसमें भाषा तथा देशकाल के उपयुक्त वातावरण के निर्वाह पर उतना जोर नहीं दिया गया तथा चरित्रों के शीलनिरूपण पर भी अधिक बल नहीं दिया जा सका। संवादों में भी पारसी थियेटर कम्पनियों का पर्याप्त प्रभाव है। इन दोषों को दूर करने का दायित्व प्रसाद ने लिया।

'कुरुवन दहन' पौराणिक नाटक है, भट्ट जी का 'बेनचरित' (1922) भी पौराणिक है तथा 'तुलसीदास' (1922) ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर आधृत होते हुए भी अपनी आत्मा में पौराणिक ही है। इन पौराणिक नाटकों की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो यह कि इनमें नाटककार ने पुराणों की कथाओं को ज्यों का त्यों न स्वीकार कर अपनी रुचि तथा कथा की प्रवृत्ति एवं नाटकीय आग्रहों से अनेक मौलिक परिवर्तन कर दिये हैं। इस प्रकार इन नाटकों में लेखक की कल्पना को (यह भी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ही है) अधिक मुखर होने का अवकाश मिला है। दूसरे इन नाटकों में अतिप्राकृत प्रसंगों की न्यूनता हो गयी थी। कालक्रमसम्बन्धी दोष अवश्य बने रहे। वातावरण के चित्रण पर भी बल दिया गया। परन्तु सांस्कृतिक शक्तियों का जीवन्त चित्रण नहीं हो सका। कभी-कभी कालव्यतिक्रम के भी दोष मिल जाते हैं, जैसे कि 'तुलसीदास' में रानी पिस्तौल दिखाकर 'मेजर' और 'कैप्टेन' को बन्दी बनाती है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी ये नाटक पारसी थियेटर के नाटकों या भारतेन्दु युग के नाटकों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, पर यह भी सत्य है कि इनमें मुख्य ध्यान कथावस्तु या कथासंघटन के पुनर्नवीकरण की ओर अधिक था, शील-निरूपण की ओर कम। मानसिक द्वन्द्वात्मक स्थितियों के आकलन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इन नाटकों की भाषा भी उतनी सक्षम नहीं है, जितनी कि प्रसाद के नाटकों में आगे चलकर प्राप्त होती है।

भट्ट जी के 'दुर्गावती' (सन् 1926) एवं 'चन्द्रगुप्त' नामक दो ऐतिहासिक नाटक भी प्राप्त होते हैं। इन दोनों नाटकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव कुछ अधिक है। कलात्मक वैभव की दृष्टि से उनके ये नाटक पौराणिक नाटकों से नीचे पड़ते हैं।

नाटकों में प्रहसन के क्षेत्र में भी भट्ट जी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके प्रहसनों में 'चुंगी की उम्मीदवारी' (1914), 'लबड़धोंधों' (1926), 'विवाह-विज्ञापन' (1927), 'मिस अमेरिकन' (1929) बहुत प्रसिद्ध हैं। समसामयिक समस्याओं तथा उनकी विकृतियों पर इनमें हास्य-व्यंग्य के सहारे प्रकाश डाला गया है। 'मिस अमेरिकन' में पाश्चात्य अर्थप्रधान सभ्यता पर गहरा व्यंग्य है। इन नाटकों पर प्रसिद्ध फ्रांसीसी हास्य नाटककार मोलियर का भी कुछ प्रभाव परिलक्षित होता है।

बालकृष्ण भट्ट

जन्म इलाहाबाद में 23 जून, 1844 ई. में। माता का नाम पार्वती देवी, पिता का नाम बेनीप्रसाद भट्ट तथा पत्नी का नाम श्रीमती रमादेवी था। सन्तान—(1) मूलचन्द भट्ट, (2) महादेव भट्ट, (3) लक्ष्मीकान्त भट्ट, (4) जनार्दन भट्ट। पिता इनके व्यापारी थे। माता सुसंस्कृत महिला थीं और उन्होंने इनके मन में पढ़ने की विशेष रुचि जगायी। प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत पढ़ी फिर प्रयाग के मिशन स्कूल से एण्ट्रेन्स की परीक्षा में सन् 1867 में बैठे, पर सेकेण्ड लैंग्वेज संस्कृत की परीक्षा की व्यवस्था न होने से परीक्षा न दे सके। इस परीक्षा के बाद ही वे मिशन स्कूल में अध्यापक हो गये। जहाँ पर सन् 1869 से 1875 तक रहे। ईसाई वातावरण में उनकी पट नहीं सकी और शीघ्र ही वे त्यागपत्र देकर अलग हो गये। इसके पश्चात् संस्कृत का स्वाध्याय उन्होंने अत्यन्त लगन के साथ किया। भट्ट जी के पिता एवं अन्य सम्बन्धी चाहते थे कि वे पैतृक व्यापार में लगें पर भट्ट जी का पण्डित मन व्यापार में नहीं रमा। इस प्रश्न पर गृहकलह के बवण्डर में अत्यन्त दुःखी होकर उन्हें अपना सम्पन्न पैतृक घर छोड़कर अलग रहने के लिए बाध्य होना पड़ा। घर से अलग होने के बाद भट्ट जी को सारा जीवन भयंकर आर्थिक कठिनाइयों के मध्य गुजारना पड़ा पर इस दृढ़ एवं आत्मसम्मानी व्यक्ति ने कभी भी हिम्मत नहीं हारी। कर्मठतापूर्वक सारा जीवन उन्होंने साहित्य को अर्पित किया। सन् 1885 ई. में सी. ए. वी. स्कूल इलाहाबाद में वे संस्कृत पढ़ाने लगे थे, तथा कुछ दिनों के बाद सन् 1888 में वे कायस्थ पाठशाला इण्टर कॉलेज, इलाहाबाद में संस्कृत के अध्यापक हो गये, पर अपने उग्र राजनीतिक विचारों के कारण अन्ततः यह नौकरी भी उन्हें छोड़नी पड़ी थी। फिर उन्हें यत्र-तत्र लेखन और पत्रकारिता के द्वारा ही जीविका चलाने के लिए बाध्य होना पड़ा। जीवन के अन्तिम वर्षों में श्यामसुन्दर दास ने उन्हें हिन्दी शब्दकोश के सम्पादन के लिए वैतनिक सहायक के रूप में बुलाया था पर भट्ट जी के प्रति उनका व्यवहार बहुत अच्छा न था और स्वाभिमानी बालकृष्ण भट्ट शीघ्र ही उस कार्य से भी अलग हो गये। 20 जुलाई, 1914 ई. को उनकी प्रयाग में मृत्यु हो गयी।

भारतेन्दु युग के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट का स्थान केवल भारतेन्दु के बाद आता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान है। विशेषतः निबन्धकार एवं पत्रकार के रूप में उन्हें इतिहास कभी भुला नहीं सकता। यों हिन्दी में व्यावहारिक आलोचनाओं के वे प्रारम्भिक प्रवक्ता हैं तथा उन्होंने नाटक, उपन्यास और कहानियाँ भी लिखी हैं। इस लेखन के अतिरिक्त अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के माध्यम से उन्होंने अपने युग के तमाम लेखकों को प्रेरित और प्रभावित किया है।

भारतेन्दु युग के लेखकों के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वे सभी

लेखक भी थे और पत्रकार भी। बल्कि यों कहें कि वे लोग मूलतः पत्रकार थे और उनका अधिकांश लेखन अपने-अपने पत्रों की कलेवर पूर्ति के लिए हुआ है। या पत्रकारिता को उन लोगों ने एक ऐसे मिशन के रूप में लिया था जिसके कारण उस सारे लेखन में भावना का सहज संस्पर्श घुलमिल गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रेरणा पाकर एवं उन्हीं द्वारा लिखित सन्देश को 'मोटो' बनाकर 1 सितम्बर, 1877 ई. को 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र बालकृष्ण भट्ट ने इलाहाबाद से 'हिन्दी वर्द्धिनी सभा' की ओर से निकालना प्राम्भ किया। इसमें छपने वाले विषयों की सूची मुखपृष्ठ पर इस प्रकार दी रहती थी, "विद्या, नाटक, समाचार, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राजसम्बन्धी इतिहास के विषय में।" स्पष्ट है कि यह पत्र एक व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने का लक्ष्य लेकर प्रकाशित किया गया था। भट्ट जी ने सरकार, ग्राहकों, अर्थ आदि की अनेक दुर्लंघ्य बाधाओं का डट कर मुकाबला करते हुए 33 वर्ष तक 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन किया। फरवरी, 1910 ई. के अंक के बाद 'हिन्दी प्रदीप' बन्द हो गया। हिन्दी पत्रकारिता के प्रारम्भिक युग में 33 वर्षों तक एक गम्भीर पत्रिका का चलाना जहाँ एक ओर ऐतिहासिक महत्त्व की बात है, वहीं भट्ट जी की असाधारण लगन और कर्मठता को भी सूचित करती है। इस पत्र के माध्यम से अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक भट्ट जी ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार में योग दिया तथा राष्ट्रीय चेतना को बलवती बनाया।

निबन्ध को कला-रूप के अर्थ में लेकर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि भट्ट जी हिन्दी के पहले निबन्धकार हैं जिनके निबन्धों में आत्मपरकता, व्यक्तित्वप्रधानता एवं कलात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन में एक हजार के लगभग निबन्ध लिखे होंगे पर उनमें से सौ के लगभग महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। बहुत से लोग उन्हें हिन्दी का 'एडिसन' कहना चाहते हैं। युगीन अन्य साहित्यकारों की भाँति उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक सभी विषयों पर कलम चलायी है। राजनीतिक निबन्धों में जहाँ अत्यन्त प्रखर आक्रोश व्यंजित है तो साहित्यिक निबन्धों में भावना का ललित विलास। अपने सामाजिक निबन्धों में भट्ट जी ने समाज में प्रचलित बुराइयों के प्रति ध्यान आकर्षित किया है एवं नये समाज का आदर्श भी उपस्थित करना चाहा है। इन तीनों प्रकार के निबन्धों में वक्तव्य वस्तु का फैलाव बहुत अधिक है। इन मोटे विभागों के तमाम उपेक्षित या अमहत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर भी उनकी दृष्टि गयी है। भावों या मनोविकारों पर लिखे गये उनके निबन्ध खड़ी बोली के प्रारम्भिक युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जायेंगे। साहित्यिक-कलात्मक निबन्धों में उनकी मुहावरेदार, सरल एवं शब्द चयन की दृष्टि से उदार भाषा अत्यन्त शक्तिशालिनी बन सकी है। व्यंग्य, चुहल, कटाक्ष, भावना का अकृत्रिम आवेग, अशुचि के परित्याग की उत्कटता तथा शिव को ग्रहण करने की तीव्र लालसा इन निबन्धों में विद्यमान मिलती है।

हिन्दी आलोचना के जन्मदाता के रूप में रामविलास शर्मा ने भट्ट जी को याद किया है (भारतेन्दु युग, पृ. 117)। सन् 1881 ई. के आस-पास उन्होंने वेदों की युक्तियुक्त समीक्षा की थी। 'हिन्दी प्रदीप' के प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद से (सन् 1877 ई. के अन्तिम भाग) उसमें पुस्तक समीक्षाएँ भी प्रकाशित होनी प्रारम्भ हो गयी थीं। 1886 ई. में उन्होंने 'संयोगिता स्वयंवर' की बड़ी कठोर आलोचना की थी। भट्ट जी की आलोचनाओं का परिमाण अधिक नहीं है पर उनकी सतर्क, सजग एवं प्रगतिवादी दृष्टि सर्वत्र देखी जा सकती है। प्राचीन साहित्य से लेकर समसामयिक साहित्य तक की वे खरी आलोचनाएँ किया करते थे। यह अवश्य है कि दोष-दर्शन की प्रवृत्ति उनमें अधिक थी, परन्तु पहली बार साहित्य की सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर साहित्य चिन्तन का प्रयास हमें उनमें उपलब्ध होता है।

सन् 1879 ई. के 'हिन्दी प्रदीप' में 'रहस्यकथा' नाम से भट्ट जी की एक औपन्यासिक कृति प्रकाशित होनी प्रारम्भ हुई थी परन्तु बाद को वह पूरी नहीं हुई। इसके अतिरिक्त 1886 ई. में 'नूतन ब्रह्मचारी', 1890 ई. में 'सौ अजान एक सुजान' प्रकाशित हुए। 'गुप्त वैरी', 'रसातल यात्रा' (1892), 'उचित दक्षिणा', एवं 'हमारी घड़ी', 'सद्‌भाव का अभाव' नामक उपन्यास भी भट्ट जी ने लिखने और प्रकाशित कराने प्रारम्भ किये थे पर वे पूरे नहीं हो सके। सन् 1882 में लिखित 'गुप्त वैरी' नामक उपन्यास के थोड़े से अंश 'हिन्दी प्रदीप' (जिल्द 5, सं. 9, 10 और 12 मई, जून और अगस्त, 1882 ई.) में प्रकाशित हुए। यह उपन्यास पूरा नहीं छप सका। (हिन्दी उपन्यास कोश, खण्ड 1)। वस्तुतः कथा-साहित्य उनकी प्रतिभा का वास्तविक क्षेत्र न था। उनके ये उपन्यास सामाजिक उद्देश्यों को लेकर लिखे गये हैं तथा कला की दृष्टि से अपरिपक्व हैं।

भट्ट जी द्वारा लिखित नाटकों की संख्या इस प्रकार है—(1) 'पद्मावती', (2) 'चन्द्रसेन', (3) 'किरातार्जुनीय', (4) 'पृथुचरित या वेणीसंहार', (5) 'शिशुपाल वध', (6) 'नल-दमयन्ती या दमयन्ती स्वयंवर', (7) 'शिक्षादान', (8) 'आचार विडम्बन', (9) 'नयी रोशनी का विष', (10) 'वृहन्नला', (11) 'सीता वनवास', (12) 'पतित पंचम', (13) 'मेघनाद वध' (पण्डित बालकृष्ण भट्ट—जीवन और साहित्य, पृ. 404), (14) कट्टर सूम की एक नकल, (15) इंगलैण्डेश्वरी और भारत जननी, (16) भारतवर्ष और कलि, (17) दो दूर देशी, (18) एक रोगी और वैद्य। इस सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने पौराणिक और सामाजिक दो प्रकार के नाटक लिखे हैं। नाटक भी उनके उस महत्त्व के अधिकारी नहीं हैं, जितने कि उनके निबन्ध, आलोचना या पत्र-सम्पादन अधिकारी हैं। इन नाटकों में संवादों के माध्यम से कुछ घटनाओं का अंकन करने का प्रयास किया गया है पर न तो चरित्र उभरते हैं और न रंगमंच सम्बन्धी कोई नया प्रयोग ही है।

सब मिलाकर भट्ट जी आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में श्रेष्ठ स्थान

के अधिकारी हैं। हिन्दी के लिए व्यक्तिगत रूप से उनसे अधिक त्याग करने वाला साहित्यकार हमें अपने सम्पूर्ण इतिहास में कठिनता से मिलेगा।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जन्म ग्वालियर राज्य के भयाना नामक ग्राम में 8 दिसम्बर, 1897 ई. को। वैष्णव माता-पिता के साथ बाल्यावस्था में कुछ दिनों 'नाथद्वारा' में रहने के बाद वे शिक्षा-दीक्षा के लिए शाजापुर आ गये थे। शाजापुर से अंग्रेजी मिडिल पास करके वे उज्जैन के माधव कॉलेज में प्रविष्ट हुए। राजनीतिक वातावरण ने उन्हें शीघ्र ही आकृष्ट किया और इसी से वे सन् 1916 ई. के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन को देखने के लिए चले आये। इसी अधिवेशन में संयोगवश उनकी भेंट माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त एवं गणेशशंकर विद्यार्थी से हुई। सन् 1917 ई. में हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करके बालकृष्ण शर्मा गणेशशंकर विद्यार्थी के आश्रय में कानपुर आकर क्राइस्ट चर्च कॉलेज में पढ़ने लगे। सन् 1920 ई. में, जब वे बी.ए. फाइनल में पढ़ रहे थे, गाँधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के आवाहन पर वे कॉलेज छोड़कर व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में आ गये। 29 अप्रैल, 1960 ई. को अपने मृत्युपर्यन्त वे देश की व्यावहारिक राजनीति से बराबर सक्रिय रूप से सम्बद्ध रहे। उत्तर प्रदेश के वे वरिष्ठ नेताओं में एक एवं कानपुर के एकछत्र अगुआ थे। भारतीय संविधान-निर्मात्री परिषद् के सदस्य के रूप में हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार कराने में उनका बड़ा योग रहा है। 1952 ई. से लेकर अपनी मृत्यु तक वे भारतीय संसद के सदस्य भी रहे हैं। सन् 1955 ई. में स्थापित राजभाषा-आयोग के सदस्य के रूप में उनका महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। स्वभाव से 'नवीन' जी अत्यन्त उदार, फक्कड़, आवेशी किन्तु मस्त तबियत के आदमी थे। अभिमान और छल से ये बहुत दूर थे। बचपन के वैष्णव संस्कार उनमें यावज्जीवन बने रहे।

जहाँ तक उनके लेखक-कवि व्यक्तित्व का प्रश्न है; लेखन की ओर उनकी रुचि इन्दौर से ही थी परन्तु व्यवस्थित लेखन 1917 ई. में गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में जाने के बाद प्रारम्भ हुआ। इस सम्पर्क का सहज परिणाम था कि वे उस समय के महत्त्वपूर्ण पत्र 'प्रताप' से सम्बद्ध हो गये थे। 'प्रताप' परिवार से उनका सम्बन्ध अन्त तक बना रहा। 1931 ई. में गणेशशंकर विद्यार्थी की मृत्यु के पश्चात् कई वर्षों तक ये 'प्रताप' के प्रधान सम्पादक के रूप में भी कार्य करते रहे। हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा को आगे बढ़ाने वाली पत्रिका 'प्रभा' का सम्पादन भी उन्होंने 1921-23 ई. में किया था। इन पत्रों में लिखी गयी उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ अपनी निर्भीकता, खरेपन और कठोर शैली के लिए स्मरणीय हैं। 'नवीन' अत्यन्त प्रभावशाली और ओजस्वी वक्ता भी थे एवं उनकी लेखन शैली (गद्य-पद्य दोनों ही)

पर उनकी अपनी भाषण-कला का बहुत स्पष्ट प्रभाव है। सब मिलाकर राजनीतिक कार्यकर्ता के समान ही पत्रकार के रूप में भी उन्होंने सारे जीवन कार्य किया।

राजनीतिज्ञ एवं पत्रकार के समानान्तर ही उनके व्यक्तित्व का तीसरा भास्वर पक्ष था कवि का। उनके कवि का मूल स्वर रोमाण्टिक था, जिसे वैष्णव संस्कारों की आध्यात्मिकता एवं राष्ट्रीय जीवन का विद्रोही कण्ठ बराबर अनुकूलित करता रहा। उन्होंने जब लिखना प्रारम्भ किया तब द्विवेदी युग समाप्त हो रहा था एवं राष्ट्रीयता के नये आयाम की छाया में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन काव्य में मुखर होने लगा था। परिणामस्वरूप दोनों ही युगों की प्रवृत्तियाँ हमें 'नवीन' में मिल जाती हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा ने ही कवियों की चिर-उपेक्षिता 'उर्मिला' का लेखन उनसे 1921 ई. में प्रारम्भ कराया, जो पूरा सन् 1934 ई. में हुआ एवं प्रकाशित सन् 1957 ई. में। इस काव्य में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता, स्थूल नैतिकता या प्रयोजन (जैसे रामवनगमन को आर्य संस्कृति का प्रसार मानना) स्पष्ट देखे जा सकते हैं, परन्तु मूलतः स्वच्छन्दतावादी गीतितत्त्वप्रधान 'नवीन' का यह प्रयास प्रबन्धत्व की दृष्टि से बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। छह सर्गों वाले इस महाकाव्य ग्रन्थ में उर्मिला के जन्म से लेकर लक्ष्मण से पुनर्मिलन तक की कथा कही अवश्य गयी है, पर वर्णनप्रधान कथा के मार्मिक स्थलों की न तो उन्हें पहचान है और न राम-सीता के विराट् व्यक्तित्व के आगे लक्ष्मण-उर्मिला बहुत उभर ही सके हैं। उर्मिला का विरह अवश्य कवि की प्रकृति के अनुकूल था और कला की दृष्टि में सबसे सरस एवं प्रौढ़ अंश वही है। यों अत्यन्त विलम्ब से प्रकाशित होने के कारण सम्यक् ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस ग्रन्थ का मूल्यांकन नहीं हो सका है।

यह विलम्ब उनकी सभी कृतियों के प्रकाशन में हुआ है। सन् 1930 ई. तक वे यद्यपि कवि रूप में यशस्वी हो चुके थे परन्तु पहला कविता-संग्रह 'कुंकुम' 1936 ई. में प्रकाशित हुआ। इस गीत-संग्रह का मूल स्वर यौवन के पहले उद्दाम प्रणयावेग एवं प्रखर राष्ट्रीयता का है। यत्र-तत्र रहस्यात्मक संकेत भी हैं, परन्तु उन्हें तत्कालीन वातावरण का फैशन-प्रभाव ही मानना चाहिए। "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ" तथा "आज खड्ग की धार कुण्ठिता है" जैसी प्रसिद्ध कविताएँ 'कुंकुम' में संगृहीत हैं।

फिर स्वातन्त्र्य-संग्राम का सबसे कठिन एवं व्यस्त समय आ जाने के कारण 'नवीन' बराबर उसी में उलझे रहे। कविताएँ उन्होंने बराबर लिखीं परन्तु उनको संकलित कर प्रकाशित कराने की ओर ध्यान नहीं रहा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी वे संविधान-निर्माण जैसे कार्यों में लगे रहे। इस प्रकार एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् 1951 ई. में 'रश्मि रेखा' तथा 'अपलक', 1952 ई. में 'क्वासि' संग्रह और प्रकाशित हुआ। विनोबा और भूदान पर लिखी उनकी कतिपय प्रशस्तियाँ एवं उद्बोधनों का एक संग्रह 'विनोबा स्तवन' सन् 1955 ई. में प्रकाशित हुआ। इस प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त कुंकुम-क्वासि काल (1930-1949) की अनेक

कविताएँ तथा 'प्राणार्पण' नाम से गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान पर लिखा गया खण्ड-काव्य अभी अप्रकाशित ही है। 1949 ई. के बाद भी वे बराबर लिखते एवं पत्रों में प्रकाशित कराते रहे हैं। "यह शूल युक्त यह अहि आलिंगित जीवन" जैसी श्रेष्ठ आत्मपरक कविताएँ इसी अन्तिम अवस्था में लिखी गयी हैं। पर ये सब भी असंगृहीत हैं। 'नवीन' राष्ट्रीय वीर काव्य के प्रणेताओं में मुख्य रहे हैं परन्तु उनके प्रकाशित संग्रहों में ये कविताएँ बहुत कम आ सकी हैं। उनका गद्य-लेखन भी असंकलित रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है।

अब तक प्रकाशित संग्रहों में प्रणय के कवि 'नवीन' का संवेदना और शिल्प की समग्रता की दृष्टि से श्रेष्ठतम एवं प्रतिनिधि संग्रह 'रश्मिरेखा' है। इसमें 'नवीन' की मौजी एवं प्रेमिल अभिव्यक्तियाँ प्रचुर मात्रा में हैं। 'हम अनिकेतन हम अनिकेतन' में अत्यन्त निर्लिप्त आत्मस्वीकरण के भाव से वे कह उठते हैं, "अब तक इतनी यों ही काटी, अब क्या सीखें नव परिपाटी? कौन बनाये आज घरौंदा, हाथों चुन-चुन कंकड़ माटी। ठाट फकीराना है अपना बाघम्बर सोहे अपने तन" (रश्मिरेखा, पृ. 117)। प्रणय एवं विरह की कितनी ही मादक स्मृतियाँ, कितने ही मनोरम चित्र, कितनी ही व्याकुल बेसुध पुकारें एवं विवशता की कितनी ही चीत्कारें 'रश्मि रेखा' में संगृहीत हैं। यह प्रणयी अनिकेतन अत्यन्त उद्दाम भाव में कहता है, "कूजे दो कूजे में बुझने वाली प्यास नहीं, बार-बार 'ला! ला!' कहने का समय नहीं, अभ्यास नहीं।" वस्तुतः हिन्दी में हालावाद के आदि प्रवर्त्तक 'नवीन' ही हैं तथा भगवती चरण वर्मा एवं 'बच्चन' ने उनकी ऐसी कविताओं के प्रभाव के तले लिखा है। 'बच्चन' ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है (दे. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान', 1 जुलाई, 1960, पृ. 35)।

'अपलक' और 'क्वासि' में संकलित कविताओं में यद्यपि कविताओं का रचनाकाल वही है, जो 'रश्मिरेखा' की कविताओं का है। पर इनमें जो कविताएँ संकलित हैं, उनमें प्रणय का वेग दर्शन एवं भक्ति-भावना से प्रतिहत होता लगता है। 'आध्यात्मिकता' का स्वर छायावाद के बहुत से आलोचकों को भी भ्रम और विवाद में डालता रहा है, परन्तु शिल्प के जिस लाक्षणिक वैचित्र्य के माध्यम से वह स्वर व्यक्त हुआ है, उसने उन कविताओं को अनगढ़ नहीं होने दिया। परन्तु 'नवीन' का छायावादकाल में ही लिखा गया यह अध्यात्म-निवेदन बहुत कुछ स्थूल एवं इतिवृत्तात्मक पदावली में व्यक्त हुआ है। छायावाद के शिल्प को वे मन से नहीं स्वीकार करते पर रहस्य या अध्यात्म की पदावली उन पर हावी प्रतीत होती है। परन्तु इन संकलनों में जहाँ उनका मस्त एवं प्रणयी व्यक्तित्व सहज ही व्यक्त हुआ, वहाँ काव्य नितान्त रसनिर्भर हो सका है। 'हम हैं मस्त फकीर' (अपलक), 'तुम युग-युग की पहचानी सी' (क्वासि), 'मान छोड़ो' (क्वासि), 'सुन लो प्रिय मधुर गान' (अपलक) ऐसी ही कविताएँ हैं। आध्यात्मिक अन्योक्ति की दृष्टि से 'डोलेवालों' (क्वासि) उनकी श्रेष्ठतम कविता है।

ब्रजभाषा 'नवीन' की मातृभाषा थी। उनके प्रत्येक ग्रन्थ में ब्रजभाषा के भी

कतिपय गीत या छन्द मिलते हैं। ब्रजभाषा में 'नवीन' भाव-संवेदना की अभिव्यक्ति का प्रयास कर उन्होंने ब्रजभाषा के आधुनिक साहित्य को समृद्ध किया है। उर्मिला का एक सम्पूर्ण सर्ग ही ब्रजभाषा में है परन्तु उनका ब्रजभाषा-मोह जब खड़ी बोली के परिनिष्ठत प्रयोगों के मध्य आ प्रकट होता है तब पाठक के लिए रसभंग की स्थिति पैदा हो जाती है। ब्रजभाषा के क्रियापदों या शब्दों (जानूँ हूँ, सोचूँ हूँ, नैंक, लागी, नचीं, उमड़ाय दिया आदि) का निखरी तत्सम प्रधान खड़ी बोली में प्रयोग अत्यन्त अकुशल ढंग से हुआ है। वस्त्र के लिए 'बस्तर' (क्वासि, पृष्ठ 9) जैसे प्रयोग भी बहुधा खटकते हैं। वस्तुतः आधुनिक काल के श्रेष्ठ कवियों में 'नवीन' से अधिक भाषा के भ्रष्ट प्रयोग मिल ही नहीं सकते। लगता है यह भी उनकी भाषणकला का ही प्रभाव था। सम्भवतः राजनीतिक व्यस्तता भी इस परिष्कारहीनता के मूल में थी। संस्कृत के भारी भरकम अप्रचलित एवं दुरूह शब्दों को लाने की प्रवृत्ति उनकी बराबर बढ़ती गयी है। सन् 1950-51 ई. के बाद की कविताओं में अध्यात्म मोह के साथ-साथ दुरूह अकाव्यात्मक शब्दावली (शब्द और अर्थ के वक्र कविव्यापारशाली सह भाव से विच्छिन्न) का उनका आग्रह उनके काव्य के रसास्वादन में बराबर बाधक बनता गया है। लगता है शैली जीतती गयी है और वे हारते गये हैं।

द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी काव्य-धारा की जो परिणति छायावाद में हुई है, 'नवीन' उसके अन्तर्गत नहीं आते। राजनीति के कठोर यथार्थ में उनके लिए शायद यह सम्भव नहीं था कि वैसी भावुकता, तरलता, अतीन्द्रियता एवं कल्पना के पंख वे बाँधते, परन्तु इस बात को याद रखना होगा कि उनका काव्य भी स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिक) आन्दोलन का ही प्रकाश है। 'नवीन', मैथिलीशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, सियाराम शरण गुप्त आदि का काव्य छायावाद के समानान्तर संचरण करता हुआ आगे चलकर 'बच्चन', 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा, 'दिनकर' आदि के काव्य में परिणत होता है। काव्यधारा के इस प्रवाह की ओर हिन्दी आलोचकों ने अभी तक उपेक्षा का ही भाव रखा है। अस्तु, 'नवीन' के काव्य में एक ओर राष्ट्रीय संग्राम की कठोर जीवनानुभूतियाँ एवं जागरण के स्वर व्यंजित हुए हैं और दूसरे सहज मानवीय स्तर (योद्धा से अलग) पर प्रेम-विरह की राग-संवेदनाएँ प्रकाश पा सकी हैं। इसी क्रम में हालावादी काव्य की भी सृष्टि हुई है। इस प्रकार छायावाद के समानान्तर बहने वाली वीर-शृंगार धारा के वे अग्रणी कवि रहे हैं। कवि के अतिरिक्त गद्यलेखक के रूप में भी 'प्रताप' जैसे पत्र के माध्यम से उन्होंने ओज-गुणप्रधान एक शैली के निर्माण में अपना योग दिया है।

यशोदानन्दन अखौरी

(रचनाकाल—1904 ई.)। अखौरी जी यदा-कदा लिखने वाले लेखकों में थे। आप पटना निवासी थे। आपने 'पाटलिपुत्र' तथा 'भारतमित्र' के सम्पादकीय विभाग में कार्य

किया था। ये द्विवेदी युग के निबन्ध लेखक थे तथा श्री कृष्णलाल ने 'इत्यादि की आत्म कहानी' नामक इनके एक निबन्ध की चर्चा की है ('आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृ. 34)। यह निबन्ध 1904 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। जस्टिस शारदाचरण मित्र द्वारा प्रकाशित 'देवनगर' (1907 ई.) का सम्पादन किया।

रामचन्द्र शुक्ल

जन्म बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में सन् 1884 ई. में हुआ था। सन् 1888 ई. में वे अपने पिता के साथ राठ जिला हमीरपुर गये तथा वहीं पर विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। सन् 1892 ई. में उनके पिता की नियुक्ति मीरजापुर में सदर कानूनगो के रूप में हो गयी और वे पिता के साथ मीरजापुर आ गये। अध्ययन के क्षेत्र में पिता ने इन पर उर्दू और अंग्रेजी पढ़ने के लिए जोर दिया तथा पिता की आँख बचाकर वे हिन्दी भी पढ़ते रहे। सन् 1901 ई. में उन्होंने मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा प्रयाग के कायस्थ पाठशाला इण्टर कॉलेज में एफ.ए. पढ़ने के लिए आये। गणित में कमजोर होने के कारण शीघ्र ही उसे छोड़कर 'प्लीडरशिप' की परीक्षा पास करनी चाही, उसमें भी वे असफल रहे। परन्तु इन परीक्षाओं की सफलता या असफलता से अलग वे बराबर साहित्य, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन में लगे रहे। मीरजापुर के पं. केदारनाथ पाठक, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' के सम्पर्क में आकर उनके अध्ययन-अध्यवसाय को और बल मिला। यहीं पर उन्होंने हिन्दी, उर्दू, संस्कृत एवं अंग्रेजी के साहित्य का वह गहन अनुशीलन प्रारम्भ कर दिया था, जिसका उपयोग वे आगे चल कर अपने लेखन में जमकर कर सके।

मीरजापुर के तत्कालीन कलक्टर ने उन्हें एक कार्यालय में नौकरी भी दी थी, पर हेड क्लर्क से उनके स्वाभिमानी स्वभाव की पटी नहीं। उसे उन्होंने छोड़ दिया। फिर कुछ दिनों मीरजापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक रहे। सन् 1909-10 ई. के लगभग वे 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन में वैतनिक सहायक के रूप में काशी आ गये—यहीं पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विभिन्न कार्यों को करते हुए उनकी प्रतिभा चमकी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी उन्होंने कुछ दिन किया था। कोश का कार्य समाप्त हो जाने के बाद शुक्ल जी की नियुक्ति हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस में हिन्दी के अध्यापक के रूप में हो गयी। वहाँ से एक महीने के लिए वे अलवर राज्य में भी नौकरी के लिए गये, पर रुचि का काम न होने से पुनः विश्वविद्यालय लौट आये। सन् 1937 ई. में वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए एवं इस पद पर रहते हुए ही सन् 1941 ई. में उनकी श्वास के दौरे में हृदय गति बन्द हो जाने से मृत्यु हो गयी।

शुक्ल जी का साहित्यिक व्यक्तित्व विविध पक्षों वाला है। उन्होंने अपने

साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में लेख लिखे हैं और फिर गम्भीर निबन्धों का प्रणयन किया है जो 'चिन्तामणि' (दो भाग) में संकलित हैं। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में फुटकर कविताएँ लिखीं तथा एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद किया, 'बुद्ध चरित' के नाम से। मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, शिक्षा एवं व्यवहार सम्बन्धी लेखों एवं पत्रिकाओं के भी अनुवाद किये हैं तथा जोसेफ एडिसन के 'प्लेजर्स ऑफ इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से एवं राखालदास बन्धोपाध्याय के 'शशांक' उपन्यास का भी हिन्दी में रोचक अनुवाद किया। उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखा, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् संकलित होकर 'रस मीमांसा' नाम की पुस्तक में विद्यमान है तथा तुलसी, जायसी की ग्रन्थावलियों एवं 'भ्रमर गीतसार' की भूमिका में लम्बी व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं, जिनमें से दो 'गोस्वामी तुलसीदास' तथा 'महाकवि सूरदास' अलग से पुस्तक रूप में भी उपलब्ध हैं। शुक्ल जी ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा, जिसमें काव्य-प्रवृत्तियों एवं कवियों का परिचय भी है और उनकी समीक्षा भी। दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी 'विश्व प्रपंच' पुस्तक उपलब्ध है। पुस्तक यों तो 'रिडल ऑफ दि यूनीवर्स' का अनुवाद है पर उसकी लम्बी भूमिका शुक्ल जी द्वारा किया गया मौलिक प्रयास है। इस प्रकार शुक्ल जी ने साहित्य में विचारों के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस सम्पूर्ण लेखन में भी उनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं कालजयी रूप समीक्षक, निबन्ध-लेखक एवं साहित्यिक इतिहासकार के रूप में प्रकट हुआ है।

नलिनविलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास दर्शन' में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक सम्भवतः उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था। यह बात विचार करने पर सत्य प्रतीत होती है, बल्कि ऐसा लगता है कि समीक्षक के रूप में शुक्ल जी अब भी अपराजेय हैं। अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद उनका पैनापन, उनकी गम्भीरता एवं उनके बहुत से निष्कर्ष एवं स्थापनाएँ किसी भी भाषा के समीक्षा-साहित्य के लिए गर्व का विषय बन सकती हैं।

अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्वयं रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, "इस तृतीय उत्थान (सन् 1918 ई. से) में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया" (पृ. 516, ग्यारहवाँ संस्करण)। कहना न होगा कि कवियों की विशेषताओं एवं उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर ध्यान, सबसे पहले शुक्ल जी ने दिया है। इस प्रकार हिन्दी-समीक्षा को अपेक्षित धरातल देने में सबसे बड़ा हाथ उनका ही रहा है। समीक्षक के रूप में शुक्ल जी पर विचार करते ही एक तथ्य सामने आ जाता है कि उन्होंने अपनी पद्धति को युगानुकूल नवीन बनाया था। रस और अलंकार आदि का प्रयोग अपने समीक्षात्मक प्रयासों में शुक्ल जी से पहले के लोगों ने भी किया था पर उन्होंने इन सिद्धान्तों की, मनोविज्ञान के आलोक

में एवं पाश्चात्य शैली पर, कुछ ऐसी अभिनव व्याख्या दी कि ये सिद्धान्त समीक्षा से बहिष्कृत न होकर पूरी तरह स्वीकार कर लिये गये। इस प्रकार जहाँ उन्होंने एक ओर अपनी आलोचनाओं का ढाँचा भारतीय रहने दिया है, वहीं पर उसका बाह्य रूप एवं रचना-विधान पश्चिम से लिया है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह निर्णय करना कठिन है कि उनकी समीक्षा में देशी और विदेशी तत्त्वों का मिश्रण किस अनुपात में हुआ है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस पद्धति का प्रयोग उन्होंने तुलसी, सूर या जायसी जैसे श्रेष्ठ कवियों की समीक्षाओं में ही नहीं, अपने इतिहास में छोटे कवियों पर भी, उतना ही सफलता से किया है।

रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षक-व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता या महानता है कि उन्होंने मानदण्ड-निर्धारण और उनका प्रयोग दोनों कार्य एक साथ किये हैं तथा इस दोहरे कार्य में कथनी और करनी का अन्तराल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, बल्कि यों कहें कि अपने मनोविकारों वाले निबन्धों में जीवन, साहित्य और भावों के मध्य जो सम्बन्ध देखा था, उसी के आधार पर उन्होंने अपनी समीक्षा के मानदण्ड निर्धारित किये एवं इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग उन्होंने फिर किया। सिद्धान्त एवं व्यवहार के मध्य ऐसी संगति श्रेष्ठतम आलोचकों में ही प्राप्त होती है।

उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता समसामयिक काव्य-चिन्तनसम्बन्धी जागरूकता है। उन्होंने जिन साहित्यमीमांसकों एवं रचनाकारों को उद्धृत किया है, उनमें से अधिकांश को आज भी हिन्दी के तमाम आचार्य और स्वनामधन्य आलोचक नहीं पढ़ते। सम्भवतः रामचन्द्र शुक्ल उन प्रारम्भिक व्यक्तियों में होंगे, जिन्होंने इलियट और कमिंग्ज जैसे रचनाकारों का भारत वर्ष में पहली बार उल्लेख किया है। 1935 ई. में इन्दौर के हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ. 248) में इस जागरूकता के सबसे अधिक दर्शन होते हैं। उन्होंने जे.एस. फ्लिण्ट की चर्चा की है तथा हेराल्ड मुनरो की तारीफ की है तथा कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी के अध्यापकों द्वारा लिखित सद्यःप्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह की उद्धरणी दी है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पहली बार हिन्दी में शुक्ल जी ने सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आधार पर किसी कवि की विवेचना करके आलोचना को एक 'व्यक्तिता' प्रदान की, उसे जड़ से गतिशील किया। एक ओर उन्होंने सामाजिक सन्दर्भ को महत्त्व प्रदान किया एवं दूसरी ओर रचनाकार की व्यक्तिगत मनःस्थिति का हवाला दिया।

शुक्ल जी के व्यक्तित्व का एक गुण यह भी है कि वे श्रुति नहीं, मुनि-मार्ग के अनुयायी थे। किसी भी मत, विचार या सिद्धान्त को उन्होंने बिना अपने विवेक की कसौटी पर कसे स्वीकार नहीं किया। यदि उनकी बुद्धि को वह ठीक नहीं जँचा, तो उसके प्रत्याख्यान में तनिक भी मोह नहीं दिखाया। इसी विश्वास के कारण वे क्रोचे, रवीन्द्र, कुन्तक, ब्लेक या स्पिन्गार्न की तीखी समीक्षा कर सके थे।

आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने सदैव लोक-संग्रह की भूमिका पर काव्य को परखना चाहा है तथा लोकसंग्रह सम्बन्धी धारणा में उनकी मध्यवर्गीय तथा कुछ मध्ययुगीन नैतिकता एवं स्थूल आदर्शवाद का भी मिश्रण था। इस कारण उनकी आलोचना यत्र-तत्र स्खलित भी हुई है।

शुक्ल जी ने अपने समीक्षादर्श में 'एक ही अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाना' काव्य का लक्ष्य माना है तथा इस प्रेषणा के द्वारा मनुष्य की 'सजीवता' के प्रमाण मनोविकारों को परिष्कृत करके उनके उपयुक्त आलम्बन लाने में उसकी सार्थकता और सिद्धि देखी है। कवि की अनुभूति को सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त समझने के कारण उन्होंने कविकर्म के लिए यह महत्त्वपूर्ण माना कि "वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे"। इस कसौटी की ही अगली परिणति है कि ऐसी भावदशाओं के लिए अधिक अवकाश होने के कारण उन्होंने महाकाव्य को खण्ड-काव्य या मुक्तक-काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया। कुछ इसी कारण 'रोमाण्टिक', 'रहस्यात्मक' या 'लिरिकल' संवेदना वाले काव्य को वे उतनी सहानुभूति नहीं दे सके हैं।

शुक्ल जी असाधारण वस्तु-योजना अथवा ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती भी इसीलिए नहीं थे कि उनसे प्रेषणीयता में बाधा पहुँचती है। इस सिद्धान्त के स्वीकरण के फलस्वरूप साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ नयी व्याख्या देते हुए उन्होंने 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' माना। यह उनके स्वतन्त्र काव्य-चिन्तन तथा अपने अध्ययन (विशेष रूप से तुलसी के अध्ययन) के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का परिचायक भी है। अपनी क्लासिकल रस-दृष्टि के कारण ही उन्होंने काव्य में कल्पना को अधिक महत्त्व नहीं दिया। अनुभूति-प्रसूत भावुकता उन्हें स्वीकार्य थी, कल्पना-प्रसूत नहीं। इस धारणा के कारण ही वे छायावाद जैसे काव्यान्दोलनों को उचित मूल्य नहीं दे सके। इसी कारण शुद्ध चमत्कार एवं अलंकार वैचित्र्य को भी उन्होंने निम्न कोटि प्रदान की। अलंकार को उन्होंने वर्णन-प्रणाली मात्र माना। उनके अनुसार अलंकार का काम 'वस्तु-निर्देश' नहीं है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने लाक्षणिकता, औपचारिकता आदि को अलंकार से भिन्न शैलीतत्त्व के अन्तर्गत माना है। काव्य-शैली के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना 'बिम्ब ग्रहण' को श्रेष्ठ मानने सम्बन्धी है, वैसे ही जैसे कि काव्य-वस्तु के क्षेत्र में प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी विशेष आग्रह उनकी अपनी देन है।

शुक्ल जी ने काव्य को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हुए 'भावयोग' कहा, जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है। काव्य को 'मनोरंजन' के हल्के-फुल्के उद्देश्य से हटा कर इस गम्भीर दायित्व को सौंपने में उनकी मौलिक एवं आचार्य-दृष्टि द्रष्टव्य है। ये "कविता को शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध"

स्थापित करने वाला साधन मानते हैं, वस्तुतः काव्य को व्यक्ति के शील-विकास का महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम साधन उन्होंने माना।

नवीन साहित्य रूपों एवं चरित्र विधान की नयी परिपाटियों के कारण उन्होंने अपने रस-सिद्धान्त में केवल साधारणीकरण का ही नये सिरे से विवेचन नहीं किया, साथ ही "रसात्मक बोध के विविध रूपों" की चर्चा करते हुए अपेक्षाकृत हीनतर रस-दशाओं या 'शील-वैचित्र्य' बोध का भी विचार किया है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी उन्होंने 'सिद्धावस्था' और 'साधनावस्था' की दृष्टि से विभाजन किया है। काव्य के अतिरिक्त उन्होंने अपने इतिहास में निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यरूपों के स्वरूप पर भी संक्षिप्त, पर महत्त्वपूर्ण सर्वांगीण विचार प्रकट किये हैं।

शुक्ल जी की समीक्षा का मूलस्वर यद्यपि व्याख्यात्मक है, पर आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने आकलनसम्बन्धी निर्णय लेने में साहस की कमी नहीं दिखायी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनके 'इतिहास' का आधुनिककाल से सम्बन्धित अंश है। यह अवश्य है कि इन निर्णयों या व्याख्याओं में उनके वैयक्तिक एवं वर्गगत आग्रह तथा उस युग तक की इतिहास-दृष्टि की सीमाएँ थीं। वस्तुतः शुक्ल जी समीक्षा के प्रथम उठान के चरम विकास में और आगे जिन लोगों ने उनका अनुगमन किया, वे प्रभावशाली नहीं बन सके। जिन्होंने उस परम्परा को छोड़ा, वही महत्त्वपूर्ण हुए। शुक्ल जी की समीक्षा-दृष्टि की सम्भावनाएँ बहुत विकासशील नहीं थीं।

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रथम साहित्यिक इतिहास लेखक हैं, जिन्होंने मात्र कवि-वृत्त-संग्रह से आगे बढ़कर, "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए सुसंगठित काल-विभाग" की ओर ध्यान दिया ('हिन्दी साहित्य का इतिहास' : रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ. 1)। इस प्रकार उन्होंने साहित्य को 'शिक्षित जनता' के साथ सम्बद्ध किया और उनका इतिहास केवल कवि-जीवनी या 'ढीले सूत्र में गुँथी आलोचनाओं' से आगे बढ़कर सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से संकलित हो उठा। उनके 'कवि' मात्र व्यक्ति न रहकर, परिस्थितियों के साथ आबद्ध होकर जाति के कार्य-कलाप को भी सूचित करने लगे। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर कालविभाजन और उन युगों का नामकरण किया। इस प्रवृत्ति-साम्य एवं युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने 'सामूहिक प्रभाव' की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। वस्तुतः उनका समीक्षक रूप यहाँ पर भी उभर आया है। और उनकी रसिक दृष्टि कवियों के काव्य सामर्थ्य के उद्घाटन में अधिक प्रवृत्त हुई है, तथ्यों की खोजबीन की ओर कम। यों साहित्यिक प्रवाह के उत्थान-पतन का निर्धारण उन्होंने अपनी लोक-संग्रहवाली कसौटी पर करना चाहा है, पर उनकी इतिहास-दृष्टि निर्मल नहीं थी। यह उस समय तक की प्रबुद्ध

वर्ग की इतिहास सम्बन्धी चेतना की सीमा भी थी। शीघ्र ही युग और कवियों के कार्य-कारण सम्बन्ध की असंगतियाँ सामने आने लगीं, जैसे कि भक्तिकाल के उद्‌भव सम्बन्धी उनकी धारणा बहुत शीघ्र अयथार्थ सिद्ध हुई। वस्तुतः साहित्य को शिक्षित जन नहीं, सामान्य जन-चेतना के साथ सम्बद्ध करने की आवश्यकता थी। उनका औसतवाद का सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक है। इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण ही उन्हें कवियों का एक फुटकल खाता भी खोलना पड़ा था। यदि वे युगों के विविध अन्तर्विरोधों को प्रभावित कर सके होते तो ऐसी असंगतियाँ न आतीं।

रामचन्द्र शुक्ल का तीसरा महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व निबन्धकार का है। उनके निबन्धों के सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया गया है कि वे विषयप्रधान निबन्धकार हैं या व्यक्तिप्रधान। वस्तुतः उनके निबन्ध आत्मव्यंजक या भावात्मक तो किसी प्रकार भी नहीं कहे जा सकते—हाँ, इतना अवश्य है कि बीच-बीच में आत्मपरक अंश आ गये हैं। पर ऐसे अंश इतने कम हैं कि उनको प्रमाण नहीं माना जा सकता। उनके निबन्ध अत्यन्त गहरे रूप में बौद्धिक एवं विषयनिष्ठ हैं। उन्हें हम ललित निबन्ध की कोटि में नहीं रख सकते। पर इन निबन्धों में जो गम्भीरता, विवेचन में जो पाण्डित्य एवं तार्किकता तथा शैली में जो कसाव मिलता है, वह इन्हें अभूतपूर्व दीप्ति दे देता है। वास्तव में निबन्धों के क्षेत्र में शुक्ल जी की परम्परा हिन्दी में बराबर चलती जा रही है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उनके निबन्धों के आलोकपुंज के समक्ष कुछ दिनों के लिए ललित भावात्मक निबन्धों का प्रणयन एकदम विरल हो गया। उनके महत्त्वपूर्ण निबन्धों को मनोविकार सम्बन्धी, सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी एवं व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी तीन भागों में बाँटा जा सकता है—यद्यपि इनमें आन्तरिक सम्बन्ध सूत्र बना रहता है। इनमें भी प्रथम प्रकार के निबन्ध शुक्ल जी के महत्तम लेखन के अन्तर्गत परिगणनीय हैं।

रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रन्थावली' तथा 'बुद्धचरित' की भूमिका में क्रमशः अवधी तथा ब्रजभाषा का भाषा-शास्त्रीय विवेचन करते हुए उनका स्वरूप भी स्पष्ट किया है। अनुवादक रूप में उन्होंने 'शशांक' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास तथा 'बुद्धचरित' जैसे काव्य का अनुवाद किया है। अनुवाद के रूप में उनकी शक्ति या निर्बलता यह थी कि उन्होंने अपनी प्रतिभा या अध्ययन के बल पर उनमें अपेक्षित परिवर्तन कर लिए हैं। 'शशांक' मूल बंगला में दुःखान्त है, पर उन्होंने उसे सुखान्त बना दिया है। अनुवादक की इस प्रवृत्ति को आदर्श भले ही न माना जाय पर उसके व्यक्तित्व की शक्ति एवं जीवन का प्रतीक अवश्य माना जा सकता है।

साहित्यिक इतिहास लेखक के रूप में उनका स्थान हिन्दी में अत्यन्त गौरवपूर्ण है, निबन्धकार के रूप में वे किसी भी भाषा के लिए गर्व के विषय हो सकते हैं तथा समीक्षक के रूप में तो वे हिन्दी में अप्रतिम हैं अभी तक।

रामलोचन शरण

जन्म मुजफ्फरपुर (बिहार) के राधाडर गाँव में 1890 ई. में हुआ था। वे बिहार प्रदेश के लेखक ही नहीं, प्रमुख प्रकाशक तथा साक्षरता आन्दोलन के प्रचारक भी थे। वस्तुतः सन् 1920 ई. से लेकर सन् 1940 ई. तक बिहार प्रदेश में हिन्दी की साहित्यिक गतिविधियों में उनकी गहरी दिलचस्पी रही। वे अपने आप में एक व्यक्ति नहीं, संस्था थे। उनका वास्तविक महत्त्व उनके लेखन में न होकर सक्रिय साहित्यिक कार्यकर्ता और संयोजक होने में था। 'पुस्तक भण्डार' लहेरिया सराय, और पटना की प्रसिद्ध प्रकाशन संस्था के स्वामी थे। इस प्रकाशन संस्था का प्रारम्भ उन्होंने 1915 ई. में किया था, जब कि वे गया जिला स्कूल में हिन्दी के शिक्षक थे। तब से इस संस्था के माध्यम से हिन्दी के प्रचार-प्रसार से लेकर उच्च कोटि के साहित्य प्रकाशन तक का प्रभूत काम हुआ है। रामलोचन शरण जी ने इस भण्डार की ओर से ही हिन्दी का प्रसिद्ध बाल मासिक 'बालक' निकाला, जिसने कि बाल-साहित्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया। यह सबसे पुराना बाल मासिक पत्र है, जिसका प्रकाशन आज भी अनवरत हो रहा है। रामलोचन जी स्वयं इसका सम्पादन करते थे। प्रारम्भ में उन्होंने बिहार में हिन्दी में भाषागत शुद्धता लाने की वैसी ही चेष्टा की थी जैसी कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक व्यापक क्षेत्र में की थी। उन्होंने बाल-साहित्य से सम्बन्धित बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में 1942 ई. में उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया गया था। रामलोचन जी ने दो सौ से ऊपर पुस्तकें लिखीं या सम्पादित की हैं—इनमें अधिकांशतः शिक्षाप्रद या बाल-साहित्य सम्बन्धी हैं। 1960 ई. में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने वयोवृद्ध साहित्यिक सम्मान पुरस्कार देकर सम्मानित किया। इसके पहले भारत सरकार ने 1942 ई. और सन् 1946 ई. में सम्मानित किया था, तथा 1938 ई. में बिहार की पहली कांग्रेस सरकार ने राजेन्द्र स्वर्ण पदक देकर सम्मानित किया था। तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' उन्होंने सम्पादित करके प्रकाशित की तथा 'रामचरितमानस' का और समस्त तुलसी-साहित्य का मैथिली एवं नेपाली में अनुवाद किया। 'गाँधी जी के पदचिह्नों पर' तथा 'योग और नयी प्रवृत्तियाँ' संख्यामाला में उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनका देहावसान 82 वर्ष के साहित्यिक कर्मठ जीवन के बाद 14 मई, 1971 ई. को हुआ।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

18 जनवरी, 1908 ई. को जिला पूर्णिया (बिहार) के रूपसपुर नामक गाँव में जन्म हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एम.ए. थे। साहित्य के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्र

के भी मुख्य कार्यकर्ता थे। बिहार विधान परिषद के अध्यक्ष भी रहे थे। साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने पटना की 'अवन्तिका' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया था। साहित्य के क्षेत्र में उनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार आलोचना है। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (1938 ई.) तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' (1942 ई.) उनके प्रमुख समीक्षा-ग्रन्थ हैं, पर साथ ही कृति-साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने कार्य किया है। 'भ्रातृप्रेम' (1926 ई.) उनका उपन्यास है तथा 'गुलाब की कलियाँ' (1928), 'रसरंग' (1929) कहानियों के संग्रह। 'वियोग' शीर्षक उनका निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है।

'सुधांशु' की प्रतिभा समीक्षा के सैद्धान्तिक निरूपण में है और इसके लिए उन्होंने मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र एवं प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के गहन अध्ययन द्वारा समुचित तैयारी की है। छायावाद की छाया तले पलने वाले इस समीक्षक पर रोमाण्टिक काव्य शास्त्र का प्रभाव यथेष्ट है तथा उन्होंने रामचन्द्र शुक्ल की शास्त्रीयता की कड़ियों को ढीला करने का प्रयास किया है।

रामचन्द्र शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को कोरा कलावाद कहते हुए उसे भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान कह दिया था। 'सुधांशु' ने अभिव्यंजनावाद के अन्तर्गत भाव-सत्ता का स्पष्ट प्रमाण देते हुए वक्रोक्तिवाद से उसका प्रामाणिक अन्तर प्रतिपादित किया। यह कार्य अत्यन्त सन्तुलित ढंग पर 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नामक ग्रन्थ में 'सुधांशु' ने किया। इस भ्रम के निराकरण के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अभिव्यंजनावाद की शब्दावली की ऐतिहासिक रूपरेखा भी दी है तथा काव्य में अलंकारों के औचित्य, प्रभाव, प्रतीक और उपमान, अमूर्त और मूर्तविधान आदि अभिव्यंजना की विशेष प्रवृत्तियों का अध्ययन भी उपस्थित किया गया है।

'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक पुस्तक में लेखक ने अपने समीक्षा सम्बन्धी विचारों को अधिक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहा है। इस पुस्तक में दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार भूमि पर काव्यसिद्धान्तों को परखने की चेष्टा की गयी है। रोमाण्टिक काव्यशास्त्र की धारणाओं के अनुरूप उन्होंने आत्मभाव की अभिव्यक्ति को ही कला का मुख्य उद्देश्य माना है।

काव्यानन्द की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विवेचन करके उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों को एक साथ समेटने की चेष्टा की है। संसार के समस्त व्यापारों के मूल में मन का ओज स्वीकार करके वे काव्यानन्द को भी मन के अतिरिक्त ओज पर ही निर्धारित मान लेते हैं। काव्य के सृजन एवं आस्वादन से सम्बन्धित समस्याओं के अतिरिक्त लेखक ने इस कृति में लय और छन्द, ग्रामगीत की प्रकृति, कलागीत की प्रवृत्तियों आदि पर भी विचार किया है तथा अन्त में आधुनिक नौ कवियों की प्रवृत्तिमूलक समीक्षा भी की है। परन्तु यह पुस्तक जिस संकल्प को लेकर जिस

व्यापक परिप्रेक्ष्य से प्रारम्भ की गयी थी, उसका निर्वाह नहीं हो सका। पूरी पुस्तक में न तो जीवन के तत्त्वों का ही गहन विश्लेषण हो सका है और न उन तत्त्वों के आधार पर काव्य-सिद्धान्तों की ही सम्यक् व्याख्या बन पड़ी है। पुस्तक का अन्तिम अंश और विशेषतः व्यावहारिक समीक्षा वाला भाग दलीय हो गया है।

लीलाधर गुप्त

जन्म जिला बुलन्दशहर के करोरा नामक ग्राम में 2 मई, 1896 ई.। मृत्यु प्रयाग में सन् 1959 ई. में। अंग्रेजी साहित्य में वे एम. ए. थे तथा प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक थे।

यों तो पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र एवं काल-चिन्तन का प्रभाव हिन्दी पर भारतेन्दु युग से ही पड़ने लगा था पर सामान्य पाठक के लिए पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र का व्यवस्थित परिचय देने वालों में लीलाधर गुप्त का नाम प्रमुख है। 'पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण' (1946 ई.) नामक उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उनकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 'पाश्चात्य साहित्यालोचन' (सन् 1952 ई.) हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग की ओर से प्रकाशित की गयी। इस पुस्तक में यद्यपि विश्लेषणात्मक एवं मूल्यांकनपरक दृष्टिकोण का अभाव है तथा तुलनात्मक या ऐतिहासिक स्तर पर विवेचना का स्वरूप भी उपलब्ध नहीं होता, परन्तु फिर भी कुछ प्रमुख पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रामाणिक विवरण इस पुस्तक में दिया गया है।

विनयमोहन शर्मा

जन्म 16 अक्टूबर सन् 1905 ई. करकबेल (म. प्र.) में। वास्तविक नाम शुकदेव प्रसाद तिवारी है। यों 'वीरात्मा' उपनाम से उन्होंने कुछ कविताएँ इत्यादि भी लिखी हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी.ए. एवं नागपुर विश्वविद्यालय से एम.ए. तथा पीएच.डी. तथा आगरा विश्वविद्यालय से एल. एल. बी. की उपाधि प्राप्त हुई। नागपुर विश्वविद्यालय में वे हिन्दी के विभागाध्यक्ष थे तथा रायगढ़ के गवर्नमेन्ट डिग्री कॉलेज के प्रिंसिपल के पद से उन्होंने 1960 ई. में अवकाश ग्रहण किया। आप कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। आपकी अनेक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं—'भूले गीत' (1944), 'कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ' (1945), 'हिन्दी गीत गोविन्द' (1955 ई.), 'दृष्टिकोण' (1950 ई.), 'साहित्यावलोकन' (1952 ई.), 'हिन्दी को मराठी सन्तों की देन' (1957 ई.), 'साहित्य, शोध, समीक्षा' (1958 ई.), 'साहित्य कला' (1940), 'रेखा और रंग' (1955 ई.), 'हिन्दी के व्यावहारिक रूप' (1968 ई.), 'साहित्यान्वेषण'

(1969 ई.), 'साहित्य–नया और पुराना' (1972 ई.), 'भाषा, साहित्य, समीक्षा' (1972 ई.)। इनमें से प्रथम कविता संग्रह है एवं तृतीय जयदेव के प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। 'हिन्दी को मराठी-सन्तों का योगदान' उनका शोध-ग्रन्थ है तथा शेष पुस्तकें निबन्धों के संकलन हैं। इन निबन्धों में कतिपय अनुसन्धानपरक हैं एवं कुछ में स्वतन्त्र समीक्षात्मक प्रयास हैं। कुछ निबन्ध या समीक्षाएँ या तो छात्रोपयोगी हैं या फिर परिचयात्मक टिप्पणियाँ मात्र। उनकी पुस्तकों में संस्मरण भी मिल जाते हैं तथा 'कवि प्रसाद: आँसू तथा अन्य कृतियाँ' में उन्होंने आँसू के कुछ दुरूह स्थलों की टीका भी की है। अपने शोध-ग्रन्थ एवं कुछ निबन्धों में उन्होंने अन्तरप्रान्तीय साहित्यों (हिन्दी और मराठी) के तुलनात्मक अध्ययन को उपस्थित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

विनयमोहन शर्मा की आलोचनाओं का मूल स्वर वस्तुतः 'अकादमिक' है। वे मुख्यतः अध्यापक रहे हैं और अध्यापक का स्वर उनमें सर्वत्र प्रमुख है। भरसक उन्होंने चेष्टा की है कि किसी भी 'वादी' दृष्टि में न बँधकर तटस्थ एवं वैज्ञानिक समीक्षाएँ लिखी जायें। अपने दृष्टिकोण को 'साहित्यावलोकन' के 'दृष्टिक्षेप' में उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है–

> *"एक बात का यत्न मैंने अवश्य किया है कि साहित्य के अवलोकन में अपनी दृष्टि को वादग्रस्त होने से बचाया है। अनुभूति के सहज प्रकाश को साहित्य की कसौटी मान कर उसका रसास्वादन मेरा ध्येय रहा है।"*

पर इस रसवादी दृष्टिकोण में भी एक बात व्याख्या-सापेक्ष है और वह है 'अनुभूति का प्रकाश'। विनयमोहन जी ने इसके लिए बहुधा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रवर्तित शास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है पर शुक्ल जी के पूर्वाग्रहों से उन्होंने अपने को बचाकर 'सन्तसाहित्य' या 'छायावाद' को अपनी सहृदयता दी है। आधुनिक काल के दो प्रभावशाली मतवादों 'फ्रायडवाद' और 'मार्क्सवाद' को उन्होंने एकांगी माना है ('दृष्टिकोण' पृ. 2, 19 और 25)। फ्रायड का तो उन्होंने बहुत विरोध किया है और मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर रचित साहित्य को सामाजिक स्वास्थ्य के लिए वे अनुचित मानते हैं। प्रगतिवादी साहित्य के बारे में उनकी धारणा है कि उसमें 'प्रेरणा नहीं प्रयास' होता है, इसी से उसके 'स्थायित्व में सन्देह है' उन्हें। उनकी समीक्षा-दृष्टि के मूल में 'नैतिक आचार' और 'समाज-स्वास्थ्य' की धारणा भी बराबर बनी रहती है। यह अवश्य है कि भौतिक प्रतिमानों को वे शाश्वत नहीं मानते पर उनकी परिवर्त्तमान सत्ता पर शर्मा जी का विश्वास है। आदर्शवाद और यथार्थवाद के समन्वय पर भी उन्होंने बल दिया है। शर्माजी की भाषा-शैली में भी एक अध्यापक की सरलता एवं स्पष्टता है।

सीताराम (लाला)

लाला सीताराम 'भूप' का जन्म कृष्णशंकर शुक्ल के अनुसार सन् 1858 ई. (संवत् 1915) में ('आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रथम संस्करण, 1934, पृ. 77) तथा आचार्य चतुरसेन के अनुसार सन् 1853 ई. में ('हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' 1946, पृ. 459) अयोध्या में हुआ था। हिन्दी, संस्कृत और फारसी के अतिरिक्त आधुनिक ढंग की शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने 1879 ई. में बी.ए. की उपाधि प्राप्त की थी। वकालत की परीक्षा भी सीताराम ने पास की थी। बाद के कुछ दिनों 'अवध अखबार' का सम्पादन किया। इसके पश्चात् क्वीन्स कॉलेज के स्कूल विभाग में अध्यापन किया, वहीं से वे प्रधानाध्यापक होकर सीतापुर चले गये। सन् 1895 ई. में वे डिप्टी कलेक्टर हो गये थे। शिक्षा के क्षेत्र से उनका सम्बन्ध सदैव बना रहा। उन्हें रायबहादुर की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। 2 जनवरी, 1937 ई. को उनकी मृत्यु प्रयाग में हुई।

लाला सीताराम ने संस्कृत और अंग्रेजी काव्यों तथा नाटकों का प्रामाणिक अनुवाद किया था। कविता में उनका उपनाम 'भूप' था। कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद 1883 ई. में उन्होंने प्रकाशित कराया। इसके अनन्तर 1884 ई. में 'कुमारसम्भवम्', 1885 ई. में 'रघुवंश' के सर्ग 9 से 15, 1886 ई. में 'रघुवंश' के सर्ग 1 से 8 तथा 1892 ई. में सम्पूर्ण 'रघुवंश' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसी बीच 1877 ई. में 'नागानन्द' का भी उन्होंने अनुवाद छपवा दिया था। कालिदास के 'ऋतुसंहार' का अनुवाद 1893 ई. में प्रकाशित हुआ। इन अनुवादों के अनन्तर उन्होंने संस्कृत के ही 'मृच्छकटिक', 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव', 'महावीर चरित्र', 'मालविकाग्निमित्र' के भी अनुवाद कर डाले। उनके इन अनुवादों के सम्बन्ध में रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि

> *"यद्यपि पद्यभाग के अनुवाद में लाला साहब को वैसी सफलता नहीं हुई पर उनकी हिन्दी बहुत सीधी-सादी, सरल और आडम्बरशून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पायी है।"* ('हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. 454)

पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1898 ई. में उनके कालिदाससम्बन्धी अनुवादों की भाषा तथा भावसम्बन्धी त्रुटियों की कटु समीक्षा 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' के नाम से की थी।

संस्कृत के उपर्युक्त अनुवादों के अतिरिक्त लाला सीताराम ने शेक्सपियर के नाटकों के भी हिन्दी अनुवाद किये एवं 'हितोपदेश' तथा 'प्रजाकर्तव्य' दो ग्रन्थ और लिखे थे, पर उनका मुख्य प्रदेय संस्कृतानुवादसम्बन्धी ही है।

सुमित्राकुमारी सिन्हा

सुमित्राकुमारी सिन्हा का जन्म फैजाबाद में सन् 1915 ई. में एक सुशिक्षित एवं कला प्रेमी परिवार में हुआ। उनके पिता विभिन्न देशों का भ्रमण कर चुके थे और अपनी कन्या को भी उन्होंने शिक्षा देने का प्रयास किया था। हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी की प्रारम्भिक शिक्षा घर से प्रारम्भ हुई और फिर कुछ समय तक उन्होंने स्कूली शिक्षा भी प्राप्त की। इस बीच उन्नाव के चौधरी राजेन्द्र शंकर से उनका विवाह हो गया। विवाह के बाद अकादमिक शिक्षा तो उन्हें नहीं मिल सकी पर पति ने उनके अध्ययन एवं लेखन को सदैव प्रोत्साहित किया।

यों तो कहानियाँ आदि लिखने की ओर उन्होंने सन् 1927-28 ई. के आसपास ही प्रवृत्ति दिखायी थी पर विधिवत् साहित्य के क्षेत्र में उनका पदार्पण सन् 1935 ई. के आसपास होता है जब वे कविताएँ लिखने लगीं। सुमित्राकुमारी सिन्हा के अब तक पाँच कविता-संग्रह, दो कहानी-संग्रह एवं तीन बच्चों के लिए कहानी, कविता एवं रूपक-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जो इस प्रकार हैं—कविता-संग्रह : (1) 'विहाग', (2) 'आशापर्व' (प्र. 1942), (3) 'पन्थिनी', (4) 'बोलों के देवता' (1954), (5) 'प्रसारिका' (1955)। कहानी-संग्रह: 'अचल सुहाग' तथा 'वर्षगाँठ'। बाल-साहित्य के शीर्षक हैं—'कथाकुंज', 'आँगन के फूल' एवं 'दादी का मटका', जो क्रमशः कहानी, कविता एवं रूपक-संग्रह हैं।

सुमित्रा जी ने लिखना उस समय शुरू किया था, जब छायावाद अपनी अन्तिम श्रेष्ठतम परिणतियों पर पहुँच रहा था और दूसरी ओर उसके प्रति असन्तोष का अंकुर उभरने लगा था। इस सन्धिकाल का स्वर एक साथ जिन कवियों में उभरा था, उनमें इनका भी प्रमुख स्थान है। इनके प्रथम संग्रह 'विहाग' में छायावादी प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव है। वैसी ही भाषा एवं कुछ-कुछ वैसा ही रहस्यात्मक स्वर है। उस वैभव से मुक्ति पाना इतना सरल भी नहीं था, पर 'विहाग' में ही यत्र-तत्र सहज मानवीय-आकांक्षाओं का स्वर छायावादी कुहासे से उभरता प्रतीत होता है। 'पन्थिनी' से आधुनिक नारी का अधिक दृप्त स्वर उपलब्ध होता है। प्रेम, काम आदि को मानवीय जीवन की सहज कामनाओं के रूप में एक स्त्री द्वारा स्वीकार करने का साहस भी उन्होंने इन कविताओं में दिखाया है। छायावादी नैराश्य के स्थान पर आशा की आस्था भी उनमें अधिक तीव्र है। प्रेम की ऐसी सहज अकुण्ठ अभिव्यक्तियाँ उनमें प्रचुर हैं—"मैं सूनी सन्ध्या बेल में, दीप जला बैठी रहती हूँ। आँखों की बरुनी से पथ के काँटे चुन उर में रखती हूँ। कितने दिवस मास बीते, अब कब लौटोगे हे परदेशी।" 'बोलों के देवता' उनका सबसे प्रौढ़ संग्रह है, जिसमें भाषा भी अधिक स्वाभाविक हो जाती है एवं भावनाओं का रूप अधिक परिष्कृत, प्रौढ़ एवं विचारपुष्ट हो जाता है। सुमित्रा जी की काव्य-शैली का बढ़ाव बराबर लोकजीवन की ओर हुआ

है तथा गेयता का गुण उनमें प्रचुर मात्रा में है—प्रारम्भिक संग्रहों में आत्मपरकता का जो अधिपक्य था, वह भी बाद में कम हो गया है।

सुमित्रा जी की कहानियों में उनका प्रगतिशील रूप अधिक स्पष्ट हुआ है। इन कहानियों में पति, संयुक्त परिवार, सामाजिक आचार-संहिता आदि के नीचे सदियों से पिसती नारी का क्रन्दन भी है और उसके विद्रोह की क्षुब्ध वाणी भी।

कुल मिलाकर सुमित्रा जी हिन्दी की श्रेष्ठतम लेखिकाओं में से हैं, जो अब भी बराबर लिख रही हैं।

सूर्यकान्त शास्त्री

सरसवा जिला सहारनपुर में 15 जुलाई, 1901 ई. को जन्म हुआ। पंजाब एवं आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त की। पंजाब विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए., डी.फिल. की उपाधि प्राप्त की तथा आक्सफोर्ड से डी. लिट्. की। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत-पाली विभाग के अध्यक्ष रहे। अब तक हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत आदि में मौलिक या अनूदित पचास से अधिक पुस्तकें निकल चुकी हैं। 'साहित्य मीमांसा' (1943 ई.), 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (1930 ई.), 'महात्मा गाँधी: ए क्रिटिकल स्टडी' (1950 ई.), 'दि फ्लड लीजेण्ड इन संस्कृत लिटरेचर' (1951 ई.) आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं से उन्होंने कतिपय अनुवाद भी किये हैं। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण कार्य 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' है। इसमें रामचन्द्र शुक्ल के उपरान्त की गयी शोध-सामग्री का नियोजन तो हुआ ही है, साथ ही अंग्रेजी-साहित्य से यत्र-तत्र तुलना की भी चेष्टा की गयी है। इस इतिहास में भाषा का अलंकरण कभी-कभी मूल कथ्य को आच्छादित करता प्रतीत होता है। 'साहित्य मीमांसा' में काव्य शास्त्रीय समस्याओं को विद्यार्थियों के लिए उपस्थित किया गया है।

हिन्दी साहित्य-कोश, भाग-2

'तीन वर्ष' उपन्यास के पात्र

अजितकुमार सिंह

भगवतीचरण वर्माकृत उपन्यास 'तीन वर्ष' का दूसरा मुख्य पात्र। प्रथम भाग का वही वास्तविक नायक है। "वह जीवन को पहचानता था और पहचानने के साथ ही उसे अपनाना भी जानता था।" रमेश को वह उच्च वर्ग में ही नहीं लाया, उसके मध्यवर्गीय थोथे आदर्शवाद के प्रति सचेत भी करता रहा, पर इन चेतावनियों को

रमेश कभी ग्रहण नहीं कर सकता और फिर उसे गहरे गर्त में गिरना पड़ा। अजित के लिए प्रेम का अर्थ 'एक-दूसरे से हँसना-खेलना, एक-दूसरे को अच्छी तरह समझना' भर है, उसे वह नितान्त अस्थायी मानता है एवं इसी कारण प्रेम को गम्भीरतापूर्वक नहीं लेता। पर उसे लम्पट नहीं कहा जा सकता। वह अपने विचारों को अत्यधिक निर्भीकता और स्पष्टतया रखने में हिचकता नहीं। प्रारम्भ में ऐसा भी लगता है कि पढ़ने में उसकी दिलचस्पी नहीं है, रईस का वह लड़का केवल मौज करता है, पर शीघ्र ही यह सिद्ध हो गया कि "वह उतना बेवकूफ नहीं है, जितना इम्तिहानों के नतीजों ने साबित करने की कोशिश की है।" चाहने पर वह प्रथम श्रेणी भी पा गया। विदेश घूमा, घाट-घाट का पानी पिए हुए यह नौजवान रईस वाक्पटु ही नहीं विचारक भी है तथा वैयक्तिक स्वाधीनता, स्त्री के समानाधिकार आदि के सिद्धान्तों से तनिक भी अभिभूत नहीं। वह विचित्र विरोधों का शिकार है।

प्रभा अध्यक्ष

सर कृष्ण अध्यक्ष की आधुनिकी पुत्री, भगवतीचरण वर्माकृत उपन्यास 'तीन वर्ष' के पूर्वार्द्ध की नायिका। कक्षा के सबसे बड़े रईस अजित एवं सबसे मेधावी छात्र रमेश एक साथ ही उसके सम्पर्क में आते हैं। लगता है कि प्रेम का शाश्वत त्रिकोण बनने जा रहा है, पर अजित अपनी ओर आकृष्ट होती प्रभा के प्रेम-सम्बन्ध को बढ़ावा नहीं देता और धीरे-धीरे रमेश प्रभा का प्रेम बढ़ता जाता है। आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति एवं विचारधारा के प्रभाव में ढली उस नारी के लिए न तो यौन नैतिकता ही महत्त्वपूर्ण है और न वह प्रेम के मध्यवर्गीय रोमाण्टिक आदर्शवाद को ही महत्त्वपूर्ण मानती है। वह यौवन को अराजकता का दूसरा नाम मानती है, उसके लेखे 'पाप-पुण्य' भी मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।

रमेश

भगवतीचरण वर्माकृत 'तीन वर्ष' उपन्यास का नायक रमेश सांसारिक वैभव से नितान्त अनजान, गरीब लेकिन मेधावी युवक है। एक विचित्र संयोग से वह एकदम वैभवशाली वर्ग के प्रतिनिधि अजितकुमार सिंह का मित्र बन इस नये लोक से अभिभूत होकर जिस जीवन की कल्पना करता है, उसमें उसकी सहपाठिनी 'प्रभा अध्यक्ष' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रोमाण्टिक आदर्शवाद से भरा हुआ यह मध्यवर्गीय युवक अपनी स्वर्गीय प्रेम की कल्पना को शीघ्र ही ध्वस्त होता देखता है, जब प्रभा उसके विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। अस्वीकार का मुख्य आधार धन की असमानता है। उच्चवर्ग से दुत्कारे जाने पर वह अनुभव करता है कि "प्रभा के

लिए प्रेम ढोंग है और उसके लिए अभिशाप।" हताशा से आक्रान्त रमेश अपने सबसे बड़े मित्र, उपकारक एवं उच्चवर्ग में प्रवेश कराने के बाद भी उस वर्ग की प्रवृत्ति के प्रति चेतावनी देते रहने वाले अजित की हत्या का असफल प्रयास करता है एवं इसी निराशा एवं फ्रस्ट्रेशन में वह पढ़ना भी छोड़ता है, शराब पीना शुरू करता है और कुछ-कुछ दार्शनिक किस्म का वेश्यागामी भी हो जाता है। वास्तव में इसी स्थल पर आकर उसका व्यक्तित्व सजग होता है और वह दूसरों पर अपनी छाप लगाने लगता है, अन्यथा उपन्यास के प्रारम्भिक भाग में तो वह अजित के व्यक्तित्व के समक्ष एकदम दबा रहता है। सरोज वेश्या उसके प्रेमपाश में बँध जाती है, पर रमेश अपने जिस अतीत को भुलाना चाहता है, वह उसकी चेतना को इतना आच्छन्न किये है कि इस प्रेम की सचाई का अनुभव उसे सरोज की मरणशैया में ही होता है। प्रेम के इस पवित्र निर्मल रूप ने उसकी आत्मा को पुनः मुक्त किया। वह सरोज को दिये गये वचन के अनुसार शराब छोड़कर पुनः विश्वविद्यालय में आ जाता है। 'प्रभा अध्यक्ष' सरोज के उत्तराधिकार में प्राप्त रमेश के धन को देखकर विवाह में कोई अड़चन नहीं देखती, पर रमेश के लिए उच्चवर्ग की यह नैतिकता शुद्ध रूप से वेश्यावृत्ति प्रतीत होती है। सम्पूर्ण उपन्यास में उसका चारित्रिक विकास कथा की विशिष्ट गति के अनुकूल है, बल्कि कहा यों जाय कि लेखक के अभीष्ट विचार के अनुकूल है। यह विचारानुकूलता विविध परिस्थितियों के मध्य उसके स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध नहीं करती।

'चित्रलेखा' उपन्यास के पात्र

कुमारगिरि

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' उपन्यास में जहाँ एक ओर जीवन की क्रियाशीलता, भोग एवं वैभव को चित्रलेखा-बीजगुप्त के माध्यम से प्रकट किया गया है वहीं कुमारगिरि को विराग एवं तप के मूर्तिमान् प्रतीक रूप में उपस्थित किया गया है। रत्नाम्बर के शब्दों में "यौवन और विराग ने मिलकर उसमें एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न कर दी है।" "संयम उसका साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य।" उसमें "ज्ञान है और कल्पना है।" अपनी इस अलौकिक शक्ति, ज्ञान एवं कल्पना का परिचय वह सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में चाणक्य की चुनौती का उत्तर ईश्वर का रूप दिखाकर देता है।

यद्यपि एक स्थान पर कुमारगिरि कहता है, "मानापमान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया"; परन्तु वास्तव में उसका स्वभाव अपमान से क्षुब्ध हो उठने का है और प्रारम्भ से ही एक प्रकार की अहन्ता उसके व्यक्तित्व में भासित होती है।

विशालदेव से कहा गया उसका यह वाक्य कि, "मैं तुम्हें पुण्य का रूप दिखला दूँगा, और पुण्य को जानकर तुम पाप का पता लगा सकोगे" उसकी अहन्ता को द्योतित कर देता है। उसके अहंकार को प्रकाशित करने वाले अंश उपन्यास में विरल नहीं हैं।

उसके ज्ञान के आलोकमय संसार में स्त्री का कोई स्थान नहीं है। उसके लिए शान्ति या तथाकथित अकर्मण्यता का अर्थ है—"जिस शून्य से उत्पन्न हुए हैं, उसी में लय हो जाना और वही शून्य-जीवन का निर्धारित लक्ष्य है।" तथा "दुःखमय संसार को छोड़ देने को ही सुख कहते हैं।" वह मानता है कि "सत्य अनुभव की वस्तु है।"

सब मिलाकर उसका चरित्र आदर्श योगी की ऊँचाई को नहीं पहुँच पाता। उपन्यासकार ने जाने-जनजाने उसे भोग एवं सांसारिकता के प्रतीक चित्रलेखा, बीजगुप्त से निम्न कोटि का चित्रित किया है। वह अपनी निर्बलता को जीत नहीं पाता; चित्रलेखा के प्रति वह भीषण रूप से आकर्षित होता है और वासना के प्रवाह में वह जाता है।

चित्रलेखा

चित्रलेखा भगवतीचरण वर्मा द्वारा रचित 'चित्रलेखा' उपन्यास की प्रमुख नायिका ही नहीं, केन्द्रीय संवेदना भी है। समस्त कथावस्तु एवं सारे पात्र कहीं-न-कहीं उसके सम्पर्क में आते हैं और वह इन सबके माध्यम से मानो अपने किसी-न-किसी अंश को अभिव्यक्त करती है। ये पात्र और घटनाएँ उसके चरित्रकी व्याख्या करते है। आद्यन्त उसके चरित्रका प्रभा-मण्डल समस्त उपन्यास को आच्छादित किये रहता है।

चित्रलेखा के जीवन के इतिहास की संक्षिप्त रूप रेखा इस प्रकार है—वह एक ब्राह्मण विधवा है, जो किसी कृष्णादित्य के सम्पर्क में आकर समाजच्युत हो जाती हैं कृष्णादित्य एवं उससे प्राप्त पुत्र की मृत्यु हो जाती है तब उसे एक नर्तकी के यहाँ आश्रय मिलता है। धीरे-धीरे यह अद्‌भुत रूपवर्ती नर्तकी बनकर 'समुदाय' के सामने आने लगती है। पाटलिपुत्र के ऊपर उसका रूप, यौवन और कला छा जाती है, पर उसके जीवन में 'व्यक्ति' का कोई स्थान नहीं। फिर अचानक बीजगुप्त में उसे कृष्णादित्य की छाया दिखायी पड़ जाती है और एक बार प्रत्याख्यान करने के बाद वह फिर बीजगुप्त को अपने जीवन में बुला लेती है। पर अभी एक व्यक्ति को उसके जीवन में ओर आना था—वह था कुमारगिरी। यह योगी उसे आकर्षित भी करता है, पर वह उसे अपनी आत्मशक्ति से पराजित करती है, परन्तु प्रतिक्रिया के एक वेदनापूर्ण क्षण में उसे समर्पित भी हो जाती है। अन्ततः वह अपनी समस्त सम्पत्ति को त्याग कर बीजगुप्त के साथ देशाटन के लिए निकल पड़ने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। पति के प्रति उसका प्रेम उसे स्वयं ईश्वरीय प्रतीत होता था; कृष्णादित्य के प्रसंग में वह प्रेम प्राकृतिक स्तर पर उतर आता है। बीजगुप्त से प्रणय करते समय

उसे लगा कि जीवन में प्रेम के अतिरिक्त अन्य उद्‌गार भी होते हैं; पर कुमार गिरी के प्रति वह क्यों आकर्षित हुई, यह वह स्वयं नहीं जानती थी।

उपन्यास के प्रारम्भ में ही पता लग जाता है कि चित्रलेखा जीवन को अविकल पिपास मानने वाली, उद्दाम वासनाओं की लहरों पर तैरने वाली सुन्दरी ही नहीं है, उसमें एक तेज और बौद्धिक व्यक्तित्व भी है। उस व्यक्तित्व के कारण उसमें भाषा का प्रत्युत्पन्नमतित्व प्रभूत मात्रा में है। योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा था और प्रभावित हुआ था। वह 'तपस्या की आत्मा का हनन' मानती है और प्रेम को प्रकृति के अन्तर्गत परिवर्तनीय भी स्वीकार करती है। अपनी आत्मशक्ति में वह योगी एवं मन्त्री चाणक्य के सदृश्य ही सिद्ध हुई थी। इस शक्ति से घबड़ाकर योगी ने उसे दीक्षा देना भी अस्वीकार किया था और वह उसी क्षण तक कुमारगिरी की ओर आकृष्ट रही, जब तक उसमें शक्ति रही, पर जिस क्षण से कुमारगिरी विपथगामी होते हैं, वह उन्हें छोड़ देती है। उसका सिद्धान्त है कि 'स्त्री उसी मनुष्य से प्रेम कर सकती है, जो उसपर विजय पा सके।'

बीजगुप्त

महाप्रभु रत्नाम्बर बीजगुप्त का परिचय देते हुए भगवतीचरण वर्माकृत 'चित्रलेखा' उपन्यास के आरम्भिक अंश में कहते हैं, "बीजगुप्त भोगी है,...वैभव और उल्लास की तरंगों में वह केलि करता है...। उमसें सौन्दर्य है, और उसके हृदय में संसार की समस्त वासनाओं का निवास।... आमोद और प्रमोद ही उसके जीवन का साधन है तथा लक्ष्य भी है।" भूत और भविष्य उसके लिए "कल्पना की चीजें हैं", जिनसे उसका "कोई प्रयोजन नहीं", वर्तमान के प्रति ही उसकी निष्ठा प्रतीत होती है।

बीजगुप्त का चरित्र उपन्यास में चित्रित कम, संकेतित अधिक है। वह उपन्यासकार की दार्शनिक दृष्टि को प्रतिबिम्बत करता है। मनुष्य को परिस्थिति या नियति का दास मानने का दर्शन सबसे पहले वही प्रतिपादित करता है, बाद को चित्रलेखा भी इसी दर्शन को स्वीकार करती है और उपसंहार में रत्नाम्बर ने इसी दर्शन के आधार पर पाप की व्याख्या करनी चाही है। उसकी बौद्धिक दृष्टि की प्रखरता बहुधा उभरती है। प्रेम की नित्यता और अमरता के सम्बन्ध में उसका गहरा विश्वास है। वस्तुओं को नये परिप्रेक्ष्य एवं नये अर्थों द्वारा व्याख्यायित करने की उसकी शक्ति यशोधरा पर बड़ा प्रभाव डालती है। वह उसे विद्वान मानने लगती है।

बीजगुप्त में समस्याओं के आरपार देख लेने की प्रबल शक्ति है। चित्रलेखा एवं कुमारगिरि के परिचय के बाद ही उसे आभास हो गया था कि दोनों एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट हो गये हैं और यह दोनों के लिए अनिष्ट कर सिद्ध होगा। इसी

प्रकार चित्रलेखा, मृत्युंजय, यशोधरा, श्वेतांक आदि की मुख-मुद्राओं या संकेतों द्वारा ही उनके भावों और विचारों को उसने समझा है।

उपन्यास के अन्तिम अंश में वह सबसे अधिक उभरता है। उस समय उसकी ज्योति के आगे शेष सभी प्रभाहीन हो जाते हैं। एक ओर वह प्रेम का आदर्श अपनाकर यशोधरा के साथ विवाह का प्रिय प्रस्ताव ठुकराता है, दूसरी ओर स्वाभिमान की रक्षा करते हुए चित्रलेखा से बिना कुछ कहे तीर्थयात्रा के लिए चला जाता है। बीच में एक बार मानवसुलभ मानसिक द्वन्द्व उसे मथता है और उस समय वह यशोधरा से विवाह करने की सोचता है। यह द्वन्द्व अत्यधिक नाटकीय शैली में चित्रित हुआ है, पर तत्काल ही श्वेतांक का यह निवेदन कि वह यशोधरा से विवाह करना चाहता है, बीजगुप्त को पुनः सचेत कर देता है और तब उसकी मानवता अपने सर्वोत्तम रूप में सम्मुख आती है। श्वेतांक को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति एवं पदवी दान करके वह भिखारी के रूप में निकल पड़ता है पर उसका यह रूप इतना प्रभविष्णु है कि भारत का सम्राट भी उसके समक्ष अपना शीश झुकाता है तथा उसे इस स्थिति तक पहुँचाने वाली चित्रलेखा जब आकर क्षमा माँगती है तब वह उसे क्षमा ही नहीं कर देता, साथ ले चलने के लिए भी प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार बीजगुप्त प्रारम्भ में चित्रलेखा का पूरक प्रतीत होता है पर अन्त में श्वेतांक का यह कथन सार्थक प्रतीत होता है कि "बीजगुप्त देवता है।"

यशोधरा

भगवतीचरण वर्माकृत उपन्यास 'चित्रलेखा' में विरागी सामन्त मृत्युंजय की कन्या यशोधरा चित्रलेखा को भी चमत्कृत कर सकी थी। यों चित्रलेखा के सौन्दर्य में उन्माद था और यशोधरा का सौन्दर्य शान्ति का प्रतीक था। "उसके पास बैठकर मनुष्य पवित्रता को देख सकता था, पवित्रता का अनुभव कर सकता था और पवित्र हो सकता था।" "उसकी अभेद्य गम्भीरता में जीवन की एक मौन पहेली छिपी थी।" उसकी सरलता में भी एक गम्भीरता थी। श्वेतांक के उतावलेपन पर उसने उसे अनेक बार अत्यन्त कोमलता से संयत करने का प्रयास किया था। उसने श्वेतांक से कहा था, "मनुष्य का कर्तव्य है, दूसरे की कमजोरियों पर सहानुभूति प्रकट करना।" तथा उसके अनुसार "मनुष्य वही श्रेष्ठ है, जो अपनी कमजोरियों को जानकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न कर सके।"

प्रणय की कोई गहरी पिपासा या आकुलता हमें यशोधरा में प्राप्त नहीं होती। पिता के प्रस्ताव के अनुसार ही वह पहले बीजगुप्त से विवाह करना चाहती है पर बीजगुप्त के अस्वीकार करने पर वह व्यथित भी नहीं होती। श्वेतांक के प्रेम-प्रस्ताव पर उसे तनिक आश्चर्य अवश्य होता है पर उसका प्रत्याख्यान वह नहीं करती।

सरलता एवं सहजता के साथ वह जीवन बिताने में विश्वास करती है। बीजगुप्त की प्रकृति की अपूर्णता वाली बातें या अन्य विचार उसे चकित करते हैं, वह उसके प्रति श्रद्धा का अनुभव अपने मन में करने लगती है पर वह श्रद्धा प्रणयधर्मा नहीं है। अन्त में उसका विवाह सामन्त श्वेतांक के साथ हो जाता है। सब मिलाकर उसका उपयोग उपन्यास में बीजगुप्त का मनोद्वन्द्व उभारने भर को ही हुआ है। इससे अधिक उसकी उपयोगिता नहीं है।

रत्नाम्बर

महाप्रभु रत्नाम्बर के दर्शन 'चित्रलेखा' उपन्यास के प्रारम्भ में होते हैं और अन्त में, बीच-बीच में कभी-कभी बीजगुप्त के गुरुरूप में उनका उल्लेख आ जाता है पर उससे कोई चरित्र सम्बन्धी रूपरेखा नहीं बनती। जितनी देर के लिए वे सामने आते हैं, उससे ज्ञात होता है कि वे आकाश धर्मा गुरु थे। वे स्पष्ट रूप से, शिष्य के प्रश्न के उत्तर में, स्वीकार करते हैं कि उन्हें स्वयं नहीं ज्ञात कि पाप क्या है? उनका विश्वास था कि जो बात अध्ययन से नहीं जानी जा सकती, उसे अनुभव से जाना जा सकता है, पर वे अपने शिष्यों को सावधान कर देते हैं कि अनुभव के प्रवाह में "स्वयं न बह जाना।" अन्यत्र वे श्वेतांक से अच्छी वस्तु की कसौटी बताते हुए कहते हैं, "अच्छी वस्तु वही है, जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी हो।" उनके विचारों के सम्बन्ध में कुमारगिरि की टिप्पणी है कि वे "नास्तिकता की ओर झुके हुए हैं।" उपन्यास के अन्त में अपने दोनों शिष्यों के विचारों को जानने के पश्चात् वे अपना मत उपस्थित करते हुए कहते हैं—

> *"संसार में पाप कुछ नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।...मनुष्य अपना स्वामी नहीं, परिस्थितियों का दास है।...हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।"*

पर इस मत को भी स्वीकार करने के लिए अपने शिष्यों को वे बाध्य नहीं करते।

श्वेतांक

भगवतीचरण वर्मा कृत उपन्यास 'चित्रलेखा' में महाप्रभु रत्नाम्बर का वह शिष्य है, जिसने पूछा था, "पाप क्या है?" गुरु उसे पाप का पता लगाने के लिए भोगी बीजगुप्त के सांसारिक जीवन में प्रविष्ट करा देते हैं। श्वेतांक, जो नारी, रूप और यौवन से अनभिज्ञ था, एकदम से इन्हीं के आलोक में चकाचौंध हो उठा। वह चित्रलेखा के प्रति अपने मन में अनुराग जगा बैठा पर शीघ्र ही उसे अपना

भ्रम ज्ञात हो गया। उसने एक ईमानदार आदमी की भाँति बीजगुप्त से अपना अपराध कह दिया।

वास्तव में श्वेतांक उपन्यास का मुख्य अभिनेता नहीं है, वह जोड़ने वाली कड़ी के समान है। एक ओर वह बीजगुप्त को विश्वास देता है और दूसरी ओर चित्रलेखा भी उसे अपने प्रति प्रतिश्रुत करा लेती है। यशोधरा प्रसंग में वह अभिनय की मुख्य भूमिकाओं के निकट आता है पर सर्वत्र एक उतावलापन और अविवेक उसमें प्राप्त होता है। अवसर का बिना विचार किये हुए वह अपने स्वामी बीजगुप्त के प्रति भी अपमानसूचक शब्द आवेश में कह जाता है, यों बाद को उसे पश्चात्ताप भी होता है। दुबारा वह यशोधरा की ओर उन्मुख होता है, उससे अपना प्रेम निवेदित भी कर बैठता है पर प्रतिदान में प्रोत्साहन उसे नहीं मिलता। इसी उतावलेपन में ही वह बीजगुप्त से अपना विवाह प्रस्तावित करने का भी अनुरोध करता है। अन्त में अपने गुणों से नहीं, बल्कि बीजगुप्त की महत्ता, त्यागवृत्ति एवं प्रेमादर्शन ने उसे धनसम्पन्न और पदवीसम्पन्न ही नहीं बनाया, उसे यशोधरा जैसी सुन्दर पत्नी भी दिलायी। अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए जिस तटस्थता एवं गम्भीरता की आवश्यकता थी, उसका हमें श्वेतांक में अभाव मिलता है। वह वास्तव में अनुभव में बहने लगता है गुरु की चेतावनी के विपरीत।

संचयन एवं सम्पादन

'कविताएँ १९५४' : भूमिका और अनुक्रम

'कलजुग' (पत्रिका) : योजना, भूमिका और पाठ

'कहानी-विविधा'

हिन्दी के कहानी-साहित्य पर एक बातचीत

प्रेमचन्द

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

जयशंकर 'प्रसाद'

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

चतुरसेन शास्त्री

यशपाल

जैनेन्द्र कुमार

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

'अज्ञेय'

विष्णु प्रभाकर

मोहन राकेश

उषा प्रियंवदा

'विवेक के रंग' : भूमिका और अनुक्रम

'नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' : भूमिका और अनुक्रम

स्वाधीनता के बाद : हिन्दी साहित्य (रूपरेखा) : एक प्रारूप

'साहित्य विधाओं की प्रकृति' : भूमिका और अनुक्रम

'कविताएँ १९५४' : भूमिका

प्रचार और विज्ञापन के इस युग में भी बहुधा अनुभव होता है कि बहुत कुछ 'अनदेखा' ही रहा जाता है। बहुत-सी चित्र-विचित्र सृष्टि हमसे अपरिचित रहकर ही बीती जा रही है। क्योंकि देश विशाल है और काल की गति अत्यन्त क्षिप्र। जहाँ और जितना भी कुछ हो रहा है, उसे आत्मस्थ करने के साधन कम हैं और सुविधाएँ उनसे भी कम।

किन्तु, तत्त्वज्ञानी इस सबसे विचलित नहीं होते, उनकी दृष्टि तत्त्व पर केन्द्रित रहती है। वे खड़ी हुई लहलहाती फसल देखकर ही हर्षित नहीं हो जाते वरन् अनुमान लगाते हैं कि इसमें धान्य कितना है, सार कितना है? साहित्य का अध्येता भी कदाचित् तत्त्व का अध्येता ही है सो उसके सम्मुख भी आज इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं बचा है कि वह समस्त बहुरंगिणी सृष्टि में से महत्त्वपूर्ण को पहचानने का यत्न करे। प्रस्तुत संकलन भी इसी प्रकार का एक प्रयत्न है। इसमें १९५४ की प्रतिनिधि और श्रेष्ठ हिन्दी कविताएँ संगृहीत हैं।

पहले तो जाना और सोचा न था पर अब पाते हैं कि पुस्तक में खासी कविताएँ एकत्र हैं। उनके रंग-ढंग की विविधता और अनेकरूपता द्रष्टव्य है। स्पष्ट कि ऐसे किसी संकलन में एकरूपता ले आना सम्भव और कदाचित् वांछित भी न था। किन्तु, आप स्वयं अनुभव करेंगे कि इसमें 'एकरूपता का नितान्त अभाव' हो, ऐसा भी नहीं है। व्याकुलता, सृजन की उत्कण्ठा, संघर्ष और स्थित विश्वास सारी कविताओं में व्याप्त-जैसे हैं। हिन्दी कविता बल्कि हिन्दी साहित्य का सारा कृतित्व आज-दिन जैसे इन्हीं विषयों को लेकर कृतकृत्य हो रहा है। ऐसा उद्योग निर्विवाद रूप से किसी भी साहित्य के इतिहास में एक महान् क्रान्ति का पूर्वाभास है।

यह 'महान् क्रान्ति' क्या है? यह क्यों होगी? ये प्रश्न आपसे छिपे नहीं हैं। ये तो सब पर उजागर हैं। लेकिन इनके उत्तर? इनके समाधान? काश! वे भी हमारे सम्मुख होते, स्पष्ट होते।

हिन्दी की वर्त्तमान कविता ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर खोजने में व्यस्त है। ऐसा

इस संचयन का सम्पादन कवि श्री अजितकुमार के साथ किया गया था।

कुछ है जो हमें आन्दोलित किये है, जो हमें ज्ञात नहीं है : उसी का अन्वेषण करना है। रोग हमें कुछ न कुछ अवश्य मालूम है, उपचार शेष है।

और यही उठ खड़ी होने वाली बहस हमें मूल समस्या से भटका देती है। रोग है : सभी मानते हैं; उपचार करना है : इसमें भी किसी को आपत्ति नहीं; किन्तु निदान? निदान सबका अलग-अलग है। एक इसे व्यक्ति की व्याधि बताता है, दूसरा राज्य की, तीसरा उपचार में संलग्न है और चौथा सबको रोगमुक्त कर चुका है। फिर बात उलझती-उलझती बिल्कुल उलझ जाती है। अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग की स्थिति आ उपस्थित होती है।

करें क्या? अन्य उपाय ही क्या है? उपाय तो सरल है। सम्प्रति परिस्थिति यह है कि साहित्य का विचित्र क्षेत्रीय विकास हो रहा है। साहित्यकार प्रान्तों, नगरों और गोष्ठियों में बिखरे हुए हैं। अपने-अपने गुट हैं, अपने-अपने नारे हैं। फलतः सभी के माध्यम से संकीर्णता का प्रचार हो रहा है। व्यक्तिगत राग-द्वेष साहित्यिक आलोचना को प्रभावित करते हैं और अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ प्रान्तीयता का प्रचार-प्रसार करने में दत्तचित्त हैं।

इतने बड़े देश में, हिन्दी के इतने विशाल क्षेत्र में ऐसी स्थिति का होना सहज-स्वाभाविक भी है। क्षेत्रीय विकास और स्थानीय रंग की भावना बुरी नहीं पर इस सबके मूल में स्थित मनोवृत्ति दूषित है, इसे तो सभी मानेंगे।

इतना ही नहीं आलोचकों-रचनाकारों के इस दुराग्रह के साथ पाठकों में भी यही धारणा बलवती होती जाती है कि यह युग कविता-युग नहीं रहा। हम इन सभी बातों का विरोध करते हैं।

हमें ज्ञात है कि वर्तमान स्थिति बहुत दिनों चलने वाली नहीं है। नवनिर्माण के पथ में आने वाली ये बाधाएँ नगण्य हैं। दिनोंदिन साहित्य का व्यापक स्वरूप सबके सम्मुख आता-जाता है। इस सहज विकास की प्रक्रिया में हम सबका कर्तव्य तो मात्र इतना रह जाता है कि प्रत्येक की बात प्रत्येक तक पहुँचने दें, पहुँचाने में सहायता दें। विराट् सत्य हमारे शत-सहस्र कण्ठों से संवहित होता हुआ भूमण्डल में व्याप जाय। प्रस्तुत संग्रह इसी महान् प्रक्रिया की एक नन्ही कड़ी है। इसके माध्यम से हमने चाहा है कि हिन्दी कविता की वार्षिक प्रगति का एक लेखा-जोखा रखा जाय। आप स्वीकार करेंगे कि ऐसी योजना की जैसी तथा जितनी आवश्यकता आज है वैसी पहले कभी भी न थी।

आज हम अपनी प्रक्रियाओं से अधिकाधिक परिचित हैं, उनके प्रति सजग भी हैं। घटित होता हुआ जो कुछ भी हमारी चेतना की पकड़ में आता है उसे असंख्य रूपों में अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। घटित होते हुए वर्तमान का इतना सक्रिय और उत्पादक बोध पूर्व काल में कदाचित् कभी नहीं था। अभिव्यक्ति के असंख्य प्रयत्नों

में से कुछ को चुनने की सार्थकता इसी कारण आज और भी स्पष्ट है। श्रेष्ठ, चुनी हुई, प्रतिनिधि कृतियों के विविध संग्रह ग्रन्थों की यही उपयोगिता है।

उपयोगिता? किसके लिए?

जहाँ तक प्रस्तुत संकलन का सम्बन्ध है, हम कहेंगे—'पाठक के लिए।' क्योंकि उसकी सारी समस्या रसास्वादन की समस्या है। पिछले युगों के जिस साहित्य का रसास्वाद करके आज का पाठक विभोर है, उसका अधिकांश ऐसा संकलित उत्कृष्ट और चुना हुआ साहित्य है जो अपने युग की सीमाओं तथा हीन कलाकृतियों को संक्रमित करता हुआ हम तक आ पहुँचा है। विकास की इस प्रक्रिया को गत्यात्मक बनाने के लिए गतिरोध की भ्रान्त धारणा को और भी अधिक भ्रान्त सिद्ध करने के लिए तथा रुचि को परिष्कृत करने के लिए ऐसे संग्रहों को उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।

हम फिर कहेंगे कि इस संग्रह की उपयोगिता समीक्षक के लिए है, कवि के लिए भी है। रसज्ञ समीक्षक अपनी रसानुभूति को अधिकाधिक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करने में सुख पाते हैं और कवि अपने युगीन और अतीतकालीन कलाकारों के परिपार्श्व में खड़े होकर अपने-उनके कृतित्व का समर्थ ज्ञान चाहते ही हैं। हमारा अनुमान है कि 'कविताएँ-१६५४' जैसी पुस्तकों से इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

यह संकलन हम उस समय आपको सौंप रहे हैं जब १६५४ की कविता पर विवाद लगभग समाप्त हो गये हैं। समीक्षाएँ लिखी जा चुकी हैं और 'उत्तरदायित्व पूरा हुआ' जैसा मान लिया गया है। बस इसके पश्चात् गत वर्ष की कविता समय की पुस्तक का वह पृष्ठ हो गयी जो एक बार पढ़ा जा चुका और शायद फिर दुहराया न जायगा।

यह सच है कि 'बीते हुए कल' का आकलन करने को 'आज' से अधिक उपयुक्त कोई दूसरा दिन न आयेगा किन्तु 'बीता हुआ कल,' मात्र 'बीता हुआ कल' ही है इसे दृढ़तापूर्वक कह सकें ऐसे कितने हैं? अतः 'आज' के क्षण में सारे व्यतीत अपितु सनातन को कोई बाँधना चाहे, आज के 'अणु' में सदा के विराट को दृष्टिगत करना चाहे तो हमें ज्ञात है कि इसे सुधीजन मतिभ्रम नहीं कहते।

तो सन् पचपन के प्रारम्भ में सन् चौवन की कविता का आकलन करते समय यदि हमारे सम्मुख यह स्पष्ट था कि इससे पूर्व यह कार्य सम्पादित होना सम्भव न था, तो यह भी छिपा हुआ नहीं था कि इसके बाद यह कार्य समाप्त न हो जायगा। एक वाक्य में कहें कि हमें सन् चौवन की कविता मात्र सन् चौवन की कविता नहीं जान पड़ी, वरन् समस्त समसामयिक हिन्दी कविता का प्रतिनिधित्व करती सी लगी और इसीलिए हमने चाहा कि वह संकलन तैयार हो जिसे भले ही कहा 'सन् १६५४ की कविताएँ' जाये किन्तु जो खड़ी बोली की समग्र कविता का लघु और संक्षिप्त संस्करण-जैसा दिखे तथा ऐसा दिखते हुए भी वह आधुनिक हो, नया हो।

जब यह संग्रह तैयार हो गया तो मानो हमने पुनः नये विश्वास के साथ यह सत्य अन्वेषित किया कि हिन्दी का सर्वाधिक दाय सदा से काव्य के माध्यम द्वारा ही रहा है। शायद इसीलिए इस युग में भी जब कविता-पुस्तकें नहीं के बराबर खरीदी जाती हैं—हर साहित्यिक विवाद घूम फिरकर कविता पर ही आ केन्द्रित होता है।

जिसे हमने संगृहीत करना कहा है, वह काम सचमुच बड़ा दुस्साध्य सिद्ध हुआ है। हिन्दी-प्रदेश की विशालता, व्यवस्थित संग्रहालयों-पुस्तकालयों का अभाव, पत्र-पत्रिकाओं की अनुपलब्धि आदि ही क्या कम कठिनाइयाँ थीं। इनके अतिरिक्त हमें ढेरों पत्र-व्यवहार करना पड़ा। किसी विशेष कार्यवश किया गया पत्र-व्यवहार कैसा दुष्कर कार्य है इसे भुक्तभोगी ही जानते हैं।

संग्रह को तैयार करने में हमारी नीति यह रही है कि वर्ष भर में जितनी भी श्रेष्ठ कविताएँ, पुस्तकों, पत्रिकाओं अथवा रेडियो के माध्यम से हिन्दी-भाषी जनता के सम्मुख आयी हैं, उन्हें इसमें सम्मिलित किया जाय। ऐसी परिस्थिति में कुछ वे कविताएँ भी हमने संग्रह में ले ली हैं जो लिखी तो पहले गयी थीं किन्तु जिनका प्रमुख रूप से प्रकाशन सन् १९५४ में ही हुआ है।

श्रेष्ठ या प्रतिनिधि को चुनने का जो मानदण्ड हमने माना उसमें हमारी व्यक्तिगत रुचि के अतिरिक्त स्वयं कवियों की अपनी कविताओं की पसन्द भी शामिल रही। पुस्तक '१९५४' में आरम्भ से लेकर अन्त तक कवियों को स्थान अकारादि क्रम से दिया गया है।

सारे प्रयत्नों के बावजूद इस संग्रह में कुछ कवियों की कविताएँ सम्मिलित नहीं हो सकीं क्योंकि हम उनसे सम्पर्क स्थापित नहीं कर सके या उनकी कविताएँ हमें देर से प्राप्त हुईं। इसके लिए हम उनके प्रति क्षमाप्रार्थी हैं और उनसे भी अधिक पाठकों के प्रति क्षमाप्रार्थी हैं क्योंकि अधिक नुकसान तो इसमें पाठकों का ही है।

जो भी हो 'कविताएँ : १९५४ संकलन' को प्रस्तुत करते समय हमें इस बात की बड़ी खुशी हो रही है कि एक ही वर्ष के इस संकलन में हमने हिन्दी काव्य के अक्षयकोष के कई बहुमूल्य रत्नों को अनायास ही एक ठौर पा लिया है।

संकलन प्रस्तुत है। जो तटस्थ हैं वे हमारे साहित्य को बधाई दें, जो सहानुभूति रखते हैं वे प्रोत्साहन दें और जो इसी में घुले-मिले हैं वे खुशी के मारे फूले न समाएँ।

अजितकुमार
देवीशंकर अवस्थी

आभार

अखिल भारतीय आकाशवाणी।

छाँह, धरती और स्वर्ग, बावरा अहेरी, बोलों के देवता, भावना के फूल, मूर्च्छना, रात और शहनाई, वर्षान्त के बादल, स्वर के दीप श्रद्धा आदि कविता संग्रहों के प्रकाशकों,

अजन्ता, अवन्तिका, आजकल, कल्पना, कविता, धर्मयुग, नयी धारा, नया जीवन, नया पथ, नया समाज, नयी कविता, पाटल, प्रसारिका, भारती, समाज, सरस्वती, सरिता, सारंग, साहित्यकार, हिन्दुस्तान, हुंकार आदि पत्र-पत्रिकाओं एवं,

संकलन में संगृहीत समस्त कवियों के प्रति, हम आभारी हैं जिनके द्वारा प्रसारित, प्रकाशित अथवा रचित सामग्री का उपयोग इस संग्रह में हुआ है।

ओंकारनाथ श्रीवास्तव, कीर्ति चौधरी, कृष्णचन्द्र खेमका, जनेश्वर वर्मा, बालकृष्ण गुप्त, महेन्द्रकुमार विद्यार्थी और सिद्धिनाथ मिश्र से सामग्री के संचय करने अथवा प्रतिलिपि बनाने में सहायता प्राप्त हुई।

अजितकुमार एवं देवीशंकर अवस्थी ने यह संकलन हमारे लिए सुलभ किया। गिरिजाकुमार माथुर एवं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से हमें समय-समय पर परामर्श मिले। इनके प्रति हम अनुगृहीत हैं।

प्रकाशक : साहित्य निकेतन, कानपुर

कविताएँ : १९५४

[१९५४ में प्रकाशित अथवा प्रसारित]
प्रमुख हिन्दी कविताओं का
प्रतिनिधि संकलन

कवि-सूची

'कलजुग' (पत्रिका)

फरवरी 1957 से जून-जुलाई, 1957 (5 अंक)

कलजुग

वर्ष १ — फरवरी

अंक १ — १९५७

संचालक

बांकेबिहारी लाल अग्रवाल

सलाहकार

देवीशंकर अवस्थी

राममनोहर त्रिपाठी

सम्पादक

हरीश अवस्थी

सुरेन्द्रकुमार अग्रवाल

मूल्य

वार्षिक	एक प्रति
४॥)	।=)

प्रधान कार्यालय

१६/४६, 'किशोरी-कुटीर'

(राममोहन हाता)

कानपुर

बिहार कार्यालय

'रघुनाथ-भवन' पटना सिटी

दिल्ली कार्यालय

नई सड़क, दिल्ली

इस अंक के आकर्षण

कहानी

कविता

निबंध

स्तंभ

फरवरी, १९५७

गणतन्त्र दिवस के पुनीत अवसर पर

हमारी भेंट

—:०:—

आज की दुनिया

आज की दुनिया

को जानिये, पहिचानिये

आज की दुनिया

हिन्दी नाटकों में अति उत्तम

शिक्षाप्रद एवम् पटनीय

१४८ पृष्ठ मूल्य केवल १।)

BIHAR ACTS

Panchayat Raj Act & Rules	3-0
Panchayat Election Rules	3-14
House Control Act & Rules	1-4
Money Lenders Act & Rules	1-8
Land Reforms Act & Rules	6-0
Essential Supplies Act	1-0
Agr. Income Tax Act & Rules	1-2
Bakasht Dispute Act	1-8
Food Grain Control Order	3-0
Agriculturists of Food Grain	0-8
Zamindari Abolition Act	1-0
Prevention of Food Adulteration	0-12
Private Irrigation Works	0-4
Hindu Religious Trusts Act & Rules	1-8
Recovery of Arrear Act & Rules	0-10
Homested Tenancy Act & Rules	0-8
Bihar Tenancy Act	2-14
Bihar Bataidari Act	0-6
Finance Acts 1950-54	1-8
Sales Tax Act & Rules	3-12
Land Encroachment Act & Rules	0-4
Smoking Act	0-4
Court Fees Table	0-5
Panchayat Raj Rules	2-14
Bihar Excise Act	2-0
Shop Act & Rules	1-0
Cinemas Regulation Act	0-8

★

VISIT :

J. N. P. AGARWALA & CO.

Law Publishers, Booksellers and General Order Suppliers

"RAGHUNATH BHAWAN"

Padri-ki-Haveli PATNA CITY

आवश्यक संकेत

१. 'कलजुग' प्रत्येक अंग्रेजी मास की पहली तारीख को प्रकाशित होता है।

२. प्रकाशनार्थ भेजी जाने वाली रचना की प्रतिलिपि अपने पास भी सुरक्षित रखें।

३. 'कलजुग' में प्रकाशित सामग्री से आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल सहमत ही हो।

४. पाठकों के सुझाव और विचारों को 'कलजुग' साभार प्रकाशित करेगा।

५. समीक्षार्थ पुस्तक की एक प्रति भेजें, यदि आवश्यक समझा गया तो दूसरी प्रति मंगा ली जायगी।

६. वार्षिक ग्राहकों को सभी विशेषांक वार्षिक मूल्य के अन्तर्गत मिलेंगे।

★

'कलजुग'

का

आगामी (मार्च '५७) अंक

हास्य, व्यंग, विनोद से युक्त

"होली विशेषांक"

होगा

पृष्ठ संख्या १०० मूल्य १)

आगामी अंकों में उत्तरोत्तर नवीन आकर्षणों की वृद्धि

—व्यवस्थापक

कन्हैयालाल अग्रवाल द्वारा सुधा प्रेस, कानपुर में मुद्रित तथा 'कलजुग' कार्यालय, ३६/४९, 'किशोरी कुटीर' (हाता राममोहन) कानपुर से प्रकाशित।

कलजुग
मार्च, १९५७

साभार

तारदेव, बम्बई, ६'२'५७

आपने 'कलजुग' भेजा। अनेक धन्यवाद। अंक अच्छा निकला है। आगे के अंकों की प्रतीक्षा है। समय निकाल कर आपके लिये कुछ लिखूंगा।

—रतन लाल जोशी
सम्पादक नवनीत

लखनऊ, १२'२'५७

......कीर्ति चौधरी की लघु कहानी और राजेन्द्र यादव के उपन्यास की समीक्षा अच्छी लगी। कानपुर से एक अच्छे मासिक की आवश्यकता का अनुभव सभी करते हैं। आपकी पत्रिका 'कलजुग' इस अभाव की पूर्ति कर सकेगी।

—विश्वम्भर 'मानव'

इलाहाबाद, १२'२'५७

'रेणु' जी के पास कलजुग देखा— नाम के अलावा, बहुत पसंद आया, खास तौर से 'उखड़े हुए लोग' की रिव्यू।......इतने सीमित साधनों में ऐसा पत्र निकाल लेना ही अपने में बड़ी बात है, उस पर क्या मैं और क्या कोई और सम्मति देगा।

—दुष्यंत कुमार

भदैनी, बनारस, १३'२'५७

आपने कानपुर से 'कलजुग' निकाल दिया, इसे किसका प्रसाद समझें और किसका प्रताप! पं० प्रताप नारायण मिश्र की नगरी से मुझे 'ब्राह्मण' की उम्मीद थी। आशा है 'कलजुग' आज का ब्राह्मण साबित होगा। अब तो लगता है मुझे लेख भेजना ही पड़ेगा।

— नामवर सिंह

दिल्ली, २०'२'५७

'कलजुग' मिला। धन्यवाद। अंक अच्छा लगा। नये एवं स्वस्थ कृतित्व के कलन के प्रयास की सराहना करता हूं। आशा है अंक उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर होते जायंगे।

—श्रीकान्त वर्मा

दिल्ली, २५'२'५७

'कलजुग' का अंक यथा समय मिल गया। मैं शीघ्र ही कवितायें और लेख भेजने का प्रयत्न करूंगा। 'कलजुग' अच्छा निकला है। एक ही भय लगता है। अनेक नवजातों की भांति आर्थिक असमर्थता की चट्टान से टकराकर कहीं 'कलजुग' भी अकाल कवलित न हो जाय। प्रयत्न के लिए बधाई लीजिए।

—प्रयाग नारायण त्रिपाठी

आलइण्डिया रेडियो, पटना, ११'२'५७

पत्र के साथ 'कलजुग' का प्रथमांक मिला। बहुत-बहुत धन्यवाद। इस नये अभियान के लिए कृपया मेरी बधाई स्वीकार करें। रचनाएं मैं शीघ्र ही भेजूंगा।

—सिद्धनाथ कुमार

कलजुग

वर्ष १ मार्च
अंक २ १६५७

संचालक
बांकेबिहारी लाल अग्रवाल

❀

सलाहकार
देवीशंकर अवस्थी
राममनोहर त्रिपाठी

❀

सम्पादक
हरीश अवस्थी
सुरेन्द्रकुमार अग्रवाल

❀

मूल्य
वार्षिक ४॥) एक प्रति ।=)

❀

इस अंक का १)

❀

प्रधान कार्यालय
३६/८६, 'किशोरी-कुटीर'
(राममोहन हाता)
कानपुर

❀

बिहार कार्यालय
'रघुनाथ-भवन' पटना सिटी

❀

दिल्ली कार्यालय
नई सड़क, दिल्ली

इस अंक के आकर्षण

कहानी

कविता

नाटक

निबंध

स्तंभ

कलजुग
अप्रैल, १९५७

वर्ष १ अप्रैल
अंक ३ १९५७

संचालक
बांकेबिहारी लाल अग्रवाल

सलाहकार
देवीशंकर अवस्थी
राममनोहर त्रिपाठी

सम्पादक
हरीश अवस्थी
सुरेन्द्रकुमार अग्रवाल

मूल्य
वार्षिक ४।।) एक प्रति ।=) या ३८ नये पैसे

प्रधान कार्यालय
३६/४१, 'किशोरी-कुटीर'
(राममोहन हाता)
कानपुर

बिहार कार्यालय
'रघुनाथ-भवन' पटना सिटी

दिल्ली कार्यालय
नई सड़क, दिल्ली

इस अंक के आकर्षण

(पद्य खण्ड)

कविता

(गद्य खण्ड)

कहानी

नाटक

निबन्ध

स्तंभ

अप्रैल '५७ कलजुग

कलजुग

इस अंक के आकर्षण

वर्ष १ मई

अंक ४ १९५७

संचालक
बांकेबिहारी लाल अग्रवाल

सम्पादन समिति
हरीश अवस्थी
देवीशंकर अवस्थी
राममनोहर त्रिपाठी

प्रबन्ध सम्पादक
सुरेन्द्रकुमार अग्रवाल

मूल्य
वार्षिक ४॥) एक प्रति ।=) या ३८ नये पैसे
इस अंक के ॥।)

प्रधान कार्यालय
३६/४६, 'किशोरी-कुटीर'
(राममोहन हाता)
कानपुर

देहरादून कार्यालय
६२, तिलक मार्ग

बिहार कार्यालय
'रघुनाथ-भवन' पटना सिटी

दिल्ली कार्यालय
नई सड़क, दिल्ली

कविता

नाटक

निबन्ध

कहानी

स्तंभ

आवश्यक संकेत

१. 'कलजुग' प्रत्येक अंग्रेजी मास की पहली तारीख को प्रकाशित होता है।

२. प्रकाशनार्थ भेजी जाने वाली रचना की प्रतिलिपि अपने पास भी सुरक्षित रखें।

३. 'कलजुग' में प्रकाशित सामग्री से आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल सहमत ही हो।

४. पाठकों के सुझाव और विचारों को 'कलजुग' साभार प्रकाशित करेगा।

५. समीक्षार्थ पुस्तक की एक प्रति भेजें, यदि आवश्यक समझा गया तो दूसरी प्रति मंगा ली जायगी।

६. वार्षिक ग्राहकों को सभी विशेषांक वार्षिक मूल्य के अन्तर्गत मिलेंगे।

✖

"कलजुग" का अगस्त अंक

सर्वथा नवीन, उच्चकोटि की सुपाठ्य सामग्री से युक्त

स्वतंत्रता दिवस (१५ अगस्त) विशेषांक होगा

★

पृष्ठ संख्या लगभग १०० मूल्य १)

समस्त पाठकों, लेखकों, ग्राहकों, हितैषियों

एवम् प्रकाशकों से

पूर्ण सहयोग की अपील

आज ही केवल ४।।) रु० भेजकर वार्षिक ग्राहक स्वयं बनें एवम् मित्रों को बनावें।

'कलजुग' कार्यालय
हाता राममोहन
कानपुर

'कलजुग' की लोक प्रियता

★

नियमित पाठक	५०००	से	अधिक
सुपरिचित पाठक	२००००	से	अधिक
परिचित पाठक	१ लाख	से	अधिक

'कलजुग' का प्रत्येक अङ्क पाठक संग्रह करते हैं

इसीलिए तो

'कलजुग' में प्रकाशित आपका विज्ञापन स्थाई विज्ञापन है

★

'कलजुग' का अगस्त अंक

स्वतंत्रता दिवस (१५ अगस्त) विशेषांक होगा

तुरत विज्ञापन विभाग से पूछ ताछ करें।

'कलजुग' का विज्ञापन विभाग सदैव आपकी सेवा में सचेष्ट है

कन्हैयालाल अग्रवाल द्वारा सुधा प्रेस, कानपुर में मुद्रित तथा 'कलजुग' कार्यालय, ३६/४६, 'किशोरी कुटीर' (हाता राममोहन) कानपुर से प्रकाशित।

कलजुग

वर्ष १ जून-जुलाई

अंक ५-६ १९५७

संचालक
बांकेबिहारी लाल अग्रवाल

सम्पादन समिति
देवीशंकर अवस्थी
हरीश अवस्थी
राममनोहर त्रिपाठी

प्रबन्ध सम्पादक
सुरेन्द्रकुमार अग्रवाल

मूल्य

वार्षिक	एक प्रति
६)	॥) या ५० नये पैसे

प्रधान कार्यालय
९६/४६, 'किशोरी-कुटीर'
(राममोहन हाता)
कानपुर

देहरादून कार्यालय
६२, तिलक मार्ग

बिहार कार्यालय
'रघुनाथ-भवन' पटना सिटी

दिल्ली कार्यालय
नई सड़क, दिल्ली

इस अंक के आकर्षण

निबन्ध

कहानी

कविता

स्तम्भ

'कहानी-विविधा'

(योजना, भूमिका और पाठ)

सम्पादक की बात

इस संकलन के दो उद्देश्य हैं : प्रथम, जिन तात्त्विक सिद्धान्तों पर एक अच्छी कहानी का गठन होता है उनसे आपको परिचित कराना; द्वितीय, आलोचनात्मक अध्ययन के लिए प्रतिनिधि कहानियों का एक संकलन उपस्थित करना।

भूमिका में विवेचित तात्त्विक सिद्धान्तों की चर्चा लेखक के नहीं पाठक के दृष्टिकोण से की गयी है। यह भूमिका कहानी-रचना की केवल उन समस्याओं पर जोर देती है जिन्हें कि पाठक को अपने अध्ययन द्वारा अधिकतम आनन्द प्राप्त करने के पूर्व जान लेना चाहिए। हमारा विश्वास है कि वस्तुतः कहानी को ठीक से समझ और सराहकर अपनी वैचारिक प्रक्रिया का अंग बनाने के लिए कहानी-पाठ की विधि जानने की गहरी आवश्यकता होती है। भूमिका के अन्त में 10 सामान्य सम्भावित प्रश्न दिये गये हैं जिन्हें कि एक कहानी पर लागू करके उसे ठीक से विश्लेषणपूर्वक पढ़ा, आकलित किया जा सकता है। इन प्रश्नों के पूरक रूप में प्रत्येक कहानी के अन्त में समीक्षात्मक टिप्पणी एवं विवेचना के लिए कुछ और प्रश्न दिये गये हैं। इन्हें ध्यान से पढ़ना चाहिए। ये टिप्पणियाँ एवं प्रश्न जानी-पहचानी कहानियों को भी नये प्रकार से पढ़ने की प्रक्रिया की ओर संकेत करते हैं।

कहानियों के चुनाव में हम तीन बातों से निदेशित रहे हैं : प्रथम, क्या यह एक 'अच्छी' कहानी है? द्वितीय, क्या यह ऐसी कहानी है जिसे आप समझकर रस ले सकते हैं? तृतीय, क्या यह ऐसी सुगठित एवं सुलिखित कहानियों के लिए आपकी अभिरुचि को प्रदीप्त करती है?

कोई भी संकलन प्रत्येक युग, प्रत्येक प्रकार या प्रत्येक महत्त्वपूर्ण लेखक का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। फिर अध्ययन के लिए तो संख्या की सीमा और भी आवश्यक है। इसी कारण इस संकलन में केवल बारह कहानियों को ही दिया गया है जिनके भलीभाँति अध्ययन और समझ से आप तमाम अन्य कहानियों के

मूल्यांकन की विधि भी सीख सकेंगे। इस सीमित संख्या में ही लगभग पचास वर्षों के अन्तराल में फैली हिन्दी-कहानियों की विविधता की एक प्रतिनिधि झलक देने का प्रयास भी रहा है। बड़ी संख्या उन कहानियों की है जो समय की कसौटी पर खरी उतरी हैं, और जो समकालीन कहानियों से ली गयी हैं वे भी एक स्वर से महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ मानी गयी हैं।

अन्त में हम उन सभी लेखकों तथा प्रकाशकों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपनी कृतियाँ इस संकलन में समाविष्ट करने की अनुमति प्रदान की है।

आशा है यह नया कहानी-संग्रह विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

सूची

हिन्दी के कहानी-साहित्य पर एक बातचीत

गुलेरी से लेकर अब तक की हिन्दी-कहानियों के इस प्रतिनिधि संकलन को पढ़ने से पहले अगर आप हिन्दी-कहानी के विकास की रूपरेखा से परिचित हो जायें तो इन कहानीकारों के महत्त्व को समझने में भी अधिक सहायता मिलेगी तथा हिन्दी-कहानियों का एक स्पष्ट रूप भी मन पर रह सकेगा।

हिन्दी-कहानी का इतिहास बताने के पहले इतना कह देना आवश्यक है कि कहानी अनादि काल से जीवन में आनन्द देती आयी है। कभी उसने मन बहलाया तो कभी ज्ञान और शिक्षा दी। ज्यादातर उसने ये दोनों कार्य एक साथ किये हैं और आज भी किसी-न-किसी रूप में इन्हें वह निभाती जा रही है। 'कल क्या हुआ' यह प्रश्न बड़ी उत्कण्ठा से हमेशा पूछा जाता रहा है, और समझदारी बढ़ने पर 'ऐसा क्यों हुआ?' का प्रश्न भी पूछा जाने लगा था। कथाकार इन प्रश्नों का उत्तर देने में ही कहानी के ताने-बाने बुन देता था। सभ्यता के आदिकाल से ही मनुष्य का अपना अनुभव कहानी का मूल तथा श्रोताओं को ज्ञान और आनन्द का दान मुख्य लक्ष्य रहा है।

मौखिक परम्परा से हटकर अगर हम लोग संस्कृत के प्राचीन साहित्य की ओर आयें तो ज्ञात होगा कि ऋग्वेद में भी छोटी-छोटी कथाएँ विद्यमान हैं। महाकाव्य और पुराण तो कथाओं के भाण्डार हैं। बौद्ध-जातक एवं जैन-पुराण भी विभिन्न कथाओं के कोश हैं और गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' की कथाओं ने शिक्षित एवं अशिक्षित जनता का मन समान रूप से मोहा है।

मध्यकाल में फारसी-साहित्य एवं जीवन से सम्पर्क बढ़ने पर 'शीरीं फरहाद' या 'लैला मजनूँ' जैसी प्रेम-कथाएँ भी घरों में पहुँचीं, जिनकी टूटी-फूटी परम्परा 'किस्सा साढ़े चार यार', 'तोता मैना' आदि के रूप में आधुनिक काल तक चलती आयीं।

पर कहानी के जिस रूप को आप इस संकलन में पढ़ेंगे वह इस परम्परा का विकास नहीं है। इसके लिए एक ओर वह जीवन की नयी परिस्थितियों से उत्पन्न प्रेरणा के प्रति आभारी है तो दूसरी ओर अंग्रेजी और बंगला की कहानियों से वह अपना रूप और आकार प्राप्त करता है। आधुनिक कहानी ने अपनी पुरानी अलौकिकता, चमत्कार, कौतूहल, उपदेशात्मकता, मात्र मनोरंजकता, आलंकारिकता

आदि को या तो छोड़ दिया है या अमहत्त्वपूर्ण ठहरा दिया है। अब वह न तो किसी प्रबन्धकाव्य या पुराण का अंग है और न किसी नीतिवेत्ता का उपदेश। वह किसी चतुर किस्सागो की मनोरंजक कौतूहल उपजाने वाली गप्प (गल्प) भी नहीं है। अब वह साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित रूप है और उसका दायित्व एवं महत्त्व उतना ही बड़ा है जितना कि कविता, नाटक आदि अन्य रूपों का। यही उसकी आधुनिकता है—नयापन है।

आप शायद यह तो जानते ही होंगे कि हमारे साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ भारतेन्दु-काल (1850 से 1900 ई.) से होता है। गद्य के विविध साहित्य-रूपों का विकास इसी समय हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-लिखित गद्यखण्ड 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' को यद्यपि पूरी तौर पर कहानी नहीं कहा जा सकता, पर उसमें निबन्ध और कहानी का एक मिला-जुला रूप अवश्य है। कम-से-कम कुछ स्थितियों एवं संवादों की रचना में उन्होंने जिस कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है वह 'कहानी' वाली कल्पना ही है। उनके द्वारा लिखित 'मदालसा' जैसे पौराणिक पात्रों की जीवनियों में भी कहानी के बीज देखे जा सकते हैं।

अगर आपने 'रानी केतकी की कहानी' या वैष्णव भक्तों की वार्ताएँ या किंवदन्तियाँ-जैसी उस युग के पहले की कहानियाँ पढ़ी हैं तो एक बड़ा परिवर्तन देख सकते हैं कि भारतेन्दु युग के इन कथा-खण्डों में समसामयिक जीवन की स्पष्ट पुकार है। पुरानी कहानियों-जैसी तटस्थता यहाँ नहीं मिलती। शैली में भी आलंकारिकता एवं तड़क-भड़क के स्थान पर व्यंग्य की एक नयी स्वच्छ शक्ति के दर्शन होने लगते हैं। पर अभी भी शैली की दृष्टि से आधुनिक अर्थ में इनमें 'कहानीपन' बहुत कम था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते आप देखेंगे कि प्रेरणा के लिए अंग्रेजी और बंगला की कहानियों की ओर लेखकों का ध्यान जा चुका है। बीसवीं शती का प्रथम दशक बीतते-न-बीतते मौलिक कहानियों का लिखना प्रारम्भ हो जाता है। 1907 में 'सरस्वती' में बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी छपी। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कही जाती है। इस कहानी में तीन बातें बहुत ध्यान देने योग्य हैं : (1) कहानी प्रतिदिन के जीवन की एक साधारण घटना के आधार पर लिखी गयी है; (2) स्थानीय रंगत के चित्रण से यथार्थवादी वातावरण की सृष्टि की गयी है, और (3) घटनाओं में आकस्मिक संयोगों का सहारा लिया गया है। पुरानी कहानी की भव्यता, अलौकिकता पर साधारण की यह विजय बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं तत्त्वों का आगे हमें और विकास मिलता है। सन् 1911 में काशी से 'इन्दु' नामक पत्रिका का प्रकाशन 'प्रसाद' जी की प्रेरणा से प्रारम्भ हुआ और उनकी पहली कहानी 'ग्राम' इसी वर्ष इसमें छपी। इसी वर्ष चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं जी.पी. श्रीवास्तव की कहानियाँ भी क्रमशः 'भारत जीवन' और 'इन्दु' में प्रकाशित हुईं। इस प्रकार 1911 ई. हिन्दी-कहानी के उदय में एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इन सभी

कहानियों में भी साधारण जीवन और यथार्थवाद की वही विजय है जिसे हम 'दुलाई वाली' कहानी के प्रसंग में देख चुके हैं। कथानक के विकास के लिए इन सभी कहानियों में आकस्मिक संयोगों का सहारा लिया गया है। यह आकस्मिक संयोग ही था कि 'उसने कहा था' कहानी के नायक से 25 वर्षों बाद अचानक ही वह लड़की मिल जाती है और पहचानकर पुत्र और पति की रक्षा की भीख माँगती है। अलौकिक घटनाओं को छोड़ देने के बाद प्रारम्भिक कहानियों में ऐसा आकस्मिकता का आना अस्वाभाविक भी नहीं है। ज्वालादत्त शर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन, प्रेमचन्द-जैसे प्रमुख लेखकों ने कथानक-विकास की इस परिपाटी का बाद के वर्षों में भी उपयोग किया है। प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के बाद 'संयोगों' एवं आकस्मिकताओं को अनुपयुक्त माना जाने लगा।

हिन्दी-कहानी के इतिहास में वस्तुतः बीसवीं शती का दूसरा दशक बहुत महत्त्वपूर्ण है। 1913 ई. में 'कौशिक' की कहानी 'रक्षाबन्धन', 'सरस्वती' में छपी। इसी पत्रिका में 1916 ई. में हिन्दी की श्रेष्ठतम कहानियों में से एक 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई। ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री एवं प्रेमचन्द अन्य कहानीकार हैं जो 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से सामने आये। प्रेमचन्द उर्दू में 1907 के आस-पास से कहानियाँ लिखते आ रहे थे, पर नियमित हिन्दी-लेखन उन्होंने 1915 के आस-पास प्रारम्भ किया। 'इन्दु' पत्रिका के माध्यम से प्रकाश में आने वाले लेखक हैं : प्रसाद, जी.पी. श्रीवास्तव, राजा राधिकारमण सिंह आदि। 'सरस्वती' और 'इन्दु' ने मिलकर कहानी-लेखकों का एक नया मण्डल ही उपस्थित कर दिया। 'रहस्य' और 'रोमांच' की कहानियाँ भी गोपालराम गहमरी एवं अयोध्याप्रसाद खत्री-जैसे लोग इसी काल में लिख रहे थे।

इस स्थान पर तनिक ठहरकर यह जान लेने की आवश्यकता है कि हिन्दी-कहानी विकास की किस दिशा में बढ़ रही थी। 'उसने कहा था' कहानी को आप लें या प्रेमचन्द की 'पंच परमेश्वर'; इनके पात्र न तो राजा-महाराजा हैं और न ही देवी-देवता, भूत, प्रेत या राक्षस। सामान्य व्यक्ति के सामान्य जीवन के ही कुछ ऐसे क्षणों या भावों का अंकन लेखकों ने किया है कि अपनी रोचकता में वे किसी भी पुराने नायक के कार्य-कलापों से श्रेष्ठ हैं। पर इस सहजता से भी बड़ी एक बात है—बाहर से भीतर की ओर गमन। पुराने जमाने की कहानियों में बाह्य घटनाएँ एवं प्रसंग महत्त्वपूर्ण थे, मनुष्य का मन नहीं। पर गुलेरी या प्रेमचन्द इस सहज साधारण व्यक्ति के चारित्रिक पहलू, उसकी भावनाओं, आकांक्षाओं, विचारों और प्रवृत्तियों की ओर ध्यान ले गये। उपदेश देना भी उनका कार्य नहीं रहा—चरित्र की एक मार्मिक झाँकी दिख जाये, इतना ही उनके लिए बहुत है। गुलेरी जी 'लहनासिंह' के मन के अन्तर्द्वन्द्व तथा उसके त्याग और बलिदान के मूल में विद्यमान प्रेम-भावना को अपनी कहानी में उपस्थित करते हैं—किसी प्रकार का अतिमानवीय चमत्कार नहीं।

अस्तु 1911 ई. के आस-पास से उदित होने वाले लेखकों में प्रेमचन्द का स्थान सर्वोत्तम है। संख्या, गुण, प्रभाव एवं हिन्दी-कहानी के विकास की दृष्टि से प्रेमचन्द की श्रेष्ठता निर्विवाद है। प्रेमचन्द की ऊँचाई को अगर आप समझना चाहें तो उनके पहले लिखी गयी 'किस्सा चहार दर्वेश' एवं 'छबीली भटियारिन'-जैसी कहानियों को साथ में पढ़कर देखें। लगेगा कि आप दो संसारों में हैं; दो भिन्न-भिन्न भाव-भूमियों में हैं। एक में चमत्कार, कौतूहल, रंगीलापन, घटनाओं का अद्‌भुत जाल है और दूसरी ओर प्रेमचन्द में न साँस रोकने वाला कौतूहल है न चमत्कारपूर्ण घटनाएँ। भाषा और शैली एकदम सीधे-सादे ढंग से सब-कुछ कह देना चाहती है। लगता है कि जीवन और जगत् के प्रति सारा दृष्टिकोण ही बदल गया है। कहानी बड़ी नहीं रही—वह नयी हो गयी। उसमें 'मानव-चरित्र' नामक एक नयी प्राण-शक्ति का संचार हो गया। मानव-जीवन के भीतरी रूप का उद्‌घाटन होने लगा। एक गरीब मुसलमान लड़का जब ईद के मेले में पहुँचता है तो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, कार्य या विचार जो भी कुछ हैं वे उसके मन के भीतर हैं, बाहर के सारे कार्य उन्हीं के प्रकाश हैं। 'ईदगाह' में प्रेमचन्द यही तो दिखलाते हैं। लड़का अपने व्यक्तित्व की एक मार्मिक झाँकी के साथ हमारी आँखों के सामने आ जाता है। लेकिन भीतरी मन के इस चित्रण में वे घटनाओं को हाथ से नहीं जाने देते। बहुधा वे घटनाएँ ही उनके पात्र की चरित्रता को स्पष्ट करती हैं। घटनाओं को छोड़कर मात्र मानसिक उथल-पुथल के आधार पर कहानी बुनने का काम प्रेमचन्द के बाद वाली पीढ़ी ने किया है। प्रेमचन्द तो चरित्र एवं घटनाओं के ताने-बाने से कहानियाँ बुनते रहे और इन कहानियों के माध्यम से कभी एक आदमी के मन की कोई मनोरम झाँकी दिखलाते हैं तो कभी राजनीतिक आन्दोलन को कथा का जामा पहना देते हैं; किन्हीं कहानियों में उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष किया है तो कहीं नैतिक मूल्यों के उपदेशक भी बन बैठे हैं। अपनी 250 से अधिक कहानियों में प्रेमचन्द ने गाँव से लेकर शहर तक फैले भारतीय जीवन के विविध वर्गों के चरित्र और रूप अपनी कहानियों के माध्यम से उपस्थित किये हैं। परतन्त्रता, अछूतोद्धार, वेश्यावृत्ति, साधु-समस्या, अन्धविश्वास, जमींदारी प्रथा, विधवा-विवाह, वृद्ध-विवाह, संयुक्त परिवार प्रथा, सत्याग्रह आन्दोलन आदि छोटी-बड़ी तमाम समस्याओं को प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में उठाया है। इन समस्याओं का चित्रण इतना विश्वसनीय बन पड़ा है कि प्रेमचन्द की चित्रणगत यथार्थता की दाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता। वे हिन्दी के पहले यथार्थवादी कहानीकार हैं। इन समस्याओं के समाधान भी प्रेमचन्द ने बहुधा दिये हैं। आपको ये समाधान हमेशा उचित ही प्रतीत हो—यह बात नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि जबरदस्ती लाये गये इन आदर्शवादी समाधानों एवं कहानियों के प्रचारक स्वर के कारण उनकी कहानियाँ कला की दृष्टि से कमजोर हो गयी हैं। पर सर्वत्र ऐसी बात नहीं है। इन कमियों के होते हुए भी उनकी शायद ही कोई कहानी आपको

ऐसी मिले जिसमें कहानीपन न हो। वे हमेशा सफल कहानी कहने वाले बने रहे हैं। हर तरह की कहानी पर किस्सागोई की छाप बनी रही है। प्रेमचन्द की भाषा भी अपनी विषयवस्तु के समान ही सहज, सरल और दैनिक बोल-चाल के लहजे वाली है। ऐसी भाषा में चरित्रों, घटनाओं या वातावरण को आँकना बड़े कलाकार का काम है। प्रेमचन्द ऐसे ही बड़े कलाकार थे, जो इस सहज-सरल शब्दों वाली भाषा में बड़ी-से-बड़ी बात कह देते हैं। उनकी भाषा में शायद ही कोई ऐसा शब्द मिले जिसका अर्थ शब्दकोश में खोजना पड़े। वे 'उर्दू' से हिन्दी में आये थे, पर न तो जबरदस्ती उर्दू-शब्दों को हिन्दी में भरना चाहा है और न किसी प्रतिक्रियावश उर्दू-शब्दों का बहिष्कार किया है। वे सही अर्थों में हमारी-आपकी भाषा का ही साहित्यिक प्रयोग करने वाले थे। इसीलिए वे अंग्रेजी और संस्कृत से भी शब्द लेते हैं तथा उर्दू एवं ग्राम्य बोलियों से भी; पर उनकी हिन्दी की चाशनी में रस-पगकर ये सभी एक मधुर स्वाद से भर जाते हैं।

आप लोगों ने 'प्रसाद' के नाटक पढ़े होंगे और कविताएँ भी। इनके साथ ही वे एक कुशल कहानी-लेखक भी थे। प्रेमचन्द के समकालीन होते हुए भी उनकी कहानियाँ अपने रूप, शिल्प और भाव में एकदम अलग हैं। चरित्र के अंकन की प्रवृत्ति उनमें भी है—उन्हीं में क्यों, सभी आधुनिक कहानी-लेखकों में है—पर उनकी कहानियों में कविता-जैसी भावुकता है, अतीत के धुँधले काल को अपनी कल्पना की रंगीनी के सहारे उन्होंने चित्रित किया है। काव्य की तरह के मोहक प्रकृति-चित्र, कविता-जैसी अलंकार-योजना, भावुकतापूर्ण उच्छ्वास उनकी कहानियों की मुख्य विशेषताएँ हैं। बहुधा वर्तमान की समस्याओं को भी वे अतीत के पात्रों के सहारे ही प्रस्तुत करते हैं। उनकी कहानियों में घटना और पात्रों का प्रेमचन्द-जैसा न तो विस्तार है और न विविधता, पर जीवन के प्रति एक गहरी दार्शनिक दृष्टि बराबर मिलती है। इस दिशा में वे प्रेमचन्द के पूरक हैं। वस्तुतः 'प्रसाद' जी की मूल प्रकृति कवि की थी—कहानी भी उसी कवित्व का एक प्रकाश है। फिर भी आदर्शवादी, कल्पना-प्रधान, ऐतिहासिक भावमयी कहानियों के क्षेत्र में 'प्रसाद' जी सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी संस्कृतनिष्ठ भाषा में कुलीनता की एक विचित्र गरिमा है जो सामान्य पाठक के लिए गरिष्ठ भी है। उनकी इन्हीं विशेषताओं एवं सीमाओं के कारण हिन्दी-कहानी में 'प्रसाद' की परम्परा का विकास नहीं होता। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', विनोदशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक-जैसे कुछ लोगों ने 'प्रसाद' के स्वर-में-स्वर मिलाना चाहा है, पर कवित्व एवं दार्शनिक दृष्टि के अभाव से इनकी कहानियाँ महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकीं।

प्रेमचन्द की छाया एवं प्रभाव के नीचे लिखने वालों में सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा एवं आचार्य चतुरसेन शास्त्री के नाम प्रमुख हैं। इन लोगों में प्रेमचन्द की ऊँचाई तो नहीं मिलती पर सामाजिक-यथार्थवादी कहानियों की धारा को इन्होंने आगे बढ़ाया है। वृन्दावनलाल वर्मा एवं आचार्य चतुरसेन ने

ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखीं, पर उनकी ऐतिहासिकता अपने यथार्थवाद में प्रेमचन्द के अधिक निकट रही है—बजाय 'प्रसाद' के। इन सबसे अलग अपनी स्वतन्त्र लीक के कहानीकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं। अपनी कहानियों में समाज के कुत्सित अंगों का उन्होंने निर्ममतापूर्वक उद्‌घाटन किया है। उनकी शैली भी बड़ी तीखी, चुटीली एवं व्यंग्यात्मक है।

इन लेखकों के साथ हिन्दी कहानी का एक दौर हम समाप्त होता हुआ देखते हैं। सन् 1930 के आस-पास से साहित्य के विभिन्न रूपों में एक नयी हलचल प्रारम्भ हो गयी थी। प्रेमचन्द ने जिस व्यक्ति को अपना चित्रणीय बनाया, वह सामाजिक व्यक्ति था। लेकिन धीरे-धीरे नयी पीढ़ी के लेखकों का एक वर्ग समाज से अपेक्षाकृत कटे हुए आदमी के मन की कहानी का विषय बनाने लगा। प्रेमचन्द का कहानी का समाज दूर-दूर तक विस्तृत था, पर इन लेखकों में यदि समाज आता भी है तो शहर की गली का और मुख्यतः मध्यम-वर्ग का। जिन लोगों ने निम्न-वर्ग को अपनाया भी, उन्होंने गाँव के किसान की अपेक्षा शहर के मजदूर को अपनाया। इस प्रकार कहानी का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकुचित हुआ, पर मानव-मन की, गहराइयों की ओर अधिक रुचि हुई। इस युग तक देश में शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो चुका था, अतः नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों के आधार पर भी कहानियों को गढ़ा गया। मनोविश्लेषणशास्त्र एवं मार्क्सवाद, इन दो सिद्धान्तों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा।

जैनेन्द्रकुमार, भगवतीचरण वर्मा एवं भगवतीप्रसाद वाजपेयी पहले लेखक हैं जिन्होंने प्रेमचन्द के सरल मनोवैज्ञानिक-चित्रण को अधिक गहराई दी। ये सभी शहरी मध्यवर्ग के कहानीकार हैं। पारिवारिक जीवन के उन पक्षों की ओर उन लोगों की दृष्टि गयी जो मनुष्य के मन में विविध गाँठों, घुटन या संघर्ष को जन्म देते हैं। बहुधा बाह्य घटनाओं एवं कार्य-व्यापारों के स्थान पर जैनेन्द्र चरित्र के मन का ब्यौरा अधिक देते हैं। उनकी कहानियों में विचार-प्रधानता की प्रवृत्ति शुरू से ही रही है। इससे उनकी अधिकांश कहानियाँ चरित्र-प्रधान न होकर विशिष्ट विचार या भाव-प्रधान हो गयी हैं। जैसे एक 'गौ' कहानी में जैनेन्द्र 'व्यक्ति और पशु' के मध्य विद्यमान अनन्य स्नेह के भाव को ही अपने पात्रों एवं घटनाओं के वेश में व्यक्त करते हैं। उनकी कुछ कहानियाँ (यथा 'एक साँप') के पात्र तो मात्र प्रतीक हैं जो किसी दार्शनिक तथ्य या विचार की ओर इंगित-भर करते हैं। जैनेन्द्र की कहानियों में दार्शनिकता का पुट बराबर बढ़ता गया है और उसी के साथ नीरसता की वृद्धि तथा कहानीपन का अभाव भी। इस काल में भगवतीचरण वर्मा ने 'प्रायश्चित्त', 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी', 'दो बाँके' जैसी व्यंग्यात्मक कहानियाँ भी लिखीं।

जैनेन्द्र के उपरान्त इलाचन्द्र जोशी एवं 'अज्ञेय' ने पात्रों को शुद्ध रूप से फ्रायड, एडलर आदि मनोविश्लेषणशास्त्रियों के सिद्धान्तों के आधार पर चित्रित करना प्रारम्भ किया। इनके लिए पात्र, घटना आदि सभी साधन हैं, प्रतीक हैं किसी मानसिक तथ्य

के। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का ही भिन्न-भिन्न शैलियों—यथा स्वगत-कथन, डायरी, पत्र, सम्भाषण आदि—द्वारा वे चित्रण करते हैं। जोशी जी की कहानियों में फ्रायड के प्रभाव के अन्तर्गत घुटन अधिक है—'अज्ञेय' अधिक स्वाभाविक एवं सहज विश्लेषण करते हैं। 'अज्ञेय' की शैली में भी आपको एक निजी विशिष्टता के दर्शन होंगे—उस विशिष्टता के जो प्रेमचन्द, 'प्रसाद' या जैनेन्द्र में अपने-अपने ढंग की मिलती है।

प्रेमचन्द की सामाजिकता एवं पीड़ितों के प्रति सहानुभूति-गुण को मार्क्सवादी प्रभाव के अन्तर्गत लिखने वाले कहानीकारों ने अपनाया। चित्रण-क्षेत्र एवं पात्रों की वैसी व्यापकता और विविधता आपको इन लोगों में न मिलेगी, पर फिर भी मनोविश्लेषकों की अपेक्षा इनकी सामाजिकता अधिक रक्षित रही है। इस वर्ग के लेखकों की सामाजिक-राजनीतिक चेतना प्रेमचन्द से अधिक गहरी है। ऐसे लेखकों में यशपाल का नाम अग्रगण्य है। यशपाल के अधिकांश पात्र शहरी मजदूर-वर्ग के हैं। प्रेमचन्द के समान ही शोषण, कुरीतियों, रूढ़ियों आदि पर वे भी प्रहार करते हैं, पर उनका प्रहार अधिक निर्मम और कठोर होता है। मृदुल ढंग से सुधारने की अपेक्षा एकदम तोड़कर नया बनाने में उनका विश्वास है। 'डिप्टी साहब', 'धर्मरक्षा', '80/100' आदि उनकी बहुत तेज व्यंग्य वाली रचनाएँ हैं। अपनी भाषा-शैली में भी यशपाल प्रेमचन्द की सहजता के अधिक निकट हैं, पर कहानी की गठन वे अधिक चमत्कारपूर्ण रखते हैं। बहुधा उनकी कहानियाँ अंग्रेजी के ओ. हेनरी के समान चामत्कारिक अन्त वाली होती हैं।

इन दोनों प्रवृत्तियों के मध्य में स्थित कहानी लिखने वालों की एक महत्त्वपूर्ण और लम्बी सूची है। 'अश्क', भैरवप्रसाद गुप्त, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, राधाकृष्ण, विष्णु प्रभाकर, होमवती देवी, रांगेय राघव, अमृतराय, अमृतलाल नागर, द्विजेन्द्र नाथ मिश्र 'निर्गुण'-जैसे लेखकों ने मनोविश्लेषण एवं मार्क्सवाद की सम्मिलित छाया के अन्तर्गत कहानियाँ लिखी हैं। सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, 'निराला', नरेन्द्र शर्मा एवं 'बच्चन'-जैसे कवियों ने भी कतिपय अच्छी कहानियाँ दी हैं।

स्वतन्त्रता के बाद देश में जो एक नयी चेतना जाग्रत हुई उसने साहित्य को भी झंकृत किया। इस चेतना के साथ-साथ कहानी-लेखकों की भी एक तरुण पीढ़ी सामने आयी, जिसने आधुनिक यांत्रिक सभ्यता, शहरीकरण, नयी शिक्षा-दीक्षा आदि से उत्पन्न स्थितियों की अत्यन्त मार्मिक कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों में भावुकता का स्थान एक तटस्थ चित्रण ने ले लिया है। आधुनिक जीवन की उदासी, अकेलेपन, नीरस्ता एवं शहरों में विद्यमान यांत्रिक जिन्दगी एवं सौहार्दहीनता के अनुभवपूर्ण चित्र इन कहानियों में मिलते हैं। समसामयिक कहानियों में लेखक का निजी व्यक्तित्व अधिक प्रमुख हो गया है। भाषा भी इन लेखकों की अधिक अर्थगर्भित एवं पैनी है। काव्य के बिम्बों, चित्रों एवं लय से लेकर लोक-कथा, नाटक एवं सिनेमा आदि की विभिन्न पद्धतियों का उन्होंने अपनी शैली में प्रयोग किया है। सब मिलाकर

स्वातन्त्र्योत्तर कहानी अधिक सूक्ष्म हो गयी है। इस पीढ़ी में मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, अमरकान्त, कमल जोशी, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, शिवप्रसाद सिंह, फणीश्वरनाथ 'रेणु', ठाकुरप्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं। स्वातन्त्र्योत्तर-युग के कहानी-साहित्य की एक और विशेषता है कि हिन्दी कहानी पुनः गाँवों की ओर गयी है। बदलते हुए गाँवों की चेतना का अंकन फणीश्वरनाथ 'रेणु', मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह आदि लेखकों ने बड़े सजीव रूप में किया है। पहाड़ों या जंगलों में रहने वाली आदिवासी जातियों या अविकसित समाजों के जीवन को भी कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

यह कहना पिष्टपेषण ही होगा कि हमारा कहानी-साहित्य बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है। विविध विषयों और मनःस्थितियों पर भिन्न-भिन्न शैलियों में श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी जा रही हैं। कितनी ही ऐसी पत्रिकाएँ हैं जिनमें केवल कहानियाँ छपती हैं। वस्तुतः किसी भी भाषा के कहानी-साहित्य के समक्ष हम गर्व से सिर ऊँचा करके खड़े हो सकते हैं।

कहानी का परिचय

कहानी पढ़ने में आपकी ही दिलचस्पी नहीं है, आपके घर का छोटा-सा बच्चा भी उन्हें सुनने का शौकीन होता है और प्रोत्साहन दीजिए तो सुनाता भी है। अपढ़ मजदूर और अलाव तापते किसान तरह-तरह की कहानियाँ सुनते-सुनाते हैं तथा हवाई जहाज में उड़ता हुआ व्यस्त व्यापारी या अधिकारी भी कहानी की किताब या पत्रिका हाथ में लिये दिखाई पड़ेगा। रेलवे के बुकस्टालों पर सबसे अधिक कहानी की ही पत्रिकाएँ बिकती हैं। इनमें से हर एक 'अच्छी' कहानी की माँग करता है और पूछने पर यह भी आपको बता सकता है कि कौन-सी कहानी अच्छी लगी और किसे उसने पसन्द नहीं किया। पर क्यों वह कहानी 'अच्छी' या 'बुरी' है, यह बताना कठिन है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए कहानी के तत्त्वों, उसकी विशेषताओं, कथा कहने का ढंग और कौशल को जान लेना चाहिए। इस तरह का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद कहानी को आप ज्यादा समझ ही नहीं सकेंगे, उसका आनन्द भी अधिक उठा सकेंगे; उसी प्रकार जैसे कि क्रिकेट के खेल के नियमों का जानकार उसका आनन्द दूसरों की अपेक्षा अधिक प्राप्त करता है। यह बात इसलिए और भी आवश्यक है क्योंकि कहानी में जो कुछ कहा गया है वही महत्त्वपूर्ण नहीं है, जिस प्रकार कहा गया है और उससे जो अर्थ ध्वनित होता है वह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरी बात यह कि कहानी किसी बड़े उपन्यास या बड़ी कथा का टुकड़ा न होकर अपने-आप में एक पूर्ण स्वतन्त्र कलाकृति होती है और उसे समझने के लिए उसके स्वरूप से परिचित होना चाहिए।

कहानी के तत्त्वों आदि की चर्चा करने के पहले उसकी तीन विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है। ये विशेषताएँ हैं : संक्षिप्तता, रोचकता एवं एकसूत्रता।

संक्षिप्तता

कहानी के कुछ आलोचकों ने कहानी की संक्षिप्तता पर बहुत जोर दिया है। किसी ने उसे शब्द-संख्या में सीमित करना चाहा है और किसी ने बताया है कि उसके पढ़ने में किसी भी दशा में एक घण्टे से अधिक न लगना चाहिए। इस सम्बन्ध में ज्यादा विवेचन न करके यहाँ इतना ही याद रखना चाहिए कि कहानी में न तो घटनाओं का बहुत विस्तार सम्भव है और न पात्र ही अधिक संख्या में आ सकते हैं। एक पात्र के भी अधिक भावों एवं विचारों का चित्रण उसमें बिखराव उत्पन्न कर देता है। उसमें समय और स्थान-सम्बन्धी विवरणों को भी सीमित करना होता है। अर्थात् बहुत लम्बे समय का चित्रण कहानी में उपयुक्त नहीं होता तथा जिन स्थानों को कहानी में लाया गया है उनकी संख्या तथा ज्यादा विस्तार में दिया गया वर्णन भी उसके प्रभाव को कम कर देता है। जैसे कि 'उसने कहा था' कहानी के प्रारम्भ में अमृतसर शहर का विवरण कहानी के लिए उतना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। कहानी में उतना ही कहा जाना चाहिए जितना कि कथा के मूल भाव या सूत्र को चित्रित करने के लिए यथेष्ट हो। वस्तुतः उसकी संक्षिप्तता के ये गुण उसे उपन्यास की अपेक्षा अधिक पैना बना देते हैं।

रोचकता

रोचकता कहानी का आवश्यक गुण है। अगर कहानी रोचक न होकर नीरस हुई तो कोई उसे पढ़ना भी पसन्द नहीं करेगा। रोचकता के लिए ही कहानी में घटनाएँ इस प्रकार लाई जाती हैं कि पाठक का कौतूहल आदि से अन्त तक बना रहे। प्राचीन काल की कहानियों में इस विशेषता की ओर बहुत ध्यान रहता था, परन्तु आधुनिक कहानी में अब साँस रोककर पढ़ने वाला कौतूहल आवश्यक नहीं माना जाता। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रोचकता और कौतूहल आधुनिक कहानी में नहीं होते। अब ये विशेषताएँ घटनाओं में नहीं चरित्रों में दिखाई जाने लगी हैं और इसी कारण कहानी में अधिक सूक्ष्मता आ गयी है; उदाहरणार्थ 'वापसी' कहानी पढ़ते समय आपका ध्यान घटनाओं की तरफ नहीं जायेगा—'फिर क्या हुआ?' का सवाल इस कहानी के पढ़ते समय कम-से-कम उठेगा; पर गजाधर बाबू की परिस्थिति की ओर हमारा ध्यान बराबर बना रहता है। इस परिस्थिति में पाठक की दिलचस्पी बनाये रखने में ही कहानी की रोचकता है।

एकसूत्रता

चूँकि कहानी किसी का एक भाव, विचार, घटना, परिस्थिति या समय के क्षण पर हमारे ध्यान को केन्द्रित करती है, इसलिए उसमें एकसूत्रता का होना आवश्यक है। अगर पात्र, घटना, वातावरण और मूल विचार आदि एक सूत्र में गुँथे हुए नहीं होंगे तो कहानी का प्रभाव बिखर जायेगा। इसीलिए कहानीकार ऐसी शैली में कहानी कहता है कि कहानी में रूसी लेखक चेखव के अनुसार कुछ भी 'अनावश्यक' नहीं रह जाता, हर तथ्य केन्द्रीय घटना से जुड़ जाता है।

कहानी के तत्त्व

कहानी के तत्त्वों की चर्चा करते हुए बहुधा विद्वानों ने कथानक, पात्र, वातावरण, संवाद, शैली और उद्देश्य ये छह तत्त्व गिनाए हैं; परन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वस्तुतः कहानी के मुख्य तत्त्व चार होते हैं : कथानक, पात्र, वातावरण और मूल भाव-बिन्दु (थीम)। उद्देश्य इसी मूल भाव-बिन्दु के अन्तर्गत आ जाता है। शैली कहानी का तत्त्व न होकर वह उपकरण है जिससे इन विविध तत्त्वों को एक सूत्र में पिरोकर लेखक कहानी के कला-रूप को सामने लाता है। शैली में जिन कौशलों का उपयोग किया जाता है उन्हीं में से एक संवाद भी है। इसलिए उसे अलग तत्त्व के रूप में गिनना ठीक न होगा। इसे यों भी समझ सकते हैं कि संवादों के माध्यम से कहानीकार कभी कथानक का विकास करता है, कभी पात्रों का चरित्र स्पष्ट करता है और कभी वातावरण या घटना के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ता है। 'उसने कहा था' कहानी में अधिकांश विकास संवाद-शैली के माध्यम से होता है।

कथानक

कहानी में कथानक एक बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कथानक से तात्पर्य विविध घटनाओं, कार्य-व्यापारों आदि की योजना से है; यानी कि कहानी के विविध तथ्यों से उसका कथानक बनता है। उदाहरणार्थ 'उसने कहा था' कहानी के कुछ तथ्य निम्नलिखित हैं। (1) अमृतसर के बाजार में लड़का-लड़की की भेंट और उनकी परस्पर चुहल। (2) फ्रांस में जर्मनी से लड़ते हुए भारतीय सिख सिपाही। (3) जर्मनों द्वारा भारतीय टुकड़ी को धोखा देने की चेष्टा और लहनासिंह की सतर्कता। (4) सूबेदार की पत्नी द्वारा अपने पति और पुत्र की रक्षा की लहनासिंह से प्रार्थना। (5) अपने प्राण देकर लहनासिंह द्वारा बोधासिंह और हजारासिंह की प्राण-रक्षा। इन तथ्यों को कहानी में कार्यकारण के जिस सूत्र में पिरो दिया गया है वही कथानक है। घटनाओं

और व्यापारों की इस गति को जानने के लिए आपको प्रश्न करना चाहिए कि इस कहानी में एक घटना या कार्य दूसरी घटना या कार्य से किस प्रकार सम्बन्धित है? कथानक की गतिशील घटनाएँ सदा एक सीधी रेखा में ही नहीं बढ़ती। परिस्थितियों के अन्तर्गत मनुष्य को बहुधा अपने-आपसे, अपने स्नेहियों से एवं अपने वातावरण से संघर्ष करना पड़ जाता है। कथानक में जीवन के इसी गतिमान संघर्षशील रूप की अवतारणा होती है। इस संघर्ष की स्थापना और उसके शमन (या शमन न होने की सफलता) में ही कहानी का विकास होता है। कथानक में कार्य-व्यापार की एकता, स्वयं अपने-आपमें परिपूर्णता, आरम्भ, मध्य और अन्त का होना आवश्यक है, पर कथानक की अनिवार्य विशेषता 'संघर्ष' की स्थापना है।

पात्र

कहानी के प्रति आकर्षण का एक कारण यह भी होता है कि मनुष्य में हमारी दिलचस्पी होती है। जीवन-जगत् की तमाम घटनाएँ एवं कार्य मनुष्य से सम्बन्धित होने के कारण ही महत्त्वपूर्ण लगते हैं। इसीलिए पात्र कहानी का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। जिन व्यक्तियों के माध्यम से कथा की घटनाएँ घटती हैं अथवा जो उन घटनाओं से प्रभावित होते हैं, पात्र कहे जाते हैं। इन्हीं के क्रिया-कलाप के फलस्वरूप कथानक का निर्माण होता है। पात्र मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—पहला वर्गगत (टाइप), दूसरा व्यक्तिपात्र (इंडिविजुअल)। पहले प्रकार के पात्र या तो अपने वर्ग की विशेषताओं को प्रकट करते हैं या किसी भाव अथवा विचार को। व्यक्तिपात्र में अपना निजी, विशेष और स्वतन्त्र व्यक्तित्व, जो दूसरों से भिन्न है, चित्रित किया जाता है। कभी-कभी इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिलन भी होता है। 'अभाव' कहानी की नायिका व्यक्तिपात्र अधिक है तथा 'आर्द्रा' कहानी में 'माँ' व्यक्ति ही नहीं है अपने वर्ग की प्रतिनिधि भी है। कहानीकार पात्रों का चरित्र-चित्रण कभी संवादों के माध्यम से करता है, कहीं वह स्वगत-कथन के द्वारा; बहुधा वह अपनी ओर से भी चरित्र का विवरण देता है तथा उसके कार्यों द्वारा भी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करता है। कहानी पढ़ते समय चरित्र-चित्रण की इन विधियों को ध्यान में रखना चाहिए। कहानी की विवेचना करते समय पाठक को देखना चाहिए कि कहानी के पात्रों की मुख्य चरित्र-सम्बन्धी विशेषताएँ क्या हैं? और वे कैसे कथा के विकास को प्रभावित करती हैं जैसे लहनासिंह में प्रेम, त्याग, बलिदान, विनोद-वृत्ति, बुद्धिमत्ता आदि विविध गुण मिलते हैं। अगर उसमें बुद्धिमत्ता एवं सतर्कता न होती तो पूरी टुकड़ी मार दी जाती और कहानी बनती ही नहीं। अगर उसमें प्रेम और त्याग नहीं होता तो लहनासिंह का बलिदान न हुआ होता। प्रभाव की दृष्टि से इन्हीं गुणों के कारण कहानी अपने करुणापूर्ण ऊँचे धरातल पर पहुँचती है।

वातावरण

चाहे प्रत्यक्ष संसार हो या कहानी का जगत्, सर्वत्र आप देखो कि घटनाओं एवं कार्यों में पीछे स्थान एवं समय की पृष्ठभूमि विद्यमान रहती है। एक वस्तु एक स्थान और एक समय में महत्त्वपूर्ण लग सकती है, दूसरे स्थान में नहीं। जंगल का मुक्त शेर हमारे लिए भयानक होता है और चिड़ियाघर का बन्दी शेर मनोरंजन की चीज। वातावरण कहानी में घटनाओं, पात्रों और मूल भाव या उद्देश्य के प्रभाव की वृद्धि करता है या उनका रूप स्पष्ट करता है। वातावरण के द्वारा कथा आगे बढ़ती है। पात्रों का रूप अधिक स्पष्ट होता है और कहानी के प्रभाव की वृद्धि होती है। 'उसने कहा था' कहानी में फ्रांस में युद्ध का वातावरण कहानी के प्रभाव को बहुत गहरा बना देता है, लहनासिंह के चरित्र पर प्रकाश भी डालता है एवं कथा को भी आगे बढ़ाता है। 'ईदगाह' में तो वातावरण और परिस्थितियों ने ही बालक के चरित्र को विशिष्ट दिशा की ओर मोड़ा है।

आधार-विन्दु (थीम)

कहानी जिस मुख्य विचार, दृष्टिकोण, मूल विषय या कार्य पर आधारित होती है उसे हम आधार-बिन्दु कहते हैं। यही वह नींव है जिस पर कहानी का भवन खड़ा होता है। अरूप होने के कारण इस तत्त्व की पहचान कुछ कठिन भी है। 'फिर क्या हुआ?' का प्रश्न करके कथानक के विकास को जाना जा सकता है, लेकिन कहानी को पूरी तौर से समझने के लिए अधिक आवश्यक प्रश्न है, 'ऐसा क्यों हुआ?' इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी 'थीम' अपने में छोटी या बड़ी नहीं होती, उसका उपयुक्त निर्वाह ही उसे महत्त्व देता है। बहुधा एक ही आधार-बिन्दु पर कई कहानियाँ लिखी गयी हैं। कौशिक की 'ताई' और विष्णु प्रभाकर की 'अभाव' कहानियाँ लगभग एक ही थीम पर हैं, पर वे दो अलग कहानियाँ हैं और अलग-अलग महत्त्व की अधिकारिणी हैं।

कहानी के तत्त्वों का अन्तःसम्बन्ध

कहानी के तत्त्वों की इस चर्चा के बाद एक चेतावनी देना आवश्यक है। इन तत्त्वों की अलग-अलग चर्चा का अर्थ यह नहीं है कि कहानी में भी ये अलग-अलग होते हैं। वस्तुतः कहानी के गठन में ये सभी घुले-मिले अविभाज्य रहते हैं। किसी भी एक तत्त्व को एकदम अलग करके देखना-समझना असम्भव है। कहानी के समग्र रूप और प्रभाव में इन सभी का योग रहता है। कहानी का आनन्द लेते समय इस समग्रता को आप ध्यान में अवश्य रखें।

शैली-शिल्प-सम्बन्धी कुछ बातें

जैसा कि ऊपर की बातचीत में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि शैली का सम्बन्ध कहानी के किसी एक तत्त्व से नहीं सभी तत्त्वों से होता है। वस्तुतः किसी भी कलाकृति की सत्ता शैली के बिना सम्भव नहीं है। शैली को हम कला-कृति का शरीर भी कह सकते हैं।

कहानीकार जब किसी थीम पर एक कहानी गढ़ने बैठता है तो उसके सामने अनेक समस्याएँ आती हैं; जैसे आधार-बिन्दु के अनुरूप मुख्य पात्र कौन हो? इस पात्र के चरित्र के किस पक्ष को और किस विधि से उभारकर सामने लाया जाये? कहानी में मुख्य संघर्ष और समस्या का स्थापन किस प्रकार किया जाये? आदि। ऐसे प्रश्नों का हल करने के लिए वह शैली-सम्बन्धी अनेक विधियों का प्रयोग करता है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

(1) **विश्वसनीयता**—कथा को प्रामाणिक बनाने के लिए केवल उन्हीं बातों का चित्रण और वह भी ऐसे ढंग से करना होता है कि पाठकों में कथा के प्रति सत्यता का आभास हो सके। कहानी का सत्य उसकी विश्वसनीयता ही है।

(2) **कहानी का शीर्षक, प्रारम्भ और अन्त**—इन तीनों को कहानीकार ऐसे आकर्षक ढंग से या ऐसी विशेषता से प्रस्तुत करता है कि पाठक का ध्यान उसी ओर चला जाता है। इस दृष्टि से 'उसने कहा था' कहानी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

(3) **भाषा**—उपयुक्त कथानक के लिए उपयुक्त भाषा का चयन कहानी की सफलता के लिए आवश्यक है। 'प्रसाद' और 'अश्क' की भाषा का स्वर, शब्द-योजना, अलंकार-विधान आदि इसी कारण भिन्न-भिन्न हैं। कहानी की भाषा में वर्णन और चित्रण की शक्ति होनी चाहिए। इन्हीं गुणों से कहानी में रोचकता और सरसता की भी स्थापना होती है। भाषा के द्वारा वातावरण के निर्माण में भी बड़ी सहायता मिलती है।

(4) **आकस्मिकताएँ**—बहुधा कहानीकार या तो कथा के विकास या संकोच के लिए और कभी-कभी कौतूहलपूर्ण चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कहानी में आकस्मिक संयोगों का सहारा लेता है। पर ऐसी आकस्मिकताओं को अब बहुत अच्छा नहीं माना जाता।

(5) **प्रतीक-योजना**—आधुनिकता के बढ़ाव के साथ-साथ कहानी में प्रतीक-योजना का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। प्रतीकों के द्वारा कहानीकार कहानी के अर्थ को अधिक पैना बना देता है। संक्षेप में ही प्रतीक अपने से अलग किसी परिस्थिति, मनोदशा या उद्देश्य को ध्वनित कर देते हैं। 'ईदगाह' का चिमटा; 'एक गौ' की गाय; 'वापसी' कहानी में पिता की चारपाई; 'अभाव' में शीशे का गुलदस्ता तथा 'आर्द्रा' में मादा सुअर और उसके बच्चे प्रतीक ही हैं।

(6) **कहानी कहने के दृष्टिबिन्दु**—उपन्यास की भाँति कहानी भी तीन दृष्टिबिन्दुओं से कही जाती है—(1) वर्णनात्मक या ऐतिहासिक विधि, जिसमें कि लेखक तटस्थ द्रष्टा की तरह कहानी कहता है, जैसे उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी। (2) उत्तम पुरुष में कही गयी आत्मकथात्मक विधि। इसमें कहानीकार एक प्रमुख पात्र द्वारा, कहानी को आपबीती के रूप में सुनाता है; कभी-कभी एक पात्र दूसरे से सुनी हुई या स्वप्न में देखी हुई घटना के रूप में कहानी कहता है। डायरी शैली भी उसी विधि का एक रूप है। प्रेमचन्द की 'नशा' कहानी आत्मचरितात्मक है। (3) नाटकीय विधि—इसमें दो या अधिक पात्रों के संवादों के माध्यम से कथा कही जाती है। बीच-बीच में कथाकार अपनी ओर से टिप्पणी भी देता चलता है, परन्तु इस तरह की कहानियों के उदाहरण कम पाये जाते हैं। पात्रों के रूप में लिखी गयी कहानी इसी शैली का एक प्रकार है।

कहानी के प्रकार

यों तो कहानियों का निश्चित वर्गीकरण सम्भव नहीं है, पर प्रमुखता के आधार पर इनके कुछ मुख्य प्रकार स्थिर किये जाते हैं। तत्त्वों के आधार पर कहानी कथानक या घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, वातावरण-प्रधान और विचार एवं उद्देश्य-प्रधान हो सकती है। कहानी की विषय-वस्तु के आधार पर उसे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, जासूसी आदि अनेक वर्गों में भी बाँटा जा सकता है। ऊपर गिनाई गयी वर्णन-शैलियों के आधार पर भी कहानियों के वर्गीकरण किये जाते हैं, परन्तु यह ध्यान रहे कि बहुधा एक ही कहानी में कई वर्गों की विशेषताएँ मिल जाती हैं। 'उसने कहा था' मुख्यतः चरित्र-प्रधान कहानी है, पर घटनाओं एवं वातावरण की भी इसमें पर्याप्त महत्ता है। चतुरसेन शास्त्री की कहानी घटना-प्रधान है, पर चरित्रों का रूप भी स्पष्ट होता है। जैनेन्द्र और विष्णु प्रभाकर की कहानियाँ विचार या थीम-प्रधान हैं, पर उनमें चरित्रों का महत्त्व बहुत अधिक है। 'ईदगाह' कहानी में प्रेमचन्द ने वातावरण को ही चरित्रों के रूप में मूर्तिमान कर दिया है।

कहानी और उपन्यास

ऊपर के विवेचन से आप इतना समझ गये होंगे कि कहानी और उपन्यास में बहुत-सी समानताएँ होते हुए भी दोनों अलग-अलग साहित्य-रूप हैं। यहाँ पर संक्षेप में इन समानताओं एवं विषमताओं को देख लेना ठीक रहेगा।

समानता

(1) दोनों ही कथा-साहित्य के अन्तर्गत परिगणनीय हैं।
(2) दोनों में ही कथानक, पात्र, वातावरण एवं बिन्दु आधार का महत्त्व एक-जैसा है।
(3) दोनों में शैलीगत विधियों के मिलते-जुलते प्रयोग मिल जाते हैं।
(4) कहानी और उपन्यास के प्रकारों का वर्गीकरण भी लगभग एक-जैसा ही होता है।
(5) अधिकांशतः दोनों ही रूपों में उन्हीं लेखकों ने रचनाएँ की हैं।

अन्तर

(1) उपन्यास में कहानी-जैसी समाज, स्थान, पात्र, वातावरण आदि की कोई सीमा नहीं है।
(2) इस कारण कहानी में जहाँ एक-दो पात्रों की एकाध मानसिक दशाओं का या किसी घटना के किसी एक पक्ष का अपनी परिपूर्णता में चित्रण होता है, वहाँ उपन्यास में उसकी अगर सब नहीं तो अधिकांश दशाओं या पक्षों का चित्रण सम्भव है।
(3) कहानी में मुख्य अर्थ उपन्यास-जैसा बहुस्तरीय एवं जटिल नहीं होता। उपन्यास एक साथ बहुत-से अर्थों को ध्वनित कर सकता है।
(4) कहानी की गठन में चरम सीमा या संघर्ष का एक ही बिन्दु हो सकता है, पर उपन्यास में इसकी संख्या अधिक हो सकती है।

कहानी-पाठ की एक योजना

कहानी को एक बार आद्यन्त पढ़कर पुनः उसे निम्न प्रश्न-योजना के आधार पर पढ़ा एवं विवेचित किया जाये, तो अधिक गहराई से समझा और आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यह एक सामान्य योजना है। अलग-अलग कहानियों को पढ़ते समय इनमें से कुछ को छोड़ा या बढ़ाया जा सकता है। प्रत्येक कहानी के अन्त में दिये गये प्रश्नों को इस योजना का ही पूरक समझना चाहिए।

(1) कहानी का मुख्य आधार बिन्दु (थीम) क्या है?

(2) कथा का मुख्य केन्द्रस्थ पात्र कौन है (अगर एक से अधिक पात्र केन्द्र में हैं तो लेखक ने सामंजस्य एवं समन्वय किस प्रकार बनाये रखा है)?

(3) मुख्य पात्र की प्रमुख चारित्रिक-विशेषताएँ क्या हैं?

(4) पाठक से मुख्य पात्र के प्रति किस प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा की जाती है? (प्रेम, सहानुभूति, प्रशंसा, आदर, घृणा, उदासीनता, मनोरंजन आदि मनोवृत्तियों को इस प्रसंग में ध्यान में रखिए)।

(5) कहानी के मुख्य 'संघर्ष' का निर्माण किन शक्तियों द्वारा होता है?

(6) इस 'संघर्ष' का शमन कैसे होता है? अगर नहीं होता तो क्यों नहीं?

(7) कहानी में वातावरण का क्या महत्त्व है?

(8) कहानी के अन्त का क्या महत्त्व है?

(9) कहानी किस दृष्टि-बिन्दु से कही गयी है?

(10) सम्पूर्ण कहानी का ध्वनित अर्थ या सन्देश क्या है?

देवीशंकर अवस्थी
सी-5/16, मॉडल टाउन
दिल्ली-110007
1.7.1963

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का जन्म सन् 1880 ई. में वाराणसी (उत्तर प्रदेश) जिले के लमही नामक ग्राम में हुआ था। प्रेमचन्द का वास्तविक नाम धनपतराय था। घर में इन्हें प्यार में नवाब भी कहा जाता था। उर्दू में इन्होंने नवाबराय के नाम से ही लिखना शुरू किया था। पर देशभक्तिपूर्ण कहानियों के इनके संग्रह 'सोज़ेवतन' को तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। उसके बाद से ये प्रेमचन्द के छद्मनाम से लिखने लगे। प्रेमचन्द उन लेखकों में थे जिनके जीवन का हर पग कठिनाइयों, बाधाओं और आर्थिक संघर्षों से लड़ते हुए बीता है। इनकी प्रतिभा इन्हीं संघर्षों की आँच में पककर निखरी है। इनका जन्म गरीब परिवार में हुआ था; आठ साल के थे तभी माँ की मृत्यु हो गयी और सत्रह साल की आयु में पिता का भी स्वर्गवास हो गया। बेहद कठिनाइयों और आर्थिक अभावों के बीच रहकर पढ़े; कभी-कभी तो केवल चबेना पर गुजर करते हुए वाराणसी के एक कॉलेज से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद सन् 1899 से इन्होंने अध्यापन-कार्य प्रारम्भ किया। नौकरी करते हुए ही इन्होंने प्राइवेट बी.ए. पास किया तथा गम्भीर स्वाध्याय किया। सरकारी नौकरी मिलने पर कुछ दिनों तक ये स्कूलों के सब-डिप्टी-इंस्पेक्टर भी रहे, पर स्वास्थ्य खराब रहने के कारण पुनः अध्यापन करने लगे। सन् 1920 ई. में इन्होंने महात्मा गाँधी के आह्वान पर अध्यापन की सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और पूरी तौर से साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आ गये। कुछ दिनों के लिए ये फिल्मों में काम करने बम्बई भी गये, पर वहाँ के वातावरण में रह नहीं सके। 'मर्यादा', 'माधुरी', 'हंस', 'जागरण' आदि अनेक पत्रों का सम्पादन भी इन्होंने किया। सन् 1936 ई. में प्रेमचन्द की मृत्यु हो गयी।

प्रेमचन्द ने उर्दू में लिखना शुरू किया था, पर शीघ्र ही समय की दिशा को पहचानकर इन्होंने हिन्दी में भी लिखना प्रारम्भ कर दिया। वस्तुतः ये उर्दू तथा हिन्दी दोनों ही भाषाओं में समान महत्त्व के साहित्यकार हैं। यद्यपि इन्होंने निबन्ध, नाटक और आलोचनाएँ भी लिखी हैं, पर इनका वास्तविक क्षेत्र 'कथा' का था। ये हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासकार भी हैं और कहानीकार भी। 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'ग़बन', 'गोदान' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं और इनकी 250 के लगभग

कहानियाँ 'मानसरोवर' शीर्षक से आठ भागों में और 'गुप्तधन' शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रेमचन्द हिन्दी के पहले कथाकार हैं जिन्होंने उपन्यासों और कहानियों को चामत्कारिक घटनाओं के जाल से मुक्त करके मानव-चरित्र की ओर मोड़ा। उनके साहित्य की मूल प्रवृत्ति मानव के प्रति सहानुभूति की है। अपनी उस व्यापक सहानुभूति एवं सरल भाषा तथा सहज कथाशिल्प के कारण प्रेमचन्द हिन्दी के श्रेष्ठतम कथाकार ही नहीं हैं सबसे अधिक जनप्रिय भी हैं। 'कफ़न,' 'नशा', 'बड़े घर की बेटी', 'शंखनाद', 'रामलीला', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'आत्माराम', 'पूस की रात' आदि इनकी कतिपय अन्य श्रेष्ठ कहानियाँ हैं जो कहानी-पाठकों को अवश्य पढ़नी चाहिए।

टिप्पणी

'ईदगाह' प्रेमचन्द की श्रेष्ठतम कहानियों में से एक है। कहानी-कला की दृष्टि से इस कहानी पर विचार करने के पूर्व यह ध्यान दिलाना अनुचित न होगा कि श्रेष्ठ लेखक की सहानुभूति धर्म या जाति के दायरों में बँधकर नहीं रहती। प्रेमचन्द की सर्वव्यापक सहानुभूति गरीब मुसलमान समाज का मूर्तिमान् स्वरूप खड़ा कर देती है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कहानी का उद्देश्य मुस्लिम समाज का चित्रण है। पूरी कहानी का स्वर धार्मिक न होकर मानवीय है। नाम बदल दीजिए, कहानी हिन्दू या बौद्ध या ईसाई धर्मों के लिए भी उतनी ही सच है जितनी कि इस्लाम के लिए।

अन्तिम अनुच्छेद का यह वाक्य इस कहानी के आधार-बिन्दु को समझने की कुंजी है : "बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था।" छोटे-से बालक का यह बड़े-बूढ़ों-जैसा व्यवहार उसकी गरीबी ने उत्पन्न किया था, अन्यथा वह भी अन्य बच्चों की तरह मिठाई या खिलौनों-के लिए ललचाता है। लेखक ने उसके इस बालकोचित ललचाने वाले रूप की पृष्ठभूमि में चिमटा खरीदने की जिस मानसिक अवस्था का वर्णन किया है वही कहानी की चरम सीमा है। गरीबी से उत्पन्न विवेक हामिद को इतना पैना बना देता है कि उसके चिमटे के तर्क के आगे अन्य बच्चे सिकुड़ जाते हैं। पूरी कहानी का वातावरण बड़ा ही सघन है। लगता है कि वातावरण स्वयं एक चरित्र बन गया है। लेखक बाल-मनोविज्ञान के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय तो देता ही है, साथ ही ईद का वातावरण, शहर के प्रति गाँव के बच्चों का दृष्टिकोण भी ध्यान देने योग्य है। इस वर्णन में भी लेखक की सहानुभूति किसके साथ है, यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता। बिना किसी गम्भीर कौतूहल या सश्पंज के होते हुए भी यह कहानी बड़ी रोचक बन पड़ी है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) हामिद बच्चा होते हुए भी कौन-सा कार्य बूढ़ों के समान करता है? इस कार्य का उसकी दादी पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(2) हामिद के चरित्र की मुख्य विशेषताएँ बताइए। इन विशेषताओं को लेखक ने किन घटनाओं या परिस्थितियों के माध्यम से उभारा है?

(3) लेखक ने जिन-जिन स्थानों पर समाज के उच्च या धनी वर्गों पर फबतियाँ कसी हैं, उन्हें ढूँढ़कर लिखिए।

(4) कहानी का मुख्य उद्देश्य क्या है? बालकों के चित्रण-मात्र से आगे बढ़कर कहानी किन सामाजिक स्थितियों की ओर संकेत करती है?

(5) कहानी में मुख्य संघर्ष या समस्या का जन्म आन्तरिक चारित्रिक कारणों से होता है या बाह्य सामाजिक स्थितियों से?

(6) आदि, मध्य और अन्त का निर्देश करते हुए बताइए कि कहानी का कथानक अपने आपमें परिपूर्ण है?

(7) 'ईदगाह' कहानी के आधार पर प्रेमचन्द की भाषा-शैली पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

(8) 'ईदगाह' कहानी अगर आपको अच्छी लगती है तो क्यों? इसकी मुख्य विशेषताएँ बताइए।

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म सन् 1883 ई. में जयपुर (राजस्थान) के एक विद्या-सम्पन्न परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज काँगड़ा के 'गुलेर' नामक स्थान के रहने वाले थे, अतः 'गुलेरी' कहलाते थे। इनकी बुद्धि बहुत ही कुशाग्र थी और पढ़ने-लिखने में गहरी रुचि थी। अपनी परीक्षाओं में ये सदा स्पृहणीय सफलताएँ प्राप्त करते रहे। सन् 1899 ई. में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एण्ट्रेन्स परीक्षा में सर्वप्रथम आये तथा वहीं से 1903 ई. में बी.ए. की परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। गुलेरी जी के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक था। पुरातत्त्व, इतिहास, दर्शन, भाषा-विज्ञान, साहित्य आदि विषयों में इनकी गहरी पैठ थी। हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं के तो ये पण्डित थे ही, साथ ही अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और लैटिन भाषाओं के भी अच्छे जानकार थे।

बी.ए. पास करने के बाद गुलेरी जी अजमेर के मेयो कॉलेज में संस्कृत के प्रधानाध्यापक हो गये। 1920 ई. में ये हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के ओरियण्टल कॉलेज के प्रिंसिपल हो गये। सन् 1921 ई. में इनकी मृत्यु हो गयी।

अपनी थोड़ी-सी आयु में ही गुलेरी जी की प्रतिभा ने बहुत काम किया है। एक ओर पुरातत्त्व एवं भाषा-विज्ञान पर गम्भीर गवेषणात्मक निबन्ध लिखे और दूसरी ओर बड़ी ही ओजस्वी कविताएँ भी रचीं। बीस-इक्कीस वर्ष की आयु में ही इन्होंने जयपुर से 'समालोचना' नामक पत्र भी सम्पादित किया था और उसके माध्यम से हिन्दी आलोचना को आगे बढ़ाया। व्यंग्यपूर्ण शैली में इन्होंने कलात्मक निबन्ध भी लिखे थे। गम्भीर-से-गम्भीर विषयों के भीतर भी वे हास्य-व्यंग्य के लिए स्थान ढूँढ़ लेते थे। कहानियों के क्षेत्र में यद्यपि गुलेरीजी ने 'सुखमय जीवन', 'बुद्धू का काँटा' और 'उसने कहा था' केवल तीन कहानियाँ लिखीं; पर अपनी अन्तिम कहानी के लिए वे हमारे कहानी-साहित्य में सदा अमर रहेंगे। अपनी भावात्मकता, वातावरण की सजीवता, नाटकीयता तथा शैली-शिल्प की प्रौढ़ता के लिए यह कहानी अमर रहेगी। यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिन्दी-कहानी के प्रारम्भिक युग में ऐसी प्रौढ़ कहानी लिखी गयी।

गुलेरी जी की कहानियों में इनके निबन्धों वाली व्यंग्य-विनोद की विशेषता तो है ही, भाषा भी वैसी ही प्रवाहपूर्ण एवं शक्तिशालिनी है। इनकी भाषा में वातावरण के निर्वाह की बड़ी क्षमता मिलती है। उर्दू और पंजाबी शब्दों का उन्होंने इसीलिए खूब प्रयोग किया है। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उनकी शैली में सरलता, सहजता एवं मुहावरेदारी का गुण मिलता है।

गुलेरी जी की कुछ रचनाएँ 'गुलेरी ग्रन्थावली' के नाम से 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' द्वारा प्रकाशित की गयी हैं।

टिप्पणी

प्रस्तुत कहानी में वातावरण, चरित्र, घटना को एक ऐसे नाटकीय स्तर पर गूँथा गया है कि सम्पूर्ण कहानी अत्यधिक मार्मिक हो गयी है। अपनी इसी विशेषता के कारण इस कहानी को किसी एक वर्ग में रखना कठिन है। कहानी कहने में भी लेखक ने एक ओर द्रष्टा के समान दृष्टिकोण अपनाया है तो दूसरी ओर प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त में कभी-कभी कुछ कहकर या सूचना देकर कहानी की गठन को और अधिक सुदृढ़ बना दिया है। कहानी की कथा-वस्तु नाटकीय दृश्यों की शैली में वर्णित है। इसके प्रबन्ध-कौशल का सबसे बड़ा प्रमाण लेखक ने 'समय' के व्यापक अन्तराल को एक क्षण में समेटकर दिया है। कहानी का पहला दृश्य, जिसमें कि एक लड़की-लड़के के परिचय का चित्र है, अन्य दृश्यों से एकदम कटा हुआ मालूम होता है। युद्ध के मैदान का वर्णन पढ़ते समय लगता है कि पहला अंश बेकार है और उसे पाठक भुलाने लगता है, पर मृत्यु के समय लहनासिंह के स्मृति-चित्रों के माध्यम से 25 वर्ष पूर्व घटित उस घटना की गहरी प्रासंगिकता कौंध जाती है और पूरी कहानी एक आन्तरिक शृंखला में बँध जाती है। उसके सारे अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। समय और स्थान के काफी लम्बे विस्तार को इस प्रकार लेखक ने पूरी तौर पर समेट लिया है और उसमें एक भी बात नीरस या अनावश्यक नहीं लगती।

कहानी का शीर्षक जहाँ प्रारम्भ से ही उत्सुकता जगाता है, वहीं पंजाब के आंचलिक शब्दों का प्रयोग कहानी में यथार्थ वातावरण की सृष्टि करता है। युद्ध-क्षेत्र का वर्णन भी बड़ा ही यथार्थवादी है और कहानी के मूल भाव प्रेमजन्य त्याग और बलिदान को अधिक गहरा बना देता है। विदेश में उन कठिन परिस्थितियों के मध्य प्रेम का यह रूप अत्यन्त उदात्त बन जाता है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) कहानी के वातावरणसूचक अंशों का चयन करके बताइए कि उनसे कहानी के विकास या प्रभाव को क्या सहायता मिलती है?

(2) कहानी के हास्य-व्यंग्य के स्थलों का संकेत कीजिए। इन स्थलों से लहनासिंह के चरित्र का कौन-सा पक्ष प्रकाश में आता है?
(3) इस कहानी का मूल आधार-बिन्दु (थीम) क्या है?
(4) कहानी के अन्तिम वाक्य का क्या महत्त्व है?
(5) कहानीकार ने जिन-जिन स्थलों पर प्रवेश करके अपनी टिप्पणी या सूचना दी है, उन्हें छाँटकर अलग लिखिए।
(6) इस कहानी का मुख्य संघर्ष क्या है? उसका शमन किस प्रकार किया गया है?
(7) प्रस्तुत कहानी के शीर्षक का महत्त्व क्या है।
(8) पूरी कहानी को पढ़ने के बाद आपके मन में लहनासिंह के प्रति कौन-सी भावनाएँ जागती हैं?

जयशंकर 'प्रसाद'

जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म वाराणसी (उत्तर प्रदेश) के एक सम्पन्न परिवार में सन् 1889 ई. में हुआ। इनके पिता देवीप्रसाद जी सुँघनी साहु के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके यहाँ तम्बाकू का व्यवसाय होता था। सुँघनी साहु उदार, विद्यारसिक एवं साहित्य-प्रेमी थे। इसी कारण 'प्रसाद जी' को बचपन से ही कवियों एवं विद्वानों की सत्संगति का अवसर मिलता रहा। बालक जयशंकर 'प्रसाद' को विधिवत् शिक्षा का अधिक अवसर नहीं मिल सका। 12 वर्ष की अवस्था होने पर पिता एवम् 17 वर्ष की अवस्था होने पर बड़े भाई की मृत्यु हो जाने से व्यवसाय एवं परिवार का सारा उत्तरदायित्व इनके कन्धों पर आ गया। पर इन कार्यों को योग्यतापूर्वक निभाते हुए भी इन्होंने साहित्य के अंकुर को बराबर पुष्ट करने की चेष्टा की। संस्कृत, बंगला, अँग्रेजी और उर्दू का अच्छा ज्ञान इन्होंने स्वाध्याय से ही अर्जित कर लिया। वेद, उपनिषद्, विभिन्न भारतीय दर्शनों तथा प्राचीन भारतीय इतिहास का भी इन्होंने गहरा अध्ययन किया था। पुरातत्त्व एवं संगीत में भी इनकी गति थी। 'प्रसाद' जी की मृत्यु 1937 ई. में हुई।

'प्रसाद' जी ने साहित्य-रचना ब्रजभाषा के कवि के रूप में शुरू की थी। पर इनकी प्रतिभा का अभिव्यंजन शीघ्र ही खड़ी बोली काव्य में ही नहीं, नाटक, उपन्यास, निबन्ध एवं कहानी आदि अन्य क्षेत्रों में भी प्रारम्भ हो गया। काव्य के क्षेत्र में ये छायावाद के प्रवर्तकों में से एक हैं तथा हिन्दी के श्रेष्ठतम नाटककार माने जाते हैं। उपन्यासकार एवं निबन्धकार के रूप में इनकी यथेष्ट मान्यता है तथा कहानी के क्षेत्र में कवित्वमयी दार्शनिक कहानियों के ये श्रेष्ठतम रचयिता माने जाते हैं। इनकी कहानियों की थीम ही कवित्वमयी नहीं है, पात्र-योजना, घटना-विधान एवं भाषा भी भावुकता और कल्पना से भरी हुई है। कहानियों में वातावरण की चित्रात्मकता दर्शनीय है। त्याग, बलिदान, सेवा, सहानुभूति जैसे मानवीय गुणों का अंकन इन्होंने अपनी 69 कहानियों में किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी उनका महत्त्व अक्षुण्ण है। ये हिन्दी के पहले कहानीकारों में हैं।

'प्रसाद' जी की गद्य-रचनाओं में 'कंकाल', 'तितली' एवं 'इरावती' उपन्यास

हैं तथा 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' एवं 'इन्द्रजाल' कहानी-संग्रह। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि प्रसिद्ध नाटक हैं एवं 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' में इनके निबन्ध संकलित हैं।

वस्तुतः 'प्रसाद' जी मूलतः कवि थे और इनकी रचनाओं में भी कविप्रतिभा का ही प्रकाश मिलता है।

टिप्पणी

'प्रसाद' जी की यह कहानी उनकी ऐतिहासिक, कल्पना-प्रधान और कवित्वमयी कहानियों से कुछ भिन्न है। इस कहानी में प्रत्यक्षतः एक गरीब व्यक्ति के चारित्रिक विकास के माध्यम से सामाजिक विषमताओं और अन्यायों का चित्र खींचा गया है। इसे यों भी कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन का एक धक्का एक व्यक्ति की जीवनधारा को बदल देता है। पर कहानी का मुख्यार्थ यह नहीं है। मूल थीम व्यक्ति के भीतर परिस्थिति-विशेष से उदित होने वाली उदास मानवता है।

कहानी का चरित्रनायक एक शराबी और गैर-जिम्मेदार आदमी है पर कुँवर साहब के अत्याचार से पीड़ित एक बालक के आँसू उससे वह करा लेते हैं जो भूख नहीं करा सकी थी। कहानीकार ने दो परस्पर-विरोधी स्थितियों को एकदम अगल-बगल रखकर कहानी की चरम सीमा का निर्माण किया है। ठाकुर साहब से रुपया पाने पर वह सात दिन का भूखा शराब पीकर सोने की सोचता है। यह तथ्य कहानी की पृष्ठभूमि-मात्र है। शराब पीकर वह सो जाता तो कहानी न बनती; पर कहानी के संघर्ष का वास्तविक निर्माण प्रारम्भ होता है जब कि वह एक बालक की सिसकारियाँ सुनता है और चरम सीमा वह है जहाँ पर कि वह अनायास मिठाई की दुकान पर जा खड़ा होता है। इस संघर्ष का शमन इस संकल्प में है कि वह ममत्व से उत्पन्न जिम्मेदारी को निभाने के लिए पुनः कार्य आरम्भ करेगा। इस प्रकार शराबी के मन के भीतर जागा यह देवता उस मानवीय विवेक का द्योतक है जो उसे तथाकथित बड़े व्यक्तियों से कहीं ऊपर उठा देता है। पूरी कहानी नाटकीय दृश्यों की संवाद-शैली में लिखी गयी है। बीच-बीच में इन दृश्यों को जोड़ने के लिए कहानीकार ने नाटक के सूत्रधार की भाँति कुछ सूचनाएँ भर दी हैं। कहानी की भाषा भी पूरे वातावरण के अनुकूल है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) शराबी का शराब पीना कैसे छूटा?
(2) इस कहानी का केन्द्रस्थ पात्र कौन है—शराबी या मधुआ?

(3) उद्धरण देकर बताइए कि क्या शराबी के प्रारम्भिक चरित्र में उस गुण का बीज मिलता है जो उसके चरित्र के उत्तरार्द्ध में प्राप्त होता है?

(4) इस कहानी का शीर्षक आपको उपयुक्त लगता है या नहीं?

(5) प्रस्तुत कहानी से उन अंशों का चयन कर अलग लिखिए जिनमें कि कहानीकार ने बीच-बीच में सूचनाएँ देकर कथा आगे बढ़ाई है।

(6) इस कहानी में 'प्रसाद' जी ने अन्तःस्थल के किस भाव को निरूपित करने की चेष्टा की है? इस प्रयास में वे सफल हुए हैं या नहीं?

(7) (अ) निम्नांकित अवतरण के काले अक्षर वाले पदों या वाक्यों का आशय लिखिए:

एक **चिन्तापूर्ण आलोक** में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोलकर कोठरी में बिखरी हुई **दारिद्र्य की विभूति** को देखा और देखा उस घुटने से ठुड्डी लगाये **निरीह बालक को**; उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया—**किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की**? आह री नियति!... इस छोटे-से पाजी ने **मेरे जीवन के लिए कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया** है?

(ब) 'पाजी' शब्द यहाँ शराबी के मन की घृणा का सूचक है या स्नेह का?

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का जन्म अम्बाला छावनी (पंजाब) में सन् 1891 में हुआ। कानपुर में वकालत करने वाले इनके चाचा ने इन्हें गोद ले लिया था, अतः इनका जीवन कानपुर में ही बीता। चाचा की समस्त सम्पत्ति इन्हें उत्तराधिकार में मिली थी। उस सम्पत्ति की प्रबन्ध-व्यवस्था के अतिरिक्त 'कौशिक', जी को जीविकोपार्जन के लिए अन्य कोई कार्य नहीं करना पड़ा। विधिवत् शिक्षा इन्हें केवल मैट्रिक तक मिली थी; पर पढ़ने में इनकी रुचि थी और घर पर संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन किया करते थे। कानपुर की साहित्य-गोष्ठियों के ये केन्द्र थे और 'प्रभा' पत्रिका के सम्पादन में भी योग दिया था। सन् 1946 में इनकी मृत्यु हो गयी।

'कौशिक' जी के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ उर्दू-कवि के रूप में हुआ था। पर 1910 के आस-पास से ये केवल हिन्दी में लिखने लगे। प्रारम्भ में कुछ बंगला कहानियों के अनुवाद भी किये। सन् 1913 में 'सरस्वती' में इनकी 'रक्षाबन्धन' नामक प्रसिद्ध कहानी छपी थी।

'कौशिक' जी की ख्याति का आधार उनका कथा-साहित्य है। 'माँ', 'भिखारिणी' और 'संघर्ष' इनके उपन्यास हैं तथा 'गल्प मन्दिर', 'चित्रशाला', 'कल्लोल', 'मणिमाला' आदि कहानी-संग्रह। इनकी कहानियों की संख्या तीन सौ के लगभग है। 'चाँद' पत्रिका में तथा 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत ये हास्य-व्यंग्य विनोदपूर्ण टिप्पणियाँ विजयानन्द दुबे के नाम से लिखा करते थे। इन्होंने बंगला से कुछ पुस्तकों के हिन्दी में अनुवाद भी किये हैं।

'कौशिक' जी प्रेमचन्द-मण्डल के कहानीकार माने जाते हैं। इनकी कतिपय कहानियाँ ऐतिहासिक आधार पर भी हैं, पर मुख्यतः इन्होंने सामाजिक-पारिवारिक भूमिका पर ही कहानियाँ लिखी हैं। इनके कथा-साहित्य में भी शोषितों एवं दलितों के प्रति गहरी सहानुभूति मिलती है। समाज-सुधार की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से थी। साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर भी इन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया है। यह चरित्र-चित्रण सहज मनोवैज्ञानिक आधार पर हुआ है। 'कौशिक' जी ने अपनी

कहानियों, कथानक और चरित्रों के विकास के लिए बहुधा 'कथोपकथनों' का प्रयोग किया है। आकस्मिक संयोगों के सहारे भी इनकी कहानियाँ बढ़ती हैं।

'कौशिक' जी की भाषा अत्यन्त सरल एवं कहानियों की विषय-वस्तु के अनुकूल है। भावुकता के स्थलों को तनिक काव्यात्मक ढंग से उपस्थित करते हैं। कहानी के बीच-बीच में दार्शनिक-वैचारिक टिप्पणियाँ भी देते चलते हैं।

टिप्पणी

'ताई' चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानी है। 'कौशिक' जी ने इस कहानी में सन्तानाभाव के कारण उदित एक स्त्री की मानसिक स्थितियों का बड़ा ही सफल अंकन किया है। कहानी के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में पात्रों की रूप-रेखाओं का सामान्य परिचय मिल जाता है। द्वितीय खण्ड में संघर्ष को विकसित होता दिखाया गया है। तृतीय खण्ड में संघर्ष का चरमबिन्दु और उसका शमन चित्रित हुआ है। प्रेम और ईर्ष्या का जो द्वन्द्व रामेश्वरी के मन में उत्पन्न होता है उसकी शान्ति के लिए लेखक ने मनोहर के गिरने की आकस्मिक परन्तु नाटकीय घटना का सहारा लिया है। पूरी कहानी में परिवार का वर्णन चरित्रों के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि या वातावरण का कार्य करता है। रोचकता एवं मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से कहानी श्रेष्ठ बन पड़ी है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) 'ताई' कहानी को चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक क्यों कहा जा सकता है?
(2) ताई के चरित्र की मुख्य विशेषताएँ बताते हुए कहानी में चित्रित उसके विकास को स्पष्ट करिए?
(3) कहानी में संघर्ष का निर्माण किन शक्तियों द्वारा हुआ है? इस संघर्ष का शमन किस प्रकार दिखाया गया है?
(4) कहानी के द्वन्द्व का चरमबिन्दु कौन-सा है
(5) इस कहानी का कोई कथन या वर्णन क्या आपको अनावश्यक लगता है?
(6) उदाहरण देकर बताइए कि कथानक एवं चरित्रों के विकास में संवादों का उपयोग किया गया है।

चतुरसेन शास्त्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जन्म सन् 1891 ई. में बुलन्दशहर (उत्तर प्रदेश) के चांदोख नामक ग्राम में हुआ। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ये काशी भाग गये, जहाँ संस्कृत-व्याकरण और साहित्य का अध्ययन किया। बाद में जयपुर के संस्कृत कॉलेज में इन्होंने आयुर्वेद तथा साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की। इस कॉलेज से शास्त्री एवं आचार्य की उपाधियाँ प्राप्त कर ये लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज में आयुर्वेद का अध्यापन करने लगे परन्तु अधिक दिनों तक इनका स्वतन्त्रचेता मन वहाँ नहीं लगा और स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा-व्यवसाय करने लगे। चिकित्सक-रूप में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली। अनेक राजघरानों के निजी चिकित्सक-रूप में कार्य करते हुए इन्हें पर्याप्त धन और ख्याति मिली। प्रारम्भ में अजमेर, लखनऊ एवं बम्बई में इसी व्यवसाय के लिए रहे, पर बाद में स्थायी रूप से दिल्ली ही निवास करने लगे। शास्त्री जी को आत्मिक तृप्ति साहित्य में ही मिलती थी। इसी कारण 40 वर्ष के इस सफल चिकित्सा-व्यवसाय को छोड़कर ये अपना पूरा समय साहित्य-रचना को देने लगे। सन् 1960 ई. में शास्त्री जी की मृत्यु हुई।

शास्त्री जी रचनाकार भी थे और विविध विषयों के पण्डित भी। इन्होंने इतिहास, राजनीति, धर्म, आयुर्वेद, गृह-विज्ञान, बाल-शिक्षा आदि विषयों पर भी लिखा है। साहित्य में इनकी ख्याति अपने उपन्यासों, कहानियों एवं गद्य-काव्य-संग्रहों के कारण है। सब मिलाकर शास्त्री जी की 150 से ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में चतुरसेनजी ने यद्यपि समसामयिक जीवन पर भी कहानियाँ लिखी हैं, पर उनका मुख्य क्षेत्र इतिहास रहा है। 'वैशाली की नगरवधू', 'वय रक्षामः' 'सोमनाथ', 'धर्मपुत्र', 'सोना और खून' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनकी ऐतिहासिक कहानियों में भारतीय मध्यकालीन राजपूती एवं मुस्लिम जीवन के शौर्य, त्याग, कपट, षड्यन्त्र, विश्वासघात, प्रेम आदि के जीवन्त चित्र प्राप्त होते हैं। ये कहानियाँ मुख्यतः घटना-प्रधान हैं—चरित्र की आन्तरिक सत्ता को उद्घाटित करने की ओर इनका बहुत ध्यान नहीं था। यों घटनाओं के मध्य से मुख्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का पता अवश्य लगता है। इन घटनाओं का वर्णन भी

शास्त्री जी ने बड़ी ही रोचक एवं समर्थ भाषा में किया है। यत्र-तत्र इनकी भाषा में कवित्व एवं अलंकरण की छटा मिलती है। कहानी की गठन एवं विकास की रेखा सरल होती है।

टिप्पणी

प्रस्तुत कहानी घटना-प्रधान कहानी है। विषयवस्तु के आधार पर यह ऐतिहासिक कहानी कही जायेगी। लेखक ने एक प्रसिद्ध वीर के प्रसिद्ध युद्ध का इसमें वर्णन किया है। इस प्रसिद्धि के कारण भी यह कहानी यथेष्ट मर्मस्पर्शी बन गयी है, पर इसके अतिरिक्त घटना-प्रवाह से जिन अंशों का चयन लेखक ने किया है वे घटनाएँ उस युद्ध एवं उन वीरों के रूप को स्पष्ट कर सकने में समर्थ हैं। लेखक ने अपनी शैली को विविध आलंकारिक प्रयोगों से समृद्ध करके कहानी के इच्छित चित्र को अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। घटनाओं के क्षिप्र प्रवाह के साथ पाठक एक कौतूहल में बहता जाता है और लेखक अपेक्षित प्रभाव डालने में समर्थ होता है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) प्रस्तुत कहानी किस बिन्दु से कही गयी है?
(2) 'हल्दीघाटी में' कहानी में युद्ध से पूर्व के वर्णन का क्या महत्त्व है?
(3) इस कहानी का मुख्य पात्र कौन है—सलूँबरा सरदार, महाराणा प्रताप या शक्तिसिंह? इन पात्रों में आपको कौन-सा पात्र प्रिय लगता है एवं क्यों?
(4) लेखक इस कहानी द्वारा क्या सन्देश देना चाहता है?
(5) हल्दीघाटी के युद्ध का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

यशपाल

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के श्रेष्ठतम कथाकारों में से एक श्री यशपाल हैं। इनका जन्म सन् 1903 ई. में फिरोजपुर छावनी में हुआ। कॉलेज-जीवन से ही देश की राजनीतिक स्थिति ने इन्हें आकर्षित किया और चन्द्रशेखर आजाद एवं भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारियों के दल में सम्मिलित हो गये। भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सशस्त्र क्रान्ति में इनका विश्वास था और उसमें इन्होंने सक्रिय भाग लिया। इसके लिए यशपाल जी ने राजनीतिक डाके भी डाले हैं और सन् 1926 ई. में वायसराय की ट्रेन को बम से उड़ा देने का प्रयत्न भी किया था।

तत्कालीन सरकार से छिपे रहकर इन्होंने एक लम्बा समय फरारी में बिताया है। इस संघर्षमय रोमांचकारी जीवन का प्रभाव इनके कथा-साहित्य में भी देखा जा सकता है। इनके साहित्य में राजनीति का स्पष्ट स्वर मिलता है। यशपाल जी मार्क्सवादी हैं और साहित्य को सामाजिक शक्तियों का प्रतिबिम्ब भी मानते हैं और अस्त्र भी। इनके साहित्य में सोद्देश्यता का स्वर अत्यन्त प्रकट एवं स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। मार्क्सवाद के अनुरूप ही यशपाल जी जीवन के आर्थिक पहलू को महत्त्वपूर्ण मानकर चित्रित करते हैं।

यशपाल जी की प्रतिभा अनेकमुखी है। अब तक उनकी चालीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें 'पिंजड़े की उड़ान', 'फूलो का कुर्ता', 'भस्मावृत चिनगारी', 'धर्मयुद्ध', 'सच बोलने की भूल' आदि कहानी-संग्रह हैं तथा 'दिव्या', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप', 'झूठा-सच' आदि उपन्यास। 'चक्कर क्लब' आपकी व्यंगात्मक टिप्पणियों का संकलन है जो ये अपने 'विप्लव' नामक पत्र में लिखा करते थे। इसके अतिरिक्त अन्य कई निबन्ध-संग्रह भी हैं। इनके निबन्ध मुख्यतः राजनीतिक, सामाजिक विषयों पर लिखे गये हैं। 'सिंहावलोकन' में उनके अपने रोमांचक जीवन के संस्मरण हैं।

अपनी कहानियों में यशपाल जी ने समाज के उन वर्गों पर करारी चोट की है जो शोषण करते हैं, झूठी नैतिकता का दम भरते हैं तथा समाज की गतिशीलता को खत्म करके रूढ़ियों को बनाये रखने के विश्वासी हैं। समाज के शोषित, पीड़ित

तथा प्रगति के लिए संघर्षरत व्यक्तियों के लिए उनके मन में अजस्र करुणा एवं सहानुभूति है। कहानी कहने की कला में ये बड़े प्रवीण हैं तथा कहानी के अन्त को चामत्कारिक ढंग से उपस्थित कर समस्त कहानी को नये अर्थों से भर देते हैं।

टिप्पणी

यशपाल जी ने प्रस्तुत कहानी में भी अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल ही इस पारिवारिक स्तर पर अत्याचार का विरोध किया है। समाज में स्त्री की हैसियत सम्पत्ति के एक टुकड़े की भाँति मानी जाती है, पर जिस दिन वह अपने व्यक्तित्व को पहचानकर परिचित रूढ़ियों को त्याग देती है, उसी दिन उसके ऊपर होने वाला अत्याचार ही समाप्त नहीं हो जाता, पारिवारिक जीवन भी आमोद से भर उठता है। कहानी में हेमराज उस पुरानी पीढ़ी, रूढ़िगत संस्कारों का प्रतिनिधि है जो स्त्री को दबाकर रखने में विश्वास करता है। दूसरी ओर लाजो है जिस तक नये जीवन की गन्ध पहुँच चुकी है। पर जब तक स्वयं अपनी सोचने और कार्य कर सकने की स्वतन्त्र शक्ति का परिचय नहीं देती तब तक हेमराज की सिखाई नीति (यानी संस्कार से प्राप्त श्रेष्ठता) पर चलता हुआ कन्हैयालाल पत्नी पर निरन्तर अत्याचार करता रहता है तथा पारिवारिक जीवन सुख-शान्ति से पूर्ण नहीं हो पाता। पर उस शक्ति का परिचय पाते ही विवेक जाग उठता है और वह पत्नी की वास्तविक सत्ता को स्वीकार कर सम्मान ही नहीं देता, स्वयं जीवन में सुख का अनुभव करता है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) प्रस्तुत कहानी चरित्र-प्रधान मानी जायेगी या थीम-प्रधान?

(2) कहानी का मुख्य पात्र कौन है—कन्हैया अथवा लाजो या दोनों?

(3) "...ठहरो, मैं तुम्हारे लिए दूध ले आऊँ।" अगर कन्हैयालाल के इस वाक्य पर कहानी समाप्त कर दी जाये तो क्या कहानी अधूरी लगेगी? इसके बाद के वर्णन से कहानी में क्या विशेषता आती है?

(4) इस कहानी का चरमबिन्दु कौन-सा है?

(5) कहानी के द्वारा लेखक क्या सन्देश देना चाहता है?

(6) प्रस्तुत कहानी के आधार पर लेखक की भाषा और कहानी-शैली पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

जैनेन्द्र कुमार

श्री जैनेन्द्रकुमार का जन्म जिला अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) में सन् 1905 में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा जैन गुरुकुल हस्तिनापुर में हुई। मैट्रिक पास करके ये हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में पढ़ने के लिए चले गये। पर शीघ्र ही महात्मा गाँधी के असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के लिए विश्वविद्यालय छोड़ दिया। तब से अब तक निरन्तर साहित्य-सेवा करते आ रहे हैं। जैनेन्द्र जी की विचारधारा पर गाँधी के जीवन-दर्शन और विचार-पद्धति का गहरा प्रभाव है। अहिंसा, प्रेम, जीवन की अखण्डता आदि पर इनका पूर्ण विश्वास है। सम्भवतः जैन-दर्शन के प्रभाव के अन्तर्गत आत्मपीड़न एवं वेदनातत्त्व का भी प्रकाशन इनके साहित्य में हुआ है। प्रारम्भ से ही इनकी रुचि वैचारिकता की ओर रही है। यह झुकाव धीरे-धीरे दर्शन की ओर होता गया है। वस्तुतः वे विचारक और दार्शनिक साहित्यकार माने जाते हैं।

सन् 1928 से अब तक इन्होंने लगभग दो सौ कहानियाँ लिखी हैं जो 'जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ' शीर्षक से आठ भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं। 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'सुखदा', 'जयवर्द्धन' आदि इनके मुख्य उपन्यास हैं। इनके अनेक निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'समय और हम' में इनके दार्शनिक विचार संकलित हैं।

जैनेन्द्र जी ने सन् 1928 के आसपास लिखना प्रारम्भ किया था। प्रेमचन्द की व्यापक सामाजिकता को छोड़कर जैनेन्द्र ने हिन्दी के कथा-साहित्य को मध्यवर्गीय व्यक्ति की ओर मोड़ा। इस मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन और परिवार के द्वन्द्व पर इन्होंने लिखना शुरू किया था। कुछ लोगों ने इन्हें मनोवैज्ञानिक कथाकार भी कहा है। पर वास्तव में इनका मनोविज्ञान शास्त्रीय न होकर स्वयं अनुभूत है। धीरे-धीरे वे व्यक्ति को भी छोड़कर मात्र किसी भाव, विचार या आदर्श को उपस्थित करने के लिए ही कहानियों की रचना करने लगे। 'एक गौ,' 'तत्सत,' 'वह साँप' इनकी ऐसी ही कहानियाँ हैं। इनकी कहानियों में कथा-तत्त्व और सूत्र बड़े क्षीण होते हैं। कभी-कभी तो कहानियों और निबन्धों में अन्तर करना कठिन हो जाता है।

शैलीकार की दृष्टि से भी जैनेन्द्रजी महत्त्वपूर्ण गद्य-लेखक हैं। छोटे-छोटे वाक्यों के भीतर क्रियापदों के विचित्र प्रयोग करके इन्होंने अपनी शैली को एक विशेषता दी है। इनकी भाषा का स्वर और लहजा बहुत अधिक वैयक्तिक एवं निजी है।

टिप्पणी

पशु, पक्षी, राक्षस, परी आदि की कहानियाँ समाज में आदिम युग से चली आ रही हैं। इन अतिप्राकृत एवं अविश्वसनीय लगने वाली कहानियों के प्रति किसी न किसी प्रकार की दिलचस्पी आज भी मिलती है। इन ऐन्द्रजालिक कहानियों के माध्यम से लेखकों ने बहुधा कहीं अधिक गहरे यथार्थ या कहीं अधिक स्वस्थ दृष्टि को उपस्थित किया है। जैनेन्द्र जी की प्रस्तुत कहानी भी ऐसी ही 'फैण्टेसी' (Fantasy) है।

कहानी के प्रारम्भिक भाग में लेखक ने प्रत्यक्ष संसार के अर्थ-सम्बन्धों की कुरूपता और निर्ममता को व्यंजित किया है। इस संसार में हर कार्य यथार्थानुकूल होता है। गरीबी से पीड़ित किसान की अपनी प्यारी गाय बेचने में हिचकिचाहट, सेठ द्वारा इस स्नेह-भाव की उपेक्षा एवं रुपयों के सन्दर्भ में उसका आँकना नितान्त यथार्थानुकूल है। पर कहानी के दूसरे भाग में एक नितान्त अविश्वसनीय, ऐन्द्रजालिक घटना घटती है : गाय अपने प्रिय पुराने मालिक के द्वार पर आकर सारा दूध ही नहीं गिरा जाती, मनुष्यों की भाषा में बातें भी करने लगती है। प्रत्यक्षतः यह घटना अयथार्थ और काल्पनिक है। पर लेखक इस ऐन्द्रजालिक कल्पना द्वारा स्नेह-सम्बन्धों की एक अधिक गहरी यथार्थता का परिचय देता है। यह एक जीवन-दृष्टि भी है जिसमें अर्थ के सारे अनर्थों को त्यागकर किसान पुनः अपने स्नेह की शक्ति पर गाय को लौटा ले जाता है। इस प्रकार यह अविश्वसनीयता या काल्पनिकता भी एक अधिक गहरे स्तर पर कहीं अधिक विश्वसनीय एवं यथार्थ बन जाती है। इस 'फैण्टेसी-शिल्प' में जैनेन्द्र जी ने और कहानियाँ भी लिखी हैं।

प्रश्न और अभ्यास

(1) 'एक गौ' को कहानी के किस 'प्रकार' के अन्तर्गत रखा जा सकता है?
(2) गाय और हीरासिंह की बातचीत आपको सच मालूम पड़ती है या झूठ? अपने तर्कों की पुष्टि करते हुए उत्तर दीजिए।
(3) कहानी का मूल विचार क्या है? इस विचार से चरित्रों को किस प्रकार सम्बन्धित किया गया है?
(4) इस कहानी से सामाजिक जीवन की किन विकृतियों पर प्रकाश पड़ता है?
(5) हीरासिंह एवं सेठ के चरित्रों की तुलना कीजिए। यह भी बताइए कि क्या सेठ का चरित्र कहानी के समग्र प्रभाव को बढ़ाता है?
(6) क्या इस कहानी का शीर्षक आपको उपयुक्त प्रतीत होता है? कोई अन्य शीर्षक अपनी ओर से सुझाइए।
(7) प्रस्तुत कहानी के आधार पर जैनेन्द्र की भाषा-शैली पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का जन्म सन् 1910 ई. में जालन्धर (पंजाब) के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। 'अश्क' जी ने पंजाब विश्वविद्यालय से बी.ए., एल-एल.बी. की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। ये अखबार, रेडियो और फिल्म में भी काम कर चुके हैं, पर अब नियमित रूप से इलाहाबाद में रहकर साहित्य-रचना और प्रकाशन का कार्य कर रहे हैं।

'अश्क' जी ने पंजाबी एवं उर्दू भाषाओं में लिखना प्रारम्भ किया था। उर्दू में तो अब भी यदा-कदा इनकी रचनाएँ छपती हैं, पर अब ये मुख्यतः हिन्दी के ही लेखक हैं। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। 'अश्क' जी कथाकार के रूप में तो प्रसिद्ध हैं ही, नाटककार के रूप में भी महत्त्व के अधिकारी हैं। इनके कुछेक कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं तथा आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। 'गिरती दीवारें' और 'गरम राख' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं तथा 'बैंगन का पौधा', 'कहानी-लेखिका', 'झेलम के सात पुल' और 'छींटें' आदि कहानी-संग्रह। 'छठा बेटा', 'पिंजरे की उड़ान' तथा 'अंजो दीदी' इनके प्रसिद्ध नाटक हैं।

'अश्क' जी की कहानियों में समाज और व्यक्ति के अनेक पहलू सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किये गये हैं। नाटकीयता और संवाद-कौशल इनकी कहानियों में विशेष रूप से मिलत.. है। पंजाब के मध्यवर्ग का वातावरण इनकी कहानियों में सजीव हो उठा है। कहानियों की भाषा सरल बोलचाल के निकट है, पर वातावरण और स्वाभाविकता की रक्षा के लिए ये पंजाबी एवं उर्दू शब्दों का यथेष्ट प्रयोग करते हैं। इन शब्दों का प्रयोग शायद इनके व्यक्तित्व के अधिक अनुकूल भी है। इन्होंने हास्य और व्यंग्य की भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं। प्रस्तुत संकलन में दी गयी रचना हास्य-व्यंग्यात्मक ही है। इन्होंने कुछ बहुत ही मार्मिक लघु कथाएँ भी लिखी हैं। 'अश्क' जी की लिखी लगभग दो सौ कहानियाँ अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। 'डाची', 'बैंगन का पौधा', 'दालिए', 'काले साहब', 'चट्टान' आदि इनकी अन्य प्रसिद्ध पठनीय कहानियाँ हैं।

टिप्पणी

लेरिंजाइटस' एक व्यंग्य-कहानी है। कवि-सम्मेलन में कुछ कवि-गण अपनी कविताएँ सुनाकर वाहवाही लूटने के लिए आतुर रहते हैं। न्याज़ साहब ऐसे ही कवि-सम्मेलनो कवियों के प्रतिनिधि हैं। लेखक ने न्याज़ साहब के माध्यम से इन कवियों की इस लालसा को जिस उतार-चढ़ाव के साथ उपस्थित किया है, उसने इन्हें अत्यन्त हास्यास्पद स्थिति में पहुँचा दिया है। न्याज़ साहब की कापी में हर प्रकार की और हर मौके की कविताएँ लिखी हुई हैं (उनके काव्य का अपना निश्चित व्यक्तित्व नहीं है) और कवि-सम्मेलन के मूड की हर स्थिति में वे ऐसी ही कविता दोहराने लगते हैं जो उन्हें वहाँ जमा सके। पर कवि-सम्मेलन का गम्भीरताहीन वातावरण एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उनके नाम का ही मजाक उड़ाया जाने लगता है और वे बेचारे वहाँ से भाग खड़े होते हैं। कहानी में इन्हीं स्थितियों के बड़े सजीव चित्र लेखक ने अपनी व्यंग्य-विनोदपूर्ण शैली में उपस्थित किये हैं।

प्रश्न और अभ्यास

(1) न्याज कन्धाईपुरी का चरित्र वर्गगत है या वैयक्तिक?
(2) इस कहानी में आयी हास्यास्पद स्थितियों की चरम सीमा कहाँ है?
(3) कहानी के अन्तिम वाक्य का व्यंग्यार्थ क्या है?
(4) न्याज़ कन्धाईपुरी की कविता सुनाने की आतुरता का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।
(5) प्रस्तुत कहानी में वातावरण का क्या महत्त्व है? क्या इसे वातावरण-प्रधान कहानी कहा जा सकता है?
(6) अपने देखे या सुने किसी अन्य कवि-सम्मेलन का वर्णन कीजिए।
(7) इस कहानी की भाषा-शैली की समीक्षा कीजिए।

'अज्ञेय'

'अज्ञेय' जी का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। इनका जन्म सन् 1911 ई. में जिला देवरिया (उत्तर प्रदेश) के कमिया नामक कस्बे में हुआ। इनके पिता भारत सरकार के पुरातत्त्व-विभाग में उच्च पदाधिकारी थे। उनके साथ 'अज्ञेय' जी का शैशव लखनऊ, कश्मीर, नालन्दा एवं नीलगिरि में घूमते हुए बीता। संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, बंगला आदि कई भाषाओं के ज्ञाता। इनकी शिक्षा-दीक्षा मुख्यतः मद्रास और लाहौर में हुई। लाहौर से बी.एस-सी. पास करने के उपरान्त ये अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. की तैयारी करने लगे, पर उसी समय क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्पर्क हुआ; परिणामस्वरूप कुछ दिन फ़रारी में बिताकर 1930 ई. में पकड़े गये। चार वर्ष कारावास एवं दो वर्ष नजरबन्दी में रहे। जेल से निकलकर किसान-आन्दोलन में भी भाग लिया था।

'सैनिक', 'विशाल भारत', 'प्रतीक', 'वाक्' (अंग्रेजी) आदि कई पत्र-पत्रिकाओं का ये सम्पादन कर चुके हैं। भारतीय सेना एवं आकाशवाणी में भी काम किया है। 'अज्ञेय' जी ने देश-विदेश का व्यापक भ्रमण किया है और इनके साहित्य में इस पर्यटन की स्पष्ट गूँज है। एक अमरीकी विश्वविद्यालय में दो वर्ष तक अध्यापन कार्य भी किया। चित्रकला, फोटोग्राफी आदि अन्य कलाओं में भी इनकी गहरी रुचि थी।

'अज्ञेय' जी की साहित्यिक अभिव्यक्ति उपन्यास-कहानियों के अतिरिक्त कविता एवं निबन्धों में भी हुई है। हिन्दी के कुछ श्रेष्ठतम यात्रा-विवरण भी इन्होंने लिखे हैं जो 'अरे यायावर रहेगा याद' एवं 'एक बूँद सहसा उछली' में संकलित हैं। 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' इनके श्रेष्ठतम उपन्यास हैं तथा 'विपथगा', 'शरणार्थी', 'कोठरी की बात', 'जयदोल' आदि प्रमुख कहानी-संग्रह। इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों एवं संग्रहों का सम्पादन भी किया है। कविता में ये प्रयोगवाद एवं नयी कविता के अग्रगण्य कवि तथा प्रतिष्ठापक माने जाते हैं।

हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में इन्होंने मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर गम्भीर प्रयोग किये हैं। इनकी कहानियों में घटना या कथानक का महत्त्व न होकर पात्र के अन्तर्जगत का विश्लेषण ही उद्दिष्ट होता है। बाह्य स्थूल घटनाओं को भी मानव के आन्तरिक जीवन से सम्बद्ध करके ही ये उन्हें सार्थक बनाते हैं।

इनकी भाषा संस्कृत तत्समबहुल तो है ही, साथ ही उसमें अंग्रेजी वाक्य-विन्यास को काफी हद तक अपनाया गया है। प्रस्तुत कहानी 'अज्ञेय' जी के 'शरणार्थी' संकलन से ली गयी है।

टिप्पणी

सामान्यतः 'अज्ञेय' जी की कहानियों में घटनाओं को इतना महत्त्व नहीं मिलता, जितना कि इस कहानी में मिला है। उन्हें सामान्यतः व्यक्ति के मन का कहानीकार माना जाता है। पर 1947 के साम्प्रदायिक दंगों, देश के विभाजन एवं शरणार्थियों पर लिखी गयी अपनी कुछेक कहानियों में उन्होंने बड़ी सूक्ष्म सामाजिक चेतना का परिचय दिया है। प्रस्तुत कहानी ऐसी ही है। परन्तु इतना ध्यान देने की आवश्यकता है कि यह कहनी घटना-प्रधान किसी भी प्रकार नहीं कही जा सकती। कहानी की समस्त घटनाओं को भाव और विचार के कई स्तरों पर गूँथा गया है। कहानी का आधार बिन्दुगत विचार कहानी के अन्तिम हिस्से में उभरता है कि भलाई की साहसहीनता से ही खतरा उत्पन्न होता है। कहानी का एक दूसरा स्तर है, जिसमें कि बार-बार परिस्थितियों में पड़कर मानवीय विवेक पराजित होता हुआ लगता है, पर लेखक उसे किसी दूसरे स्तर पर उदित होता हुआ दिखाकर आस्था को समाप्त नहीं होने देता। जब तमाम लोग मानवीय विवेक को खोने लगते हैं तो वह रफीकुद्दीन में विद्यमान रहता है; जब वे भी हारने लगते हैं तो उनके मित्र शेख़ साहब उस विवेक को शरण देते हैं; पर जब वे भी पराजित होने लगते हैं तो जेबुन्निसा के माध्यम से यह मानव-विवेक अभिव्यक्ति पाता है। वस्तुतः जेबुन्निसा इसी विवेक का प्रतीक है। उसके पत्र से, जबकि वह 'इन्सान' के नाम पर देविन्दरलाल को हिन्दुस्तान के अल्पसंख्यकों की याद दिलाती है, यह प्रतीकता एकदम स्पष्ट हो जाती है।

कहानी में दंगे की घटनाओं के वर्णन द्वारा वातावरण को घना और गहरा बनाने की चेष्टा की गयी है। कहानी की भाषा में लेखक का सामर्थ्य ही नहीं संयम भी देखने योग्य है। कहीं भी अतिरिक्त भावुकता की पुट नहीं है। विष देने के प्रसंग में भी लेखक ने किसी प्रकार की उत्तेजना नहीं दिखाई। केवल उस घटना से नायक के मन में एक विचार कौंध जाता है और वह उस विचार के अनुसार कार्य करता है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) प्रस्तुत कहानी के शीर्षक की विवेचना करते हुए बताइए कि 'शरणदाता' शब्द में व्यंग्य क्या है तथा देविन्दरलाल का अन्तिम शरणदाता कौन है—जेबुन्निसा या उसका अपना साहसपूर्ण विवेक?

(2) निम्नलिखित कथनों का आशय स्पष्ट कीजिए–

(क) 'इस धक्के को राजनीति की भुरभुरी रेत की दीवार के सहारे नहीं, दर्शन के सहारे झेला जा सकता था।'

(ख) 'दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है। भलाई की साहसहीनता ही बड़ी बुराई है। घने बादल से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है।'

(3) लेखक के निम्नलिखित कथन को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत कहानी की संगति की परीक्षा कीजिए :

'कहानी की संगति मानवीय तर्क या विवेक या कला के सौन्दर्य-बोध की बनाई हुई संगति है, इसलिए मानव को दीख जाती है और वह पूर्णता का आनन्द पा लेता है।'

(4) देविन्दरलाल के चरित्र की रेखाएँ स्पष्ट कीजिए।

(5) प्रस्तुत कहानी किस शैली में लिखी गयी है?

(6) विष वाले भोजन को देखकर कथानायक को अपने घर की याद क्यों आने लगती है? इस याद का कहानी के घटना-चक्र पर क्या प्रभाव पड़ता है?

विष्णु प्रभाकर

श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म सन् 1912 में जिला मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) के एक गाँव में हुआ तथा पंजाब विश्वविद्यालय से बी.ए. एवं प्रभाकर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। कुछ दिनों तक पंजाब के एक सरकारी कार्यालय में उन्होंने कार्य किया, फिर अखिल भारतीय आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र में नाटक-विभाग के अधिकारी हो गये।

विष्णु जी की अब तक पच्चीस से ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें 'धरती पर', 'निशिकान्त' आदि उपन्यास हैं तथा 'आदि और अन्त', संघर्ष के बाद,' 'धरती अब भी घूम रही है' आदि कहानी-संग्रह। 'डॉक्टर' इनका प्रसिद्ध नाटक है तथा 'प्रकाश और परछाइयाँ' एकांकी-संग्रह।

विष्णु जी ने अपनी कहानियों में पात्रों के मानसिक पक्ष की ओर बहुत ध्यान दिया है। बहुधा इनकी कहानियों में मानव-मन के किसी अछूते पहलू, अभाव या उदात्तता का अंकन मिलता है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के प्रकाशन के लिए घटनाओं का ताना-बाना बुनने में भी ये प्रवीण हैं। इसी कारण इनकी कहानियों में सामाजिकता का स्वर स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है। अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण पर बल देते हुए भी विष्णु जी की कहानियों में कथानक-तत्त्व का ह्रास नहीं हुआ है : 'धरती अब भी घूम रही है' इनकी प्रसिद्ध कहानी है, जिसकी हिन्दी में बहुत चर्चा हुई है। प्रस्तुत संकलन में दी गयी 'अभाव' नामक कहानी भी इनकी श्रेष्ठतम कहानियों में से एक है। 'गृहस्थी,' 'ठेका' और 'जज का फैसला' इनकी अन्य श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

टिप्पणी

श्री विष्णु प्रभाकर की यह कहानी चरित्र-प्रधान मनोवैज्ञानिक कहानी है। जीवन का एक गहरा अभाव एक व्यक्ति के व्यवहार एवं कार्य को असामान्य ऊँचाइयों पर भी पहुँचा सकता है। सन्तान-सम्बन्धी अभाव की थीम पर आधृत एक कहानी हम लोग 'ताई' शीर्षक से पढ़ चुके हैं। पर वह कहानी जहाँ सामान्य मनोविज्ञान पर आधृत है, वहीं यह कहानी असामान्य मनोविज्ञान की ओर इंगित करती है। कहानी

के चरमबिन्दु पर ही कहानी की समाप्ति लेखक के रचना-कौशल की द्योतिका है। पूरी कहानी अत्यधिक सुगठित है तथा असामान्य व्यवहार को भी विश्वसनीयता के स्तर पर चित्रित करती है। कहानी की सचाई पर हमको कभी सन्देह नहीं होता। यों इसका पहला अनुच्छेद संक्षिप्त किया जा सकता है। नयी कहानी-विधि में इतनी लम्बी एवं वैचारिक भूमिका से कहानी शुरू नहीं की जाती। पहले अनुच्छेद के बाद मुहल्ले की स्त्रियों की बातचीत से वातावरण निर्मित हुआ है तथा 'बेबी' के चोट लगने वाले प्रसंग में वातावरण द्वारा बनाये गये रूप को पूरी तौर पर मूर्तिमान् कर दिया गया है। जन्म-दिवस की पार्टी का आयोजन चरमबिन्दु की ओर बढ़ाव है तथा टूटे खिलौने चरमबिन्दु। इस क्षण में उसके उद्‌गार ही पूरी कहानी की कुंजी है—इनमें ही 'अभाव' का रूप स्पष्ट हो सका है और तभी उस स्त्री की सारी खिलखिलाहट अधिक करुण भी लगती है और महान् भी। मेज पर रखे-सजे खिलौने वस्तुतः उसके अभाव को प्रतीकात्मक ढंग से व्यंजित करते हैं।

प्रश्न और अभ्यास

(1) 'ताई' और 'अभाव' कहानियों का आधारबिन्दु (थीम) क्या एक ही है? दोनों कहानियों के अन्तर और समानताएँ बताइए।
(2) 'अभाव' के मुख्य पात्र का चरित्र किन-किन विधियों से चित्रित किया गया है?
(3) कहानी के शीर्षक का क्या तात्पर्य है?
(4) प्रस्तुत कहानी के अन्तिम अंश का क्या महत्त्व है?
(5) प्रस्तुत कहानी का कथानक संक्षेप में लिखिए।
(6) 'अभाव' कहानी की नायिका का व्यवहार आपको क्या विश्वसनीय लगता है?
(7) कहानी की नायिका के प्रति आपके मन में कौन-से भाव जागते हैं : करुणा, सहानुभूति, ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, आश्चर्य या प्रशंसा?

मोहन राकेश

स्वतन्त्रता के उपरान्त उदित हिन्दी की नयी पीढ़ी के कहानीकारों में प्रमुख श्री मोहन राकेश का जन्म सन् 1925 ई. में अमृतसर में हुआ। पंजाब विश्वविद्यालय से इन्होंने हिन्दी में एम.ए. पास किया तथा कुछ दिनों तक जालन्धर के डी.ए.वी. कॉलेज एवं दिल्ली के स्नातकोत्तर सान्ध्य-शिक्षण संस्थान में अध्यापन करते रहे। बम्बई से प्रकाशित प्रमुख कहानी-पत्रिका 'सारिका' का सम्पादन भी इन्होंने कुछ समय तक किया।

राकेश जी की मातृभाषा यद्यपि पंजाबी है, पर उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी ही है, जिसपर उनका मातृभाषा के समान ही अधिकार है। 'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और जिन्दगी' इनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं तथा 'अँधेरे बन्द कमरे' प्रसिद्ध उपन्यास। 'आषाढ़ का एक दिन' नामक नाटक पर इन्हें संगीत-नाटक अकादमी का ढाई हजार रुपयों का पुरस्कार मिल चुका है। राकेश जी ने यात्रा-वर्णन भी लिखे हैं तथा आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर भारतवर्ष की बदलती हुई जिन्दगी के यथार्थमूलक चित्र इनकी कहानियों में मिलते हैं। आज़ के महानगरीय जीवन की विकृतियों से लेकर सामाजिक विषमताओं एवं झूठी नैतिकताओं पर लिखी इनकी कहानियाँ मार्मिक बन पड़ी हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि इनकी कहानियों में किसी वाद के अनुसार चित्रण न होकर व्यक्ति के मानसिक अन्तःसंघर्ष के द्वारा ही बाहरी असंगतियों पर प्रकाश केन्द्रित करने का प्रयत्न हुआ है। प्रेम, घृणा, त्याग-जैसी तर्क से परे रहने वाली भावनाओं पर भी इनकी मार्मिक कहानियाँ मिलती हैं।

राकेश जी की कहानियों में चरित्र, वातावरण, घटना या विचार पर बल नहीं है। ये सारे तत्त्व एक में घुले-मिले रहते हैं। कहानी की शैली भी किसी चरमबिन्दु या आकस्मिक अन्त पर निर्भर नहीं है। वस्तुतः यहाँ जीवन का एक खण्ड है और वह अपनी समग्रता में रोचक लगता है। इसीलिए जोर किसी एक स्थान पर न होकर पूरी कहानी पर होता है। 'नये बादल', 'मलबे का मालिक', 'मिस पाल', 'एक और जिन्दगी' इनकी अन्य श्रेष्ठ पठनीय कहानियाँ हैं।

टिप्पणी

प्रस्तुत कहानी माँ की कहानी है—शाश्वत माँ की—उस माँ की कहानी है जो जीवन में सफल पुत्र को भी प्यार करती है और आदर्शों के पीछे भागते हुए असफल पुत्र को भी; और शायद जब चुनने का प्रश्न आता है तो असफल पुत्र का खुरदरा प्यार उसे अधिक आकर्षित करता है; उस माँ की कहानी है जो औपचारिकता को बरदाश्त नहीं कर पाती और जो सहज, अकृत्रिम प्यार को लिये-दिये जीती है। मानवीय करुणा और ममत्व की यह मूर्ति हर युग के कलाकार को आकर्षित करती आयी है और नया कहानीकार भी उसके मोहपाश में बँधता है। पर एक अन्तर हो जाता है : यह नया कहानीकार भावुकता में भरकर उसकी महत्ता की घोषणा नहीं करता, उसके व्यक्तित्व को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं दिखाता। विभिन्न सामाजिक एवं पारिवारिक स्थितियों वाला एक जीवन-खण्ड वह सामने रख देता है और उस जीवन-खण्ड के तटस्थ-से लगते वर्णन में 'माँ' की वही मूर्ति उभर आती है। स्पष्ट है कि यह मूर्ति इसी कारण अधिक सहज एवं अधिक वास्तविक है।

पूरी कहानी में कोई चरम सीमा नहीं है; कुतूहल या उत्सुकता की आतुरता नहीं है, घटनाओं की भागदौड़ नहीं है; पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के शास्त्रीय मनोविश्लेषण नहीं किये गये, किसी विचार या उद्देश्य की घोषणा नहीं की गयी; फिर भी कहानी बन गयी और पूरी बन गयी। वस्तुतः पूरी कहानी अपने-आपमें इतनी गुँथी हुई है कि कहानी पूरी-की-पूरी आस्वादनीय है—कोई एक पात्र, घटना, वातावरण या विचार नहीं।

यों अगर कहानी का विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होगा कि माँ की इस कथा को उभारने के लिए दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के पुत्रों की कथा अगल-बगल में रखी गयी है। कथा इस प्रकार पुत्रों की है, पर दोनों को जोड़ने वाला सूत्र माँ है और अन्ततः उसी के चरित्र को उभारकर सबसे ऊपर आता हुआ हम देखते हैं। बल्कि यों कहें कि उसका चरित्र करुणा का ऐसा बादल बन जाता है जो पूरी कहानी को छा लेता है! पुत्रों की वृत्तियाँ अलग-अलग हैं, पर एक गहरी समानता है कि दोनों भाई एक-दूसरे के प्रति समान रूप से उपेक्षाशील हैं। यह समानता कहानी में बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसी भूमि पर माँ का रूप उभरता है, उसकी पीड़ा उभरती है। पर इन दोनों भाइयों में लेखक की किसके साथ सहानुभूति है, इसे भी पहचाना जा सकता है। लेखक अपनी ओर से कुछ नहीं कहता; पर माँ जिससे असन्तुष्ट होकर गयी थी, जानती है कि उसी को उसकी आवश्यकता है और वहीं लौट आती है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) कहानी के शीर्षक की सार्थकता पर विचार कीजिए।

(2) कहानी के मुख्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ क्या हैं? दोनों पुत्रों के चरित्रों के माध्यम से माँ का चरित्र क्यों और किस प्रकार अधिक उभरता है?

(3) कहानी में क्या किसी प्रतीक-योजना का विधान किया गया है? अगर हाँ, तो स्पष्ट कीजिए।

(4) माँ की सक्रिय ममता का झुकाव किस पुत्र के प्रति होता है और क्यों?

(5) माँ की यात्राओं में दोनों बार खाने-पीने की चर्चा आती है—क्या इस चर्चा से चरित्रों पर कोई प्रकाश पड़ता है?

(6) प्रस्तुत कहनी को कहानी के विविध 'प्रकारों' के अन्तर्गत रखने में क्या कठिनाइयाँ आती हैं? अन्ततः इसे आप किस 'प्रकार' के अन्तर्गत रखना चाहेंगे?

उषा प्रियंवदा

सुश्री उषा प्रियंवदा हिन्दी की महिला कहानी-लेखिकाओं में अग्रणी हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इन्होंने अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। इसके पश्चात् ये वहीं पर अंग्रेजी-विभाग में अध्यापिका नियुक्त हो गयीं। आजकल संयुक्त राज्य अमरीका के इण्डियाना विश्वविद्यालय में आधुनिक अमरीकी साहित्य पर अनुसन्धान कर रही हैं।

उषा जी की अब तक दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'पचपन खम्भे : लाल दीवारें' उपन्यास तथा 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' कहानी-संग्रह। यों पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियाँ छपती रहती हैं।

उषा प्रियंवदा जी ने अपनी प्रारम्भिक कहानियों में ही जिस प्रौढ़ता का परिचय दिया, उसके कारण ये अति शीघ्र हिन्दी की प्रमुख कहानी-लेखिका स्वीकार की जाने लगीं। प्रस्तुत कहानी 'वापसी' पर इन्हें 'नयी कहानियाँ' का '1960 ई. की सर्वश्रेष्ठ कहानी' पुरस्कार मिला था। यह कहानी हिन्दी में बराबर चर्चा का विषय रही है। इनकी अन्य कहानियों में भी शहरी परिवारों के बड़े ही अनुभूतिप्रवण चित्र मिलते हैं। आधुनिक जीवन की उदासी, अकेलेपन, ऊब आदि का अंकन करने में इन्होंने अत्यन्त गहरे यथार्थबोध का परिचय दिया है। इनकी कहानियों में गठन का चमत्कार नहीं है, चामत्कारिक अन्त नहीं है, कुतूहल एवं उत्सुकता का उद्दीपन नहीं है, पर पूरी कहानी अपने-आपमें गहरी भावात्मकता जगाती है। 'जिन्दगी और गुलाब के फूल', 'दृष्टिदोष', 'मोहबन्ध' आदि इनकी अन्य प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। कहानी की भाषा एवं कथन-शैली सर्वत्र भावुकता, अलंकरण से रहित है तथा अपनी विषय-वस्तु के प्रति एक निर्व्याज तटस्थता इन्होंने बनाये रखी है।

टिप्पणी

'वापसी' कहानी में भी 'आर्द्रा' की भाँति ही न कोई चरम सीमा है और न अभीष्ट प्रभाव किसी एक बिन्दु, घटना या विचार पर केन्द्रित है। यह प्रभाव आद्योपान्त पूरी कहानी में व्याप्त है। पूरी कहानी में कहीं भी कथानक गढ़ने या काव्यात्मक

शब्दावली में वातावरण बनाने को चेष्टा नहीं मिलती। अनायास छोटे-छोटे चित्र सामने आते जाते हैं और सारे चित्र मिलकर जो चित्र बनाते हैं उसमें पीड़ा और विषाद का एक गहरा बोध है। कहानी का न तो प्रारम्भ किसी मार्मिक घटना से होता है और न अन्त में कोई चमत्कार आता है। जीवन की जो सहज गति पहले थी, वही अन्त में रहती है। चरित्रों के बारे में लेखिका की टिप्पणियाँ नहीं के बराबर हैं। लेकिन गतिशील जीवन के जो 'स्नैपशॉट' उपस्थित किये गये हैं वे बहुत कुछ ध्वनित करते हैं।

रिटायर्ड गजाधर बाबू परिवार में खप नहीं पाते—साध उनके जीवन की भले ही यही रही हो। इसमें भी दोष किसी का नहीं; घर की व्यवस्था ऐसी बन चुकी थी। घर में उनकी स्थिति का प्रतीक चारपाई है जो पहले अस्थायी तौर पर बैठक में पड़ी रही, फिर माँ के कमरे में पहुँच गयी और फिर वहाँ से भी निकाल दी गयी। इस प्रकार उनका 'अस्तित्व घर के वातावरण का कोई भाग नहीं बन सका।' और अन्त में विषाद की गहरी छाया के नीचे जब वे घर से चलने लगते हैं तो आँसू नहीं, रुदन नहीं केवल 'एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली और फिर दूसरी ओर देखने लगे।' इधर उनका घर है कि कोई सिनेमा की तैयारी करता है और कोई चौके की—पर पाठक पीड़ा और विषाद की अनुभूति को पूरी तौर से पहचान लेता है।.... लेखिका ने कहीं भी गजाधर बाबू के प्रति अतिरिक्त सहानुभूति नहीं उभारने दी। शैली की यह तटस्थता इस कहानी की बड़ी शक्ति है।

प्रश्न और अभ्यास

(1) 'शरणागत', 'वापसी' और 'आर्द्रा' कहानियों में क्या आपको किसी प्रकार की समानता मिलती है? तर्क एवं उद्धरण देते हुए अपना उत्तर लिखिए।
(2) 'चारपाई' किस प्रकार गजाधर बाबू की प्रतीक है?
(3) कहानी के अन्तिम वाक्य उसके प्रभाव को किस प्रकार अधिक गहरा बना देते हैं?
(4) प्रस्तुत कहानी के प्रारम्भिक और अन्तिम दृश्यों को ध्यान में रखते हुए 'वापसी' शीर्षक की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।
(5) गजाधर बाबू किन कारणों से अपने ही परिवार में नहीं खप सके? ये कारण परिस्थितियों से उत्पन्न थे या स्वयं उनके या परिवार वालों द्वारा उत्पन्न किये गये थे?
(6) प्रस्तुत कहानी के शैली-शिल्प पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(7) क्या इसे आप कहानियों के किसी एक वर्ग के भीतर रख सकते हैं। अगर नहीं तो क्यों नहीं?

'विवेक के रंग' : भूमिका

भूमिका लिखने में मुझे बेहद आलस लगता है। परिणाम है कि पिछले साल-भर से प्रस्तुत संकलन की पाण्डुलिपि लगभग तैयार पड़ी है, पर तकाजों के बावजूद प्रकाशनार्थ नहीं दी जा सकी—भूमिका लिखनी थी न! पर इस आलस्य से एक बड़ा भय सामने आया—हिन्दी-प्रकाशनों की गति के कारण हर महीने अच्छी किताबें मिलने की तो आशा ही की जा सकती है पर पुस्तक-समीक्षाएँ तो अकसर मिल जाती हैं। अतएव इस प्रकार के संकलन में निरन्तर जोड़-तोड़, घटा-बढ़ी की समस्या उठने लगती है। मैंने स्वयं कम-से-कम पन्द्रह समीक्षाएँ इन दिनों इस संकलन में जोड़ी या घटायी हैं। इस निरन्तर परिष्कार-प्रक्रिया से घबराकर ही इस पुस्तक-समीक्षा-संकलन की भूमिका लिखने का आलस तोड़ सका। यह परिष्कार भी पिछले वर्ष ही नहीं हुआ है—पिछले चार वर्ष से इस संकलन पर काम करता आ रहा हूँ। बीच-बीच में चयन में ही बदलाव नहीं हुए, स्वयं सम्पादक को भी स्थान बदलना पड़ा। थीसिस, कानपुर से दिल्ली की उखाड़-पछाड़, तमाम पेशेगत व्यस्तताओं, संकलन की उपयोगिता सम्बन्धी संकल्पों-विकल्पों आदि के मध्य काम अटकता-भटकता बढ़ता रहा। जून, 1961 में इस संकलन का जो ढाँचा सामने आया था उसे बहुत-कुछ बदलना पड़ा है। तबसे अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें सामने आयी हैं और अनेक गणनीय समीक्षाएँ। इनको जोड़ते-घटाते हुए सोचा था कि भूमिका पचास पृष्ठ से कम क्या होगी; पर अब लिखने बैठा हूँ तो बहुत लम्बी भूमिका लिखने का न साहस है और न समय। शायद ज्यादा लम्बी भूमिका का औचित्य भी मन में शेष नहीं रहा। आखिर हिन्दी-आलोचना के इतिहास या मानदण्डों पर एक शोध-निबन्ध-जैसा भारी-भरकम दस्तावेज पेश करना कहाँ तक उपयुक्त होगा? बहरहाल, अब जो भूमिका है वह सचमुच ही इस संकलन की भूमिका है—यानी कि जिस भूमि पर रखकर संकलन की प्रकृति या विशिष्टता का नजदीकी परिचय प्राप्त किया जा सके।

समसामयिक लेखन की चर्चा अधिकांशतः पुस्तक-समीक्षा के स्तम्भों तक ही सीमित रहती है। और इन समीक्षाओं में अकसर महत्त्वपूर्ण समस्याएँ ही नहीं उठायी जातीं, आलोचना-पद्धति के बदलाव के आरम्भिक लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। ये

दो ऐसे तथ्य थे जिन्होंने इस संकलन के लिए प्रेरित किया। ऐसा प्रतीत हुआ कि समकालीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की गणनीय समीक्षाएँ यदि एक स्थान पर संकलित की जायें तो नवलेखन का एक संश्लिष्ट चित्र ही सामने नहीं आयेगा, आलोचना के नये विवेक या पद्धति को भी अधिक संकेन्द्रित ढंग से देखा जा सकेगा।

इन दोनों बातों में जहाँ तक पहली का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि आलोचनात्मक लेख भी बराबर लिखे जाते हैं। इस तथ्य को मैं अस्वीकार नहीं करता। (और यदि सुविधा मिली तो पिछले 15 वर्षों के ऐसे निबन्धों के संकलन—सम्पादन की भी चेष्टा करूँगा।) परन्तु फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस प्रकार के लेखों का एक बड़ा अंश ऐसा होता है जिनमें कि घूम-फिरकर कुछेक कवियों के कुछेक संग्रहों की कुछेक कविताओं या वक्तव्यों की उद्धरणी की परम्परा चलती रहती है। उदाहरण के लिए 'नयी कविता' पर लिखे गये अधिकांश लेखों में 'सप्तकों' के ही कुछ कवियों और इन सप्तकों में संकलित कविताओं या वक्तव्यों पर ही फ़तवे दिये जाते रहे हैं। अधिकांश लोगों ने यह देखने का कष्ट नहीं उठाया कि सप्तकों के बाहर भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण रचनाशीलता के दर्शन होते हैं तथा 'सप्तकों' में आये कवियों की कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'सप्तकों' से अतिरिक्त भी संकलित हैं। इस कारण यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है कि समसामयिक लेखन-चर्चा और विमर्श का ज्यादा सही प्रतिनिधित्व पुस्तक-समीक्षाओं के संकलन में देखा जा सकता है। लेखन और समीक्षण दोनों का ही बहुरंगी-बहुवर्णी व्यक्तित्व इस संकलन में मिल सकता है। यहाँ तक कि तमाम विवादों-प्रवादों की अनुगूँज भी इनमें विद्यमान है।

जहाँ तक दूसरी बात, पुस्तक-समीक्षाओं की गणनीयता या महत्ता का सम्बन्ध है, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि पुस्तक-समीक्षाओं का स्तर हिन्दी में, सामान्य रूप से, अगम्भीर है और उसके प्रति असन्तोष का एक तीखा स्वर हमेशा सुनने को मिलता रहता है। पर यही बात कमोबेश क्या कविताओं, कहानियों, उपन्यासों या नाटकों के ऊपर नहीं लागू होती? कृति साहित्य के नाम पर पेश किया गया कितना साहित्य खाद बन जाता है, इसका अनुमान लगाना बहुत कठिन नहीं है। पर इस कूड़े के ढेर के बीच से ऐसी रचनाएँ ऊपर आ जाती हैं जो पूरे युग की रचनात्मक आकांक्षा को सार्थकता एवं सिद्धि दे देती हैं। इसी प्रकार समकालीनता-बोध और समसामयिक लेखन का जीवन्त सम्पर्क नयी आलोचनात्मक प्रज्ञा को जन्म देता है तथा अगम्भीर समीक्षाओं के बीच गम्भीर और गणनीय समीक्षा-क्रिया को सामने ले आता है। आलोचना की यह भयंकर खामी होगी कि वह तमाम समसामयिक लेखन से कटा रहे। यह बात मैं बराबर कहता रहा हूँ कि समकालीनता-बोध से रहित आलोचना को आलोचना नहीं कहा जा सकता—शोध, पाण्डित्य या कुछ और भला ही कह लिया जाये। आलोचना का पहला दायित्व नवलेखन के प्रति ही है। आलोचक-वर्ग का उदय जिस सांस्कृतिक प्रक्रिया का अंग है उसमें उसे समसामायिक

साहित्य की दुरूहता एवं मूल्य-चिन्ता दोनों ही से उलझना पड़ता है। इस बीच हिन्दी की एकेडेमिक आलोचना पर जो आक्षेप होते रहे हैं (और ऐसी आलोचनाएँ लिखने वाले केवल विश्वविद्यालयों में ही सीमित नहीं हैं—स्वतन्त्र लेखकों में भी इस कोटि की कमी नहीं है।) वे इसलिए नहीं हुए कि वे 'एकेडेमिक' हैं, बल्कि इसलिए कि वे समसामयिक जीवन और साहित्य दोनों के नजदीकी बोध से शून्य हैं। इस दुष्चक्र में पहली फाँक पुस्तक-समीक्षाओं के स्तम्भों में ही दिखाई पड़ी है। इस महत्त्वपूर्ण 'क्रिटिकल ऐक्टिविटी' को एक केन्द्र में लाने से इस दुष्चक्र को तोड़ने में सहायता मिल सकती है—यह आशा अनुचित न मानी जायेगी। रचनाशीलता के बदलाव के साथ ही आलोचना के मानदण्ड और पद्धतियों में भी परिवर्तन होता है—यह बार-बार दोहरायी और कही जाने वाली बात है। पर आश्चर्य होता है कि तमाम आचार्यगण इसी तथ्य को भुला देते हैं और परिणामस्वरूप उनका लेखन या तो पाण्डित्यधर्मी (पिडैण्टिक) बनकर रह जाता है या ठेठ जड़। बहरहाल, हर युग की आलोचनात्मक समझ अपने युग के साहित्य से अनुकूलित और अनुशासित होती है और उसे अनुकूलित करती भी है। एक ही पीढ़ी या समय की प्रमुख चेतना-संवेदना एक और अखण्डित होती है—व्यक्त चाहे वह कविता में हो, कहानी में हो या आलोचना में। इस अनुकूलन-अनुशासन की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही हर युग पुरानी कृतियों का नये सिरे से आकलन करने के लिए बाध्य होता है। इसे ही हम आलोचना का दूसरा मुख्य दायित्व—पुनर्मूल्यांकन—कह सकते हैं। वस्तुतः आलोचना—व्यावहारिक आलोचना—के साथ, इसी कारण 'शाश्वत' विशेषण का प्रयोग और भी अधिक कठिन है। जहाँ तक पुराने क्लैसिक मानदण्डों या साहित्य-सिद्धान्तों का प्रश्न है, उनकी भी स्थिति क्लैसिक कृतियों-जैसी ही होती है। जिन सिद्धान्तों में इतना लचीलापन होता है कि उनकी युगानुरूप पुनर्व्याख्या की जा सके, उनके स्वीकार कर लिए जाने की सम्भावना सबसे अधिक होती है। अंग्रेजी में 'न्यू क्रिटिक्स' ने लांगिनुस और कॉलरिज की नयी व्याख्याएँ कीं तथा शिकागो के 'नियो-एरिस्टोटेलियन्स' ने अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त को आधुनिक साहित्य के लिए प्रसंगानुकूल बनाने की चेष्टा की। स्वयं हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस-सिद्धान्त की जो पुनर्व्याख्या की थी उसके पीछे समसामयिक जीवन और साहित्य के गहरे आग्रह थे। भावयोग को ज्ञानयोग और कर्मयोग के समकक्ष मानना, प्रकृति-चित्रण का गहरा आग्रह, 'आदिम रूप-व्यापारों' के उद्घाटन पर जोर, कवि-कर्म का महत्त्व आदि उनके काव्य-सिद्धान्त सीधे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों से परिचालित थे। यह संयोग मात्र नहीं है कि भारतीय काव्य-चिन्तन-परम्परा के अन्तर्गत 'कल्पना' (जो कि स्वच्छन्दतावाद की प्रेरक शक्ति मानी जाती है) पर शुक्ल जी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने जमकर विचार किया है। रीतिकाल की तमाम रूढ़ियों के विरोध और अवमूल्यन में शुक्ल जी प्रसाद, पन्त और निराला के साथ थे। जिस 'भक्तिकाल' को शुक्ल जी इतना महत्त्व देते हैं उसी

से तमाम छायावादी कवि भी अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। यहाँ तक कि रीतिकाल के फुटकर खाते के भीतर रखे गये घनानन्द की जिन कारणों से वे अतिशय प्रशंसा करते हैं वे कारण छायावादी काव्य-शैली के हैं। डॉ. नामवर सिंह ने शुक्ल जी के साहित्य-सिद्धान्तों की रोमैण्टिक आधारभूमि को काफी स्पष्ट किया है। शुक्ल जी के बारे में एक भ्रम है कि वे छायावाद के निन्दक थे। वस्तुतः वे छायावाद की कृत्रिम रहस्यवादिता एवं कुण्ठाओं के निन्दक थे। कहना चाहूँगा कि छायावादी कवियों की जो आलोचना उन्होंने अपने इतिहास में की है वह आज भी अव्यर्थ है। यों किसी भी कवि या काव्यान्दोलन की समस्त क्षमताओं एवं अर्थस्तरों का उद्घाटन एक साथ और एक ही व्यक्ति कभी नहीं करता। उसका उद्घाटन हर युग अपने अनुकूल करता रहता है—जैसे कि मुक्तिबोध ने जब 'कामायनी' पर पुनर्विचार करते हुए उसका विश्लेषण फैण्टेसी मानकर किया तो वस्तुतः उन्होंने उस महनीय कृति को अपने सृजन के लिए प्रसंगानुकूल बनाया था। यों शुक्ल जी के जो तथाकथित नैतिक आग्रह थे वे भी स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गाँधी के मिले-जुले प्रभावों के अन्तर्गत अपने समकालीन जीवन से ही लिये गये थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति व्यक्त उनके विचारों में यह तथ्य भलीभाँति देखा जा सकता है। मुझे तो यह भी लगता है कि शब्दावली के भिन्न होने के बावजूद गाँधी जी और शुक्ल जी के विचार रवीन्द्र के प्रति (तथा पाश्चात्य प्रभावों के प्रति) बहुत-कुछ समानता रखते हैं।

पुराने सिद्धान्तों की युगानुकूल व्याख्या का एक अत्यन्त विशिष्ट उदाहरण साधारणीकरण की चर्चा है। संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण का विवाद ऐसा प्रमुख प्रश्न नहीं है कि तमाम रस-सिद्धान्त का प्रतीक बन जाये। संस्कृत-काव्य-परम्परा में (या प्राकृत-अपभ्रंश में भी) साधारणीकरण का प्रश्न मुख्य था भी नहीं। उस युग में कवि और रसिक की बौद्धिक भूमि लगभग समान थी अतः सम्प्रेषण की कठिनाइयाँ नहीं थीं। परन्तु धीरे-धीरे शिक्षा के प्रसार और ज्ञान-विज्ञानों की विशेषज्ञता के साथ-साथ यह भूमिका बदली है। साथ ही ब्रज से खड़ी बोली में माध्यम का जो बदलाव होता है, वह भी सम्प्रेषण के लिए समस्याएँ उत्पन्न करता है। पश्चिमी विचारधाराओं, पश्चिमी साहित्यों आदि के सम्पर्क से जो काव्य-दृष्टि का बदलाव हुआ, नये काव्यरूपों का आविर्भाव हुआ, काव्य-विषयों का फैलाव हुआ, उन सबने मिलकर सम्प्रेषण की समस्या को काफी जटिल बनाया। मुझे याद है कि छायावाद की एक परिभाषा, उसका मजाक उड़ाते हुए, यह भी रखी गयी थी कि जो समझ में न आवे वह ही छायावाद। पर यह केवल मजाक नहीं था—इसके साथ लगी सचाई थी कि छायावादी काव्य का एक बड़ा हिस्सा दुरूह और अस्पष्ट था तथा पाठकों तक उसके सम्प्रेषण में कठिनाई होती थी। ऐसी स्थिति से रस-सिद्धान्त की चर्चा करते हुए 'साधारणीकरण' की ओर अत्यधिक ध्यान देना वस्तुतः अपने समकालीन साहित्य पर ही ध्यान देना था या उस साहित्य के परिदृश्य में पुराने रस-सिद्धान्त को

रखने की चेष्टा थी। यह अवश्य है कि 'आलम्बनत्व धर्म' के जिस साधारणीकरण की बात शुक्ल जी ने कही, वह सीधे राष्ट्रीय संग्राम की सामाजिक प्रतिबद्धता से सम्भूत थी—यानी कि सृजनात्मक स्तर पर जो प्रतिबद्धता प्रेमचन्द के साहित्य को जन्म दे रही थी वही शुक्ल जी के साधारणीकरण को भी। पर इसे रोमैण्टिक काव्यशास्त्र की आत्मपरक निष्ठा के लिए, कवि-कर्म को महत्त्व देने के लिए कवि के निकट लाने की आवश्यकता थी, और इस कार्य को पूरा किया डॉ. नगेन्द्र ने यह कहकर कि "साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।" कहना न होगा कि यह व्याख्या सीधे रोमैण्टिक काव्यशास्त्र से उपजी है।

पर साधारणीकरण की समस्या छायावादी काव्य के साथ समाप्त नहीं हो गयी। ऊपर जिन आधुनिक समस्याओं का जिक्र हम कर चुके हैं वे और अधिक तीखी बनकर सामने आयीं। विशेषीकरण और बढ़ा, 'भाषा एक रहते हुए भी मुहावरे अनेक हो गये' और फिर इनके साथ ही विकृत समाजशास्त्र के आग्रहों के कारण यथार्थ के नाम पर साहित्य को जनता की 'पॉप्युलर' अभिरुचि के साथ एकतान करने की कोशिश की गयी। परिणामस्वरूप अज्ञेय ने शब्दार्थ की समस्या के साथ ही साधारणीकरण की समस्या को भी उठाया, "...जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नहीं सत्य : अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध है वह) उसी क्षेत्र में नहीं, उससे बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड़ दे, सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र संकुचित कर दे—अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले, या फिर बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रहकर उससे बाहर जाकर राह खोजने की जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने के लिए बाध्य होगा—अर्थात् एक दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा।" इस लम्बे उद्धरण को देने का तात्पर्य उस भूमिका से परिचित कराना है जो तमाम समसामयिक लेखन के साथ जुड़ी है। इस बार अज्ञेय ने साधारणीकरण को सीधे भाषा से—शब्दार्थ के सहितत्व से—ला जोड़ा। आश्रय, आलम्बन, कवि की अनुभूति या पाठक के आस्वादन आदि के स्थान पर सीधे माध्यम की क्षमताओं की खोज के साथ इस समस्या को ला जोड़ना साधारणीकरण के लिए ही एक नया योगदान नहीं है—नयी कविता के काव्य-सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयास भी है। इसी प्रकार मुक्तिबोध भी रचना-प्रक्रिया के तीन क्षणों की चर्चा करते हुए भाषा और भाव के बीच के द्वन्द्व की समस्या को उठाते हैं।

साहित्यिक सिद्धान्तों की अगर पुनर्व्याख्या के समान ही ऐतिहासिक सन्दर्भों की जाँच करके लेखकों का जो पुनर्मूल्यांकन होता है उसके पीछे भी समकालीन दृष्टि का गहरा एहसास विद्यमान रहता है। रीतिकाल के सम्बन्ध में शुक्ल जी और छायावादी

कवियों की विचारगत समानता का उल्लेख किया जा चुका है। स्वयं रीतिकाल के केशव को शुक्ल जी ने जिस गढ़े में धकेला—वहाँ से बहुत-से शोधकर्ता अब तक बाँस लगाकर उन्हें ऊपर नहीं चढ़ा पाये हैं। यह इसीलिए नहीं हो सका कि केशव को अपने युग के लिए प्रसंगानुकूल नहीं बनाया जा सका। केशव के विविध छन्द-प्रयोगों, व्यंग्यक्षमता को देखकर अज्ञेय जी एक बार उनकी ओर उन्मुख हुए थे पर शायद केशव की अनुभूति-क्षमता का अनुमान कर वे उपराम हो गये। रीतिकाल को यदि कुछ मान्यता इस बीच में मिली भी है तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रभाव के तले ही उसे प्रतिष्ठित किया जा सका है और कहना न होगा कि सन् '40 के आस-पास मनोवैज्ञानिकता का जो दौर-दौरा हुआ था, यह उसी का प्रभाव था। बिम्ब सिद्धान्त की अत्यधिक चर्चा ने भी कुछ नये कवियों को रीतिकाल की ओर उन्मुख किया। स्वयं डॉ. नगेन्द्र ने देव में जिन गुणों की महिमा देखनी चाही है वे रोमैण्टिक चेतना से उद्भूत गुण हैं। शुक्ल जी के बाद प्रगतिवाद के साथ-साथ जो अधिक वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि प्राप्त हुई थी तथा विजयदेवनारायण साही के शब्दों में 'जवानी का काव्य' (जिसमें मस्ती, फक्कड़पन, अनमनापन आदि मिले-जुले थे) आया था उसने तमाम सांस्कृतिक सन्दर्भों का पुनर्मूल्यांकन किया और उस प्रक्रिया में लेखकों या प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक प्रतिष्ठापन (हिस्टॉरिकल-प्लेसिंग्ज) बदल गये। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा निर्गुण सम्प्रदाय ही प्रतिष्ठित नहीं हुआ, मस्ती और फक्कड़पन के कवि कबीर श्रेष्ठतम कवियों में परिगणित किये जाने लगे। आदिकाल के प्रति दृष्टिकोण बदल गया। तुलसीदास की महिमा लोकमंगल के लिए ही नहीं 'समन्वय' के सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में भी बढ़ी। मतिराम-जैसे कवियों की पुनःप्रतिष्ठा हुई—इसलिए कि उनमें पारिवारिक स्वर है तथा रीतिकाल को आमुष्मिक काव्य की एक पुरानी परम्परा का बल भी मिला। ऐतिहासिक पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया सबसे अधिक हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सामने लायी गयी। यों पं. नन्ददुलारे वाजपेयी ने द्विवेदीयुगीन कवियों की नयी व्याख्याएँ कीं और भारतेन्दु-युग को पुनःप्रतिष्ठित करने का श्रेय डॉ. रामविलाम शर्मा को है। छायावाद और छायावादोत्तर गीतिकाव्य के पुनर्मूल्यांकन के प्रयास 'नवलेखन' के युग में भी हुए हैं पर सब मिलाकर नयी आलोचना का यह पक्ष काफी दुर्बल ही कहा जायेगा।

पर यह चर्चा तो प्राचीन साहित्य या प्राचीन काव्यशास्त्र की हुई। आलोचना का प्रमुख दायित्व समसामयिक साहित्य के प्रति है—यह पीछे कहा जा चुका है और इस दायित्व का निर्वाह सबसे पहले पुस्तक-समीक्षाओं के रूप में दिखता है। लाला श्रीनिवासदास 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' लिखित समीक्षाओं से ही हिन्दी की व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात माना गया है। यह तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे सूचित होता है कि इस युग के साहित्य की प्रकृति बदल गयी थी और उसके लिए यह नया साहित्य रूप

'पुस्तक-समीक्षा' सामने आया था। भट्ट या प्रेमघन की इन समीक्षाओं से लेकर आजतक, इनकी स्तर-सम्बन्धी घनघोर शिकायतों के बावजूद, नये साहित्य की चर्चा के माध्यम के रूप में पुस्तक समीक्षा की एक पुष्ट परम्परा चली आयी है। मेरा विश्वास है कि भारतेन्दु युग से लेकर अबतक की पुस्तक-समीक्षाओं का संकलन यदि कोई तैयार कर सके तो हिन्दी आलोचना के विकास की एक व्यवस्थित झाँकी देखी जा सकती है।

भारतेन्दु युग आलोचना के नाम पर लगभग पुस्तक-समीक्षाओं तक ही सीमित था, द्विवेदी युग में भी यह माध्यम मुख्य बना रहा। स्वयं पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी बड़े तीखे 'रिव्यूअर' थे। छायावादी कवियों में 'निराला' ने तमाम पुस्तकों की 'रिव्यू' की थी; तथा प्रेमचन्द, जैनेन्द्र एवं अज्ञेय लिखित पुस्तक-समीक्षाओं का परिमाण भी कम नहीं है। 'गोदान' के शहर और ग्राम-कथा के विन्यास को लेकर प्रेमचन्द पर बहुत-से आक्षेप किये गये हैं, पर अगस्त, 1936 के 'विशाल भारत' में 'गोदान' की समीक्षा करते हुए जैनेन्द्र ने इसे 'वस्तुस्थिति की अधिक निकटता' माना था। इसी प्रकार जैनेन्द्र के कहानी-संग्रह 'दो चिड़िया' की जनवरी, 1935 के 'विशाल भारत' में रिव्यू करते हुए अज्ञेय ने जो बातें कही थीं वे कहानी-समीक्षा की दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण हैं : "वे शब्दों की गरिमा में अपना भाव नहीं बाँध देते, वे एक वातावरण उत्पन्न कर देते हैं, एक संकेत कर देते हैं और बाकी पाठक स्वयं खोलता है और पाता है।" 'तथा' "जो लोग कहानी सिर्फ वक्त बिताने के लिए नहीं पढ़ते, उन्हें यह संग्रह अवश्य पढ़ना चाहिए।" कहानी को एक गम्भीर दायित्व सौंपने का प्रयास 'नयी कहानी' को परम्परा से प्राप्त दाय है। इसी प्रकार 'रूपाभ' में डॉ. रामविलास शर्मा ने कुछ बहुत अच्छी समीक्षाएँ लिखी थीं—इनमें 'अनामिका' की समीक्षा में निराला की दुरूहता की चर्चा अत्यन्त आधुनिक लगती है। (हमें खेद है कि रामविलास जी के प्रकाशक 'किताब महल' इलाहाबाद की दुराग्रही शर्तों के कारण 'बूँद और समुद्र' पर लिखी उनकी बहुत अच्छी समीक्षा इस संकलन में शामिल नहीं की जा सकी।) 'प्रतीक' द्वैमासिक के प्रकाशन के साथ ही पुस्तक-समीक्षा को गम्भीरतापूर्वक और नियमित रूप से लेने की घोषणा की गयी थी—जो हालाँकि घोषणा का नियमित रूप से निर्वाह नहीं किया जा सका। सन् 1950 के आस-पास जब साहित्यिक रचनाशीलता का नया उन्मेष हुआ तो पुस्तक-समीक्षाओं का रूप भी बदला और उन्हें महत्त्व भी मिला। यह आकस्मिक संयोग नहीं है कि सन् '50-51 के आस-पास अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य घटित होते दिखते हैं। सन् '49 ई. में 'हरी घास पर क्षण भर' प्रकाशित हुआ, सन् '51 में 'दूसरा सप्तक' का प्रकाशन हुआ। 1952 में 'नदी के द्वीप'-जैसा उपन्यास तथा 'कोणार्क'-जैसा काव्यात्मक नाटक प्रकाशित हुआ तथा मार्कण्डेय का कहानी-संग्रह

1954 में आया। 'प्रतीक' मासिक इसी दौरान नयी सृजनात्मकता का वाहक और मंच बनता है और 1951 में ही 'आलोचना'-जैसी पत्रिका प्रकाशित होती है जिसके प्रत्येक अंक का लगभग आधा भाग केवल पुस्तक-समीक्षाओं के लिए रहता था। 'प्रतीक' द्वैमासिक ने जिन लम्बे पुस्तक-समीक्षा-लेखकों को प्रारम्भ किया था, उन्हें और अधिक महत्त्व के साथ 'आलोचना' ने आगे बढ़ाया। 'कल्पना' का प्रारम्भ भी इसी समय के आस-पास हुआ था और उसमें भी पुस्तक-समीक्षा का स्तम्भ उल्लेखनीय स्तम्भों में रहा है। 'कल्पना' के लगभग प्रत्येक अंक में एक लम्बा पुस्तक-समीक्षा-लेख तथा कुछ अपेक्षाकृत छोटी पर गम्भीर स्तरीय समीक्षाएँ प्रकाशित होती थीं। किसी एक महत्त्वपूर्ण रचना पर एक साथ कई समीक्षाएँ 'प्रतीक', 'आलोचना', 'कल्पना' और 'कृति' में छपती रहीं। पुस्तक-समीक्षाओं के स्तर और महत्त्व की दृष्टि से 'कृति' का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'कृति' में यह स्तम्भ महत्त्वपूर्ण गद्यकृतियों के साथ प्रकाशित होता था—पत्रिका के अन्त में केवल कर्तव्य-पालनवश नहीं; तथा चुनी हुई पुस्तकों की समीक्षाएँ ही इसमें दी जाती थीं। कहना न होगा कि इन समीक्षाओं के आधार पर समसामयिक लेखन के साहित्यशास्त्र की रूपरेखा बनायी जा सकती है तथा हिन्दी-प्रदेश की सृजनात्मकता और कलाभिरुचि के विकास को भी परिलक्षित किया जा सकता है। पुस्तक-समीक्षाओं के इस महत्त्व को देखते हुए ही यह संकलन निकालने की आयोजना की गयी।

काल-सीमा की दृष्टि से यह संकलन स्वाधीनता के बाद से 1963 तक की रचनाओं की समीक्षा को समेटता है। जिस अन्तिम समीक्षा को इस संकलन में लिया गया है वह 1963 ई. में प्रकाशित कहानी संग्रह 'खोयी हुई दिशाएँ' की सितम्बर, 1964 में 'कल्पना' में प्रकाशित समीक्षा है। जहाँ तक अन्तिम सीमा (रचना की दृष्टि से 1963 और समीक्षा की दृष्टि से सितम्बर, 1964) का प्रश्न है उनका इसके अतिरिक्त कोई औचित्य नहीं है कि सम्पादक के लिए यह सीमा सुविधाजनक थी। उसे कहीं-न-कहीं एक रेखा खींचनी थी—प्रारम्भ में जब संकलन की योजना (सितम्बर, 1960 में) बनायी थी तब इसे 1960 तक ही सीमित रखने का विचार था, पर धीरे-धीरे विलम्ब होता गया और कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण कृतियाँ भी इधर प्रकाशित हुईं, तथा 1960 तक की कृतियों की समीक्षाएँ भी, अतः यही उचित समझा गया कि इसे अधिक से अधिक अद्यावधिक बनाने की चेष्टा की जाये। इस चेष्टा में ऊपर कही गयी तिथियाँ सम्पादक को सुविधाजनक प्रतीत हुईं, परन्तु जहाँ तक प्रारम्भिक सीमारेखा—स्वाधीनता के बाद—का प्रश्न है उसके बारे में कुछ कहने की आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के तत्काल बाद डॉ. रामविलास शर्मा ने आजादी के झूठेपन की घोषणा की थी और यथार्थ में बदलाव को अस्वीकार किया था, पर शीघ्र ही उन्हें अपने मत में ईमानदारी से परिवर्तन करना पड़ा। पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि तनिक आग्रह बदलकर यही मत अभी हाल में ही बड़े-बड़े लेखकों-अध्यापकों

ने उपस्थित किया है। दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में 'स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य' पर आयोजित एक परिसंवाद की रिपोर्ट 27 जनवरी, 1964 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुई है। चूँकि रिपोर्ट का कोई प्रतिवाद प्रकाशित नहीं हुआ, अतः उसे सही मानना उचित ही होगा। इस रिपोर्ट के अनुसार सर्वश्री बच्चन, जैनेन्द्रकुमार, भारतभूषण अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा और विजयेन्द्र स्नातक ने स्वाधीनता को किसी प्रकार की विभाजक रेखा या प्रभाव डालने वाले तथ्य के रूप में अस्वीकार किया है। (डॉ. नगेन्द्र ने अपने को किसी मत से प्रतिबद्ध ही नहीं किया,—अध्यक्ष के रूप में उनकी सहमति क्या इसी विचार से मानी जाये!) इन सारे लेखकों को स्वाधीनता से जो भौतिक उपलब्धि हुई है, उसे अगर दरकिनार भी कर दिया जाये तब भी शिक्षा, उद्योग, सांस्कृतिक आदान-प्रदान (अन्तर्प्रदेशीय और अन्तर्देशीय दोनों ही), प्रकाशन, राज्याश्रय, समाचार-पत्र आदि ऐसे अनेक ज्वलन्त तथ्य हैं—क्या वे स्वतन्त्रता के बिना भी सम्भव होते? समस्त भारतीय भाषाओं में 'नवलेखन' का जो शक्तिशाली आन्दोलन हुआ है—वह क्या स्वतन्त्रता के बिना सम्भव था? और जहाँ तक इस तर्क का सम्बन्ध है कि स्वतन्त्रता मिलते ही तत्काल 1947 में 'कोई महत्त्वपूर्ण रचना हमें क्यों नहीं मिलती?' हम केवल यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ऐसा करने वाले रचनाकार की रचना-प्रक्रिया को एकदम छिछला करार देना चाहते हैं और कहीं-न-कहीं तात्कालिकता के उस सिद्धान्त से प्रभावित हैं जिसे प्रगतिवाद की हीनतर रचनाओं ने उत्पन्न किया था। (एक दूसरी दलील यह भी दी जा सकती है कि जिन बड़े लेखकों की संवेदना-क्षमता पथराने लगी थी उन्हें अगर स्वाधीनता से उत्पन्न चेतना महत्त्वपूर्ण न लगे तो आश्चर्य न होना चाहिए।) 15 अगस्त, 1947 को स्वाधीनता की प्राप्ति एक तथ्य है पर उस तथ्य के विविध आयामों का उद्घाटन और उसका रागात्मक सत्य में परिवर्तन कुछ समय की माँग करता है। थोड़ा-सा बल देकर कहना चाहूँगा कि हिन्दी के लेखकों ने इसके लिए अधिक समय नहीं लिया। 'हरी घास पर क्षण भर', 'दूसरा सप्तक', 'नदी के द्वीप', 'कोणार्क', 'प्रतीक' (मासिक), 'कल्पना', 'आलोचना', 'जनपद' आदि के प्रकाशन 1950 के इधर-उधर हुए हैं। यही नहीं जैनेन्द्र-जैसे लेखकों ने इसी समय के आस-पास 'विवर्त', 'व्यतीत', 'सुखदा'-जैसे उपन्यास ताबड़तोड़ लिखे और छपाये। आलोच्य काल के सर्वाधिक प्रमुख रचनाकार अज्ञेय को यदि लिया जाये तो बात बहुत साफ हो जाती है : 1946 ई. में प्रकाशित उनके काव्य-संग्रह का नाम था 'इत्यलम्' जो कि अपने आपमें एक प्रकार की 'इति' को सूचित करता है पर 1949 में प्रकाशित 'हरी घास पर क्षण भर' जिस उन्मुक्त सहजता और खुलेपन को सूचित करता है, वह 'इत्यलम्' की अपेक्षाकृत कुण्ठित रचनाओं से अलग है। कहना न होगा कि 'हरी घास पर क्षण भर' नयी कविता का प्रथम संग्रह है। (ध्यान रहे बात केवल संगृहीत रूप की कही जा रही है।) और यह आकस्मिक संयोग नहीं है कि इसी संग्रह की समीक्षा में डॉ. प्रभाकर

माचवे ने इसे 'प्रामाणिक अनुभूति' का काव्य बताते हुए कहा है कि कवि 'भावुकता का प्रदर्शन नहीं करता।' मैं कहना चाहूँगा कि आलोचना के क्षेत्र में यह नयी माँग थी और सीधे उस काव्य के सन्दर्भ से उपजी थी जो एक ओर छायावाद की भावुक प्रतिक्रियाओं का प्रत्याख्यान करता है और दूसरी ओर प्रगतिवाद की नारा-कविताओं का विरोध करके कवि के अपने आन्तरिक अनुभव की माँग करता है। कवि की ओर से 'आत्मान्वेषण' की घोषणा और आलोचक की ओर से 'प्रामाणिक अनुभूति' की माँग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह माँग उस खरेपन की माँग है जो कवि के ईमानदार व्यक्तित्व (ऐसा व्यक्तित्व जो न छायावादी की तरह स्फीत किया गया हो और न प्रगतिवादी की तरह अनुकूलित) के जटिलतम स्तरों का अनुभव होता है। 'दूसरा सप्तक' की समीक्षा करते हुए डॉ. प्रभाकर माचवे ने ही रघुवीर सहाय की कविताओं की चर्चा करते हुए 'कवि-कर्म की ईमानदारी' की बात उठायी थी। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि 'ईमानदारी' शब्द इस लेखन में आलोचना का मूल्यसत्तात्मक शब्द बन गया। इसी प्रसंग में एक अन्य पुस्तक का उल्लेख महत्त्वपूर्ण होगा, गोकि इधर उस पुस्तक को उपेक्षित-सा कर दिया गया है—शायद वह प्राप्य भी नहीं है। डॉ. देवराज ने 'छायावाद का पतन' नामक एक पुस्तक 1947 ई. में प्रकाशित करायी थी जो 'नये राष्ट्र के प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और कवियों को' समर्पित है। इस पुस्तक में छायावाद की जिन तमाम कमजोरियों का जिक्र हुआ था उनमें 'वास्तविकता पर बलात्कार' और 'लोक-संवेदना का तिरस्कार' भी शामिल थे। वस्तुतः काव्य के क्षेत्र में जो विद्रोह सप्तकों के कवियों ने किया था, वही आलोचना के क्षेत्र में डॉ. देवराज की इस पुस्तक ने करना चाहा था : उन्हें "राजनीतिक आतंक की भाँति आलोचनात्मक आतंक और त्रास का वातावरण साहित्य-सृष्टि के लिए उपयुक्त नहीं" लगा था और इसका विरोध इस छोटी-सी पुस्तक में किया गया है। यहाँ पर विस्तार से विचार करने का स्थान नहीं है, पर ये कतिपय तथ्य इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं कि 1947 ई. हमारे साहित्य की विभाजक रेखा मानी जानी चाहिए। इस संकलन के सम्पादन में यही दृष्टिकोण रहा है।

साहित्य की प्रकृति के बदलाव के साथ-साथ आलोचना की प्रकृति का बदलाव भाषा के स्तर पर तत्काल देखा जा सकता है। भाषा में भी (चाहे वह कविता हो या आलोचना) कुछ शब्द ऐसे कुंजी शब्द (की-वर्ड्स) होते हैं जो लेखक के झुकाव, दृष्टिकोण, अवधारणाओं और संकल्पनाओं को सूचित करते हैं। अभी-अभी 'प्रामाणिक अनुभूति' और 'ईमानदारी'-जैसे शब्दों की चर्चा हो चुकी है। इस संकलन में इकट्ठी की गयी समीक्षा को देखने से अनायास ही तमाम ऐसे शब्द या पद-पदांश मिल जाते हैं जो महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं या गुणों-अवगुणों के लिए लगभग नये रूप में प्रयुक्त हुए हैं। प्रामाणिकता, अनुभव-बोध, सजग चेतना, घटित होते हुए का सक्रिय बोध, जटिल मनःस्थितियाँ, अमूर्तन, अरूपीकरण, बौद्धिक सामान्यीकरण, शिल्पबोध, आधुनिकता,

समकालीनता, संवेदनात्मक ज्ञान, ज्ञानात्मक संवेदना, कृत्रिम मनोविज्ञान, मूल्य-सत्ता, प्रतीक-सत्ता, रहेटरिक (वाग्स्फीति), भावकोण, विरल और गझिन माध्यम, नाटकीय प्रतीक व्यवस्था, महत्त्वबोध, रचनात्मक आकांक्षा, आधुनिकता-बोध, प्रतिबद्धता, जीने के कर्म की परिभाषा, ईमानदारी, आधार-शब्द, आयाम आदि ऐसे ही उदाहरण हैं जो इन समीक्षाओं के भीतर अत्यधिक अर्थवान् होकर आये हैं। इनमें महत्त्वबोध जैसे वे शब्द भी हैं जो शुक्ल जी की याद दिलाते हैं, पर बीच में जिनका प्रयोग छोड़ दिया गया था। इसी प्रकार ऊब, अजनबीपन, घुटन, अकेलापन, क्षोभ, निराशा, आस्था, अनास्था, संशय, दुश्चिन्ता, शिक्षित जिज्ञासा, यातना, क्षण की पहचान आदि ऐसे शब्द हैं जो बार-बार इन समीक्षाओं में आते हैं और नयी मनःस्थितियों और नये यथार्थ की ओर अनायास ही संकेत कर जाते हैं।

फिर केवल शब्द या पद ही नहीं, इन समीक्षाओं में तमाम परिचित और प्रचलित शब्दावली नये अनुषंगों और अवधारणाओं को सूचित करती है। निर्मल वर्मा 'परती : परिकथा' की समीक्षा करते हुए कहते हैं : "परिकथा का बिखराव रेणु के कथाशिल्प का एक विशिष्ट प्रयोग है।" क्या इस बात की व्याख्या की आवश्यकता है कि निर्मल ने कथा-समीक्षा के क्षेत्र में एक नयी तरह का विचार रखा है—गोकि शब्द पुराने ही हैं। निर्मल के इस कथन की पृष्ठभूमि में यह भी याद रखने की जरूरत है कि 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' पर कथा के बिखराव का आरोप तमाम पुराने किस्म के आलोचक लगा रहे थे और उनमें से कुछ तो इन्हें उपन्यास तक मानने को तैयार न थे। ये आलोचक उपन्यास को बँधे-बँधाये सुगठित कथानकों के शिल्प में ही देखते थे। इस प्रकार के विचार जहाँ उपन्यास को सीमित करते हैं वहीं निर्मल ने अपनी समीक्षा में इस विधा की सीमाओं को तोड़ने की चेष्टा की है।

इसी प्रकार 'परिन्दे' कहानी-संग्रह की समीक्षा में कहानी की प्रभावान्विति के पुराने सिद्धान्त, जिसे बीच में चरित्र की महत्ता के आगे भुला दिया गया था, को पुनरुज्जीवित करते हुए डॉ. नामवर सिंह कहते हैं, "निर्मल के यहाँ प्रभाव की गहराई इसलिए है कि उनके यहाँ चरित्र, वातावरण, कथानक आदि का कलात्मक रचाव है, कलात्मक रचाव स्वयं रूप के विविध तत्त्वों के अन्तर्गत, फिर वस्तु और रूप के बीच तथा स्वयं वस्तु के अन्तर्गत।" प्रभावान्विति के साथ कलात्मक रचाव की इस तिहरी अन्विति (इसमें भी विशेषकर वस्तु के अन्तर्गत कलात्मक रचाव की धारणा) की बात क्या सचमुच ही हिन्दी आलोचना में एक नया स्वर नहीं है—गोकि 'प्रभावान्विति', चरित्र-वातावरण आदि शब्द पुराने ही हैं। कहानी-संग्रहों या उपन्यासों में भावभूमि, प्रतीक, बिम्ब आदि की चर्चा भी इस बदलाव के सूचक शब्द हैं और यह भी बताते हैं कि कथा-शिल्प में काव्य-प्रणाली इस दौरान में स्वीकार की गयी थी। 'मैला आँचल' की समीक्षा में नेमिचन्द्र जैन इस 'कविता-विधि' की मीमांसा करते हैं। इन तथ्यों द्वारा जिस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की जा रही है वह तथ्य है

कि रचनाशीलता के समानान्तर ही आलोचना की भाषा भी बदलती जा रही थी। भाषा के इस बदलाव के प्रमाण प्रस्तुत संकलन में तो मिल ही जायेंगे पर यदि कोई इसका अधिक अध्ययन करना चाहे तो अलग से अन्य तथ्यों को जुटा सकता है। ऐसे तथ्यों में से एक यह भी है कि कुछ नयी किताबों पर पुराने लेखकों-आलोचकों ने और कुछ पुरानी किताबों (प्रकाशन-तिथि नहीं संवेदना की दृष्टि से पुरानी) पर नये लेखकों-आलोचकों ने समीक्षाएँ या टिप्पणियाँ लिखी हैं। अगर इन नये और पुराने आलोचकों की भाषा की परस्पर तुलना की जाये तो बात साफ हो जायेगी। 'तीसरा सप्तक' या 'उर्वशी' की समीक्षाओं का इस दृष्टि से अध्ययन बड़ा ही रोचक होगा।

इन समीक्षाओं में वे तमाम विचार-सूत्र, आलोचना-पद्धतियाँ एवं प्रविधियाँ निहित हैं जो नये काव्यशास्त्र का निर्माण ही नहीं करतीं, समीक्षा के लिए नये औजार भी देती हैं। एक ओर अगर काव्य-संग्रह की समीक्षा करते हुए 'आधारभूत' शब्दों की खोज द्वारा काव्य-प्रकृति एवं कवि के विकास को समझने की चेष्टा मिलती है (कुँवर नारायण : आँगन के पार द्वार) तो दूसरी ओर फुटकर कविता के बीच छिपी किसी एक थीम को आलोकित करने की पद्धति भी इनमें है (अजित कुमार : ओ अप्रस्तुत मन)। पौराणिक प्रसंगों पर आधारित कथा की प्रसंगानुकूलता के सन्दर्भ में 'इतिहास के प्रति दृष्टिबोध' का प्रश्न उठाया गया है (अज्ञेय : कनुप्रिया) और कविता या कहानी में आधुनिक संवेदना किसे कहेंगे, इसके विमर्श की चेष्टा भी मिलती है (रघुवंश : काठ की घण्टियाँ; तथा कुँवर नारायण : जिन्दगी और गुलाब के फूल)। कविता जीने के कर्म की परिभाषा भी हो सकती है। आस्था का यह सवाल अशोक वाजपेयी (सीढ़ियों पर धूप) में उठाते हैं तो दर्शन और काव्य के पारस्परिक सम्बन्धों एवं वैयक्तिक समाधानों के आगे औचित्य का प्रश्नचिह्न गजानन माधव मुक्तिबोध (उर्वशी) लगाते हैं। अपनी पीढ़ी को दिये जाने वाले शब्दों की चर्चा के माध्यम से कवि के महत्त्व को आँकने की चेष्टा यदि डॉ. नामवर सिंह (अभी बिल्कुल अभी) करते हैं तो हरि व्यास 'दिगन्त' की समीक्षा में परम्परा और उसकी उपयोगिता का प्रश्न उठाते हैं। भाषा के स्तर पर उपन्यास की जाँच ही नहीं, कवि-दृष्टि की माँग उपन्यासकार से माँग कुँवर नारायण (झूठा सच) करते हैं। और मामूली चीजों पर गैरमामूली कविता की पहचान शमशेर की होती है (तीसरा सप्तक)। पुराना कवि जब नया संस्कार प्राप्त करने की चेष्टा करता है तो सन्तुलन की जो समस्या उठती है वह सुमित्रानन्दन पन्त के सामने भी है और बालकृष्ण राव के भी, पर 'अमिता' की समीक्षा में बालकृष्ण राव इस समस्या को रूपायित करने से नहीं चूकते। जगदीश गुप्त 'क्षणवाद' की ही व्याख्या नहीं करते, शब्द-प्रयोगों का आन्तरिक अध्ययन करने की पद्धति भी (चक्रव्यूह) स्पष्ट करते हैं। नयी कविता के लोक-संवेगों की शक्ति की मीमांसा 'वंशी और मादल' के गीतों की चर्चा में सुरेन्द्र कुमार दीक्षित ने की है और कवि की काव्यानुभूति की बुनावट, उसके अन्तर्विरोध तथा इस सृजन-प्रक्रिया

से उद्भूत शिल्प-मर्यादा का विश्लेषण विजयदेवनारायण साही ने किया है। कविता हो या काव्य-नाटक, छन्द उसके रूपबन्ध का अनिवार्य हिस्सा होता है और उसकी उपयुक्तता पर विचार कुँवर नारायण भी करते हैं और सुरेश अवस्थी भी (आँगन के पार द्वार तथा अन्धा युग)।

नाटकों की समीक्षाएँ बहुत नहीं हुई हैं पर 'अन्धा युग' और 'लहरों के राजहंस' की वस्तु-योजना और रंग-विधान की चर्चा सूचित करती है कि नवलेखन के आन्दोलन की ऊष्मा इस क्षेत्र में भी है।[1] फिर जब नाटक ही नहीं हैं तो नाट्य-समीक्षाएँ कहाँ से आयें? यों अप्रासंगिक न समझा जाये तो पिछले 10 वर्षों में नाट्य-प्रदर्शनों की समीक्षाएँ एवं टिप्पणियाँ नाट्यालोचना के क्षेत्र में एक नये उन्मेष को सूचित करती हैं।

आलोच्य काल को समीक्षा में सबसे बड़ा योगदान कथा-समीक्षा के क्षेत्र में दिखाई देता है। तत्त्वों के आधार पर खानेदार समीक्षा के बजाय रचना की समग्र कलात्मक सत्ता पर विचार किया जाने लगता है। स्वयं इस संकलन में इस विकास की रेखा तत्काल पहचानी जा सकती है। '52 में प्रकाशित 'नदी के द्वीप' की डॉ. भगवत शरण उपाध्याय कृत समीक्षा में इन तत्त्वों की चर्चा नहीं है तथा भाव-पक्ष और कला-पक्ष के द्वैत की जगह एक नया द्वैत उनमें दिखाई देता है—कला-पक्ष और सिद्धान्त-पक्ष। कला-पक्ष के अन्तर्गत पुराने भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों आ गये हैं पर उनके प्रगतिवादी आग्रह विचार या सिद्धान्त-पक्ष का द्वैत बनाये रखते हैं। फलस्वरूप इस कसौटी पर कसते हुए उनका दोहरा निर्णय है कि "'नदी के द्वीप' कला की दृष्टि से श्रेष्ठ है पर सिद्धान्त की दृष्टि से निकृष्ट—वह सुन्दर पके फल में कीड़े के समान है।" अपने इस निर्णय के आन्तरिक अन्तर्विरोध से वे स्वयं परिचित नहीं हैं, परन्तु 1964 तक पहुँचते-पहुँचते इस द्वन्द्व को मिटा दिया जाता है। 'चारुचन्द्रलेख' की समीक्षा में कहा गया है : "ऐतिहासिक दृष्टि की कमजोरी पूरे कलानुभव की कमजोरी है और कलानुभव की कमजोरी पूरे शिल्प की कमजोरी है।" रचना की कलात्मक समग्रता में भाव, कला या विचार अलग-अलग इकाइयाँ नहीं रह जाते, यह सिद्धान्त कविता, कथा, नाटक सभी क्षेत्रों में पूरे जोर-शोर से स्थापित अभी हाल में ही हुआ है।

इसी सिद्धान्त की छाया तले नेमिचन्द्र जैन कर्तव्य-बोध वाले उपन्यासों की सौन्दर्यहीनता ही नहीं स्पष्ट करते, कविता-विधि के प्रयोग की मीमांसा भी करते हैं—गोकि चरित्र कल्पना में अब भी उनपर पुराने विचारों की छाया बनी रहती है ('मैला आँचल' और 'यह पथ बन्धु था')। यशपाल अगर यथार्थ के आधारों की मीमांसा और उनके मूल में स्थित कमजोरी को पकड़ते हैं ('जयवर्द्धन') तो निर्मल वर्मा

---

1. श्री ई. अल्काजी के निर्देशन में होने वाले 'अन्धा युग' के प्रदर्शन ने सुरेश अवस्थी की मान्यताओं को सिद्ध किया है।

उपन्यासकार की समाजशास्त्रीय नहीं, कला-दृष्टि पर बल देते हैं। 'उखड़े हुए लोग' की समीक्षा में सिद्धान्त को अलग से न लादकर वैचारिक स्तर पर उपन्यासकार के नतीजों और कथाक्रम तथा पात्रों की गहराई की संगति या विसंगति ओमप्रकाश 'दीपक' विश्लेषित करते हैं। यद्यपि (सम्भवतः) प्रगतिवादी और एकेडेमिक 'हैंग ओवर' के कारण वे 'तथ्यों' की कतिपय गलतियों के लिए अत्यधिक कटु हो जाते हैं या जाति-व्यवस्था आदि की साहित्येतर चर्चाओं में उलझते हैं। यथार्थ का फैलाव उपन्यास की शक्ति ही नहीं, गले पड़ा ढोल भी बन जाता है और नैरेटर का व्यक्तित्व कथा की नियति को सीमित करता है या कि एक ही व्यक्ति पर नायक और नैरेटर का आरोपण कथा के रूपबन्ध को चरमरा देता है, इस प्रकार की हेनरी जेम्सियन प्रणाली से उपन्यास-चर्चा के प्रयत्न भी इन समीक्षाओं में मिलते हैं ('अँधेरे बन्द कमरे' तथा 'चारुचन्द्रलेख')। अनुभव के अपनेपन की माँग कविता ही नहीं कहानी से भी की जा सकती है। (दूधनाथ सिंह : एक और जिन्दगी) तथा कहानी अब मनोरंजन नहीं करती, जीवन के सार्थक सवालों की तलाश करती है—इस दायित्व की पहचान ओमप्रकाश 'दीपक' ने 'खोयी हुई दिशाएँ' की समीक्षा में प्रकट की है। यही नहीं, भावुकता का विरोध भी कविता ही नहीं कहानियों में भी हो सकता है और तात्कालिक आवेग को भावुकता को बचाने के लिए स्मृति द्वारा लायी गयी समय के अन्तराल की कहानी-विधि की पहचान आलोचक की सूक्ष्म पकड़ का लक्षण ही कहा जायेगा (डॉ. नामवर सिंह : परिन्दे)। कविता में ही नहीं, उपन्यास और कहानी में भी 'प्रामाणिक अनुभव', 'संवेदना', 'भावभूमि', 'संकेतों' आदि की माँग इस नये उन्मेष में ही हुई है।

वस्तुतः प्रस्तुत संकलन में आलोचना के नये स्वरों का बदलाव, भटकाव, विकास, अन्तर्विरोध, द्वन्द्व, मूल्यों की खोज और मूल्यों के उलझाव, उपयुक्त भाषा की खोज, नयी पद्धतियों या मानदण्डों की आकुलता आदि सभी कुछ मिल सकते हैं। अधिक विस्तार से प्रत्येक समीक्षा-लेख की मीमांसा भूमिका में सम्भव नहीं है। यहाँ पर केवल कतिपय समीक्षाओं को लेकर कुछ संकेत-भर देने की चेष्टा की गयी है। यों प्रत्येक समीक्षा-लेख किसी-न-किसी नुक्ते पर गणनीय है तथा ये सभी लेख उसी अन्वेषण या तलाश की प्रक्रिया में हैं जिसकी चर्चा लगातार नवलेखन के सन्दर्भ में होती आयी है। उनकी उपलब्धि क्या है—इसकी मीमांसा मैं इस संकलन के पाठकों-समीक्षकों पर छोड़ता हूँ।

जहाँ तक संकलन के लिए समीक्षाओं के चुनने का प्रश्न है, मेरी यह चेष्टा रही है कि पुस्तक की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समीक्षा ही चुनी जाये। यानी कि जोर किसी समीक्षक की सर्वोत्तम समीक्षा पर न होकर पुस्तक की महत्त्वपूर्ण समीक्षा पर रहा है। इसी कारण एकाध अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएँ भी ली गयी हैं, क्योंकि उनकी समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण बन पड़ी थीं। पर महत्ता का निर्णय किस

कसौटी पर? निश्चित ही मेरा अपना वैयक्तिक विवेक उसके लिए उत्तरदायी है—यों मैं लेखकों, समीक्षकों, पाठकों आदि की राय भी इकट्ठा करता रहा हूँ। पर दायित्व मेरा है और उसके परिणाम झेलने के लिए प्रस्तुत हूँ। सामान्यतः कसौटी यही रही है कि समीक्षा समीक्ष्य कृति की आन्तरिक सत्ता का उद्घाटन करती हो, समीक्षा-सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण बात कहती हो, अथवा उसमें पद्धति का नयापन मिलता हो। इस संकलन को जितना तटस्थ होकर मैंने बनाना चाहा है उससे मेरा विश्वास है कि यदि कोई अन्य व्यक्ति भी इस प्रकार का संकलन सम्पादित करता तो चुनाव में बहुत अन्तर न पड़ता—संख्या भले ही बढ़ या घट जाती।

गणनीय समीक्षाओं को चुनने के कारण ही हम कई बड़ी महत्त्वपूर्ण कृतियों की कोई समीक्षा नहीं चुन सके। 'कोणार्क', 'अरे यायावर रहेगा याद', 'आषाढ़ का एक दिन', 'नये बादल, कर्मनाशा की हार', 'तीन निगाहों की तसवीर', 'भूले बिसरे चित्र', 'मृगनयनी', 'मिलनयामिनी', 'सतरंगे पंखों वाली' आदि ऐसी ही अनेक कृतियाँ हैं जिनकी अच्छी समीक्षाएँ मेरे देखने में नहीं आयीं। पर यहीं यह भी स्वीकार करना चाहूँगा कि इस दिशा में भी मेरी अपनी सीमाएँ रही हैं। हिन्दी-प्रदेश की विशालता, पत्र-पत्रिकाओं की दुर्लभता, स्वयं की अज्ञानता आदि अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं जिनके कारण कतिपय बहुत अच्छी समीक्षाएँ छूट गयी होंगी। ऐसी समीक्षाओं और उनके लेखकों से क्षमा ही माँग सकता हूँ। यों इस प्रकार की समीक्षाओं की सूचना की मैं कृतज्ञतापूर्वक प्रतीक्षा करूँगा। हाँ, इस संकलन में केवल कृति-साहित्य की समीक्षाएँ हैं—आलोचना-कृतियों की नहीं। अस्तु, समीक्षाओं के चयन में दो ही बातें मुख्य रही हैं। प्रथमः पुस्तक महत्त्वपूर्ण हो (यह महत्त्व कभी गुण का है और कभी ऐतिहासिक सन्दर्भ का); द्वितीयः समीक्षा महत्त्वपूर्ण हो। संकलन चार खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत कविता पुस्तकों, दूसरे खण्ड में उपन्यासों, तीसरे खण्ड के भीतर कहानी-संग्रहों एवं चौथे खण्ड में तीन नाटकों एवं एक जीवनी की समीक्षाएँ संकलित हैं। अनुक्रम पुस्तक-प्रकाशन-वर्ष के आधार पर है और जहाँ एक ही बर्ष के भीतर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, लेखकों के वय-क्रम को ध्यान में रखा गया है। कुछ अपरिहार्य कारणों से 'दिगन्त' की समीक्षा यथास्थान न दी जाकर कविता-खण्ड के अन्त में दी गयी है।

संकलन का उद्देश्य किसी प्रकार नयी आलोचना का विज्ञापन नहीं है—पर संकलन तैयार हो जाने पर सम्पादक को यह देखकर हर्ष भी हुआ और आश्चर्य भी कि नयी रचनाशीलता के समानान्तर ही आलोचना में भी एक नया उन्मेष दिखाई देता है। नये-पुराने के मध्य स्थानान्तरण की एक स्पष्ट प्रक्रिया यहाँ भी उपस्थित है। 'नवलेखन' का एक संश्लिष्ट चित्र देने के साथ ही यदि यह संकलन इस नयी विवेक-दृष्टि को स्पष्ट और केन्द्रित करते हुए अधिक गतिशील बना सका तो यह मेरे लिए गर्व और गौरव की बात होगी।

संकलन तैयार करने में समय-समय पर मुझे सर्वश्री नामवर सिंह, अजितकुमार और अशोक वाजपेयी से सलाह-सहायता मिली है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने प्रकाशन का भार तत्काल स्वीकार कर लिया। इन सभी मित्रों-शुभचिन्तकों के प्रति आभारी हूँ। और हाँ, अगर पत्नी को धन्यवाद देना शिष्टाचार के विरुद्ध न हो तो मैं कमलेश को भी धन्यवाद देना चाहूँगा।

देवीशंकर अवस्थी

दिल्ली विश्वविद्यालय
विजयादशमी,
15 अक्टूबर, 1964

'विवेक के रंग' : अनुक्रम

'विवेक के रंग'

गुरुवर
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
को

'नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' : भूमिका

हिन्दी में ही नहीं, विश्व की तमाम समृद्ध भाषाओं में कथा-साहित्य को गम्भीर साहित्य-रूप की प्रतिष्ठा मिले बहुत दिन नहीं बीते। कथा-साहित्य में भी उपन्यास को अपेक्षाकृत जल्दी स्वीकार कर लिया गया था—पश्चिमी देशों में 19वीं शती में उपन्यास को खासी प्रतिष्ठा मिल गयी थी। पर कहानी को इस स्वीकृति के लिए, करीब-करीब बीसवीं शती की बाट जोहनी पड़ी है। हिन्दी में तो, खैर, कहानी का जन्म ही बीसवीं शती की घटना है। यह बात दूसरी है कि साठ साल प्राप्त करने के पहले ही हिन्दी के कुछ आलोचक उसे रिटायर कर देना चाहते हैं—युग-संवेदना को वहन करने में अक्षम मानकर।

ऐसी स्थिति में आश्चर्य न होना चाहिए यदि आज भी हिन्दी के दिग्गज पण्डितों के लिए कहानी केवल हल्के-फुल्के मनोरंजन का साधन ही है और जिसे मनोरंजन-विरोधी गम्भीरताधारी ये पण्डितजन इसीलिए पढ़ना भी पसन्द नहीं करते। उच्चतर अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्रों में उसे पाठ्यक्रमों या शोधविषयों की सूची में स्थान भले ही मिल गया हो, पर कहानी वैसे ही पढ़ी-पढ़ाई जा सकती है जैसे कविता, यह बात अधिकांश लोगों के गले के तले नहीं उतरती। पढ़ तो विद्यार्थी घर से आते हैं, केवल संस्कृत शब्दावली, कुछ दार्शनिक लहजे में दिये गये वक्तव्यों या काव्यात्मक वर्णन-प्रसंगों को 'व्याख्या' के लिए कक्षा में पढ़ा दिया जाता है और संक्षेप में कथानक लिख देने का गुरुमन्त्र दे दिया जाता है। इससे कुछ आगे बढ़ें तो फिर कहानी हो या नाटक या उपन्यास, सभी को बने-बनाये छह तत्त्वों वाले साँचे में ढालने की बेढंगी कोशिशें होती हैं। प्रभावान्विति इत्यादि की बात साहित्य-रूपों वाले प्रश्नों के बाद वास्तविक विश्लेषण या आलोचना के प्रसंग में याद ही नहीं रखी जाती। किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय के एम.ए. के प्रश्न-पत्रों से यदि कहानी-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर विश्लेषण किया जाये तो अध्ययन रोचक ही नहीं होगा, विश्वविद्यालयों के पीठस्थ पण्डितों के कहानी-सम्बन्धी रुख को भी स्पष्ट करेगा। अभी कुछ समय पूर्व तक कहानी-सम्बन्धी चर्चा कोर्स के लिए तैयार किये जाने वाले संग्रहों की भूमिकाओं तक ही सीमित रही है। इन संग्रहों में घूम-फिरकर

वही कहानियाँ ही नहीं आतीं वही बातें भी दुहरायी जाती हैं और दी गयी कहानियों के विश्लेषण या पाठ-प्रक्रिया की कोई व्यवस्थित रूपरेखा या दृष्टि देने के स्थान पर हिन्दी-कहानी के इतिहास पर चलताऊ टिप्पणी-भर रहती है, जिसे एक संग्रह में पढ़ लेने के बाद अन्यत्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं है—क्योंकि वही बात हर भूमिका में कही गयी होगी। ये ही टिप्पणियाँ इतिहास-ग्रन्थों में भी पायी जाती हैं और हाँ, साहित्यशास्त्र की पुस्तकों में जहाँ साहित्य-रूपविवेचित होते हैं वहाँ भी कहानी के लिए थोड़ी-सी जगह सुरक्षित कर दी जाती है—हडसन को प्रमाण-पुरुष मानकर। पर सिद्धान्त-चर्चा आलोचना नहीं होती।

शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी में नाटक की समीक्षा के समान ही कथा-समीक्षा भी बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में थी। कविता की आलोचना छायावादी युग में ही बहुत ऊँचाई पर पहुँच गयी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यालोचन को जिस शिखर पर स्थापित कर दिया था, बाद को साहित्य-सन्देश घराने के तमाम कुंजीवादी आलोचकों की चेष्टाएँ भी उसे नीचे नहीं ला सकीं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि काव्य-समीक्षा का आतंक इस कदर फैला हुआ था कि समीक्षक यशःप्रार्थी कोई भी व्यक्ति कविता को बगैर स्पर्श किये स्वीकृति प्राप्त करने का साहस ही नहीं कर सकता था। हमारे अधिकांश प्रगतिवादियों ने यदि कविता के स्थान पर केवल गद्य (या कथा) साहित्य की समीक्षा में लगन लगायी होती तो उनका, कविता का और गद्य-साहित्य—सभी का अधिक हित हुआ होता।

इस स्थिति के लिए जिम्मेवार कौन था? समय, लेखक, पाठक या आलोचक? शायद ये सभी। कविता हमारे साहित्य की मुख्य परम्परा थी, उसे अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त चली आ रही थी, ऐसी स्थिति में एक नये साहित्य-रूप को अपनी हैसियत बनाने में देर लगती ही है। शायद यह एक प्रमुख कारण रहा है कि प्रेमचन्द-जैसी रचनात्मक क्षमता-सम्पन्न लेखक के कृतित्व की ओर आचार्य शुक्ल भी ध्यान नहीं दे सके। प्रसाद या पन्त से प्रेमचन्द का कृतित्व न्यून (गुण और परिमाण दोनों में) न होने पर भी शुक्ल जी उनके बारे में कुछ चलते हुए प्रशंसात्मक वाक्य ही कह पाते हैं। यों शुक्ल जी जब यह कहते हैं कि "हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तुस्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए"—तो प्रकारान्तर से वे फार्मूलों या प्रचारित यथार्थ के स्थान पर लेखक के अपने अनुभव की प्रामाणिकता पर जोर दे रहे थे। शायद यह बताने की जरूरत नहीं है कि 'नयी कहानी' ने पुनः अनुभव की वास्तविकता (actuality of experience) को प्रतिष्ठापित किया है। इसी प्रकार पहली बार प्रेमचन्द में जो जीवित समकालीन मनुष्य की प्रतिमा दिखी थी, उसे भी शुक्ल जी ने पहचाना था। पर शुक्ल जी का न तो यहाँ मन रमता है और न ही तब तक आलोचना की उस भाषा का निर्माण ही हो सका था जो उपन्यासों या कहानियों की मीमांसा कर

सके। पाठक-आलोचक इन्हें सामान्यतः गप्पों का विकसित रूप मानकर मनोरंजनपरक अगम्भीर साहित्य-रूप की उपेक्षा देते रहे। पर इस क्षेत्र के लेखकों का दोष भी कम नहीं है। 'पल्लव' की भूमिका जिस प्रखरता और शक्ति से नये काव्यान्दोलन के उन्मेष को सूचित करती है, वैसी प्रखरता, स्पष्टता या मौलिकता प्रेमचन्द के उपन्यास-कहानी-सम्बन्धी विचारों में न मिलेगी। प्रेमचन्द ही नहीं जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल या अज्ञेय भी इस सम्बन्ध में उतने ही उदासीन और असम्पृक्त दिखते हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन के दौरान जब इन रूपों की ओर ध्यान गया भी तो इन्हें कला-रूप के बजाय सामाजिक इतिहास, वर्ग-संघर्ष का शस्त्र या कान्तासम्मित उपदेश-जैसी स्थिति में ही रखा गया। प्रेमचन्द को तो सुधारवादी कहा ही जाता है। स्वयं शुक्ल जी ने सुधार का दायित्व कथाकारों को सौंपा था। रामविलास जी की पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' इस प्रकार की आलोचनाओं में क्लासिक मानी जा सकती है। वे एक-एक समस्या और उसके समाधान को कच्ची-पक्की रोकड़ों में खतियाते चलते हैं। पर प्रेमचन्द के एक भी उपन्यास (कहानियों की ओर तो उनका ध्यान गया ही नहीं) के रूपबन्ध का विश्लेषण करते हुए, उसकी आन्तरिक कलात्मक सत्ता, एकान्विति आदि के विश्लेषण की कोई चेष्टा नहीं करते। उन्होंने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि इस प्रकार के प्रसंगों को अपेक्षाकृत बहुत साधारण उपन्यासों से भी छाँटकर अलग किया जा सकता है—प्रेमचन्द की महत्ता इन सभी समस्याओं के लिए है या इन्हीं को एक कलादृष्टि में पिरोने के लिए? हेनरी जेम्स की इस उक्ति की याद दिलायी जा सकती है कि, "उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा में जिन्दगी का वैयक्तिक और सीधा प्रभाव है।" यह निदानपरक या 'वैज्ञानिक' न होकर कलाकार के कल्पनात्मक भावन पर निर्भर करता है; और जिन्दगी के बारे में सामान्य विचारों या फार्मूलों के माध्यम से न होकर 'डाइरेक्ट' होता है। 'किसी अन्य आर्गेनिज्म की तरह उपन्यास को एक साथ और सातत्य में ही भावन करना होता है।' पर रामविलास जी ही क्यों, खासे व्यक्तिवादी और कलावादी अज्ञेय भी प्रेमचन्द की महत्ता का निर्धारण मानवीय सहानुभूति की व्यापकता के आधार पर करते हैं। यह मानवीय सहानुभूति क्या है? फ्लावेयर की मानवीय सहानुभूति और प्रेमचन्द की मानवीय सहानुभूति में क्या अन्तर है? क्या इस आधार पर इन दो में से किसी को बड़ा-छोटा कलाकार सिद्ध किया जा सकता है? अनजाने ही स्वयं अज्ञेय भी प्रगतिवाद द्वारा दिये गये औजार का ही इस्तेमाल करते हैं; स्वयं उस समीक्षात्मक औजार या पद्धति को विकसित नहीं कर पाते जो प्रेमचन्द को, कथा के कलामूल्यों की कसौटी पर, जाँच सकता। इसी प्रकार की स्थिति में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रेमचन्द को इसलिए महत्त्वपूर्ण मानते दिखते हैं कि वे उत्तर भारत के जनजीवन के प्रामाणिक गाइड हैं।

इस प्रकार कथा-साहित्य की आलोचना प्रारम्भ से ही अनेक विकृतियों में फँस

गयी। एक ओर एकेडेमिक सुविधावाद या सरलीकरण का फार्मूला था, जिसकी शिकार समृद्ध समीक्षा-परम्परा वाली कविता तक हुई। दूसरी ओर कथा-साहित्य के प्रति एक अगम्भीर भाव था और तीसरी ओर आलोचक द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली समस्याओं की कभी न खत्म होने वाली एक सूची थी, जिनके समाधान भी वे समाज में न पाकर साहित्य में प्राप्त करके परितृप्त होना चाहते थे। सब मिलाकर हेनरी जेम्स के ही आधार पर कहें कि न तो कोई सिद्धान्त था और न ऐसी आस्था या चेतना कि 'एक कलात्मक विश्वास की अभिव्यक्ति' की जा रही है। इन रूपों की समीक्षा-सम्बन्धी अपनी समस्याएँ या मानदण्ड हो सकते हैं—शायद इस ओर बहुत ध्यान ही नहीं गया। कहानी के साथ एक और दुःखद स्थिति यह भी रही कि उसे उपन्यास का खासा गरीब सम्बन्धी माना जाता रहा। उपन्यास को यदि सामाजिक इतिहास मानकर विवेचित किया गया तो कहानी को तो कुछ विषयवस्तु या शैली-सम्बन्धी वर्गीकरणों के भीतर नाम दे देना ही पर्याप्त समझा गया। प्रेमचन्द ने 'कहानी' नामक पत्रिका भले ही 1938 में निकाली हो पर चर्चा उनके उपन्यासों की ही हुई है। जैनेन्द्र के कहानी-संग्रह 'दो चिड़ियाँ' की समीक्षा लिखते हुए जनवरी, 1935 के 'विशाल भारत' में अज्ञेय ने लिखा था, "जो लोग कहानी सिर्फ वक्त बिताने के लिए नहीं पढ़ते, उन्हें यह संग्रह अवश्य पढ़ना चाहिए।" पर ऐसी बातें पवित्र आकांक्षाओं तक ही सीमित रहीं, हमारी बौद्धिक चेतना का अंग नहीं बन सकीं।

स्वातन्त्र्योत्तर दशक में तमाम राष्ट्रीय सजग बोध के समानान्तर नवलेखन का आन्दोलन जिस सतर्कता तथा साहित्यशास्त्र के बने-बनाये एकेडेमिक तन्त्र के प्रति अवज्ञा और विरोध को जन्म देता है उसी ने कहानी के महत्त्व को भी पहचाना था। इस प्रकार हिन्दी में कहानी की वास्तविक चर्चा सन् 1955 के आस-पास प्रारम्भ होती है—कहानी 'पत्रिका' के पुनःप्रकाशन के बाद ही। मोहन राकेश के कहानी-संग्रह 'नये बादल' (जनवरी' 57) और राजेन्द्र यादव के कहानी-संग्रह 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (अगस्त' 57) की भूमिकाएँ इस कहानी-सम्बन्धी नयी समीक्षा-चेतना को व्यक्त करती हैं। यों सम्पादक के रूप में भैरवप्रसाद गुप्त और समीक्षक के रूप में नामवर सिंह ने कहानी-सम्बन्धी चर्चा को शुरू से ही विशिष्ट योग दिया है। आरोप लगाया जा सकता है कि कहानी की चर्चा धीरे-धीरे अतिरिक्त स्फीत-रूप में होने लगी और उपन्यास लगभग उपेक्षित हो गया। पर शायद उत्तर में कहा जा सकता है कि रचना के केन्द्रबिन्दु पर कविता और कहानी ही थीं और आलोचनात्मक विवेक सही पहचान का परिचय दे रहा था। बहरहाल, पिछले दशक की समाप्ति तक कहानी को लेकर काफी गरमाहट ही नहीं आ गयी थी, 'नयी' विशेषण न रहकर संज्ञा का अंग बन गया था। 'नयी कहानी' के अस्तित्व का प्रश्न यदि 1956 में उठाया गया था तो

दिसम्बर, 1957 में प्रयाग में होने वाले 'साहित्यकार सम्मेलन' तक 'नयी कहानी' अभिधान को लगभग स्वीकार कर लिया गया था। इस सम्मेलन में पठित तीनों निबन्धों (शिवप्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई और मोहन राकेश लिखित) के पहले ही वाक्यों में 'नयी कहानी' का प्रयोग किया गया है। पर 'नयी' को लेकर प्रारम्भ होने वाले विवाद के साथ ही से ग्राम-कथा बनाम नगर-कथा का झगड़ा सामने आ चुका था। वस्तुतः यह विवाद भी मूलतः नयेपन को लेकर था—किस प्रकार के लेखक नये यथार्थ को अधिक शक्ति और दृष्टि के साथ ग्रहण कर पा रहे हैं, यह समस्या लेखकों के सामने भी थी और आलोचकों के भी। राकेश पहले ही 'नये बादल' की भूमिका में अपेक्षाकृत ठहरे हुए यथार्थ के बजाय निरन्तर कुलबुलाते हुए, यथार्थ का सवाल उठा चुके थे; और यादव 'उफनते बलबलाते जीवन' के सन्दर्भ में 'जिन्दगी और जोंक' की जिजीविषा की दाद दे चुके थे। बहरहाल 1957 के साहित्यकार सम्मेलन में ग्राम-कथा-लेखक शिवप्रसाद सिंह और नगर-कथा-लेखक राकेश या यादव इस प्रकार के विभाजनों के मिथ्यात्व को स्वीकार करके दोनों ही प्रकार की कहानियों को 'नयी कहानी' के अन्तर्गत रखते नजर आते हैं—यह बात दूसरी है कि चलते-चलाते अपनी कहानियों के बारे में एकाध दलीलें दे ही देते हैं। इस सम्मेलन में पढ़े गये लेखों में परसाई और राकेश दोनों ही में कहानी की पुरानी परम्परा को जोड़े रखने की उत्कट अभिलाषा दिखती है। नयी कविता से नयी कहानी को इस परम्परा के प्रश्न पर अलगाते हुए परसाई ने लिखा है, "हिन्दी में कहानी की एक पुष्ट और स्वस्थ परम्परा है और वर्तमान कहानी उसका एक विकसित रूप है।" राकेश ने भी बहुत-कुछ यही कहना चाहा है। पर जैसा कि अपनी एक टिप्पणी में इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र (अणिमा : 1 जनवरी' 65) कहा है कि 'नयी कविता' के कवियों-समीक्षकों को इस बात का बराबर एहसास रहा कि वे पूर्ववर्ती काव्यरूढ़ियों को तोड़ रहे हैं—उनसे हट रहे हैं। इसलिए जहाँ एक ओर नयी रचनाशीलता का उन्मेष प्रकट होता है वहीं तमाम छायावादी काव्य-सिद्धान्तों पर आक्रमण करते हुए नयी कविता के काव्य-सिद्धान्तों की स्थापना भी होती चलती है। पर कहानी में चूँकि अपने को अलगाने की चेष्टा बहुत बाद में शुरू हुई है, परिणामस्वरूप इसका साहित्यशास्त्र भी बहुत-कुछ अविकसित रहा और कहानी में पुरानेपन की चौखट को पूरी तरह से तोड़ने का काम नये कहानीकारों के बाद आने वाली नयी पीढ़ी कर रही है। उस समय केवल राजेन्द्र यादव ने ही परम्परा को एक सीमा तक अस्वीकार करने का साहस दिखाया था—कम-से-कम कहानी-विचार की दृष्टि से।

1957 के आसपास ही यह पुकार भी उठने लगी थी कि नयी कहानी को "समझने-समझाने वाले आलोचकों का प्रायः अभाव है।" शायद इसीलिए 1959 में 'कहानी' में 'आज की कहानी' शीर्षक से एक और लेखमाला प्रारम्भ की गयी। बताया गया कि "इस माला का उद्देश्य आज की हिन्दी-कहानी की उपलब्धियों तथा

उनकी विभिन्न धाराओं पर कहानीकारों की ही दृष्टि से प्रकाश डालना है। इसी कारण इस माला के अधिकतर लेखक **आज के वे कहानीकार ही होंगे, जिनका योग आज के कहानी-साहित्य में महत्त्वपूर्ण है।**" पर अन्ततः माला में चार कहानीकारों और तीन आलोचकों ने लिखा—शायद सम्पादक गुप्त जी ने सन्तुलन बनाना चाहा। यह माला किसी एक प्रश्न या विवाद्य विषय के आस-पास न होकर एक चौतरफ़ा लेखा-जोखा लेने का प्रयास करती है और इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण भी है।

कहानी की उड़ती चर्चाओं से आगे बढ़कर उसे समझने की ठोस प्रक्रिया की शुरुआत हुई जनवरी, 1961 की नयी कहानियों में 'हाशिये पर' स्तम्भ से। नामवर सिंह ने 'कहानी-पाठ की प्रक्रिया' को मद्देनजर रखते हुए तमाम नयी कहानियों को अलग-अलग विश्लेषित किया। पुरानी कहानियों से उनका अन्तर स्पष्ट किया और रचना-तन्त्र पर नये सिरे से विचार किया। कहानी के पूरे विवाद में इस लेखमाला का बहुत अधिक महत्त्व है। इसी लेखमाला के अन्तर्गत 'कहानी : अच्छी और नयी' परिसंवाद में पहली बार जमकर परम्परा आदि के बोझ को त्यागकर नयी कहानी के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित किया जा सका तथा उसकी कमजोरियों का स्वयं नये लेखकों-समीक्षकों द्वारा निर्मम उद्‌घाटन भी हुआ। 1962 में हुआ यह विवाद नयी कहानी को एस्टैब्लिश ही नहीं करता, एस्टैब्लिशमेंट का हिस्सा भी बना देता है। इसके बाद नेतृत्व की छीना-झपटी ही नहीं आती, नयी कविता बनाम नयी कहानी, नयी कहानी बनाम सचेतन कहानी आदि के ऐसे विवाद भी उठते हैं जो आलोचनात्मक विवेक के उदाहरण नहीं कहे जा सकते। 'नयी कहानी' एस्टैब्लिशमेंट का हिस्सा अगर बनी तो एक और नयी पीढ़ी भी सामने दिखाई देने लगी जिसने बात ही क़िस्सागोई के अस्वीकार से शुरू की। अगर कविता के लिए संगीत या चित्र के लिए फोटोग्राफी खतरा है तो कहानी के लिए क़िस्सागोई सबसे अधिक बाधक है—यह विवेक धीरे-धीरे विकसित हो रहा है। अस्तु, एक नया मिजाज कहानी में फिर उभरता लगता है। कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा समय है जब 'नयी कहानी' सम्बन्धी तमाम समीक्षापरक आपाधापी का जायजा ले लिया जाय। प्रस्तुत संकलन इसी दिशा में एक छोटा-सा प्रयत्न है।

नयी कहानी को लेकर उठने वाली इन हलचलों और क्रियाशीलता के फलस्वरूप 'कहानी' को बेहद साहित्यिक प्रतिष्ठा मिली। इसके पूर्व हिन्दी में तो खैर ऐसे सम्मान का प्रश्न ही नहीं उठता, अन्य साहित्यों में भी समसामयिक कहानी को ऐसा ही सम्मान मिला है, मैं नहीं जानता। पुराने प्रतिष्ठित साहित्य-रूपों में नाटक तो खैर हमारे यहाँ था ही नहीं, पर कविता भी उपेक्षित हो गयी। इस सम्मान-प्राप्ति के साथ ही कहानी-समीक्षा के मानदण्डों या पद्धति का प्रश्न उठता है। यों नयी

आलोचना ने मानदण्डों का प्रश्न बहुत कुछ अप्रासंगिक क़रार दे दिया है और उसके स्थान पर वह पद्धति के नवीकरण पर बल देती है। (देखिये : मई, 1964 में दिल्ली में 'नवलेखन के भावबोध' पर आयोजित गोष्ठी की 'माध्यम' : जुलाई '64 और 'धर्मयुग' : जून '64 में प्रकाशित रिपोर्टें) जैसा कि अभी संकेत किया जा चुका है कि नयी कविता में जिस प्रकार तमाम शास्त्रीय मानदण्डों को अप्रासंगिक सिद्ध करके उसकी मूल्यसत्ता को नये सिरे से खोजा गया; विश्लेषण की पद्धति और समीक्षा की शब्दावली आविष्कृत हुई, वैसा प्रारम्भ में कहानी-समीक्षा में सम्भव नहीं हो सका। ऊपर बताये गये कारण के अतिरिक्त एक तथ्य शायद यह भी था कि काव्य-समीक्षा में जिन सिद्धान्तों को अस्वीकार किया गया उनकी एक बड़ी शक्ति को आत्मसात् भी कर लिया गया, पर कथा-समीक्षा के पहले से प्रचलित मानदण्ड इतने लचर थे कि बहुत-कुछ को नये सिरे से ही शुरू करना था और इस शुरुआत में ग्राम-कथा, नगर-कथा जैसे बेमानी वर्गीकरण पुराने प्रभावों के फलस्वरूप उत्पन्न कमजोरियों के उदाहरण हैं।

अस्तु, कथा-समीक्षा की नयी पद्धतियों या औजारों को विकसित करते समय पश्चिम के फ़िक्शन क्रिटिसिज़्म से भी सहायता ली गयी और काव्य समीक्षा की कोटियों को (हिन्दी से भी और पश्चिम में 'न्यू क्रिटिसिज़्म' के प्रभाव-तले लिखी जाने वाली कहानी-समीक्षा जो कि मूलतः कविता के लिए अधिक उपयुक्त है, से भी) भी लागू किया गया। यहाँ यह कह देना मुझे प्रासंगिक लगता है कि पश्चिम से आयातित किये जाने पर मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं है। हम सभी पश्चिम की विकसित समीक्षा-पद्धतियों से जाने-अनजाने प्रभावित होते रहते हैं। आपत्ति केवल वहाँ पर की जा सकती है जहाँ उन कोटियों को लागू करते समय प्रसंगानुकूलता या औचित्य का ध्यान नहीं रखा जाता। यों हमारे रचनाकारों के प्रेरणास्रोत भी वहाँ कम नहीं हैं। पर कुछेक विसंगतियों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि पश्चिम में फिक्शन क्रिटिसिज़्म अधिकांशतः उपन्यासों और कहानियों के पूरे सन्दर्भ में लिखा गया है। पर हिन्दी में कुछ तो उपन्यासों के अपेक्षाकृत अभाव के कारण, और कुछ पूरे परिदृश्य को ध्यान में रखने के लिए जिस परिश्रम एवं योग्यता की आवश्यकता होती है उससे बचने के कारण, केवल कहानियों को ही चर्चा का आधार बनाया गया। इसका स्पष्ट परिणाम है कि अकसर कहानी से उन चीजों की माँग की जाती है जिनकी माँग उपन्यास से ही की जा सकती है। यों दोनों के रूपगत अन्तरों की कतिपय ऐतिहासिक अनिवार्यताओं के बावजूद दोनों के समीक्षा-मूल्यों के सेट अलग-अलग नहीं किये जा सकते। और यदि अलग करने की चेष्टा की जाती है तो फिर उपन्यास-सम्बन्धी प्रतिपत्तियों को लागू करने से बचना होगा। दूसरी बात यह कि पश्चिम में उपन्यास को 'समाज के भीतर स्थित व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धगत तनाव' पर आधारित माना गया है जबकि कहानी

को नितान्त आत्मपरक, लिरिकल आदि। आयरी लेखक फ़्रेंक ओ' कोन्नोर ने उसे "समाज की सरहदों पर लड़ी जाने वाली गुरिल्ला लड़ाई माना है जिसमें बाहरी छोरों पर बैठे हुए व्यक्तियों का प्राधान्य होता है।" इस कसौटी के अनुसार हिन्दी-प्रदेश में 'नॉवेल्स ऑफ़ मैनर्स' के लिए काफी उपजाऊ भूमि होनी चाहिए थी; पर हुआ यह कि कहानी बनी मुख्य। और वह भी समाज से कटकर लड़ी जाने वाली गुरिल्ला लड़ाई के रूप में ही नहीं, बल्कि पूरे सामाजिक वस्तु-सत्य के भीतर मनुष्य के द्वन्द्व, तनाव, आशा, आकांक्षा को भी समेटनी वाली। ऐसी स्थिति में हिन्दी-कहानी को 'मानवीय नियति के सम्मुख गीतात्मक चीख' या अत्यन्त 'वैयक्तिक अकेली प्रतिक्रिया' के रूप में देखना बहुत संगत न होगा।

कथाकृति के लिए ऊपर जिस कलात्मक आरगैनिक समग्रता की बात कही गयी है वह अन्ततः एक निर्वैयक्तिक कला-सिद्धान्त की ओर ले जाती है यानी कि एक बार जन्म ले लेने के बाद कलाकृति का विकास अपने ही नियमों से होगा और कलाकार उसमें दखलन्दाजी के लिए स्वतन्त्र न रहेगा। इस प्रकार दृष्टि-बिन्दु (प्वाइण्ट ऑफ व्यू) को सम्हालने की आवश्यकता सामने आती है। इस दृष्टि से आधुनिक कविता और आधुनिक कथा-कृतियों में समान प्रविधियों का उपयोग मिलता है। फ़्लावेयर और हेनरी जेम्स के साहित्य-सिद्धान्त उन्हीं स्रोतों से उद्भूत होते हैं जिनसे कि ह्यूम, पाउण्ड या इलियट के। सम्भवतः इसी कारण कुछ लोग काव्य-समीक्षा की पद्धतियों एवं मूल्यों को कथाकृतियों पर भी लागू करने के लिए उतावले दिखते हैं। कथा-साहित्य के मानदण्डों की चर्चा के सिलसिले में इस प्रकार कथा-प्रकृति (या कथाकृतियों की विविध प्रकृतियों) की उपेक्षा करके लाये जाने वाले इन मानदण्डों के खतरों की भी चर्चा कर ली जाय। इससे शायद हमें अधिक व्यवस्थित इंगित मिल सकें।

काव्य-समीक्षा के आधार पर कहानी की चर्चा करने वालों में नयी कहानी के वे पैरोकार भी हैं जो प्रतीक, बिम्ब, लय, रूपक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा करके उसके महत्त्व को जताते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही है जैसा कि 19वीं शती में ज़ोला या गान्कार्ट-बन्धुओं ने उपन्यास को विज्ञान का आसन देकर करना चाहा था। दूसरे वे लोग भी हैं जो भाषा-संवेदना आदि की चर्चा करके कहानीमात्र को हेय या असमर्थ विधा सिद्ध करना चाहते हैं।

काव्य-समीक्षा के मानदण्डों को आरोपित करने से जो खतरे सामने आते हैं उनकी चर्चा करते हुए फिलिप राह्व ने कहा है कि ऐसा करने वाले तीन चीजों पर बहुत बल देते हैं—प्रतीक, मिथक, रूपक, अन्योक्ति आदि की खोज पर; भाषा पर; और टेकनीक को ही सब-कुछ मानने में। चूँकि हिन्दी-कविता पर 'न्यू-क्रिटिसिज़्म' की इन प्रविधियों को अभी बहुत लागू नहीं किया गया है इसीलिए कहानी की आलोचना में भी इनकी बहुतायत तो नहीं दिखती, परन्तु यत्र-तत्र इस प्रकार की चेष्टा के

लक्षण दिखायी देते हैं और लगता यही है कि यह प्रवृत्ति बढ़ेगी। कविता के क्षेत्रों में प्रतीकों, मिथकों आदि को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है—खासकर मुक्तक, गीति तत्त्व वाली कविताओं में। ये कविता के पूरे रूपबन्ध के अनिवार्य अंग होते हैं और उसकी अर्थ-गरिमा को विस्तार और गहराई देते हैं। पर इन प्रतीकों या उनके पैटर्न के आधार पर कथा-कृतियों के रूपबन्ध का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। अच्छाई-बुराई का निर्णय तो इस कसौटी पर नितान्त असम्भव ही है। अच्छे-बुरे सभी प्रकार के उपन्यासों-कहानियों में उनकी खोज की जा सकती है। 'आर्द्रा' या 'अनदेखे-अनजाने पुल' के प्रतीक उनकी कलात्मक क्षमता या यथार्थ-बोध को कोई नया आयाम नहीं देते, केवल एक सामान्य-सा कौशलगत प्रभाव उत्पन्न करके रह जाते हैं। इस प्रकार के विवेचन का परिणाम यह होता है कि कृति के कथात्मक विकास की ओर ध्यान न देकर किसी एक स्थिति या भाषा-प्रयोग का विश्लेषण ही कसौटी बन जाता है, जबकि कथाकृति में महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'कथानक' (plot) होता है (प्लॉट घटनाओं और विवरणों के अर्थ में नहीं, बल्कि अरस्तू की सहमति से 'कार्य-व्यापार की आत्मा' के अर्थ में)। प्रतीक, मिथक, अन्योक्ति आदि की चर्चा वास्तविकता का अवमूल्यन करती है। अनुभव की जो प्रत्यक्षता है उनके प्रति एक अवमानना का भाव प्रतीक-चर्चा में निहित रहता है। गोया कि जो प्रत्यक्ष है, वास्तविक है, तात्कालिक है, प्रयोगसिद्ध है, उस अनुभव का प्रस्तुतीकरण महत्त्वहीन या दिखावा मात्र है और असली अर्थ कहीं भीतर छिपा बैठा है जिसे प्रतीकों के उत्खनन के जरिये बाहर लाना होगा। कहना न होगा कि कथारूपों की मूल सम्पदा यह प्रत्यक्ष अनुभव ही होता है भले ही वह ऊबड़-खाबड़ या अपरिष्कृत हो। कहानी को अकसर गीतिवत माना जाता है पर यह समानता आत्मपरकता तक ही सीमित है और उसे गीति की प्रतीक-योजना में घुलाने की चेष्टा सिर्फ स्मार्टनेस ही कही जा सकती है। कहानी में दिखावे और यथार्थ में गहरा अन्तराल नहीं होता और ज्यादा प्रतीक-चर्चा सचमुच ही न समझने की बात है और न व्यर्थ ही मगज़पच्ची करके दूसरे को समझाने की। दूर की कौड़ी लाने की चेष्टा, चाहे वह एडविन बैरी बर्गम के ही आधार पर क्यों न हो, अन्ततः यथार्थ को अस्वीकार कर रूपवादी वृत्ति को बढ़ावा देती है और अपनी तार्किक परिणति में भावपक्ष या कलापक्ष के पुराने दैत्य को पुनर्जीवित करती है। इसे अपनी मूल दृष्टि में उस भाववादी दर्शन की देन सिद्ध किया जा सकता है जिसे मार्क्स ने ही नहीं, क्वान्टम फ़िजिक्स ने भी एकदम साखरहित कर दिया है। पर दर्शन में वह भले ही अस्वीकृत हो गया हो, आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र में अब भी जोर मारता रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कथा-साहित्य में प्रतीक नहीं होते। प्रतीकों का वहाँ प्रचुरता से उपयोग होता है पर अनुभव की वास्तविकता को अधिक-से-अधिक घटित करने के लिए, न कि उसके पार कुछ दिखाने के लिए। प्रतीक यहाँ सुराग या संकेत-सूत्र नहीं होते जिनके सहारे कहानी के तिलिस्मी संसार में पैठा जाय। कहानी

में प्रतीक रहस्यपूर्ण न होकर, उसके अर्थ-सम्भार का ही अतिरिक्त उच्छलन कहा जा सकता है। वह पूरे गद्य-विस्तार के सन्दर्भ में होता है न कि समस्त गद्य-विस्तार का तात्पर्य किसी प्रतीक या मिथक के लिए होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रतीक पूरे कथात्मक यथार्थ का आन्तरिक अंग होता है और इसकी नितान्त बौद्धिक व्याख्याएँ हेत्वाभासों की सृष्टि करती हैं। इसीलिए जब यह कहकर नयी कहानी को स्थापित करने की चेष्टा की जाती है तो मुझे लगता है कि एक निहायत लचर दलील ही नहीं दी जा रही, बल्कि नयी कहानी की वास्तविक व्याख्या को कुछ परे हटाया जा रहा है। फिर मज़ा यह कि राकेश या राजेन्द्र यादव नामवर सिंह पर काव्य-समीक्षा के प्रतिमानों को आरोपित करने का अभियोग भी लगाते हैं और स्वयं भी सांकेतिकता की बात ही नहीं करते, अपनी कहानियों में ज़बरदस्ती कुछ प्रतीकों को बिठाने की चेष्टा भी करते हैं। आलोचनात्मक आतंक या त्रास का इससे अच्छा उदाहरण और क्या मिलेगा!

प्रतीकों तक तो गनीमत है; जब भाषा-संवेदना ही एकमात्र आधार बन जाती है तो और अधिक विचित्रताएँ देखने में आती हैं। एक आलोचक ने नयी कहानी के अस्तित्व को तो अस्वीकार किया ही, कहानी की विधा-मात्र को नयी संवेदना के वहन करने में अक्षम बताया। उनके अनुसार यह स्थिति प्रायः सभी उन्नत साहित्यों में देखी जा सकती है—पता नहीं काफ़्का, हेमिंग्वे, फॉकनर, ट्रुमन कपोट, फ्रैंक ओ' कोन्नोर या इज़ाक बाबेल की कहानियों को वे कहाँ रखना चाहेंगे—चेखव और मोपासाँ को उन्नीसवीं शती में फेंक देने के बाद भी। अस्तु, इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए वे कहानी को बच्चनोत्तर गीतों के समकक्ष रखते हैं और तर्क देते हैं कि 'दोनों की ही भाषा प्रयोग-विधि एक-जैसी है। नये कहानीकार और गीतकार, दोनों सरल भाषा और अभिव्यक्ति की सादगी पर बल देते हैं।' लगता है कि निर्मल, यादव, कृष्ण बलदेव वैद, रामकुमार आदि की कहानियों को पढ़े बगैर यह मन्तव्य प्रगट किया गया है। (याद दिलाना अनुचित न समझा जाय तो हेमिंग्वे की सरल भाषा और अभिव्यक्ति की सादगी की संकुलता और आधुनिकता पर भी गौर कर लेना चाहिए।) इस सरलता को लोक-साहित्य से जोड़ते हुए आलोचक ने बताया है कि 'शिष्ट साहित्य भाषा के सृजनात्मक (क्रिएटिव) रूप का प्रयोग करता है। इस सृजनात्मक रूप में लेखक प्रतीक और बिम्ब-विधान के माध्यम से अपनी बात कहता है और यहीं उसकी भाषा सामान्य भाषा की तुलना में कठिन हो जाती है।' तथा विपिन अग्रवाल जैसे कवियों में 'सरल शब्द होने पर भी उनका बिम्ब-विधान सूक्ष्म है।' भाषा का यह रूप न होने के कारण रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार नयी कहानी में युग-संवेदना नहीं है, आधुनिकता नहीं है; लोकप्रियता है, अबौद्धिक वृत्ति है आदि-आदि। शब्दों, जार्गनों का खास चमचमाता हुआ वाग्जाल बिछाया गया है। वस्तुतः सूक्ष्म बिम्बों और प्रतीकों को ही भाषा का सृजनात्मक रूप मानना गद्य के

अपने स्वभाव को अस्वीकार करना है जिसकी 'वर्णनात्मक' प्रकृति को विपिनकुमार अग्रवाल तक स्वीकार करते हैं। पर जहाँ कविता की कोटियों को ही लागू करने की धुन सवार हो वहाँ आप कर ही क्या सकते हैं! ऐसे ही लोग बॉलज़ाक, टॉल्सटाय, प्रेमचन्द या टॉमस मान से जेन आस्टिन, हेनरी जैम्स, जैनेन्द्र या पियरे लुई को बड़ा उपन्यासकार भी सिद्ध कर सकते हैं।

कथाकृति की पूरी समझ या व्याख्या के लिए उस जीवन की गहराई की माप आवश्यक है जहाँ से लेखक की कला-दृष्टि (और इसीलिए नैतिक दृष्टि भी) उदित होती है। इसीलिए भाषा वाली कसौटी की अपेक्षा अनुभव की दुर्निवारता या प्रामाणिकता की टोह के प्रतीकों या बिम्बों का नहीं चरित्र-निर्माण क्षमता, कथानक-संघटन-शक्ति आदि का विश्लेषण ही कथा-समीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। कहना न होगा कि इसके लिए जिस समीक्षा भाषा की आवश्यकता होगी वह कविता की भाषा से अलग ही होगी। इस प्रसंग में रूसी रूपवादी आलोचक विक्टर झिरमुन्स्की की याद दिलायी जा सकती है–

> *"एक उपन्यास और एक गीति कविता को शाब्दिक कला की कृतियों के रूप में समतोल नहीं किया जाना है : क्योंकि उनमें थीम और रचना-संगठन के मध्य सम्बन्ध बिल्कुल भिन्न हैं। एक उपन्यास, जैसे कि टॉल्सटाय या स्टेन्धाल रचित, में शब्द दैनिक बोलचाल की भाषा के निकटतर होते हैं और अपने व्यापार में खुले तौर पर प्रेषणीय होते हैं जबकि एक कविता में शब्द-विधान पूरे तौर पर लालित्य की परिकल्पना (ऐस्थेटिक डिजाइन) से निश्चित होता है और इस रूप में वह अपने-आप में लक्ष्य (साध्य) भी होता है।"*

यों अज्ञेय या निर्मल या रेणु की कथाकृतियों से ऐसे रूपवादी अलंकृत गद्य के प्रचुर उदाहरण दिये जा सकते हैं जो अपनी शब्द-योजना, बिम्ब-विधान, लाक्षणिकता आदि में अत्यन्त आकर्षक हैं पर ऐसे अंश साधारणतः उस गद्य के प्रवाह में ही बाधा नहीं डालते, कथा के अभिप्रायों को भी बाधित करते हैं; अथवा यों भी कहें कि कथा के अर्थसम्भार की अशक्ति का गोपन करते हैं।

यद्यपि एफ.आर. लीविस ने स्वयं इस कविता-विधि को कथा-समीक्षा में लागू किया है–शायद दूसरा रास्ता न स्वीकार करने के कारण; पर वे स्वयं इसके खतरों से आगाह करते हुए कह चुके हैं कि,

> *"उपन्यास और आलोचनात्मक पद्धति से इस बोध को लागू करना कहीं अधिक दुरूहतर है कि रचनाकार जो कुछ करता है वह 'यहीं, यहीं और यहीं' शब्दों द्वारा ही करता है और उसे एक कलाकार के रूप में (अगर वह है) उसी प्रकार के कारण से निर्णीत करना है जिससे कि एक कवि को किया जाता है। कविता एकाग्रता (कन्सेन्ट्रेशन) से कार्य करती है, (उसमें) सफलता या असफलता अधिकांशतः स्थानिक होती है...लेकिन गद्य साधारणतः समन्वित प्रभाव पर*

निर्भर करता है; इस प्रकार से कि उपन्यास का एक पृष्ठ जो पूरे सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हो, (अपने आप में) भद्दा या अमहत्त्वपूर्ण दिखायी पड़ सकता है।"

वस्तुतः गद्य और कविता की भाषा-प्रयोगविधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। एक की इकाइयों को दूसरे पर लागू कर एक 'कॉमन लिटरेरीनेस' भले ही खोजी जा सके, पर इससे विधाओं का जो एक ऐतिहासिक-साहित्यिक अस्तित्व है वह समाप्त होने लगता है। और हम मूल्यांकन के स्थान पर एक प्रकार के प्रभाववादी समीक्षण के निकट पहुँच जाते हैं। आखिर कविता की अपेक्षा गद्य में शब्दार्थ-सम्बन्ध कहीं अधिक दृढ़ता और अनिवार्यता के साथ परम्पराप्रथित रूप में निश्चित होते हैं। इसीलिए शब्द के स्थान पर शब्दों से बनने वाले चरित्र-सम्बन्धों और स्थितियों के गुम्फन का उद्घाटन ही यहाँ पर मुख्य होता है। कहानी या उपन्यास का सम्बन्ध भाषिक प्रयोगों पर आधारित न होकर उस बाह्य यथार्थ से चुनी गयी छवियों और उन छवियों को चुनने वाली दृष्टि-शक्ति पर निर्भर करता है। यहाँ तादात्म्य शब्दों नहीं, शब्दों के माध्यम से आभासित होने वाले यथार्थ से होता है। इस यथार्थ के लिए दृश्यों, व्यापारों, वस्तुओं और व्यक्तियों से ही कथा-समीक्षक का मुख्य सरोकार होता है—न कि लय, प्रतीक, बिम्ब या शैली के जंगल से। फिलिप राह्व ने ठीक ही कहा है कि "कलाकार की मुख्य समस्या शैली की न होकर 'दृष्टिबिन्दु', 'कथात्मक परिदृश्य' आदि से सम्बन्धित बातों से ही रही है—यानी कि अपनी विषयवस्तु को परिभाषित करना, अपने कथानक के भीतर से रास्ता बनाना ही कथाकार की मुख्य समस्या है।"

भाषिक विधि के इस विरोध का तात्पर्य यह नहीं कि कथा-चर्चा के लिए भाषा को नितान्त अप्रासंगिक-ठहरा दिया जाय। कथ्य के अनुरूप भाषा की खोज की समस्या हर कलाकार को ललकारती है। 'गोदान' और 'नदी के द्वीप' की भाषा का अन्तर दो कथ्यों के अनुरूप ही है। यही नहीं, अगर भारती की विषयवस्तु महेन्द्र भल्ला से पुरानी है तो दोनों की भाषाओं के मिजाज में स्पष्ट अन्तर दिखायी पड़ता है। कमलेश्वर या काशीनाथ सिंह की भाषा निश्चित ही अमरकान्त या शिवप्रसाद सिंह से भिन्न है। फिर इतना ही नहीं, कुछ लोग अपनी कथावस्तु का भावन अधिक काव्यात्मक विधि से करते हैं। यथार्थ का ग्रहण दोनों प्रकार से सम्भव है—काव्य-विधि से भी और गद्य-विधि से भी। इस सम्बन्ध में स्टीफेन स्पेण्डर ने काफी विस्तार से विचार किया है। पर काव्य-विधि और गद्य-विधि सापेक्षिक शब्द हैं और इसका अर्थ यह नहीं कि इन पर कथामूल्यों के बजाय काव्यमूल्यों का आरोपण किया जाय। अन्ततः मूल्य कथा के रहेंगे—यानी चरित्रों या स्थितियों के अन्तःसम्बन्धों के, पर साहित्यिक कौशलों (लिटरेरी डिवाइसेज़) की छानबीन करते समय इन प्रविधियों को भी ध्यान में रखना किसी भी समीक्षक के लिए अनिवार्य है।

कहानी-चर्चा में शिल्प शब्द भी खासा केन्द्रस्थ रहा है। वस्तुतः यह भी बहुत

कुछ भाषा वाली बात का बढ़ाव है। जब विपिनकुमार अग्रवाल लिखते हैं, *"गद्य का स्वभाव वर्णनात्मक है। कहानी गद्य में बाँधी जाती है। इसलिए वर्णन उसका अभिन्न अंग है। कहानी का सरा दारोमदार इस पर निर्भर करता है कि वर्णन कितना सार्थक हो सका। वही वर्णन सार्थक है जो कहानी के आंतरिक संघटन को पुष्ट करता है, उसमें नया निर्माण करता है या प्रभाव को पुनः संयोजित करता है।... कहानी लिखना इस प्रकार के वर्णन का सृजन करना है।"* आंतरिक संगठन जैसे शब्द यहाँ अपरिभाषित और जार्गनधर्मी तो हैं ही, मुझे यह भी लगता है भाषाविधि का ही बढ़ाव जिस टेक्नीक-प्रधानता की ओर ले जाता है वही इसमें भी निहित है। यहाँ पर वर्णन-संघटन के नाम पर टेक्नीक को ही परम मानने का आग्रह निहित है। बहरहाल, इसके बाद अग्रवालजी विज्ञान और साहित्यिक अध्ययनों के अन्तर को मिटाते हुए वैज्ञानिक फार्मूलों में बात करते-करते कुछ फार्मूले इस नये संघटन के भी बता देते हैं। विज्ञान में भले ही फार्मूले रटने पड़ते हों पर 'फार्मूला-विरोधी' नयी कहानी जिस कथात्मक यथार्थ से जूझती रहती है उसमें इस प्रकार के फार्मूले एक ऐब्सट्रैक्शन से अधिक महत्त्व रखेंगे—इसमें सन्देह है। भाषा और टेक्नीक पर जोर देकर कथा-दृष्टि और उससे सम्भूत सृजनात्मकता को उपेक्षित करने का एक उदाहरण अभी हाल में ही 'कल्पना : 163' में प्रकाशित 'वे दिन' की समीक्षा के सिलसिले में दिखायी पड़ा। प्रयाग शुक्ल ने जहाँ अपनी समीक्षा में कथा-दृष्टि की कमजोरी, वर्णनों की आवश्यकता या चरित्रों के अन्तःसम्बन्धों की सपाटता की ओर इंगित करते हुए शिल्पगत कमजोरियों का निर्देश किया था, वहीं प्रतिक्रियास्वरूप महेन्द्र कुलश्रेष्ठ ने (कल्पना 165) शिल्प और भाषा को मुख्य मानकर 'वे दिन' का औचित्य सिद्ध करना चाहा है। व्यक्तिगत रूप में मुझे प्रयाग शुक्ल की समीक्षाविधि अधिक प्रसंगतिपूर्ण लगती है। कहना न होगा कि टेक्नीक पर बहुत जोर देने वाले समीक्षक कहानी में रचे-बसे यथार्थ को अनदेखा कर उसे रूपवाद की ओर ही ले जायेंगे। टेक्नीक की दृष्टि से बहुत ही सफल जानकार लेखक को क्या सचमुच ही महत्त्वपूर्ण कहानीकार भी सिद्ध किया जा सकता है? शायद नहीं; मुख्य समस्या तो उस संसार के भूगोल, इतिहास, प्रकृति और उसकी पैदाइश के पैमाने की है जो कहानी के भीतर मौजूद है।

इस सम्बन्ध में श्रीकान्त वर्मा की यह बात ज्यादा सही समझ का परिचय देती है कि *"कहानी का सम्बन्ध अनुभव से है और चरित्र कहानीकार के अनुभव का ही प्रतिबिम्ब है।... कहानी की गति और कहानी की नियति, कहानी का चरित्र है। चरित्र का गठन ही वास्तव में कहानी का गठन है। चरित्र और चरित्र-रचना के मूल्यों में परिवर्तन ही कहानी की भाषा में परिवर्तन उत्पन्न करता है।"* ऐसी स्थिति में क्या यह कहना उचित न होगा कि कहानी में आया नया चरित्र किस बात या किस संचाई के लिए स्टैण्ड करता है, इसकी खोज का रास्ता कहानी के संसार में पैठने का द्वार

बन सकता है? शायद ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह पूछताछ होगी कि कहानी में आये इस समकालीन मनुष्य के 'स्व' (आत्म) का स्वभाव क्या है, कर्मरत होने पर, दबाव पड़ने पर, कठिनाइयाँ उपस्थिति होने पर, मुक्त रहने पर, स्वीकृति के समय, अस्वीकृति के समय, मुकाबला करते समय या समझौता करते समय विभिन्न परिस्थितियों में इनकी स्वभावगत प्रतिक्रियाएँ क्या होंगी? मुझे लगता है कि इस समकालीन मनुष्य के 'स्व' के कार्य या पलायन यथार्थ के उस सघन और सान्द्र क्षेत्र से सम्बन्धित है जिससे सांस्कृतिक जिन्दगी के तमाम तनाव या विश्रान्तियाँ उदित होती हैं। और इसी भूमि पर युगबोध और उन साहित्यिक विधाओं का सम्मिलन होता है जिनका विश्लेषण और मूल्यांकन समीक्षा की अनिवार्य नियति है।

इस संकलन की उपयोगिता के बारे में तर्क देने की आवश्यकता मुझे नहीं प्रतीत होती। स्वस्थ हो या अस्वस्थ, पर पिछले 8-10 वर्षों में नयी कहानी को लेकर जो क्रियाशीलता रही है उसमें से कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को चुनकर एक जगह इकट्ठा कर दिया गया है। इससे 'नयी कहानी' का रूप भी अधिक परिभाषित हो सकेगा और हमारी वह विवेक-बुद्धि भी आसानी से कसौटी पर चढ़ायी जा सकेगी जो इस विवाद में हिस्सा लेती रही है। संकलन में बहुत-सी कमियाँ हो सकती हैं—कुछ से तो मैं ही परिचित हूँ-पर अपनी साम्प्रतिक सामर्थ्य और साधनों के अनुसार जो कर सका, उसे संकलित रूप में उपस्थित किया जा रहा है।

संकलन तीन खण्डों में विभाजित है : 'पहचान और प्रतिष्ठापन', 'विवाद और विश्लेषण' तथा 'सर्वेक्षण और मूल्यांकन'। जहाँ तक लेखों के क्रम-निर्धारण का प्रश्न है सामान्यतः प्रकाशन तिथि को प्रत्येक खण्ड में ध्यान में रखा गया है। पर इसका पालन पूरे तौर पर नहीं किया जा सका। इस क्रम का उल्लंघन एक प्रकार की विषयगत संगति को भी ध्यान में रखने के कारण हुआ है।

पहले दो लेख संकलन की भूमिका के रूप में देखे जा सकते हैं। नयी पीढ़ी के कहानीकार मार्कण्डेय, पुरानी पीढ़ी के तीन सर्वाधिक प्रमुख कहानीकारों-यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय के कृतित्व की चर्चा करते हैं और पुरानी पीढ़ी के एक प्रमुख रचनाकार अश्क 'नयी कहानी' पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। सावधानी से पढ़ने वाले को दोनों दृष्टिकोणों के अन्तर में नयी कहानी की सैद्धान्तिक दृष्टि का संकेत मिल सकेगा। मार्कण्डेय का लेख वस्तुतः अलग-अलग समयों में प्रकाशित उनकी तीन टिप्पणियों का एकत्रीकरण है—तीनों खण्डों के प्रकाशन-वर्षों का संकेत कर दिया गया है। वस्तुतः इन प्रारम्भिक दो लेखों को अलग एक खण्ड के रूप में भी देखा जा सकता है। पहचान और प्रतिष्ठापन की प्रक्रिया तो तीसरे लेख से शुरू होती है। इनमें पहचान वाले अंश को तीसरे, चौथे, पाँचवें लेख तक ही सीमित माना जा सकता है। छठा लेख प्रकाशन की दृष्टि से काफी बाद 1963 का है पर रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित होने के कारण इस स्थान पर रखा गया है। इसके बाद कुछ रचनाकारों

और फिर समीक्षकों के प्रतिष्ठापन-प्रयत्न का संकलन है। इस खण्ड में केवल प्रतिष्ठापन-प्रयत्न ही नहीं है: रामस्वरूप चतुर्वेदी और विपिनकुमार अग्रवाल के लेख में नयी कहानी के अस्तित्व पर कुछ शंकाएँ भी उठायी गयी हैं। यहाँ रचनाकारों और समीक्षकों के प्रकाशन-क्रमों का अलग-अलग निर्वाह किया गया है। दूसरे खण्ड में प्रकाशन-क्रम को पूरे तौर पर निभाया गया है। तीसरे खण्ड में प्रकाशन-तिथि की दृष्टि से पूर्ववर्ती होते हुए भी नामवर सिंह का लेख अन्तिम है। वस्तुतः यह लेख व्यतीत के परिदृश्य को ही नहीं उपस्थित करता, नयी सम्भावनाओं की ओर भी इंगित करता है। इसलिए इसे अन्तिम लेख के रूप में देना अधिक उपयुक्त लगा।

इस संकलन में संकलित विभिन्न लेखों का विश्लेषण करके इन लेखों के महत्त्व का निर्धारण, या चुनने के औचित्य की चर्चा भी की जा सकती है तथा इनके आधार पर नये 'कथाशास्त्र' की रूपरेखा का विवेचन भी सम्भव है। पर भूमिका अभी खासी बड़ी हो गयी—अतः यह कार्य किसी अन्य द्वारा या अन्यत्र ही।

देवीशंकर अवस्थी

दिल्ली,
12 नवम्बर, '65

'नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति' : अनुक्रम

कुछ नये कहानीकारों की कहानियाँ (धनंजय वर्मा)
यथार्थ का शिल्प और शिल्प का यथार्थ (देवीशंकर अवस्थी)

3. सर्वेक्षण और मूल्यांकन

स्वतन्त्रता के बाद की हिन्दी-कहानी : उपलब्धियाँ और खामियाँ (लक्ष्मीनारायण लाल)
परम्परा का नया मोड़ : रोमाण्टिक यथार्थ (बच्चन सिंह)
नयी कहानी : एक और शुरूआत (नामवर सिंह)

'नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति'

कथाकार अज्ञेय
को

प्रारूप

स्वाधीनता के बाद : हिन्दी साहित्य

(रूपरेखा)

१- परिवेश

२- कविता

कविताओं का विश्लेषण — १- अज्ञेय - असाध्य वीणा
२- मुक्तिबोध - मैं सच्चा, मैं मित्र
३- शमशेर - यह सलौना जिस्म

३- उपन्यास

उपन्यासों का विश्लेषण — १- झूठा-सच
२- मैला आंचल

४- कहानी

कहानियों का विश्लेषण — १- डिप्टी कलेक्टरी
२- लन्दन की एक रात

५- नाटक

नाटकों का विश्लेषण — १- अंधा-युग
२- आषाढ़ का एक दिन

६- आलोचना

परिशिष्ट में — १- पुस्तक-समीक्षा
२- शोध, इतिहास और शास्त्र
३- साहित्यिक पत्रिकाएं

७- रचनात्मक साहित्य की भाषा — परिशिष्ट - २

(क) चयन — १०० पुस्तकों की सूची तथा प्रत्येक पुस्तक पर संक्षिप्त टिप्पणी

(ख) परिसंवाद — क्या स्वाधीनता प्राप्ति की तिथि हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्णायक रेखा है ?

१. [illegible] : देवीशंकर अवस्थी

२. शोध, इतिहास और शास्त्र : नामवर सिंह

३- [illegible] : [illegible]

आलेख		लेखक
१- परिवेश	:	नामवर सिंह
२- कविता	:	देवीशंकर अवस्थी
३- उपन्यास	:	कुंवर नारायण
४- नाटक	:	नेमिचन्द्र जैन
५- कहानी	:	मार्कण्डेय
६- आलोचना	:	अशोक वाजपेयी
७- रचनात्मक साहित्य की भाषा	:	अज्ञेय

रचनाओं का विश्लेषण

कविता

१- अज्ञेय	:	अशोक वाजपेयी
२- शमशेर	:	केदार नाथ सिंह
३- मुक्तिबोध	:	श्रीकान्त वर्मा

उपन्यास

१- झूठा-सच	:	नेमिचन्द्र जैन
२- मैला आंचल	:	निर्मल वर्मा

कहानी

१- लन्दन की एक रात	:	नामवर सिंह
२- डिप्टी कलैक्टरी	:	सुरेन्द्र चौधरी

नाटक

१- अंधा युग २- आषाढ़ का एक दिन	)	सुरेश अवस्थी

आलोचना

(परिशिष्ट में)

१- पुस्तक-समीक्षा	:	देवीशंकर अवस्थी
२- शोध, इतिहास और शास्त्र	:	नामवर सिंह
३- साहित्यिक पत्रिकाएं	:	अजित कुमार

पुस्तक-विवरण

(डिमाई अठपेजी)

१- परिवेश	:	३० पृष्ठ
२- कविता	:	४० पृष्ठ + १५ पृष्ठ टिप्पणियां
३- उपन्यास	:	४० पृष्ठ + २० पृष्ठ ,,
४- कहानी	:	३० पृष्ठ + १० पृष्ठ ,,
५- नाटक	:	२५ पृष्ठ + १२ पृष्ठ ,,
६- आलोचना	:	२५ पृष्ठ + १० पृष्ठ ,,
७- रचनात्मक साहित्य की भाषा	:	१५ पृष्ठ
परिसंवाद	:	२० पृष्ठ
पुस्तक सूची	:	२० पृष्ठ
संपादकीय	:	५ पृष्ठ
कुल :		लगभग ४०० पृष्ठ

'साहित्य विधाओं की प्रकृति' : भूमिका

असामयिक निधन के कारण देवीशंकर अवस्थी इस पुस्तक की भूमिका नहीं लिख पाये थे। परन्तु यह पुस्तक सृजनात्मक लेखन को सभी विधाओं के मूलभूत स्वरूप, उनके अन्तःतत्त्वों और उनकी प्रकृति का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करने के क्रम में विश्व के प्रमुख समीक्षकों के दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। हिन्दी समालोचना में ऐसे ख्यात और गम्भीर लेखकों को एक ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का यह पहला ऐतिहासिक प्रयास है।

'साहित्य विधाओं की प्रकृति' : अनुक्रम

अनुवाद (ईश्वर चन्द्र विद्यासागर)

प्रस्तुत पुस्तकमाला

व्यक्ति और उनका युग

होनहार के लक्षण

शिक्षा : संस्कृत या अंग्रेजी

तूफानी दशक

संस्कृत कॉलेज में छात्र के रूप में

संघर्ष का प्रारम्भ

शिक्षा-सुधार के लिए संघर्ष

भारतीय शिक्षा के लिए प्रयत्न

स्त्री-शिक्षा के उन्नायक

समाज-सुधार : विधवा-विवाह

समाज-सुधार : बहुपत्नी-प्रथा का विरोध

अन्य सार्वजनिक सेवाएँ

साहित्य और पत्रकारिता

संस्मरण

मानव और उसकी उपलब्धि

प्रस्तुत पुस्तकमाला

इस पुस्तकमाला का उद्देश्य भारत के उन महापुरुषों की जीवनियाँ प्रकाशित करना है, जिनका हमारे राष्ट्रीय पुनरुत्थान एवं स्वाधीनता संग्राम में प्रधान योगदान रहा है।

यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारी वर्तमान तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए इन महान् स्त्री-पुरुषों की जानकारी सहज सुलभ हो। खेद का विषय है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, ऐसे महापुरुषों की प्रामाणिक जीवनियाँ उपलब्ध नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तकमाला इसी अभाव की पूर्ति की दिशा में एक प्रयास है। हमारा विचार है कि हम अपने इन सुविख्यात नेताओं के सरल-संक्षिप्त जीवन-चरित उस विषय के सुपरिचित अधिकारी विद्वानों से लिखवाकर प्रकाशित करें। इनका उद्देश्य न तो सर्वांगपूर्ण अध्ययन-निरूपण होगा और न विस्तृत जीवनियों का स्थान ग्रहण।

अभीष्ट होने पर भी यह सम्भव नहीं होगा कि हम इन जीवनियों को काल-क्रमानुसार प्रकाशित कर पाएँ। इन पुस्तकों का लेखन ऐसे महानुभावों को सौंपने का विचार है, जो इसके लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। अतः व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण यह सम्भव है कि हम ऐतिहासिक काल-क्रम का पालन न कर सकें। तथापि, हमें पूर्ण विश्वास है कि शीघ्र ही इस पुस्तक में राष्ट्रीय महत्त्व के सभी यशस्वी व्यक्तियों के जीवन-चरित सुलभ हो जायेंगे।

इस पुस्तकमाला के सामान्य सम्पादन का कष्टसाध्य कार्य स्वीकार करने के लिए मैं अपने आदरणीय मित्र तथा बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल श्री आर.आर. दिवाकर का अत्यन्त आभारी हूँ। लेखक, सम्पादक तथा पत्रकार के नाते श्री दिवाकर के अनुभव तथा इन क्षेत्रों में उनकी ख्याति के फलस्वरूप हमें इस पुस्तकमाला में यथासम्भव उत्कृष्टतम पुस्तकें प्रकाशित करने में अवश्य सहायता प्राप्त होगी।

बी.वी. केसकर

नयी दिल्ली
25 नवम्बर, 1959

विषय-सूची

व्यक्ति और उनका युग

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष में कई महान् विभूतियाँ उत्पन्न हुईं। वह एक ऐसी शताब्दी थी, जिसमें नवजाग्रत सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियाँ विशिष्ट प्रकार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को ढाल रही थीं और उनसे माँग कर रही थीं कि वे समय की चुनौती का सामना करने में अपनी पूरी शक्ति लगाएँ। इस पुकार को सुनने में विद्यासागर अपने समय से बहुत आगे थे। जिन सामाजिक आदर्शों को उन्होंने एक शताब्दी पहले अपनाया था, वही आज वास्तविकता में परिणत होने लगे हैं।

अधिकांश लोग व्यक्तिगत रूप से किसी नवीन सामाजिक ढाँचे के निर्माण में सहायक नहीं होते हैं बल्कि वर्तमान ढाँचे में ही अपने-आप को ढाल लेते हैं, किन्तु समाज को तो सतत परिवर्तनशील जगत में जीवित होना है और आवश्यकता पड़ने पर व्यक्तियों को समाज के ढाँचे में परिवर्तन करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। अपने समय की चुनौती का मुकाबला करने के लिए विद्यासागर का एक महान् विभूति के रूप में प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अडिग बने रहे। इस प्रकार वह एक महान् समाज-सुधारक बन गये।

पश्चिम बंगाल के एक कुलीन राढ़ीय ब्राह्मण परिवार में इस महान् पण्डित का जन्म हुआ। इन ब्राह्मणों का अपनी जाति में सर्वोच्च स्थान था। अतएव वह अपनी सांस्कृतिक और वंश-परम्परा पर बहुत गर्व करते थे। अपने पूर्वजों से ही विद्यासागर ने गौरवमयी परम्परा प्राप्त की थी। जिस दरिद्रता में उनका जन्म हुआ था, वह भी उस गौरव को न मिटा सकी। सामाजिक सुधार के लिए उन्होंने अपने देश की परम्पराओं को भूलना नहीं चाहा। वह भारत के उन बहुत थोड़े-से व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने पिछली शताब्दी में नवीन पश्चिमी विचारों का भारतीय परम्परा के सर्वोत्कृष्ट विचारों से मेल मिलाने के लिए साहसपूर्ण संघर्ष किया।

बंगला में अपनी अपूर्ण आत्मकथा के रूप में विद्यासागर अपनी बाल्यावस्था की स्मृतियाँ छोड़ गये हैं। वह हमको बताते हैं कि उनके प्र-पितामह भुवनेश्वर विद्यालंकार की मृत्यु के पश्चात् उनके दो बड़े पुत्रों ने परिवार का भार सँभाला और तीसरे पुत्र,

अर्थात विद्यासागर के पितामह रामजय तर्कभूषण का पुश्तैनी जायदाद के लिए अपने दोनों भाइयों के साथ झगड़ा शुरू हो गया। इसके कारण संयुक्त परिवार टूट गया और विद्यासागर के पितामह पुश्तैनी गाँव छोड़कर चले गये।

उस समय बंगाल के मेदिनी जिले में वीरसिंह ग्राम में एक विद्वान पण्डित उमापति तर्कसिद्धान्त रहते थे। वह अपने समय के एक अच्छे व्याकरणवेत्ता थे। इनकी तीसरी पुत्री दुर्गा देवी से विद्यासागर के बाबा ने विवाह किया और उनके दो पुत्र और चार पुत्रियाँ पैदा हुईं। इनमें सबसे बड़े ठाकुर दास वन्द्योपाध्याय थे जो विद्यासागर के पिता थे। उनके बाबा के अपना पुश्तैनी गाँव छोड़ने के तुरन्त बाद ही उनकी दादी वीरसिंह ग्राम के पास अपने पिता के घर चली गयी किन्तु वहाँ का वातावरण सुखमय नहीं था। उनके पिता पण्डित उमापति को यह देखकर बड़ा दुख हुआ कि उनके पुत्र और पुत्रवधू ने उनकी पुत्री और बच्चों के साथ उचित व्यवहार नहीं किया। उन्होंने अपनी पुत्री के लिए अपने घर के ही निकट एक झोंपड़ी बनवाई और इस झोंपड़ी में ही दुर्गा देवी अपने छह बच्चों के साथ रहती थीं। उनके पति उस समय स्थान-स्थान पर भटक रहे थे और अपने बड़े भाइयों द्वारा किये गये अन्याय को नहीं भूल पा रहे थे। अकेले ही दुर्गा देवी को अपने छह बच्चों के लालन-पालन के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता था।

उस समय बंगाल में बहुत-सी असहाय और दरिद्र स्त्रियाँ चर्खा कातकर और जुलाहों के हाथ सूत बेचकर अपनी गुजर-बसर किया करती थीं। चर्खे के सामने बैठी हुई और अपने बच्चों से घिरी हुई विद्यासागर की दादी दुर्गा देवी रात-दिन सूत कातकर अपनी रोजी कमाती थीं। इसमें कुछ उनके पिता से सहायता मिल जाती थी। अपनी आत्मकथा में विद्यासागर ने बड़ी भावुकता से बताया है कि कैसे कष्टमय वातावरण में उनके पिता ठाकुर दास पाले-पोसे गये और जब ठाकुर दास केवल चौदह या पन्द्रह वर्ष के ही थे, तो वह गम्भीरतापूर्वक सोचने लगे कि परिवार का सबसे बड़ा पुत्र होने के नाते क्या यह उनका फर्ज नहीं है कि घर की गाड़ी चलाने में माँ का हाथ बँटाएँ। रोजी कमाने के उद्‌देश्य से ठाकुर दास ने कलकत्ता जाने का निश्चय किया। और कोई चारा नहीं था, इसलिए दुर्गा देवी ने बड़ी ही अनिच्छापूर्वक अपने पुत्र को बाहर जाने की अनुमति दे दी।

ठाकुर दास कोई असाधारण व्यक्ति नहीं थे किन्तु वह कर्तव्यपरायण, परिश्रमी तथा ईमानदार अवश्य थे। विद्यासागर के संस्मरणों में कलकत्ता में उनके जीवन-संघर्ष की कहानी दी गयी है, जिससे उपरोक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

उन दिनों शासकों की भाषा, अंग्रेजी की थोड़ी बहुत जानकारी किसी भी यूरोपीय दुकान में अथवा 'साहब' के मातहत नौकरी के लिए प्रमुख योग्यता मानी जाती थी। 1834 में प्रकाशित अंग्रेजी-बंगला शब्दकोश की भूमिका में रामकमल सेन लिखते हैं, "1774 में यहाँ (कलकत्ता में) सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना हुई और

इस समय से अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक एवं वांछनीय प्रतीत होने लगा था। उस समय यूरोपियन वकीलों के क्लर्क ही अंग्रेजी भाषा के शिक्षक होते थे। उन्हें अपने अंग्रेजी शब्द भण्डार का बड़ा अभिमान होता था जिसे वे अपनी जेबी नोट बुक में सावधानी से सुरक्षित रखते थे। उन लोगों को भी, जो अंग्रेजी के पूर्ण विद्वान माने जाते थे एक छोटी-सी शब्द पुस्तक और एक अक्षर विन्यास-पुस्तक अच्छी तरह कंठ कर लेनी होती थी। शिक्षा शुल्क प्रति विद्यार्थी चार रुपये से लेकर 16 रुपये होता था, जो 18वीं शताब्दी के लिए बहुत अधिक था। यह स्थिति 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दिनों में भी बनी रही जब विद्यासागर के पिता ठाकुर दास काम की तलाश में कलकत्ता गये थे।

यह ठीक समझा गया कि ठाकुर दास अंग्रेजी का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करें। और संस्कृत पढ़ने में अपनी शक्ति नष्ट न करें। ठाकुर दास के लिए खर्च की समस्या उनके एक निकट सम्बन्धी जगमोहन न्यायालंकार ने हल कर दी। उनके यह सम्बन्धी टोल (संस्कृत पाठशाला) चलाकर अच्छी तरह अपनी गुजर-बसर कर रहे थे। उन्होंने ठाकुर दास को भोजन और आश्रय दिया और अपने एक मित्र से उनकी रात्रि पाठशाला में ठाकुर दास को मुफ्त अंग्रेजी पढ़ाने के लिए कह दिया। ठाकुर दास ने इस अवसर का तत्परता से लाभ उठाया और वह रात्रि पाठशाला में नियमित रूप से जाने लगे। ऐसा करने में बहुधा उनको रात्रि का भोजन छोड़ देना पड़ता था। टोल के निर्धन विद्यार्थियों को अथवा उन बाहरी व्यक्तियों को, जिनको न्यायालंकार के घर में रहने की अनुमति प्राप्त थी, पण्डितजी के कड़े आदेशों के अनुसार सन्ध्या के तुरन्त बाद भी भोजन कर लेना पड़ता था। यदि किसी को देर हो जाती थी तो उसे उस रात भूखा ही रहना पड़ता था। अतएव ठाकुर दास को अंग्रेजी की रात्रि पाठशाला में उपस्थित रहने के लिए बहुधा रात को भोजन छोड़ देना पड़ता था।

शीघ्र ही उन्हें दो रुपये प्रति माह की नौकरी मिल गयी। अपने कठिन परिश्रम द्वारा ठाकुर दास ने अपनी तनख्वाह पाँच रुपये प्रति माह तक बढ़वा ली। दुर्गा देवी को अपने पुत्र के उज्ज्वल भविष्य का समाचार सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने वीरसिंह गाँव में गाँव वालों को मिठाई बाँटकर खुशी मनाई। ठाकुर दास के भाग्य ने और भी जोर मारा। अब उन्होंने न्यायालंकार जी का आश्रय छोड़कर अपने पिता के मित्र, भगवत चरणसिंह की शरण ली। यह एक धनी कायस्थ सज्जन थे। विद्यासागर 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक के प्रारम्भिक वर्षों में इन्हीं के बड़ा बाजार वाले मकान में रहे और वहीं उन्होंने कलकत्ता में अपना विद्यार्थी जीवन व्यतीत किया। भगवत चरणसिंह की विधवा पुत्री राइमणि ने अपने मातृवत प्रेम तथा देखभाल से विद्यासागर के मन पर अमिट छाप छोड़ी।

भगवत चरणसिंह ने ठाकुर दास को आठ रुपये प्रति माह की नौकरी दिलवा

दी। ठाकुर दास की अवस्था उस समय 24 वर्ष थी। उनका विवाह भगवती देवी के साथ हुआ था, जो पश्चिम बंगाल के हुगली जिले में गौघाट नामक स्थान के प्रसिद्ध पण्डित रमाकान्त तर्कवागीश की द्वितीय पुत्री थीं। इस प्रकार माता-पिता, दोनों ओर से विद्यासागर बडे ऊँचे कुल के थे। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का जन्म वीरसिंह गाँव में 26 सितम्बर, 1820 (बंगला सन 12 आश्विन, 1227) को हुआ।

भगवती देवी बहुत-सी बातों में एक असाधारण महिला थीं। वह गाँव वालों के लिए माता के समान थीं। उन्होंने अपने पुत्र विद्यासागर को यह उदारता और दयालुता दान में दी।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, विद्यासागर के घुमक्कड़ बाबा, रामजय तर्कभूषण ने अपने बड़े भाइयों के अनुचित व्यवहार के विरोध में अपने पुश्तैनी गाँव को त्याग दिया था। रामजय बहुत ही साहसी व्यक्ति थे। वह हाथ में एक बड़ी लाठी ले छाती ताने मस्त घूमा करते थे और सदैव अपने विश्वासों के अनुसार आचरण करते थे। अन्ततोगत्वा वह अपने ससुर के गाँव वीरसिंह में रहने को सहमत हो गये, जिससे उनकी पत्नी दुर्गा देवी की भावनाओं को ठेस न पहुँचे। उनके साले रामसुन्दर विद्याभूषण स्थानीय गाँव और समाज के एक प्रमुख व्यक्ति थे और अपनी उद्‌दण्डता के कारण सबके लिए हौवा बने हुए थे। रामजय इस व्यक्ति को बिल्कुल ही पसन्द नहीं करते थे और अन्य लोगों की तरह उन्होंने उनकी उद्‌दण्डता के सामने घुटने टेकने से साफ इनकार कर दिया था। वह बहुधा यह व्यंग्य कसा करते थे कि वीरसिंह भी और दूसरे बहुत-से गाँव के समान ही है, जहाँ बहुत-से 'चौपाये' और बहुत कम 'दोपाये' रहते हैं।

अपने 'विद्यासागर चरित' में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विद्यासागर के पितामह के चरित्र पर टिप्पणी की है—बंगाल की धरती में इस प्रकार के तीक्ष्ण बुद्धि और साहसी व्यक्ति बहुत कम पैदा होते हैं।

विद्यासागर को वीरसिंह गाँव में एक जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ी के अतिरिक्त अपने पूर्वजों के चरित्र के श्रेष्ठतम अंश मिले—जैसे अपने पिता की कर्त्तव्यपरायणता और ईमानदारी, अपनी माता की उदारता और गहरी मनुष्यता, अपनी दादी का दृढ़ निश्चय और सहनशीलता तथा अपने पितामह की सादगी, दृढ़ विश्वास तथा सत्यप्रियता।

होनहार के लक्षण

जब ईश्वर चन्द्र पैदा हुए, तो उनकी जन्मपत्री बनाई गयी। इससे यह फल निकला कि बच्चा हठी साँड़ होगा, पर वह यशस्वी, ईमानदार और सच्चा होगा। उनके बाबा हँसी-हँसी में ही उन्हें 'एड़े वायूर' या बछड़ा कहकर पुकारते थे और ऐसे ही उन्हें उनके पिता भी पुकारा करते थे। उनके इस मजाक-भरे कथन में बहुत कुछ सच्चाई का अंश मौजूद था। उनके बारे में यह भी कहा जाता था कि जो कुछ उनसे करने को कहा जाता था उसका वह उल्टा ही किया करते थे। ईश्वर चन्द्र के इन उल्टे-पुलटे कामों के कारण उनके पिता उनको कभी-कभी मारा-पीटा भी करते थे और इस तरह उनको सुधारने की कोशिश करते थे।

ईश्वर चन्द्र कभी भी शान्त रहने वाले बच्चे नहीं थे। वह अपने गाँव वालों के लिए लगातार एक परेशानी का कारण बने हुए थे। उनके बगीचों से वह फूल तोड़ लाते थे और उनके अन्धविश्वासों को चोट पहुँचाया करते थे। जीवन में बहुत आगे चलकर, जब एक भद्र पुरुष ने उनसे अपने अल्पवयस्क पुत्र की शरारतों की शिकायत की, तो ईश्वर चन्द्र ने मुस्कराते हुए कहा, "मेरे दोस्त! निराश मत हो, मैं भी बड़ा शरारती बच्चा था। मैं खूब उछल-कूदकर अपने माँ-बाप को चिढ़ाया करता और अपने अच्छे पड़ोसियों के धैर्य की परीक्षा लिया करता था। और अब उन सब शैतानियों के बावजूद किसी तरह मैं अपने पैरों पर खड़ा होने लायक हो गया हूँ। पर अब मैं समझता हूँ कि मेरा भविष्य कम-से-कम उतना अन्धकारमय भी नहीं है, जितना उन दिनों अक्ल के दावेदारों ने बताया था। कौन जानता है कि आपके बच्चे का भविष्य मुझसे अधिक उज्ज्वल नहीं तो, मुझसे कम भी न हो।"

विद्यासागर ने अपनी पहली प्रसिद्ध बंगला पुस्तक 'वर्ण परिचय' के पहले व दूसरे भागों में गोपाल के चरित्र के माध्यम से एक अच्छे और आज्ञाकारी बालक के आदर्श चरित्र का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। उसी कहानी में राखाल नामक बच्चे को एक शैतान बच्चे के रूप में वर्णित किया गया है। छोटे बच्चों को उसमें यही उपदेश दिया गया है कि उन्हें गोपाल के चरित्र का अनुसरण करना चाहिए, न कि राखाल के चरित्र का।

इस कहानी पर अपनी टीका-टिप्पणी करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'विद्यासागर चरित' में कहा है, "सीधे-सादे लोगों की हमारी इस वसुन्धरा पर गोपाल की भाँति आज्ञाकारी व विनम्र बच्चों की कोई कमी नहीं है। परन्तु यदि हठी व शैतान बालक राखाल और उसके प्रसिद्ध कथाकार विद्यासागर जी सरीखे लोग और ज्यादा संख्या में पैदा होने लगें, तो बंगालियों के चरित्र से कायरता का धब्बा बिल्कुल ही मिट जाता। अच्छे लड़के तो परीक्षाओं में पास होने के लिए, कर्त्तव्यशीलता के लिए और शादी-विवाह के बाजार में ऊँचा दहेज दिलाने के लिए ही अच्छे होते हैं परन्तु भविष्य में हमारे देश को आज्ञाकारी गोपाल की अपेक्षा राखाल जैसे अवज्ञाकारी लड़कों की ही अधिक आवश्यकता है।"

किन्तु ईश्वर चन्द्र पढ़ने-लिखने की दृष्टि से राखाल से बिल्कुल भिन्न थे। राखाल पढ़ने-लिखने से कन्नी काटता था जबकि ईश्वर चन्द्र पढ़ने में कभी फिसड्डी नहीं थे। कहना तो यह चाहिए कि कष्टों से जूझकर भी वह पढ़ते रहे।

उन दिनों लिखने, पढ़ने और साधारण गणित आदि की प्रारम्भिक शिक्षा तो गाँव की पाठशाला में ही दी जाती थी। इसके बाद अच्छे सम्पन्न ब्राह्मणों के बच्चे संस्कृत की ऊँची शिक्षा के लिए टोल में भेजे जाते थे। पाठशाला वीरसिंह गाँव में ही थी, परन्तु इसके गुरु महाशय 'चमोटी लागे चमचम, विद्या आवे झमझम' के कायल थे। इसी वजह से वह उनके लिए भय का कारण बने हुए थे। अतः ठाकुर दास ने कालिकान्त चट्टोपाध्याय नामक एक कुलीन ब्राह्मण को विद्यासागर को पढ़ाने के लिए चुना। कालिकान्त एक अच्छे और मधुर स्वभाव के शिक्षक थे परन्तु उनके लिए पाठशाला में पढ़ाने की अपेक्षा कुलीनत्व से प्राप्त अधिक लाभ का ज्यादा आकर्षण था। आखिरकार ठाकुर दास जी के आग्रह पर अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उन्हें एक पाठशाला खोलने को बाध्य होना पड़ा। प्रथा के अनुसार ईश्वर चन्द्र का विद्यारम्भ पाँचवें वर्ष में कालिकान्त जी के संरक्षण में हुआ।

कालिकान्त अपने शिष्य की तीक्ष्ण बुद्धि से काफी प्रभावित हुए। वह अकसर ईश्वर चन्द्र के पिता से कहा करते थे कि वह पाठशाला का पाठ्यक्रम तीन साल में ही पूरा कर लेगा, जो एक असाधारण बात थी। उनके गुरु ने ठाकुर दास से कहा कि अब समय आ गया है, जब ईश्वर चन्द्र को कलकत्ता के एक अच्छे अंग्रेजी स्कूल में ऊँची अंग्रेजी शिक्षा के लिए भेजा जाये। ठाकुर दास ने भी अच्छी शिक्षा के लिए कलकत्ता भेजने की जरूरत समझी।

ईश्वर चन्द्र का बचपन गाँव के सुस्त और निराशाजनक वातावरण में बीता था। आज के पश्चिमी बंगाल का यह गाँव उन दिनों काफी पिछड़ा हुआ था, जहाँ पर शिक्षा और संस्कृति नाममात्र की ही थीं। ईश्वर चन्द्र के होनहार दिमाग पर प्रभाव डालने वाली सामाजिक दृष्टि से खास बात शायद वहाँ एक ही थी। वीरसिंह और उसके आसपास मछुओं या छोटे-छोटे व्यापारियों की ही संख्या अधिक थी।

उनके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अभी भी कुछ ऐसे सजीव तत्त्व विद्यमान थे जिनकी झाँकी वहाँ के ग्रामीण त्योहारों और उत्सवों से ली जा सकती है और जिन्होंने अभी भी थोथे कर्म-काण्ड और रूढ़ियों का रूप ग्रहण नहीं किया था। उन दिनों ऊँची जाति के हिन्दुओं में जो रूढ़ियाँ फैली हुई थीं, वे सौभाग्य से वीरसिंह गाँव के देहाती वातावरण में मौजूद न थीं और विद्यासागर के क्रियाशील दिमाग के विकास में बाधक न हो सकीं।

ईश्वर चन्द्र कलकत्ता जाने के समय आठ वर्ष के थे। वह शरीर से दुबले, छोटे और अपने हम उम्रों की तुलना में कहीं अधिक शर्मीले व डरपोक थे। इसलिए यह सोचा गया कि उनके पिता व गुरु के साथ एक नौकर को भी कलकत्ता जाना चाहिए। यह शुभ दिन नवम्बर, 1828 को आया, जब चारों लोग वीरसिंह से सवेरे ही कलकत्ता के लिए रवाना हुए। वीरसिंह से कलकत्ता करीब 60 मील दूर था। सवेरे तड़के से शाम तक पैदल चलने पर लोगों को कलकत्ता पहुँचने में करीब तीन दिन लगे। ईश्वर चन्द्र के लिए निस्सन्देह यह एक कठिन यात्रा थी और उन्होंने इसे खूब अच्छी तरह से झेला। बारी-बारी से बीच-बीच में उनके पिता, गुरु व बुढ़े नौकर को उन्हें अपनी पीठ पर लादना पड़ता था।

तीसरे दिन वे लोग कलकत्ता के दूसरी ओर हुगली नदी के पश्चिम की तरफ सलकिया गाँव को जाने वाली नयी बनी सड़क पर पहुँचे। ईश्वर चन्द्र ने उस नयी सड़क पर 'मील के पत्थर' देखे, तो उनके बारे में उनकी जिज्ञासा बढ़ी। ठाकुर दास जी को उन्हें बताना पड़ा कि ये मील के पत्थर किसलिए लगे हैं। ईश्वर चन्द्र ने फौरन उन पर खुदे हुए अंकों को पढ़ा और शीघ्र ही उन्हें याद कर लिया। कालिकान्त और दास को उनकी तीव्र मेधा शक्ति पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। बूढ़ा नौकर तो उन्हें कन्धे पर बैठाकर खुशी के मारे सड़क पर ही नाचने लगा।

यात्रा के तीसरे दिन जब सूर्यास्त हो गया, उन्होंने एक नाव से हुगली नदी को पार किया और कलकत्ता के बड़े बाजार में पहुँचे। भागीरथी नदी के पश्चिम से पूर्व की ओर यात्रा मानो एक पुराने युग से नये युग की यात्रा थी। यह यात्रा वस्तुतः ईश्वर चन्द्र के जीवन की एक प्रमुख और स्मरणीय घटना थी।

शिक्षा : संस्कृत या अंग्रेजी

कलकत्ता पहुँचने पर, ठाकुर दास ईश्वर चन्द्र को अपने पुराने दोस्त भगवत चरणसिंह के यहाँ बड़ा बाजार ले गये। भगवत चरण सिंह की मृत्यु के बाद उस घर में उनका 25 वर्षीय जवान पुत्र जगत दुर्लभ अपनी माँ व विधवा बहन राइमणि के साथ रहता था। ठाकुर दास व ईश्वर चन्द्र का वहाँ हार्दिक स्वागत हुआ। राइमणि ने ईश्वर चन्द्र के साथ माँ की तरह स्नेहपूर्ण व्यवहार किया जिसे ईश्वर चन्द्र जीवन भर न भूल सके। ईश्वर चन्द्र ने अपनी आत्मकथा में लिखा भी है कि इस देवी के व्यक्तित्व की छाप मेरे दिमाग पर अमिट रूप से अंकित हो गयी थी। वह मेरी माँ की भाँति मेरे लिए पूज्य थीं। उनके दिव्य प्रेम को मैं कभी नहीं भूल सकता। इस वृद्धावस्था में भी जब कभी मुझे उनका स्नेह पूर्ण व्यवहार याद आता है तो मेरा दिल भर आता है। कहा जाता है कि राइमणि के प्रति ईश्वर चन्द्र के स्नेह, आदर भाव और उनके बचपन में ही विधवा होने पर उनके प्रति सहानुभूति ने ही उन्हें विधवा-विवाह के लिए लड़ने की प्रेरणा दी थी।

कलकत्ता पहुँचने के कुछ दिन पश्चात ईश्वर चन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा की जाँच के लिए एक बंगाली पाठशाला में भेजा गया। इस पाठशाला के शिक्षक स्वरूप चन्द्र कालिकान्त से अच्छे शिक्षक थे। लगभग तीन माह वह इस पाठशाला में पढ़े और अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी की। अब वह किसी भी उच्च स्तर के स्कूल में उच्च शिक्षा पाने के बिल्कुल योग्य हो गये थे। परन्तु प्रश्न था कि उनकी उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या संस्कृत।

ईश्वर चन्द्र के पिता, शिक्षक और उनके शुभचिन्तकों के लिए यह एक कठिन समस्या थी। अंग्रेजी व संस्कृत सीखने के लाभालाभ व उसके भविष्य पर विचार-विमर्श हुआ। अपनी आत्मकथा में ईश्वर चन्द्र ने इस समस्या के बारे में इस प्रकार लिखा है, "उन दिनों गुरु महाशय की पाठशाला में दी जाने वाली शिक्षा मैंने वीरसिंह गाँव में कालिकान्त से और कलकत्ता में स्वरूप चन्द्र से पायी। इसके बाद किस प्रकार की शिक्षा से मुझे अधिक लाभ हो सकेगा—इस बारे में मेरे रिश्तेदारों ने अपने-अपने सुझाव और परामर्श भेजने शुरू किये। हम लोगों का वंश पेशा 'टोल' और चतुष्पाठी

में पढ़ाने का था, पर मेरे पिताजी को प्रतिकूल परिस्थितियों से विवश होकर इसे छोड़ देना पड़ा था। अतः उन्होंने अपनी इस कमी को मेरे द्वारा पूरा करने का निश्चय किया था। उनका विचार था मुझे संस्कृत का विद्वान पण्डित बनकर अपनी निजी 'टोल' अपने ही गाँव में खोलकर अपनी वंशगत अध्यापनवृत्ति अपनानी चाहिए। उन्होंने अपने एक मित्र से यह भी कहा था कि मैं नहीं चाहता कि पैसे की खातिर विद्यासागर को अंग्रेजी शिक्षा दी जाये क्योंकि वह उसे केवल रुपया कमाने की मशीन मात्र बना देगी। उन्होंने उससे यह भी कहा था कि मैं विद्यासागर को अच्छे संस्कृत विद्वान और गाँव की टोल के विनम्र और सुशील अध्यापक के रूप में देखना अधिक पसन्द करूँगा।

"हमारे एक रिश्तेदार मधुसूदन वाचस्पति उन दिनों संस्कृत कॉलेज के विद्यार्थी थे। उन्होंने मेरे पिताजी से कहा कि उनकी यह इच्छा मुझे संस्कृत कॉलेज में भर्ती कर पूरी हो सकती है। इसके अलावा, उन्होंने यह भी कहा कि उस कॉलेज के मेधावी विद्यार्थियों के लिए बहुत-से और भी अवसर उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के तौर पर दीवानी अदालतों में जिला-न्यायाधीश को हिन्दू कानून के बारे में सलाहकार या जज पण्डित की आवश्यकता होती है। ऐसे पद उन सुयोग्य छात्रों के लिए सुरक्षित रहते हैं, जो संस्कृत के साथ-साथ कानून समिति की परीक्षा पास कर लेते हैं। मधुसूदन की सलाह मेरे पिताजी को जँच गयी। मुझे संस्कृत कॉलेज कलकत्ता में संस्कृत शिक्षा दिलाने का निश्चय किया गया।"

सन् 1829 में जब ठाकुर दास और उनके रिश्तेदारों में अंग्रेजी और संस्कृत के लाभालाभ और गुण-दोषों के बारे में विचार-विमर्श चल रहा था उसी समय अंग्रेजी शिक्षा के समर्थकों (ऐंग्लिसिस्ट) और संस्कृत शिक्षा के समर्थकों (ओरियंटलिस्ट) के बीच भी जोरदार विवाद छिड़ा हुआ था और यह 12 वर्ष तक जोरों से चलता रहा। यह विवाद 1822-23 से आरम्भ हुआ और 1829 तथा 1835 के मध्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस विवाद का अन्त 7 मार्च, 1835 को हुआ...जब मैकाले की सिफारिशों के आधार पर अंग्रेजी शिक्षा को राज्य-संरक्षण देने के पक्ष में लार्ड विलियम बेंटिक का प्रसिद्ध प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में भारतवर्ष में शिक्षा की प्रगति में कई महत्त्वपूर्ण अवस्थाएँ आयीं। प्रारम्भिक अवस्था में कम्पनी को कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं था और भारतीय जनता की शिक्षा उसकी प्रशासकीय नीति के अन्तर्गत नहीं आती थी। दूसरी अवस्था 1781 से 1791 तक प्राच्य विद्या के प्रोत्साहन की मानी जाती है, जब कलकत्ता, मद्रास, बनारस आदि में संस्कृत कॉलेजों की स्थापना हुई। इस नीति का उद्‌देश्य मुसलमान और हिन्दू अफसरों को कम्पनी के प्रशासनिक और न्याय सम्बन्धी पदों पर काम करने के लिए प्रशिक्षण देना था। तीसरी अवस्था वह है, जब 1813 में शिक्षा को राज्य के दायित्व और कर्तव्य के रूप

में वैधानिक मान्यता प्राप्त हुई और कुछ व्यक्तियों द्वारा भारतीयों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न किया गया। 6 मार्च, 1811 को मिंटो ने अपनी प्रसिद्ध सम्मति (मिनट) में शासकों द्वारा शिक्षा की उपेक्षा की आलोचना की और कहा, "यह कैसे दुख की बात है कि जो राष्ट्र अपने साम्राज्य के दूसरे भागों में विद्या के प्रसार के लिए काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है, वही हिन्दुओं के साहित्य को संरक्षण प्रदान करने और यूरोप के लोगों को उस साहित्य भण्डार से लाभान्वित कराने में विफल रहा।" इस पर, 1813 के चार्टर एक्ट के अधीन पहली कम्पनी की अमलदारी में भारतीय साहित्य के पुनरुत्थान और संवर्धन एवं भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन तथा विज्ञान की शिक्षा के लिए एक लाख रुपये की सालाना राशि स्वीकृत की गयी।

आगे चलकर देखा गया कि 1813 से 1830 तक बंगाल, मद्रास और बम्बई की प्रेसिडेंसियों में लगभग दो लाख रुपये सालाना शिक्षा पर खर्च होते रहे। हालाँकि 1823 में कलकत्ता में और 1826 में मद्रास में सार्वजनिक शिक्षा समितियों का तथा 1823 में बम्बई में शिक्षा समाज (एजुकेशन सोसाइटी) का गठन किया गया पर जाँच करने पर पता चला कि शिक्षा पर सुनियोजित ढंग से व्यय नहीं हो रहा था। इसी बीच 21 अगस्त, 1821 को गवर्नर जनरल ने यह संकल्प किया कि बनारस के संस्कृत कॉलेज की तरह कलकत्ता में भी एक संस्कृत कॉलेज स्थापित किया जाये और उसके खर्च के लिए 25,000 रुपये की सालाना राशि स्वीकृत की जाये। संकल्प में यह भी कहा गया कि इस संस्था का वर्तमान लक्ष्य तो हिन्दू साहित्य की अभिवृद्धि करना है, पर इससे भी बढ़कर इसका उद्देश्य हर सम्भव तरीके से भारतीय ज्ञान के साथ धीरे-धीरे यूरोपीय ज्ञान का प्रसार करना है। संकल्प के अनुसार बहू बाजार में किराए के मकान नं. 66 में 1 जनवरी, 1824 को कलकत्ता संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई। फिर इसे कॉलेज के नये भवन में 1 मई, 1826 को स्थानान्तरित कर दिया गया, जहाँ यह अब भी है।

स्पष्ट है कि तीसरे दशक के मध्य तक कम्पनी की शिक्षा-नीति अपना अन्तिम व निश्चित रूप न ले सकी थी। इसी बीच कुछ प्रमुख बंगालियों ने प्रसिद्ध शिक्षाविद् और पेशे से घड़ीसाज डेविड हेयर और न्यायाधीश एडवर्ड हाइड ईस्ट के सहयोग से 1817 में भारतीयों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए कलकत्ता में एक संस्था की स्थापना की। यह संस्था कई नामों से पुकारी जाती थी—हिन्दू कॉलेज, महाविद्यालय या एंग्लो-इण्डियन कॉलेज। वर्तमान प्रेसिडेंसी कॉलेज उसी संस्था का परवर्ती रूप है। यह कॉलेज उच्च वर्ग के कुछ बंगाली हिन्दुओं द्वारा शुरू किया गया था और इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि भारत में पश्चिमी शिक्षा के सूत्रधार राजा राममोहन राय का इस संस्था की स्थापना और विकास में कोई हाथ नहीं था।

इसका कारण आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है। 1815-16 से कलकत्ता में बस जाने के बाद, राजा राममोहन राय ने हिन्दुओं की प्राचीन रूढ़ि-रिवाजों, जैसे मूर्तियों,

बहुदेवोपासना, सती-प्रथा आदि पर प्रहार करना तथा उन्हें मिटाना शुरू कर दिया था। इस तरह के आन्दोलन ने रूढ़िवादी हिन्दुओं को भड़का दिया था। अतः स्पष्ट है कि रूढ़िवादी हिन्दुओं ने स्वभावतः राममोहन राय को मात्र हिन्दू लड़कों के लिए ऐसी संस्था कायम करने में सहयोग देने से इनकार कर दिया होगा। अतः राममोहन राय ने 1822 में कलकत्ता में एक अलग ही अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। उन्होंने एमहर्स्ट के पास अपना प्रसिद्ध पत्र भेजा, जिसमें उन्होंने सरकार द्वारा भारत में प्राच्य विद्या सम्बन्धी शिक्षा-नीति लागू करने की कटु आलोचना की थी। इस पत्र में उन्होंने कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज की स्थापना की सरकारी नीति का जबर्दस्त विरोध किया था और भारत में अधिक उदार तथा प्रबुद्ध शिक्षा-प्रणाली लागू करने की वकालत की थी, जिसके द्वारा गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन शास्त्र, शरीर विज्ञान तथा अन्य उपयोगी विज्ञानों की शिक्षा दी जा सके। उन्होंने यह दलील दी थी कि इन विज्ञानों की शिक्षा की बदौलत ही यूरोप के देश अन्य देशों की तुलना में अधिक समुन्नत हो सके हैं।

उस समय अंग्रेजी में प्राच्य विद्या सम्बन्धी शिक्षा-नीति के समर्थकों की संख्या अधिक थी, जबकि भारतीयों में अंग्रेजी शिक्षा के समर्थकों की संख्या कम थी। स्पष्ट रूप से राजा राममोहन राय ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रथम समर्थक थे। उन्होंने 1816 से 1830 में इंग्लैण्ड रवाना होने तक इस आन्दोलन को जोरों से चलाया था। इसी बीच हिन्दू कॉलेज में शिक्षित युवकों की एक नयी पीढ़ी उभर आयी, जिसने अंग्रेजी शिक्षा के समर्थकों के हाथ मजबूत किये। इसी समय 1829-30 में यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि ईश्वर चन्द्र को कैसी उच्चतर शिक्षा दी जाये। जब सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा-नीति का संकल्प कर लिया, तो प्राच्य विद्या शिक्षा-नीति के समर्थकों की संख्या घटने लगी। यह 1835 का समय था और यह ईश्वर चन्द्र के छात्रजीवन के बीच का समय था।

जब ठाकुर दास ने विद्यासागर को संस्कृत की शिक्षा देने का निश्चय किया, तो प्राच्य विद्या शिक्षा-नीति के समर्थक उस समय भी दृढ़ता से जमे हुए थे और अंग्रेजी शासक दोनों प्रकार की शिक्षा-नीतियों की दुविधा में पड़े हुए थे। शासक तो आगे का इन्तजार कर सकते थे, पर नौ साल के एक लड़के के भाग्य को अधर में नहीं डाला जा सकता था। अतः निश्चय के अनुसार बड़ी तेजी से काम किया गया और जून, 1829 को विद्यासागर को संस्कृत कॉलेज में भर्ती करा दिया गया। इस प्रकार गत शताब्दी के तीसरे दशक की हलचलमय परिस्थितियों में उनके विद्यार्जन का क्रम प्रारम्भ हुआ।

तूफानी दशक

पिछली शताब्दी के तीसरे दशक में अचानक कई ओर से तूफान उठने लगा। उसने सदियों पुरानी बहुत-सी प्रथाओं और विश्वासों को झकझोर दिया। समाज में घबड़ाहट और गड़बड़ी फैल गयी। 1829 से 1841 तक ईश्वर चन्द्र के विद्यार्थी जीवन में यह तूफान चलता रहा।

प्राच्य और अंग्रेजी शिक्षा के समर्थकों में संघर्ष के दौरान हिन्दू कॉलेज और संस्कृत कॉलेज दोनों ही उन्नति की ओर अग्रसर होते रहे। जनवरी, 1824 में हिन्दू कॉलेज के प्रबन्धकों ने सरकार से आर्थिक सहायता की याचना की और सार्वजनिक शिक्षा समिति कॉलेज के प्रबन्ध में हिस्सा पाने की शर्त पर ही सरकार उसको सहायता देने को राजी हुई। बंगाली हिन्दू प्रबन्धकों के पास इस शर्त को स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा न था। 1826 में गोल डिग्घी अर्थात् कॉलेज स्क्वायर में एक नया भवन बनाया गया। इसी भवन में हिन्दू कॉलेज और संस्कृत कॉलेज प्रतिष्ठित किये गये। इस भवन के मध्य में संस्कृत कॉलेज और पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में हिन्दू कॉलेज था। दोनों संस्थाओं के बीच इस इमारती सम्बन्ध ने प्राचीन भारतीय और आधुनिक पश्चिमी विचारधाराओं के बीच की खाई पाटने में बहुत योग दिया।

किन्तु सामाजिक प्रथाओं ने इस सम्बन्ध को तोड़ दिया। संस्कृत कॉलेज केवल ऊँची जाति के ब्राह्मण और वैश्य परिवारों के बालकों के लिए था। हिन्दू कॉलेज मुसलमान और ईसाइयों को छोड़कर कम-से-कम कहने के लिए तो सभी जातियों के हिन्दू लड़कों के लिए था। इस प्रकार जाति-पाँति और साम्प्रदायिकता के बन्धनों ने प्राच्य और पाश्चात्य विद्या के क्षितिज को संकुचित कर दिया था। प्रारम्भ में दोनों कॉलेजों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को आपस में मिलने-जुलने से रोकने के लिए जो एहतियात बरती गयी, उसको पढ़कर हँसी आती है।

दोनों भवनों को एक ऐसी दीवार बनाकर अलग किया गया, जिसके ऊपर लोहे की रेलिंग लगी हुई थी। इसका उद्देश्य यह था कि दो विभिन्न वर्णों के विद्यार्थी, अर्थात् द्विज और शूद्र एक-दूसरे के सम्पर्क में न आ सकें। इसी प्रकार एक ही फाटक से प्रवेश करने की अनुमति तो थी, पर वह इतना चौड़ा था कि विद्यार्थी

बिना एक-दूसरे को छुए उससे गुजर सकें। भवन के मध्य भाग को जंगला लगाकर बन्द कर दिया गया था ताकि एक संस्था के विद्यार्थी दूसरी संस्था के अहाते में न जा सकें। दोनों कॉलेजों के 'आउट हाउसेज' और दफ्तरों को भी बिल्कुल अलग रखना जरूरी समझा गया।

ईश्वर चन्द्र को अपना विद्यार्थी जीवन सरस्वती के इस भव्य मन्दिर के घेरों और जंगलों के भीतर गुजारना पड़ा। इन परिस्थितियों ने हिन्दू कॉलेज को अपनी शिक्षा द्वारा यूरोपीय ज्ञान से भारत के मनीषियों को लाभान्वित करने अथवा संस्कृत कॉलेज में संस्कृत भाषा और साहित्य की शिक्षा के साथ-साथ धीरे-धीरे यूरोपीय ज्ञान को फैलाने का प्रमुख स्रोत नहीं बनने दिया।

फिर भी ऐसे वातावरण में ईश्वर चन्द्र अपनी बाल्यावस्था पार कर युवावस्था में पहुँचे और उनके बौद्धिक क्षितिज का बहुत अधिक विस्तार हुआ। ज्ञान सागर के पूर्वी तट पर खड़े हुए वह पश्चिम की ओर घेरों और लोहे की रेलिंगों के पार देख रहे थे और वह इन रुकावटों को दूर करने के लिए व्याकुल थे, जिससे कि पूर्व और पश्चिम के बीच विचारों का स्वच्छन्द, किन्तु विवेकपूर्ण आदान-प्रदान हो सके।

इस स्थिति को हिन्दू कॉलेज के नवयुवक विद्यार्थियों के एक दल ने अपने उग्र कार्य-कलापों से और भी बिगाड़ दिया। ये विद्यार्थी 'डेरोजियन्स' कहलाते थे, क्योंकि इनके शिक्षक व गुरु, एच.एल.वी. डेरोजियो यूरेशियन थे, जो एक नवयुवक कवि, दार्शनिक और शिक्षक थे। इन नवयुवकों के दल का प्रचलित नाम 'यंग बंगाल' और 'यंग कलकत्ता' था। इनका प्रादुर्भाव पिछली शताब्दी के दूसरे दशक के अन्तिम चरण में हुआ था और वह अपने मूर्ति-भंजक विचारों और सामाजिक सुधार के लिए उग्र उत्साह के कारण तीसरे दशक में खूब फूले-फले। संस्कृत कॉलेज में ईश्वर चन्द्र के विद्यार्थी जीवन के प्रथमार्द्ध में यह सब हुआ।

डेरोजियो का जन्म कलकत्ता में 10 अप्रैल, 1809 को हुआ और उनकी मृत्यु 22 वर्ष की अवस्था में 1831 में हुई। 1827 में हिन्दू कॉलेज में वह अध्यापक नियुक्त हुए। उस समय वह केवल 18 वर्ष के थे। उनके आकर्षक व्यक्तित्व और कुशाग्र बुद्धि ने कॉलेज के वरिष्ठ विद्यार्थियों को अपनी ओर खींच लिया था। उनकी जीवनी लिखने वाले थामस एडवर्ड्स का कथन है, "न तो डेरोजियो से पहले और न बाद में भारत के किसी भी देशी विद्यालय में किसी अध्यापक ने अपने शिष्यों पर उनके बराबर प्रभाव डाला।" उस समय की घटनाएँ इस बात का स्पष्ट सबूत हैं।

सन् 1827 और 1830 के बीच नवयुक 'डेरोजियन्स' खूब फूले-फले। डेरोजियो के ही शब्दों में, वह नये फूलों की पंखुड़ियों के समान बढ़ रहे थे और अपनी शक्ति आजमाने के लिए अपने पंखों को तोल रहे थे। वह इस नवयुवक अध्यापक की देखरेख में बेकन, लाक, बैकले, ह्यूम, रीड, थामस पेन, डूगाल्ड स्टुअर्ट तथा अन्य लोगों की कृतियों का अध्ययन कर रहे थे और उनके विचारों में एक क्रान्ति-सी हो

रही थी। वह अपने समाज की सभी बातों पर तर्क करना सीख रहे थे और कोई भी बात कितनी भी प्राचीन या व्याप्त क्यों न हो, बिना समझे मानने को तैयार न थे। वह अपनी कक्षा में अपने अध्यापक डेरोजियो की बैठक में और अपनी संस्था 'दि एकेडेमिक एसोसिएशन' में गम्भीर विषयों पर वाद-विवाद करते रहते थे। रेवरेंड लाल बिहारी डे अपने संस्मरणों में लिखते हैं कि इस संस्था (एकेडेमिक एसोसिएशन) की साप्ताहिक बैठकों में 'नवयुवक कलकत्ता' के चुने हुए सदस्य अपने समय के सामाजिक, नैतिक और धार्मिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से वाद-विवाद करते थे। इस वाद-विवाद में तत्कालीन धार्मिक संस्थानों के प्रति विद्रोह का रुख तो नजर आता था।" 'एकेडेमी' के जवान शेर हर सप्ताह दहाड़ा करते थे। उनका नारा होता था—'हिन्दू धर्म का नाश हो कट्टरपन्थी का नाश हो।' इन सब बातों के कारण हिन्दू समाज में घबड़ाहट फैल गयी और उसके वरिष्ठ व्यक्तियों ने स्थिति पर विचार किया।

इस समय, जलती हुई आग को और भी भड़काते हुए, भारत में गवर्नर-जनरल विलियम बेंटिक ने बहुत आगा-पीछा सोचने के बाद 4 दिसम्बर, 1829 को कानून द्वारा सती-प्रथा समाप्त कर दी। उस समय बहुत-से अंग्रेज इस कानून के विरोधी थे क्योंकि उनकी राय में यह हिन्दू धर्म में हस्तक्षेप करने के समान था। 25 नवम्बर, 1826 के पत्र में जो सरकार के सैनिक सचिव को भेजा गया था, प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद् एच.एच. विल्सन ने लिखा, "हो सकता है कि कलकत्ता में एक या दो व्यक्तियों की, जिन्होंने धर्म के सिद्धान्तों और परम्पराओं का विरोध करके ख्याति प्राप्त की हो सम्मति भिन्न हो, किन्तु जनता के बहुत बड़े भाग का विचार एक पैसा है और सरकार को मुट्ठी-भर लोगों के लिए नहीं बल्कि आम हिन्दू जनता के लिए कानून बनाना चाहिए।" 'ज्युडीशियल कंसल्टेशन' (क्रिमिनल) 4 दिसम्बर, 1829 को विल्सन के पत्र में 'कलकत्ता के एक या दो व्यक्ति' इन शब्दों से इशारा स्पष्ट रूप से राजा राममोहन राय और उनके कुछ साथियों की ओर था। इस कानून ने हिन्दू भावनाओं पर तीव्र आघात किया और ऐसा ज्ञात होता था कि 1829-30 में सारी हिन्दू-जाति उसके विरोध में उठ खड़ी हुई थी। 17 जनवरी, 1830 को सनातनी हिन्दुओं ने धर्मसभा की स्थापना की, जिससे कि वे इस कानून के विरुद्ध संघर्ष कर सकें और उसे समाप्त करा सकें।

एक ओर उग्र सुधारवादी डेरोजियनों की सुधार के लिए चीख-पुकार थी और दूसरी ओर कट्टरपन्थी हिन्दू सम्प्रदाय का जोरदार विरोध था। इन सब कारणों से फैली अव्यवस्था की स्थिति में प्रसिद्ध मिशनरी अलेक्जेंडर डफ 27 मई, 1830 को कलकत्ता आया। स्काटलैण्ड में विदेशी मिशनों की समिति ने उसको भारत में ईसाई धर्म फैलाने और ईसाई शिक्षा की नींव डालने के लिए भेजा था। उसने बंगाल के पढ़े-लिखे नवयुवकों के मस्तिष्क में हो रही क्रान्ति को देखा और उनके धार्मिक और सामाजिक विचारों की तीव्रता और उन विचारों के पीछे स्वतन्त्रता की जो उदात्त

भावना थी, उसे समझा। अपनी पुस्तक 'इण्डिया एण्ड इण्डियन मिशंस' में डफ ने कहा है कि हमने इस स्थिति का स्वागत किया। ऐसा जान पड़ता था कि वह समय आ गया है, जिसकी हम प्रतीक्षा कर रहे थे, जिसे हम बहुत चाहते थे और जिसके लिए हम ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे। उसने 13 जुलाई, 1830 को राजा राममोहन राय के सहयोग से, जो नवम्बर, 1830 में विलायत जाने वाले थे, कलकत्ता में जोड़ासांकू मोहल्ले में जनरल एसेंबली की ओर से एक विद्यालय की नींव डाली। उस समय उसमें केवल पाँच विद्यार्थी थे। उसने ईसाई धर्म पर कुछ भाषणों की व्यवस्था की। ये भाषण वह स्वयं लन्दन मिशनरी सोसाइटी के रेवरेंड एडम, उसी सोसाइटी के रेवरेंड हिल और रेवरेंड डेलट्री, जो बाद में मद्रास के बिशप नियुक्त किये गये, देने वाले थे। अगस्त, 1830 में कलकत्ता में शिक्षित नवयुवकों, हिन्दुओं को एक बड़े जनसमूह के सामने जो परिचयात्मक भाषण दिया गया, उसमें मानो हिन्दू कॉलेज के प्रबन्धकों पर एक बम-सा गिरा दिया गया था। उन्होंने सोचा कि उनके पूर्वजों का धर्म खतरे में है और विद्यार्थी शीघ्र ही धर्म परिवर्तन कर ईसाई हो जायेंगे। अतएव उन्होंने यह नियम बना दिया कि कोई भी विद्यार्थी, जो मिशनरियों के भाषण सुनने जायेगा, कॉलेज से निकाल दिया जायेगा। नवयुवक सुधारक विद्यार्थियों ने कॉलेज के प्रबन्धकों के इस निरंकुश आदेश का जोरदार विरोध किया। वाद-विवाद की संस्थाएँ खोली गयी, जिनमें हिन्दुओं की धार्मिक असहिष्णुता, कट्टरता और अत्याचार की मनमानी की निन्दा की गयी और असंयत भाषा में खरी-खोटी सुनाई गयी।

इस आन्दोलन के कारण अप्रैल, 1831 में डेरोजियो को हिन्दू कॉलेज छोड़ देना पड़ा और आगे चलकर दिसम्बर में उसकी मृत्यु हो गयी।

दो प्रमुख डेरोजियन 17 वर्षीय कृष्णमोहन बनर्जी और 18 वर्षीय दक्षिणारंजन मुखर्जी ने एक अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र 'इन्क्वायरर' और दूसरा बंगला साप्ताहिक 'ज्ञानान्वेषण' (ज्ञान की खोज) 1831 की मई और जून में निकालना प्रारम्भ किया। पुरातन प्रेमी 'समाचार चन्द्रिका' ने उग्रवादियों के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाया। यूरोपियनों द्वारा अधिकृत 'दी बंगाल हरकारू एण्ड इण्डिया गजट' और श्रीरामपुर के 'बैप्टिस्ट मिशनरियों के' बंगला समाचारदर्पण ने वामपन्थियों और दक्षिणपन्थियों के मध्य बीच का रास्ता अपनाया और दोनों को ही उनकी उग्रताओं के लिए झिड़का और फटकारा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के चाचा प्रसन्न कुमार ठाकुर द्वारा सम्पादित अंग्रेजी साप्ताहिक 'रिफ़ार्मर' ने उदार दृष्टिकोण पेश किया और इसने थोड़ा बहुत राममोहन राय के साथी और अनुयायी ब्रह्मसमाजियों के विचारों का प्रतिनिधित्व किया। इस प्रकार कंजर्वेटिव्स (कट्टरपन्थी हिन्दू), मॉडरेट्स (ब्रह्मसमाजी) और रैडिकल्स डेरोजियन्स अन्तिम शताब्दी के तीसरे दशक के सामाजिक रंगमंच पर पूरी तरह तैनात होकर खेल खेल रहे थे। इस समय ईश्वर चन्द्र संस्कृत कॉलेज में थे। इस समस्त आन्दोलन का केन्द्र संस्कृत कॉलेज की इमारत के दो कक्षों में स्थित

हिन्दू कॉलेज ही था। ईश्वर चन्द्र इस दशक में अपनी युवावस्था की ओर बढ़ रहे थे इसलिए यह तूफान उनके बढ़ते हुए मस्तिष्क पर कुछ छाप छोड़े बिना न रह सका।

इस दशक के तथा उनके विद्यार्थी जीवन समाप्त होते-होते इस तूफान के बादल धीरे-धीरे तिरोहित होने लगे। तत्कालीन धुँधले सामाजिक वातावरण पर इस चमक के कुछ ही निशान शेष रह गये थे। पढ़े-लिखे बंगालियों ने मई, 1838 में 'दी सोसाइटी फार एक्जीबीशन ऑफ जनरल नालेज' और 1839 के अक्तूबर में 'तत्त्वबोधिनी' सभा की स्थापना की। ये दोनों उस समय प्रमुख सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ बन गयीं और इनका उद्देश्य बिगड़ती हुई सामाजिक स्थिति को नियन्त्रण में लाना तथा पूर्व और पश्चिम के विरोधी आदर्शों में सामंजस्य-समन्वय स्थापित करना था। प्रमुख रूप से यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और उनकी 'तत्त्वबोधिनी' सभा के प्रभाव से ही सम्भव हो सका था। इस सभा ने ब्रह्मसमाज का काम भी अपने हाथ में ले लिया, क्योंकि समाज का नैतिक और सामाजिक प्रभाव राममोहन राय के 1830 में बंगाल से विलायत चले जाने और 1833 में वहाँ उनकी मृत्यु हो जाने के उपरान्त धीरे-धीरे क्षीण होने लगा था। देवेन्द्र नाथ के संकल्पों के कारण बहुत पहले ही सभा शक्तिशाली और गतिशील हो गयी थी तथा तरह-तरह के उदार विचारों वाले पढ़े-लिखे बंगाली युवकों के मिलने-जुलने का केन्द्र बन गयी थी। तीसरे दशक के बहुत-से डेरोजियन चौथे दशक में भी इससे सम्बन्धित रहे और असके अत्यन्त प्रभावशाली सदस्य बने रहे। स्वभावतः ईश्वर चन्द्र इस संगठन की ओर आकर्षित हुए। अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के बाद धीरे-धीरे वह इसमें शामिल हो गये। सभा और इसके बंगाली मुखपत्र 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' की उदार नीति ने, जिससे वह सम्बन्धित हो गये थे, उन्हें आगे आने वाले वर्षों में देश के सामाजिक रंगमंच पर भूमिका अदा करने के लिए अपने को सज्जित करने का मौका दिया।

संस्कृत कॉलेज में छात्र के रूप में

कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज में शिक्षा की परम्परागत टोल चतुष्पाठी प्रणाली उस समय तक सख्ती से लागू थी। न शिष्यों के लिए बेंचें थीं और न गुरुओं के लिए कुर्सियाँ ही। वे लोग कमरों में चटाइयों पर बैठा करते थे और अपने कागज व किताबें कपड़े के बस्ते में लपेटकर लाया-ले जाया करते थे। उन दिनों कुछ ही छपी हुई किताबें होती थीं। विद्यार्थियों को अपने पाठ हाथ से लिखी हुई किताबों से नकल करने पड़ते थे। पुरानी प्रथा के अनुसार केवल ब्राह्मण व वैश्य लड़के ही कॉलेज में भर्ती किये जाते थे। पढ़ाने का ढंग भी उसी पुरानी 'टोल' जैसा ही था। अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी पर यह अनिवार्य विषय नहीं था। अतः अधिकारियों और विद्यार्थियों में उसके प्रति उदासीनता का भाव फैला हुआ था। यह उनके नियमित पाठ्यक्रम का अंग भी नहीं थी। विद्यार्थियों को व्याकरण से शुरू करना होता था, क्योंकि संस्कृत का प्रमुख प्रवेश-द्वार व्याकरण ही था। जब व्याकरण काफी पक्का हो जाता था, तो साहित्य, अलंकार, स्मृति, वेदान्त और न्याय की शिक्षा दी जाती थी, क्योंकि एक अच्छे संस्कृत विद्वान के लिए इनकी शिक्षा जरूरी थी। इन श्रेणियों को पार करने में करीब बारह वर्ष लग जाते थे।

ईश्वर चन्द्र के लिए व्याकरण टेढ़ी खीर थी या एक ऐसा भीषण मरुस्थल था जिसमें एक तृण भी न दिखाई देता हो। यद्यपि उनके गुरुओं ने व्याकरण को उनके लिए काफी सरल और मनोरंजक बनाने की कोशिश की थी, परन्तु वह उसे अपने कमजोर स्वास्थ्य के बावजूद रात में काफी देर तक घोंटा करते थे। आखिर किसी तरह तीन-चार साल में उन्होंने उस मरुस्थल को पार किया और फिर तो उन्होंने बहुत-से वजीफे व इनाम भी जीते। शिक्षा सुधारक के रूप में उन्होंने जो पहला कार्य किया, वह संस्कृत व्याकरण को सुधारने तथा बंगाली भाषा के माध्यम से सीखने के लिए इसे छात्रों के लिए सुबोध और सरल बनाना था।

उन दिनों विद्यार्थियों को अंग्रेजी प्रारम्भिक शिक्षा व्याकरण की कक्षाओं में दी जाती थी। ईश्वर चन्द्र ने इसमें बहुत कमाल दिखाया और इसमें उन्हें इनाम भी मिले। पर उनकी अंग्रेजी शिक्षा एकाएक 1835 में ही, जब अधिकारियों ने कॉलेज में

अंग्रेजी विभाग समाप्त करने का निश्चय किया समाप्त हो गयी चूँकि उन्होंने संस्कृत व्याकरण पर अधिकार प्राप्त कर लिया था, अतः उन्हें 1835 में 'साहित्य' के लिए सुयोग्य समझकर प्रवेश दे दिया गया। उन दिनों, पण्डित जयगोपाल तर्कालंकार संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान माने जाते थे और कॉलेज में संस्कृत साहित्य के प्राध्यापक थे। उनके कुछ शिष्यों ने बताया है कि कक्षा में किसी संस्कृत काव्य के स्थल का पाठ करने के बाद वे अर्धोन्मीलित नेत्रों से आनन्द-विभोर होकर उसके साहित्य-सौन्दर्य की व्याख्या करते थे। मन्त्र-मुग्ध विद्यार्थी भी कक्षा के नीरस वातावरण से निकलकर, साहित्य के आह्लाद भरे कल्पना-लोक में विचरण करने लगते थे। ईश्वर चन्द्र को भी सौभाग्यवश जयगोपाल से संस्कृत साहित्य के अध्ययन का मौका मिला। वह अन्तिम परीक्षा में 1834-35 में प्रथम आये और उन्हें इनाम भी मिले। उनके लम्बे विद्यार्थी जीवन के शायद ये ही दो वर्ष (साहित्य कक्षाओं के ही) सबसे सुखद रहे।

उन दिनों के प्रचलित रिवाज के अनुसार ईश्वर चन्द्र का विवाह दिनमयी देवी के साथ केवल चौदह वर्ष की अवस्था में हो गया। दिनमयी देवी वीरसिंह गाँव के पास ही खिरपाई गाँव के एक मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में जन्मी थीं।

ईश्वर चन्द्र अलंकार, वेदान्त और स्मृति कक्षाओं को बड़ी योग्यता से पास करने के बाद 1839 में हिन्दू ला कमेटी की परीक्षा में बैठे, उत्तीर्ण हुए और किसी भी न्यायालय के 'हिन्दू कानून अधिकारी' के पद के योग्य हो गये। कमेटी के सदस्यों तथा अध्यक्ष द्वारा मई, 1839 में जो प्रमाण-पत्र उन्हें दिया गया उसमें उनका नाम ईश्वर चन्द्र विद्यासागर लिखा गया। इससे जाहिर है कि 1839 में ही उन्होंने 'विद्यासागर' की उपाधि प्राप्त कर ली थी, न कि अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद 1841 में, जैसा कि समझा जाता है।

ला कमेटी की परीक्षा पास करने के बाद उन्हें पश्चिमी बंगाल के त्रिपुरा जिले में 'जज पण्डित' का पद मिल रहा था। आर्थिक कारणों से ईश्वर चन्द्र इस नौकरी के लिए उत्सुक थे पर उनके पिताजी यह नहीं चाहते थे कि पढ़ाई पूरी किये बिना वह नौकरी पर जायें। अतः उन्हें प्रस्ताव को ठुकराना पड़ा और अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए उन्होंने न्याय दर्शन पढ़ना शुरू किया। पुनः उन्हें उस समय के न्याय के दो महान् विद्वानों के, अपने शिक्षक के रूप में, सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला। ये थे—निमाईचन्द शिरोमणि और जयनारायण तर्कपंचानन। वह 1840-41 में न्याय दर्शन की अन्तिम परीक्षा में भी प्रथम आये और उन्हें 100 रुपये का नकद पुरस्कार मिला। इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत की काव्य-रचना में 100 रुपये, सबसे अच्छी देवनागरी लिपि लिखने के पुरस्कार-स्वरूप 8 रुपये, कम्पनी के कानूनों की दक्षता में 25 रुपये और आठ रुपये की मासिक वृत्ति भी जीती।

उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन के सारे नकद पुरस्कार व छात्रवृत्तियाँ अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए पिताजी को दे दीं। उनके पिताजी ने इसका कुछ

भाग वीरसिंह गाँव में 'टोल' की जमीन खरीदने के लिए रख दिया और अपने बेटे को सलाह दी कि बाकी पैसा वह संस्कृत की दुर्लभ पाण्डुलिपियों को खरीदने में खर्च करे। यह कार्य उन्होंने बड़े अनुराग और उत्साह से किया और बहुत-सी हस्तलिखित पोथियाँ इकट्ठी कीं। उन्होंने बहुत-सी पाण्डुलिपियों की लिपिकों से नकल भी करवाई। उनका प्रसिद्ध पुस्तकालय कलकत्ता के बंगीय साहित्य परिषद में आंशिक रूप से आज भी सुरक्षित है।

4 दिसम्बर, 1841 को संस्कृत कॉलेज में 12 वर्ष पढ़ने के बाद उन्हें संस्कृत भाषा और साहित्य की प्रवीणता का अन्तिम प्रमाण-पत्र दिया गया। यह प्रमाण-पत्र प्राप्त हो गया है और बंगीय साहित्य परिषद के संग्रह में सुरक्षित है।

अपने विद्यार्थी जीवन में असाधारण सफलताओं और प्रतिभा के लिए विद्वान प्राध्यापकों द्वारा भी उन्हें एक विशेष प्रमाण-पत्र 10 दिसम्बर, 1841 को दिया गया। उनका विद्यार्थी जीवन इसी तिथि को, जब वह 21 वर्ष और कुछ महीनों के थे, समाप्त हुआ। सरस्वती के मन्दिर से निकलकर उन्होंने कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया।

संघर्ष का प्रारम्भ

अब ईश्वर चन्द्र विद्यासागर को अपने जीवन-पथ का चुनाव स्वयं करना था। उन्हें पग-पग पर शहर के नये वातावरण से जूझना था। अपने पूर्ववर्ती राममोहन राय की तरह वह समाज सुधार तथा शिक्षा में अग्रणी हुए और उन्हीं की भाँति उन्हें राष्ट्रीय परम्परा का भी गम्भीर ज्ञान था।

उनके जीवन की प्रमुख घटनाएँ इस प्रकार थीं—सर्वप्रथम फोर्ट विलियम कॉलेज में 1841 के दिसम्बर से बंगला विभाग के सरिश्तदार प्रधान पण्डित अप्रैल, 1846 में संस्कृत कॉलेज के सहायक सचिव, 1847 में उस पद से इस्तीफा और मार्च, 1849 में फोर्ट विलियम कॉलेज में प्रमुख लेखक और कोषाध्यक्ष के स्थान पर पुनः नियुक्ति। 19वीं शताब्दी के पाँचवें दशक में, जब वह संस्कृत कॉलेज के आचार्य थे, उन्होंने शिक्षा व समाज सुधार की ही ओर ध्यान दिया। नवम्बर, 1858 में आचार्य-पद से इस्तीफा देने के बाद उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। धीरे-धीरे वह सामाजिक रंगमंच से दूर होते गये। यद्यपि वह 1891 तक जीवित रहे, परन्तु वह उस क्षेत्र में अगुआ बनकर फिर कभी नहीं आये, शायद इसका कारण यह था कि उन्हें अपने लम्बे जीवन में बहुत-सी निराशाएँ झेलनी पड़ी थीं।

विद्यासागर के जीवन में 1841 से 1850 तक का समय बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा और अगले 50 वर्षों में उन्हें जो प्रतिष्ठा मिली उसका भी कारण यही था। इस शताब्दी के अन्त तक स्पष्ट हो गया था कि उन्होंने अपना अन्तिम संकल्प कर लिया था और उससे वह कभी पीछे नहीं हटे। दिसम्बर, 1841 में वह फोर्ट विलियम कॉलेज के बंगला विभाग के प्रधान पण्डित नियुक्त किये गये। यह कॉलेज वेलेजली ने 24 नवम्बर, 1800 को कलकत्ता में स्थापित किया था। इसका उद्देश्य कम्पनी के निम्न कोटि के नौकरों को उनके पहले-पहल भारत आने पर, भारतीय प्राच्य भाषाओं की शिक्षा देना था। शुरू से लेकर इसके 41 साल के जीवन में बहुत-से बंगाली और हिन्दुस्तानी पण्डित और मुसलमान मौलवी कॉलेज में भारतीय प्राच्य भाषाओं के अध्यापक नियुक्त किये गये और वे उस समय के कुछ अच्छे-अच्छे मेधावी अंग्रेजों के घनिष्ठ सम्पर्क में भी आये थे। इस शिक्षा संस्था में बड़ा ही उपयुक्त वातावरण पैदा

हो गया था और वहाँ यूरोपियन और भारतीय विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान बड़ी स्वतन्त्रता से हो सकता था। यहाँ पर पण्डित लोग पश्चिम के नये उदारवाद से काफी प्रभावित हुए और नये अंग्रेजी शासक भी हमारे यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा की गरिमा तथा उदारता से परिचित हुए।

जब विद्यासागर कॉलेज में आये तो इसका वातावरण व स्तर तीव्र गति से गिरता जा रहा था। वह कॉलेज में औद्योगिक क्रान्ति युग के बाद के कुछ प्रतिभा-सम्पन्न अंग्रेजों के निकट सम्पर्क में आये जिससे वह आधुनिक दृष्टिकोण बना सके।

विद्यासागर के प्रति कॉलेज के सचिव कैप्टन मार्शल का बड़ा स्नेह हो गया था और उन्होंने कॉलेज में उन्हें अंग्रेजी तथा हिन्दी साथ-साथ पढ़ने का मौका भी दिया। अपने को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक हिन्दी अध्यापक लगाया। संस्कृत के अच्छे विद्वान होने के कारण उन्होंने हिन्दी बहुत जल्दी सीख ली। अंग्रेजी सीखने के लिए उन्हें अवश्य कुछ अधिक मेहनत करनी पड़ी थी। उनके अंग्रेजी अध्यापकों में दुर्गाचरण बनर्जी, राजनारायण बसु, नीलमाधव मुखर्जी और हिन्दू कॉलेज के एक छात्र राजनारायण गुप्त थे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने अपना गणित का अध्ययन छोड़ दिया और शोभाबाजार राज परिवार के राजा राधाकान्त देव के पौत्र आनन्द कृष्ण के साथ शेक्सपियर की कृतियों का अध्ययन किया। चूँकि वह अकसर शोभाबाजार राजबाड़ी जाया करते थे, अतः एक दिन उनका परिचय संस्कृत के महान् विद्वान और उस समय के हिन्दू समाज की पुरानी विचारधारा के बहुत प्रभावशाली नेता राजा राधाकान्त देव से भी हो गया। यह वही राधाकान्त देव थे जिन्होंने राजा राममोहन राय के सामाजिक और धार्मिक सुधारों और स्वयं विद्यासागर के भी विधवा-विवाह, बहु-पत्नी-विवाह और बाल-विवाह सम्बन्धी सुधार-कार्यों के विरोध में जोरदार आन्दोलन चलाया था। किन्तु पुराने खयालों के राजा युवक विद्यासागर की प्रतिभा से काफी प्रभावित हुए थे। वह अकसर कहा करते थे कि यह प्रतिभाशाली ब्राह्मण बालक भारतवर्ष में सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने के लिए पैदा हुआ है। विद्यासागर यह नहीं जानते थे कि जल्दी ही राजा उनके समाज सुधार आन्दोलन के मुख्य विरोधी बन जायेंगे। राधाकान्त देव नरम सामाजिक विचारों के थे और उनकी नरमी का अर्थ सुधारों का विरोध नहीं था। वह चाहते थे कि सुधार की भावना भीतर से उत्पन्न हो, न कि बाहर से थोपी जाये। एक बहुत ऊँचे शक्तिशाली व्यक्ति की सद्भावना विद्यासागर के प्रारम्भिक जीवन के लिए निःसन्देह काफी प्रेरणादायक थी। उनके मन में अपने इस विरोध के प्रति आदर-भाव बाद में कभी कम नहीं हुआ।

विद्यासागर ने अंग्रेजी का अध्ययन उसी समय किया जब वह दूसरों को संस्कृत पढ़ा रहे थे। उन्होंने बंगाली विद्यार्थियों को संस्कृत पढ़ाने के लिए एक नयी पद्धति अपनायी। इस पद्धति में सफलता मिलने से उन्हें बंगला भाषा में संस्कृत व्याकरण

लिखने की प्रेरणा मिली। इस तरह वह फोर्ट विलियम कॉलेज के बंगला विभाग में हमेशा ही काम में लगे रहे। 1846 में संस्कृत व्याकरण लिखने की प्रेरणा मिली। कॉलेज के सहायक सचिव का पद रिक्त हुआ, तो शिक्षा परिषद के सचिव डॉ. एफ.जे. माउट ने उस पद पर विद्यासागर की नियुक्ति के लिए मार्शल की स्वीकृति माँगी। मार्शल तत्काल सहर्ष राजी हो गये और उन्होंने विद्यासागर से अपना आवेदनपत्र भेजने को कहा। अपनी योग्यताओं और फोर्ट विलियम कॉलेज में अपने काम के बारे में लिखने के बाद ईश्वर चन्द्र ने अपने आवेदनपत्र में यह भी लिखा कि मैंने पुराणों और सांख्य दर्शन में दक्षता प्राप्त करने की ओर विशेष ध्यान दिया, जो संस्कृत कॉलेज के पाठ्यक्रमों में नहीं थे। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी लिखा—चूँकि इस कॉलेज से छात्र के रूप में मेरा सुदीर्घ सम्बन्ध रहा है, अतः मुझे यहाँ की शिक्षा-पद्धति का भी काफी ज्ञान है। इससे मुझे विश्वास है कि यदि मेरा आवेदन स्वीकृत हो गया तो मैं निस्सन्देह इस संस्था के लिए अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकूँगा। आवेदनपत्र के साथ प्रमाण-पत्र देखकर मार्शल ने विद्यासागर के सारे अद्भुत गुणों की गणना की। उस समय तक उनकी विद्वत्ता से बहुत-से लोग परिचित हो गये थे। पर उनके स्वतन्त्र, निष्पक्ष विचारों, मेहनत, सुरुचि, अच्छे स्वभाव और दृढ़ चरित्रबल से कम ही लोग परिचित थे।

संस्कृत कॉलेज में चालू शिक्षा-पद्धति में विद्यासागर की सुधार की इच्छा उनके आवेदनपत्र से ही स्पष्ट झलकती थी। 1846 के अप्रैल में अपने नये पद का कार्यभार ग्रहण करते ही उन्होंने तत्काल सम्पूर्ण पद्धति में सुधार शुरू कर दिया। इस कार्य को अपने हाथ में लेते ही उन्हें कई गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और सचिव रसमय दत्त से उनकी टक्कर भी हुई। परिणामस्वरूप विद्यासागर को पदत्याग भी करना पड़ा।

इस मतभेद की कहानी का संस्कृत कॉलेज के अप्रकाशित हस्तलिखित आलेखों से पता चलता है। बाद में शिक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा जो सुधार किये गये, उन पर इसकी बड़ी गहरी छाप पड़ी थी और दूसरों के साथ उनके मतभेद की यह पहली मिसाल थी। इससे स्पष्ट है कि वह अपने विचारों की दृढ़ता और सत्यता के आगे किसी भी बड़े से बड़े अधिकारी के सामने भी झुकने वाले न थे। पुराने आलेखों से साफ जाहिर होता कि 6 अप्रैल, 1846 को सहायक सचिव का कार्यभार सम्हालने के तत्काल बाद ही उन्होंने स्वयं एक सुधार-योजना बनाई और 19 सितम्बर, को सचिव के पास विचारार्थ भेज दी थी। अप्रैल, 1847 में लगभग छह महीने के भीतर ही उन्हें इस पद से त्यागपत्र भी देना पड़ा। उनका त्यागपत्र 16 जुलाई, 1847 को स्वीकार कर लिया गया। 10 अप्रैल, 1847 को संस्कृत कॉलेज के पण्डितों तथा अन्य अध्यापकों ने सचिव तथा शिक्षा परिषद के सचिव डॉ. माउट को एक 'ज्ञापन' प्रस्तुत किया, जिसमें लिखा कि विद्यासागर से आग्रह किया जाये कि वह इस संस्था

से अपना सम्बन्ध विच्छेद न करें। 21 अप्रैल, 1847 को रसमय दत्त ने एक पत्र भेजकर विद्यासागर से उनके त्यागपत्र का कारण पूछा। विद्यासागर ने 3 मई, 1847 को जवाब देते हुए लिखा, "मैंने सरकारी संस्कृत कॉलेज में संस्कृत भाषा और साहित्य की शिक्षा ली और इन विषयों के प्रति आदर और उत्साह भी दिखाया। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर और बिना किसी विशेष मंशा के मैंने इस पद के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा था। मैं ये आशाएँ लेकर आया था कि अच्छी शिक्षा ग्रहण करने के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएँ हैं, उनको शायद मैं दूर कर सकूँ और नये और बढ़िया तरीकों को लागू कर सकूँ किन्तु जब मैंने अपनी आशाओं पर पानी फिरते देखा, तो मैंने पदत्याग ही उचित समझा।" उन्होंने अपने पदत्याग के विशेष कारण विस्तार से भी बताए। अपने भरसक प्रयत्न से उन्होंने भारतीय शास्त्रीय शिक्षण-पद्धति में नया वातावरण पैदा किया, जो उस समय के अनुरूप था। विषयानुसार उनका पुनर्विभाजन, पाठ्यक्रम, कक्षा में अध्यापकों व विद्यार्थियों की नियमित उपस्थिति पर उन्होंने विशेष जोर दिया। पुराने पण्डितों व अध्यापकों ने नयी पद्धति के नियमों तथा अनुशासन पर अपना रोष भी प्रकट किया, जबकि विद्यार्थियों ने उसे इतना अधिक नापसन्द नहीं किया।

पाँच वर्ष पहले, विद्यासागर स्वयं इन्हीं लोगों के शिष्य रह चुके थे किन्तु कॉलेज के सुधार के लिए नियमों और अनुशासन के आगे अपने भूतपूर्व गुरुओं को झुकाने में उन्हें तनिक भी हिचक नहीं हुई। अध्यापकों विशेषकर ऊँचे पण्डितों के लिए नियमित रूप से कॉलेज आना सचमुच एक कठिन कार्य था। इतने थोड़े समय की सूचना में दिग्गज पण्डितों के कठोर दृष्टिकोण को पूर्णतः आधुनिक बनाना सरल कार्य न था। किन्तु विद्यार्थियों और पण्डितों ने भी इस अनुशासन को अधिक नापसन्द नहीं किया। उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के अपने को परिस्थिति के अनुसार ढाला और अनुशासन का पालन किया। इस तथ्य को उन्होंने अपने उत्तर में भी लिखा था। उन्होंने कहा था इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पिछले साल के दौरान शिक्षा के तरीकों में बहुत अच्छा परिवर्तन हुआ है। मैंने भी इस उद्देश्य को अमल में लाने में कोई कसर बाकी नहीं रखी और प्रत्येक पण्डित व छात्र इन बातों का साक्षी है।

सचिव साहब को अपने सहायक की सुधार-योजना को अमली रूप देना पसन्द नहीं था। उन्होंने योजना का जिस प्रकार विरोध किया उसका विद्यासागर ने सहज रूप से उत्तर दिया, "इस सुधार का उद्देश्य संस्कृत और अंग्रेजी की समन्वित शिक्षा की ठोस बुनियाद रखना है। खासकर इस उद्देश्य से कि इस प्रकार की शिक्षा से प्रशिक्षित लोग हमारी मातृभाषाओं को पश्चिमी दुनिया के विज्ञान और उसकी सभ्यता से भरपूर और समृद्ध कर सकेंगे।".

पूर्व और पश्चिम के समन्वय का यह प्रयत्न अपनी मातृभाषाओं में पश्चिमी

जगत के विज्ञान और सभ्यता का समावेश शिक्षा के क्षेत्र में विद्यासागर का महानतम और प्रियतम आदर्श था। इसे उन्होंने केवल 25 वर्ष की उम्र में ही घोषित किया था, जब वह संस्कृत कॉलेज के सहायक सचिव थे। यह सही है कि उनका प्रथम प्रयास सफल नहीं हो सका, लेकिन निराशा के कारण उन्होंने अपने इस उद्देश्य का परित्याग भी नहीं किया। कॉलेज छोड़कर वह केवल इसलिए गये कि जब कभी लौटें, तो अधिक अधिकार और शक्ति के साथ, बल्कि कहना चाहिए पूर्ण सत्ता के साथ लौटें, जिससे कि वह शिक्षा के क्षेत्र में अपने आदर्शों को अधिक दृढ़ता से कार्य-रूप दे सकें।

शिक्षा-सुधार के लिए संघर्ष

कुछ मित्रों ने जब विद्यासागर द्वारा सहायक सचिव के पद का त्याग आर्थिक दृष्टि से गलत बताया, तो अति रूखे ढंग से उन्होंने उत्तर दिया, "मैं अपनी रोटी के लिए सब्जी बेचना पसन्द करूँगा, बजाय इसके कि अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध कहीं काम करूँ।" लगभग डेढ़ वर्ष वह बेकार रहे और अंग्रेजी-हिन्दी भाषाओं का भलीभाँति अध्ययन करने में लगे रहे। इसके पश्चात वह मार्च, 1849 में फोर्ट विलियम कॉलेज में 80 रुपये मासिक पर प्रमुख लेखक व कोषाध्यक्ष के पद पर पुनः नियुक्त हो गये। इस पद पर वह लगभग दो वर्ष तक ही रहे। उन्हें शीघ्र ही दिसम्बर, 1850 में साहित्य के प्राध्यापक के पद पर पुनः संस्कृत कॉलेज में आने का मौका मिला। जनवरी, 1851 में वह संस्कृत कॉलेज के आचार्य नियुक्त किये गये।

अपनी बंगला पुस्तक 'बैताल पंचविंशति' के ग्यारहवें संस्करण की भूमिका में विद्यासागर ने स्वयं इस नियुक्ति की कथा लिखी है, "जब पण्डित मदन मोहन तर्कालंकार मुर्शिदाबाद जिले में 'जज पण्डित' के स्थान पर चले गये, तो संस्कृत कॉलेज में साहित्य के प्राध्यापक का स्थान रिक्त हो गया। शिक्षा परिषद के सचिव डॉ. माउट ने मेरे सामने उस पद का प्रस्ताव रखा। कई कारणों से मैं उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करना चाहता था, किन्तु डॉ. माउट ने स्वीकृति के लिए आग्रह किया। अन्त में मैंने उनसे कहा, 'यदि परिषद मुझे आचार्य के सारे अधिकार दे, तो मैं इस पद को स्वीकार कर सकता हूँ।' डॉ. माउट ने तत्काल मेरी यह शर्त मान ली और मुझे तब साहित्य के प्राध्यापक का पद भी प्राप्त हो गया। इसके कुछ ही समय बाद बाबू रमसय दत्त ने सचिव का पद छोड़ दिया और मुझे कॉलेज की वर्तमान स्थिति और सुधार के तरीकों पर रिपोर्ट देने को कहा गया। शिक्षा परिषद ने मेरी रिपोर्ट की बड़ी सराहना की और मुझे संस्कृत का आचार्य बना दिया गया। अभी तक सचिव और संयुक्त सचिव, दोनों ही आचार्य का काम चलाया करते थे। अब दोनों पदों को मिला दिया गया। आचार्य का स्थान नया बनाया गया और 22 जनवरी, 1851 को मुझे आचार्य नियुक्त किया गया।"

विद्यासागर द्वारा संस्कृत कॉलेज के सुधार के लिए प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट

(जनरल रिपोर्ट आन पब्लिक इन्सट्रक्शन ऐट्सेटरा 1850-51) छपे हुए दस पृष्ठों में है और इस पर 16 दिसम्बर, 1850 की तिथि अंकित है। मई, 1847 में रसमय दत्त के पत्र के जवाब में जो विषय उन्होंने उठाये वे काफी विस्तार में थे। उनका पहला प्रहार व्याकरण-विभाग पर हुआ। उन्होंने कहा, "संस्कृत भाषा स्वयं एक कठिन भाषा है और इसको शुरू करने के साथ ही व्याकरण पढ़ाना मेरे खयाल से एक अच्छी योजना नहीं है।" उन्होंने बोपदेव के 'मुग्धबोध' को लक्ष्य करते हुए कहा, "यह विस्तृत भाष्य व टिप्पणी सहित भी एक अपूर्ण व्याकरण है और किसी विद्यार्थी के लिए पाँच वर्ष तक इसे पढ़ना केवल समय नष्ट करना है।"

इसलिए उन्होंने सुझाव दिया कि विद्यार्थियों को कुछ मूल बातें पहले बंगला में सिखानी चाहिए, फिर उन्हें संस्कृत की दो-तीन पाठ्यपुस्तकें पढ़ानी चाहिए। इसके बाद विद्यार्थियों को 'सिद्धान्त कौमुदी' पढ़ानी शुरू कर देना चाहिए जो संस्कृत विभाग में ऊँची कक्षाओं तक चलती रहे। विद्यासागर के अनुसार, "संस्कृत व्याकरणों में निस्सन्देह सबसे अच्छा और प्रामाणिक ग्रन्थ यही है।"

उन्होंने 'साहित्य कक्षा' के साहित्यिक अध्ययन-विधि में विशेष परिवर्तन नहीं चाहा, किन्तु अलंकार शास्त्र पर अच्छी पाठ्यपुस्तकों का सुझाव दिया। उन्होंने गणित के अध्ययन में भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि अध्ययन के इस क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है। इस समय गणित बीजगणित और रेखागणित के लिए सबसे अच्छे अंग्रेजी ग्रन्थों की सहायता से बड़े-बड़े ग्रन्थ संकलित किये जायें और बाद में गणित की ऊँची किताबों का अनुवाद भी किया जाये या उन्हें पाठ्यपुस्तकों के रूप में स्वीकृत कर लिया जाये। उन्होंनें यह भी कहा कि हरशेल के ग्रन्थ-सा सर्वस्वीकृत गणित-ज्योतिष पर बंगला में एक लोकप्रिय ग्रन्थ संकलित किया जाये और उसे गणित कक्षा में पढ़ाया जाये। विद्यासागर चाहते थे कि गणित के अध्ययन के लिए पश्चिमी पद्धति अपनाई जाये, पर वइ इसे भाषाओं के माध्यम से ही अपनाने के पक्ष में थे।

स्मृति या कानून कक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने 28 तत्त्वों को हटा देने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा, "यद्यपि ये पौरोहित्य कार्य करने वाले ब्राह्मण-वर्ग के लिए लाभदायक हैं, किन्तु विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम के लिए ये अनुपयुक्त हैं।" अन्य ग्रन्थों जैसे मनुसंहिता" मिताक्षरा, विवाद-चिन्तामणि, दाय भाग, दत्तक चन्द्रिका आदि का अध्ययन-अध्यापन यथावत होता रहे। 'तत्त्वों' के बारे में उनके निष्पक्ष विचार अवश्य ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि ये सिर्फ ब्राह्मण वर्ग के लिए ही कुछ काम के थे।

इसके बाद उन्होंने 'न्याय' कक्षा और उसकी दर्शन-प्रणाली पर ध्यान दिया। पाठ्यपुस्तकों और उनके लेखकों की समालोचना करने के बाद उन्होंने बतलाया, "यह सच है कि अधिकतर हिन्दू दर्शन प्रणाली का आधुनिक समय के प्रगतिशील विचारों के साथ तालमेल नहीं बैठता, किन्तु निस्सन्देह एक अच्छे संस्कृत विद्वान के

लिए उनके ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।" उन्होंने कहा, "जब तक विद्यार्थी 'दर्शनशास्त्र' की कक्षाओं में आये तब तक उनका अंग्रेजी ज्ञान इस योग्य हो जाना चाहिए कि वे यूरोप के आधुनिक दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर सकें।" उन्होंने कहा "इस प्रकार वे पश्चिमी दुनिया की नयी दर्शन प्रणाली से अपनी दर्शन प्रणाली की तुलना कर सकेंगे और प्राचीन हिन्दू दर्शन की कमियों, त्रुटियों आदि को भली-भाँति समझ सकेंगे। भारत में जितनी भी दर्शन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, उन सबके अध्ययन का, मैं इस कारण सुझाव देता हूँ कि विद्यार्थी स्वयं देखें कि विभिन्न पद्धतियों के प्रतिपादकों ने किस तरह एक-दूसरे का खण्डन-मण्डन किया है और एक-दूसरे की त्रुटियाँ निकाली हैं। इस तरह तुलनात्मक अध्ययन से वे स्वयं अपने लिए निर्णय करने योग्य हो सकेंगे। यूरोपीय दर्शन सम्बन्धी उनका ज्ञान विभिन्न दर्शन पद्धतियों की खूबियों को समझने में काफी सहायक होगा।" प्राचीन दर्शन पद्धति पर विद्यासागर की टीका-टिप्पणी से उस समय के पुराने खयालों के पण्डितों का ध्यान आकर्षित हुआ, उन्होंने खूब खिल्ली उड़ाई तथा उनकी कटु आलोचना की। पर वह अपने विचारों पर अड़े रहे और परिषद ने उनके सुधार प्रस्तावों को स्वीकार भी कर लिया।

जब तक संस्कृत कॉलेज में रहे तब तक अन्य विषयों की अपेक्षा अंग्रेजी को बहुत कम महत्त्व मिलता रहा। अंग्रेजी का अध्ययन विद्यार्थियों की ही इच्छा पर निर्भर रहता था, कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं थी। जब वे चाहते, उसे छोड़ देते और जब उनकी इच्छा होती पुनः शुरू कर देते। रिपोर्ट में विद्यासागर द्वारा ही सुझाव दिया गया था कि जब तक विद्यार्थी संस्कृत भाषा में दक्ष या निपुण न हो जायें, उन्हें अंग्रेजी का अध्ययन शुरू नहीं करना चाहिए। इसके बाद अंग्रेजी पढ़ना अनिवार्य कर देना चाहिए।

रिपोर्ट में विद्यासागर शिक्षा-सुधारक बताये गये थे। उन्होंने अपने विचार बड़े साहस के साथ और स्पष्ट रूप से पेश किये, यद्यपि वह जानते थे कि रूढ़िवादी पण्डित, विशेषकर पुराने ब्राह्मण उनके विरुद्ध हो जायेंगे। अधिकारियों ने रिपोर्ट मंजूर कर ली और उसकी बड़ी सराहना की। रसमय दत्त ने अपना त्यागपत्र दे दिया और अधिकारियों के आदेशानुसार उन्हें अपना कार्यभार विद्यासागर को सौंपना पड़ा। करीब एक पखवाड़े के भीतर विद्यासागर ने प्रथम आचार्य के रूप में कॉलेज का कार्यभार अपने हाथ में ले लिया।

अब वह पूरी तरह कॉलेज के सुधार और उन्नति में जुट गये। जाति के आधार पर विद्यार्थियों का कॉलेज में प्रवेश प्रथम बार उन्होंने ही हटाया। शिक्षा परिषद के सामने जब यह मामला लाया गया तो विद्यासागर से रिपोर्ट माँगी गयी, जो उन्होंने 20 मार्च, 1851 को पेश की। उनकी दलील यह थी कि ब्राह्मण और वैश्य किसी भी प्रकार शूद्रों से अच्छे नहीं हैं, फिर सभी जातियों के लड़कों को कॉलेज में प्रवेश क्यों नहीं मिल सकता? उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि कॉलेज के पण्डित इन उदार विचारों

के प्रतिकूल हैं। उन्होंने परिषद से कहा कि जाति-बन्धन को पूर्णतः हटाने के लिए यह जरूरी है कि पहले-पहल कम-से-कम कायस्थ लड़कों के लिए यह नियम ढीला कर दिया जाये। किन्तु पण्डितों ने, जिनमें ज्यादातर विद्यासागर के गुरु रह चुके थे, उस प्रस्ताव पर उन्हें बहुत डाँटा और उसे रोकने की कोशिश भी की। विद्यासागर ने महान् गैर-ब्राह्मण संस्कृत विद्वानों का उदाहरण देते हुए अपने पक्ष का जोरदार समर्थन किया। उन्होंने कहा, "यदि आप लोग पैसे की खातिर अंग्रेजों को संस्कृत पढ़ा सकते हैं, तो मेरी समझ में नहीं आता कि बिना जाति भेदभाव के अपने ही देशवासियों को क्यों नहीं पढ़ा सकते।" वह इस बात पर दृढ़ थे कि कॉलेज का द्वार सभी लड़कों के लिए खुला रहेगा और उन्होंने पण्डितों को चेतावनी दी कि यदि वे नहीं माने, तो वह कॉलेज से अपना नाता तोड़ लेंगे अर्थात् त्यागपत्र दे देंगे। किन्तु ऐसी नौबत नहीं आयी और अधिकारियों ने उन्हें कायस्थ लड़कों को कॉलेज में भर्ती करने की अनुमति दे दी। कुछ समय पश्चात अन्य जातियों के लड़कों को भी कॉलेज में प्रवेश मिला और धर्मशास्त्र को छोड़कर उन्हें संस्कृत के सभी विषय पढ़ने की अनुमति मिल गयी।

इसके बाद, विद्यासागर ने संस्कृत शिक्षा की अव्यवस्थाओं को दूर करना चाहा। विभाग का पुनर्गठन हुआ, पाठ्यपुस्तकें बदली गयीं और अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए कॉलेज के नियमों का पालन आवश्यक कर दिया गया। नयी योजना फलीभूत हुई और कॉलेज में हर दिशा में सन्तोषजनक उन्नति दिखाई पड़ने लगी। परिषद ने इस उन्नति पर खुशी जाहिर की और मई, 1853 में विद्यासागर की नयी संस्कृत शिक्षा-प्रणाली को बनारस गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के आचार्य डॉ. जे.आर. बैलेंटाइन से मंजूर कराने की इच्छा प्रकट की। परिषद के आमन्त्रण पर जुलाई-अगस्त 1853 में डॉ. बैलेंटाइन ने कलकत्ता संस्कृत कॉलेज का निरीक्षण किया और जो कुछ वहाँ उन्होंने देखा, उसका ब्योरा उन्होंने परिषद के नाम एक पत्र में लिखा। उनके निरीक्षण में एक मुख्य बात यह भी थी कि यह जरूरी नहीं कि जो चीज कलकत्ता में बंगाली लड़कों के लिए अच्छी है, वह बनारस में यूपी. के लड़कों के लिए भी अच्छी साबित हो। जाने-अनजाने, कलकत्ता पर अंग्रेजी भावनाओं की इतनी गहरी छाप है कि कलकत्ता के बारे में कोई दलील यू पी. के बारे में लागू ही नहीं हो सकती और उस्से गुमराह होने का खतरा है। इसलिए अच्छा है कि दोनों संस्थाओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होने के कारण, उन्हें अनेक मामलों में भिन्न ही रहने दिया जाये। उनके पत्र से यह स्पष्ट है कि अंग्रेजी और संस्कृत के पाठ्यक्रम को साथ-साथ चलाने के पक्ष में वह न थे, क्योंकि वह यह मानते थे कि पढ़ने वाला इससे यह महसूस करेगा कि सत्य भी द्वैत है। उन्होंने कहा कि यह खतरा कोरी कल्पना ही नहीं है। वह उन ब्राह्मणों से परिचित थे, जो संस्कृत और अंग्रेजी दोनों के निष्णात पण्डित और भारतीय तर्कशास्त्र के भी ज्ञाता थे तथा जो इस बात से

भी अभिज्ञ थे कि तर्कशास्त्र का यूरोपीय सिद्धान्त बिल्कुल सही है, पर साथ ही वे एक भाषा के विचारों को दूसरी भाषा के माध्यम से व्यक्त कर पाने में असमर्थ थे। उन्होंने लिखा है, "अगर उन लोगों के साथ भी ऐसी बात है, जिन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी क स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग अध्ययन किया है, तो इसी ढर्रे पर शिक्षित सामान्य छात्रों की स्थिति भी भिन्न नहीं हो सकती।"

विद्यासागर ने बैलेंटाइन के विचारों की आलोचना 7 सितम्बर, 1853 को डॉ. माउट को लिखे गये पत्र में की। शिक्षा के बारे में लिखा गया शायद यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण पत्र था। पाठ्यपुस्तकों की स्वीकृति के सुझाव पर वह बैलेंटाइन से बिल्कुल ही सहमत न थे। बैलेंटाइन ने मूल पुस्तक के स्थान पर अपनी 'ऐब्सट्रैक्ट आफ मिल्स लॉजिक' पुस्तक की सिफारिश की। ऐसा करने का मुख्य कारण मिल की मौलिक कृतियों के ऊँचे मूल्य ही जान पड़ते थे। विद्यासागर ने यह कहकर उनका सुझाव अस्वीकृत कर दिया था कि हमारे विद्यार्थियों की आदत ऊँची कीमतों पर भी प्रामाणिक पुस्तकें खरीदने की है, इसलिए हमें इस महान् कृति की स्वीकृति से डरने की जरूरत नहीं है। बैलेंटाइन ने न्याय, सांख्य और वेदान्त दर्शन के अध्ययन के लिए तीन पाठ्यपुस्तकों की सिफारिश की। ये तीनों पुस्तकें अलग-अलग तीनों विषयों की थीं, जिनमें अंग्रेजी पाठ और टिप्पणियाँ भी दी गयी थीं। पर विद्यासागर ने केवल वेदान्त सार को छोड़कर 'न्याय' और 'सांख्य' विषयक ग्रन्थों को अपने विभागों के लिए निहायत घटिया किस्म का बताया। बैलेंटाइन के बिशप बर्कले की पुस्तक 'इन्क्वायरी' के पाठ्यपुस्तक के रूप में चालू करने के, सुझाव पर विद्यासागर ने बड़ी तीखी टिप्पणी करते हुए कहा था कि लाभ के बजाये इससे हमें हानि ही अधिक होगी। उन्होंने बड़े साहस के साथ कहा कि चूँकि हिन्दुओं में वेदान्त और सांख्य दर्शनों के प्रति अगाध श्रद्धा है, इसलिए संस्कृत कॉलेज में इन्हें पढ़ने के लिए हम बाध्य हैं। यह भी जरूरी है कि अंग्रेजी पाठ्य-विधि से विद्यार्थियों को दर्शन का अध्ययन कराया जाये। किन्तु बिशप बर्कले की पुस्तक 'इन्क्वायरी' के बारे में उन्होंने बताया कि यह पुस्तक सिद्धान्त रूप से वेदान्त या सांख्यदर्शन से प्रायः मिलती-जुलती या वैसी ही है और अब यूरोप में भी इसे ठोस दर्शन-पद्धति नहीं माना जाता, इसलिए यहाँ पर भी इसका पठन-पाठन उपादेय नहीं होगा। इसके प्रतिकूल इस पुस्तक द्वारा संस्कृत कॉलेज के विद्यार्थी जब यह देखेंगे कि 'वेदान्त' व 'सांख्य' पद्धतियों की पुष्टि एक यूरोपीय दार्शनिक ने भी की है तो इन दो पद्धतियों के प्रति उनके मन में और भी आदर भाव बढ़ेगा।

सत्य द्वैत होने की भ्रान्त धारणा से उत्पन्न खतरे के बारे में विद्यासागर ने कहा, "मेरा विश्वास है कि जिस खतरे की शंका श्री बैलेंटाइन ने उठाई है, वह उस व्यक्ति के सम्बन्ध में अनिवार्य रूप से लागू नहीं होती, जिसने अंग्रेजी व संस्कृत दोनों विज्ञानों व साहित्यों का बड़ी बुद्धिमत्ता से अध्ययन किया है। सत्य, सत्य ही है, यदि

इसे भली-भाँति समझा गया हो। यह धारणा कि सत्य दो हैं, सत्य को ठीक तरह से न समझने का ही परिणाम है। मेरा यह मत है कि हमारी इस संस्था में परिष्कृत पाठ्य-विधि द्वारा यह गलत धारणा बिल्कुल दूर की जा सकती है।"

हिन्दू शास्त्रों और पश्चिमी विज्ञानों के बीच समान तत्त्वों की खोज के बैलेंटाइन के प्रयासों के सम्बन्ध में विद्यासागर ने अपना मन्तव्य देते हुए कहा, "सभी मामलों में यह सम्भव नहीं है कि हम लोग यूरोपीय विज्ञान और हिन्दू शास्त्र के बीच वास्तविक समानता दिखा सकेंगे। यह मान भी लें कि दोनों में समानता दिखाई जा सकती है, तो भी मुझे यह उम्मीद नहीं कि भारत के विद्वान यह स्वीकार करने को राजी होंगे कि यूरोप में विज्ञान की अधिक उन्नति हुई है।" 'विद्वान' शब्द से उनका मतलब केवल पुराने पण्डितों से था। उन्होंने कहा, "हमें उनके विरोध से डरने की जरूरत नहीं, जिनकी तादाद गिर रही है। उनकी आवाज धीरे-धीरे कमजोर पड़ती जा रही है। अब वे पहली जैसी प्रभुता शायद ही प्राप्त कर सकते हैं।" संस्कृत कॉलेज नामक संस्था का आचार्य होना तथा पुराने ढंग के संस्कृत विद्वानों के बारे में इस तरह की भाषा का प्रयोग करना उन दिनों धर्म-विरोधी कार्य से कुछ कम न था। किन्तु विद्यासागर शिक्षा या सामाजिक क्षेत्र में कभी किसी के आगे झुके नहीं। विरोधियों की आलोचना की उन्हें बिल्कुल परवाह न थी।

बैलेंटाइन के विचारों के उत्तर में विद्यासागर ने जो लिखा उसे परिषद ने अच्छा नहीं समझा। 14 सितम्बर, 1853 को अपनी कार्यवाही में परिषद ने लिखा कि कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के आचार्य से यह अपेक्षा की जाती है और आदेश दिया जाता है कि बैलेंटाइन द्वारा सुझाए गये पाठ्यक्रम को चालू करें। परिषद ने उन्हें यह भी निर्देश दिया था कि बैलेंटाइन द्वारा संकलित ऐब्स्ट्रैक्ट तथा 'ट्रीटाइजेस' का खुलकर लाभ उठाएँ और कक्षाओं की उन्नति के बारे में डॉ. बैलेंटाइन से अकसर पत्र व्यवहार करते रहें। इन कार्यवाहियों की एक प्रति 22 सितम्बर, 1853 को सूचनार्थ आचार्य के पास पहुँचा दी गयी थी।

विद्यासागर को इस सूचना से बड़ी चोट पहुँची। वह ऐसी भाषा सुनने के आदी नहीं थे। उन दिनों कॉलेज पूजा छुट्टियों में बन्द होने वाला था और वह भी अपने घर जाने की जल्दी में थे। किन्तु उन्होंने परिषद के आदेशों के उत्तर में लिखा "यदि ये आदेश पूर्ण रूप से लागू किये जायें, तो उनसे उनकी शिक्षा योजना में, जो स्वीकृत हो चुकी है, काफी हस्तक्षेप होगा और इससे कॉलेज़ में उनकी स्थिति भी काफी नाजुक हो जायेगी। बैलेंटाइन की अच्छी और उपयुक्त कृतियों को पाठ्यक्रम के लिए लागू करने में उन्हें कोई एतराज नहीं। किन्तु यदि बिना उनकी सम्मति के इस संस्था में बैलेंटाइन के सभी संकलनों को स्वीकार किया गया, तो मेरी कोई जरूरत नहीं।"

खुशी की बात थी कि उनकी जरूरत समझी गयी। विद्यासागर के गम्भीर तर्क के आगे परिषद को अपना विचार बदलना पड़ा। उन्हें संस्कृत कॉलेज में शिक्षा के

बारे में अपनी स्वतन्त्र नीति अपनाने तथा लागू करने का पूरा अधिकार मिल गया। यह संस्कृत व अंग्रेजी दोनों ही शिक्षाओं के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। इससे इस संस्था को नया जीवन मिला, जो विद्यासागर के आचार्य होने से पहले लड़खड़ाकर गिरती-सी लगती थी। इससे कॉलेज की उन्नति हुई और ख्याति बढ़ी।

विद्यासागर ने शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रथम संघर्ष संस्कृत कॉलेज के सहायक सचिव के रूप में 1847 में किया उसमें वह सफल न हो सके थे। पर वह संस्कृत कॉलेज के प्रधानाध्यापक के नाते शिक्षा परिषद के साथ द्वितीय संघर्ष के प्रथम दौर में सफल रहे। किन्तु यह विजय अस्थायी थी। कुछ ही वर्षों में उनकी शान्ति भंग हुई और शिक्षा की नीति व पद्धति के सम्बन्ध में परिषद से उनका मतभेद हो गया। यह 1857-58 में हुआ और उसके कारण उन्हें नवम्बर, 1858 में त्यागपत्र देना पड़ा।

बैलेंटाइन-विद्यासागर के कथा-प्रसंग का महत्त्व वास्तव में इसीलिए है कि हम आधुनिक युग के एक प्रबुद्ध मानवतावादी के रूप में विद्यासागर का मूल्यांकन कर सकते हैं। यूरोपीय संस्कृत विद्वान बैलेंटाइन हमेशा इसी खोज में रहा कि पश्चिमी विद्वानों व हिन्दू शास्त्रों में क्या-क्या समानताएँ हैं जबकि विद्यासागर पक्के बंगाली और भारतीय शास्त्रों के निष्णात पण्डित होते हुए भी ऐसी समानता ढूँढ़ने के विचार को ही बेहूदा समझते रहे।

बैलेंटाइन के तर्कों ने उन्हें उन विद्वानों की श्रेणी में शामिल कर दिया है, जो कहते थे कि विज्ञान और साहित्य की दुनिया में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जो हमें 'वेदों' में न मिले। विलसन और जोन्स सरीखे यूरोपियन प्राच्य-विद्याविद भी इस विचार से सहानुभूति रखते थे। विद्यासागर ने बैलेंटाइन की गप्प 'द्वैत सत्य' को भी खोखला ठहराया और अपनी सबल युक्तियों द्वारा उनके प्रिय दार्शनिक बिशप बर्कले की कलई खोली। उन्होंने हिन्दुओं के आदर्शवादी दर्शन वेदान्त व सांख्य की आलोचना की जिसका उद्देश्य उतना उनकी निन्दा करना नहीं था, जितना कि यूरोपीय दर्शन की निस्सारता को प्रकट करना। बैलेंटाइन व विद्यासागर, दोनों ही संस्कृत के अद्भुत विद्वान थे किन्तु विद्यासागर के पाण्डित्य ने उनमें पुनरुत्थान की भावना पैदा कर दी थी। सायमांड्स के शब्दों में, "केवल विद्या ही वस्तु है, जो मानव के लिए उसके अपने मस्तिष्क के खजाने, मानवीय विचारों की गरिमा, मानवीय कल्पना के मूल्य तथा धार्मिक विधि-विधान और विश्वासों से अलग मानव जीवन के महत्त्व को प्रकट करती है।" उनके ज्ञान का दृष्टिकोण मजहबी आडम्बरों से दूर मानव-हित की साधना करना था। वह एक सच्चे मानवतावादी मनीषी थे।

भारतीय शिक्षा के लिए प्रयत्न

विद्यासागर को इस बात की काफी चिन्ता थी कि भारतीयों को किस भाषा में शिक्षा दी जाये—संस्कृत में या अंग्रेजी में। बैलेंटाइन के विचारों के बारे में अपने पत्र में उन्होंने परिषद को लिखा, "हमारी इच्छा है कि शिक्षा के लाभ जन-साधारण को मिलें।" वर्नाक्यूलर स्कूल खोले जायें, इनके लिए उपयोगी विषयों की पाठ्यपुस्तकें तैयार की जायें तथा योग्य अध्यापक तैयार किये जायें तभी हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता है। ये अध्यापक ऐसे होने चाहिए, जिनका अपनी भाषा पर पूरा अधिकार हो, जिन्हें पर्याप्त उपयोगी जानकारी प्राप्त हो तथा जो देश के प्रचलित भेदभावों से मुक्त हों। ऐसे योग्य व्यक्तियों का एक वर्ग तैयार करना हमारा उद्देश्य है और इसकी पूर्ति के लिए संस्कृत कॉलेज को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए। "बाद के एक पत्र में उन्होंने परिषद से नीति के मामले में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय लेने की जोरदार माँग की। उन्होंने लिखा—

> *"स्थानीय भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कराने के विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए संस्कृत को भली-भाँति पढ़ाने का कार्य मुझ पर छोड़ दिया जाये। इसके साथ-साथ अंग्रेजी माध्यम से भी ज्ञान-प्राप्ति कराई जाये। आप विश्वास करें कि यदि परिषद का सम्मान और प्रोत्साहन मुझे मिलता रहा तो कुछ वर्ष बाद ही युवकों का एक ऐसा समुदाय तैयार हो जायेगा, जो संस्कृत या अंग्रेजी के किसी भी कॉलेज के मौजूदा शिक्षित समुदाय की अपेक्षा अधिक योग्यता के साथ अपने लेखन और अध्यापन से लोगों में ज्ञान का अधिक प्रसार कर सकेगा। मेरी कामना है कि इस अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक-से-अधिक आजादी दी जाये।"*

स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य लोगों में उनकी अपनी-अपनी मातृभाषा द्वारा शिक्षा का आलोक फैलाना था। उन्होंने स्वयं इसे अपने जीवन का एक 'महान् उद्देश्य' और 'एक अभीष्ट उद्देश्य' बताया। उन्होंने कहा, "जिस पद्धति को मैंने चलाया है उसे यदि मैं पूर्णतया लागू कर सका तो परिषद को बड़े विश्वास के साथ आश्वासन दे सकता हूँ कि संस्कृत कॉलेज एक दिन शुद्ध संस्कृत ज्ञान का विद्यापीठ हो जायेगा।

और साथ-ही-साथ इससे स्थानीय भाषाओं के उन्नत साहित्य को पोषण मिलता रहेगा।" वह इस सिद्धान्त के पक्ष में थे कि पश्चिमी विज्ञानों सहित सब प्रकार की शिक्षा का माध्यम लोगों की अपनी निजी भाषा और साहित्य को बनाया जाये।

शिक्षा के माध्यम के बारे में अंग्रेजी-समर्थक तथा प्राच्य-विद्या के समर्थक विद्वानों के विवाद का जिक्र पहले ही किया जा चुका है। 1823 में प्रिसम्प और विलसन सरीखे लोगों को शामिल कर जब सार्वजनिक शिक्षा की जनरल कमेटी (जनरल कमेटी ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) नियुक्त की गयी, तो इसने प्राच्य भाषाओं के कॉलेज खोलना तथा प्राच्य भाषाओं की कृतियों का अनुवाद तथा प्रकाशन करना आरम्भ किया। 1823 में एमहर्स्ट को लिखे गये अपने एक पत्र में राजा राममोहन राय ने कमेटी की इस नीति की बड़ी आलोचना की। तीसरे दशक में विवाद चरम सीमा तक पहुँच गया था। अन्त में इस प्रश्न के रूप में विवाद का अन्त हुआ कि शिक्षा प्राच्य भाषाओं या अंग्रेजी के माध्यम से दी जाये। भारतीय भाषाओं का मामला बड़ी आसानी से टाल दिया गया। उस समय यह सिद्धान्त बड़ा जोर पकड़ रहा था कि शिक्षा उच्च तथा मध्यम वर्ग से उतरकर जन सामान्य में फैलेगी और कमेटी के दोनों ही पक्ष इसका समर्थन कर रहे थे। जब लार्ड विलियम बेंटिक मैकाले तथा प्रख्यात मिशनरी विलियम एडम रंगमंच पर आये, तो इससे गतिरोध पैदा हुआ। एडम से कहा गया कि वह शिक्षा-सुधार तथा प्रसार की दृष्टि से बंगाल में शिक्षा का सर्वेक्षण करें और अपनी रिपोर्ट पेश करें। मैकाले से विवाद का निपटारा करने के लिए कहा गया था। 2 फरवरी, 1835 को मैकाले ने अपनी उस प्रसिद्ध सम्मति में लिखा जिसमें उसने प्राच्य विद्या के समर्थकों की आलोचना की और अंग्रेजी के समर्थकों का समर्थन किया था। एडम की रिपोर्ट का इन्तजार किये बिना ही लॉर्ड बेंटिक ने बड़ी जल्दी से मैकाले का सुझाव मान लिया और 7 मार्च, 1835 को भारतीयों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को बढ़ावा देने का प्रस्ताव यह कहकर मंजूर कर लिया कि अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च ही शिक्षा पर खर्च होने वाली धन राशि का सबसे अच्छा उपयोग है। प्रस्ताव के बावजूद भी एडम से सर्वेक्षण का काम चालू रखने को कहा गया। इससे पता चलता है कि बेंटिक के मन में अंग्रेजी शिक्षा चालू करने का कारण कुछ भी रहा हो, पर वह अनेक उलझनों के होते हुए भी व्यापक रूप से फैली हुई देशी शिक्षा प्रणाली के महत्त्व और अस्तित्व से बेखबर न था। बाद में एडम की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उन्हें राजकीय आलेख संग्रहालय में डाल दिया गया, जबकि अंग्रेजी-शिक्षा को राज्याश्रय का एकाधिकार प्राप्त हो गया।

बेंटिक के प्रस्ताव से विवाद का अन्त नहीं हुआ। 1841 में आकलैण्ड के नाम प्रेषित तीन खुले पत्रों में तथा 1853 में हाउस ऑफ लॉर्ड्स की प्रवर समिति के आगे अपनी गवाही में रेवरेंड अलेक्जेण्डर डफ ने प्राच्य विद्या के समर्थकों की खूब खिल्ली उड़ाई। आकलैण्ड ने भारतीय भाषाओं में शिक्षा की आवश्यकता तो स्वीकार

की, पर उसने अंग्रेजी के माध्यम द्वारा उच्च तथा मध्यम वर्ग को दी जाने वाली उच्चतर किस्म की शिक्षा की माँग अधिक जरूरी और महत्त्वपूर्ण समझी। कमेटी ने एडम के प्रस्तावों की तीव्र निन्दा की और परीक्षा के तौर पर सिर्फ 20 देहाती स्कूल खोलने का प्रस्ताव किया। पर सरकार ने प्रस्ताव ठुकरा दिया। 1844 में हार्डिंग के गवर्नर-जनरल काल के दौरान एडम की सिफारिशों को अमल में लाने का पुनः प्रयत्न किया गया और देहाती क्षेत्रों में 103 हार्डिंग स्कूल खोले गये। पर स्थानीय सरकार से पर्याप्त समर्थन व सहायता न मिलने के कारण ये स्कूल भी सफल न हो सके।

मगर, एडम के प्रस्तावों को एक अलग वातावरण में सफलता मिली। आगरा व अवध के उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के लेफ्टिनेंट-गवर्नर थामसन ने स्थानीय भाषा के माध्यम से शिक्षा चालू करने का जोरदार प्रयत्न किया। वह एडम की रिपोर्टों से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उसकी तीसरी रिपोर्ट के कुछ भाग पुनः छपवाये और बँटवाये। देहाती स्कूलों के लिए पुस्तकें तैयार की गयीं और उन्हें वहाँ चालू किया गया। उसका परीक्षण काफी सफल था और इस ओर गवर्नर-जनरल का भी ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने बंगाल में अधिकारियों से पूछताछ की कि क्या कोई इस तरह की चीज यहाँ भी सफल हो सकती है। 1853-54 में बंगाल में भारतीय भाषाओं में शिक्षा की उन्नति के लिए जो परीक्षण किये गये, वे विद्यासागर द्वारा शिक्षा परिषद को प्रस्तुत की गयी योजना के आधार पर थे, न कि सीधे थॉमसन योजना के आधार पर।

संस्कृत कॉलेज के हस्तलिखित आलेखों में एक नोट सुरक्षित है, जिसका मसविदा विद्यासागर ने तैयार किया था और जिस पर 12 अप्रैल, 1852 की तिथि दी गयी है। इसका शीर्षक है—"नोट्स आन दी संस्कृत कॉलेज।" पहले पाँच परिच्छेदों में उन्होंने अपने विचारों का सार दिया है और ये भारत की राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—

1. बंगाल में जिन लोगों को शिक्षा की देखभाल का दायित्व सौंपा गया है, उनका पहला उद्देश्य उच्च कोटि के ज्ञानमय बंगला साहित्य की सृष्टि होना चाहिए।

2. वे लोग ऐसे साहित्य की रचना नहीं कर सकते, जिनमें यूरोपीय स्रोतों से सामग्री चयन करने की क्षमता नहीं है और जो उसे ललित अभिव्यक्तिपूर्ण तथा मुहावरेदार बंगला भाषा में प्रस्तुत नहीं कर सकते।

3. ललित अभिव्यक्तिपूर्ण तथा मुहावरेदार बंगला शैली का निर्माण उन लोगों के बूते नहीं हो सकता, जिनको संस्कृत का अच्छा ज्ञान नहीं है। इसलिए जरूरत है कि संस्कृत के विद्वानों को अंग्रेजी भाषा और साहित्य में पूर्ण दक्ष किया जाये।

4. अनुभव से सिद्ध होता है कि केवल अंग्रेजी के विद्वान ललित तथा मुहावरेदार बंगला में अपने विचार व्यक्त करने में बिल्कुल समर्थ नहीं हैं। वे अंग्रेजी के समर्थन में इतने अधिक रंगे हुए हैं कि चाहे वे अब संस्कृत भले ही पढ़ लें, पर इस समय

मुहावरेदार तथा ललित बंगला शैली में अपने विचार व्यक्त करना उनके वश की बात नहीं जान पड़ती।

5. यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि संस्कृत कॉलेज के छात्रों को अंग्रेजी साहित्य से अवगत कराया जाये, तो वे आलोकमय बंगला साहित्य का भण्डार भरने में सबसे योग्य और सबसे अच्छा योग देने वाले सावित हो सकते है।

नोट के दूसरे प्रश्न में इस बात पर विचार किया गया है कि उक्त उद्‌देश्य-की पूर्ति के लिए संस्कृत कॉलेज में किस तरह की शिक्षा की जरूरत है। स्पष्ट है कि एक शिक्षाविद् के नाते उनका पहला लक्ष्य एक आलोकमय बंगला की सृष्टि करना था। ऐसा लगता है कि उन्होंने उस समय यह नोट शिक्षा परिषद के सदस्य एफ.जे. हैलीडे के अनुरोध पर तैयार किया था, जिन्होंने इसे अपने एक नोट के साथ जून, 1852 में शिक्षा परिषद के आगे पेश कर दिया था। यह नोट आचार्य के साथ हुए बहुत-से परामर्शों का परिणाम है और मैं बहुत सोच-विचार के बाद अपनी राय में इसे योग्यतापूर्ण समझकर परिषद के आगे रखता हूँ। हैलीडे ने भारतीय भाषाओं में शिक्षा की उन्नति के लिए अपनाये जाने वाले ठीक तरीकों के बारे में जो विचार व्यक्त किये हैं, वे एक सम्मति में प्रस्तुत हैं—"बंगाल प्रान्त में देशी भाषा के बहुत-से स्कूल हैं। जहाँ तक सम्भव हो, हमारा उद्‌देश्य इन स्कूलों की उन्नति तथा सुधार होना चाहिए। अच्छा तो यह है कि हम उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के भूतपूर्व गवर्नर-जनरल के सुन्दर उदाहरण का अनुसरण करें और देशी भाषा के स्कूलों के लिए उदाहरण के रूप में मॉडल स्कूलों की एक प्रणाली कायम करें। साथ ही एक ऐसी योजना बनाई जाये, जिससे देशी भाषाओं के स्कूलों के मास्टर समय-समय पर नियमित रूप से इन स्कूलों में देखभाल के लिए आयें-जायें और जो आदर्श उनके आगे रखे गये हैं, उन्हें धीरे-धीरे अमल में लाने की प्रेरणा लें।"

उन्होंने विद्यासागर के 'नोट' पर इस प्रकार अपना मन्तव्य प्रकट किया—

"संस्कृत कॉलेज के योग्य तथा उत्साही आचार्य द्वारा तैयार किये गये इस 'नोट' के साथ मेरा भी एक ज्ञापन संलग्न है। आचार्य देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा के काम में बहुत दिनों से लगे हुए हैं और काफी प्रख्यात हो चुके हैं। उन्होंने संस्कृत कॉलेज में अपनी उन्नत प्रणाली तथा अपनी उन कृतियों द्वारा इसके सुधार के लिए बड़ा काम किया है, जिन्हें उन्होंने स्कूलों में पढ़ाने के लिए प्रकाशित कराया है। आचार्य के ज्ञापन में दी गयी योजना मुझे स्वीकार है और मैं चाहता हूँ कि यह अमल में आये।"

हैलीडे मई, 1854 में बंगाल के प्रथम लेफ्टिनेंट-गवर्नर बने। विद्यासागर के सबसे बड़े प्रशंसकों में तो वह थे ही और अब उन्होंने सही दिशा में उनकी नीतियों के निर्धारण में सक्रिय रूप से सहायता की। पर मॉडल स्कूलों की देखभाल का काम विद्यासागर को सौंपने का परिषद में बड़ा विरोध हुआ। उनकी योग्यता में

तो किसी को कोई सन्देह नहीं था, पर विरोधियों की दलील यह थी कि चाहे एक व्यक्ति कितना ही योग्य क्यों न हो, उसे इतनी भारी जिम्मेदारी नहीं सौंपी जानी चाहिए। हैलीडे भलीभाँति जानते थे कि विरोध अकेले इस बात पर ही नहीं है, पर वह आखिर तक अपनी बात पर अड़े रहे।

सन् 1853-54 में परिषद तथा सरकार का ध्यान कुछ शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण मामलों की ओर था। ये कलकत्ता मदरसा के सुधार और प्रेसिडेंसी कॉलेज की स्थापना के लिए तैयारियों में व्यस्त थीं। जुलाई, 1854 में निदेशक मण्डल द्वारा शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण घोषणा प्रकाशित कराये जाने पर एक शिक्षा विभाग खोला गया और जनवरी, 1855 में शिक्षा परिषद भंग कर दी गयी। विलियम गॉर्डन यंग पहले शिक्षा निदेशक नियुक्त किये गये। अनुदान (ग्रांट-इन-एड) प्रणाली चालू की गयी। 1855-56 में एक विश्वविद्यालय खोलने की योजना तैयार की गयी और इसे 1857 के अधिनियम नं. 2 में शामिल कर दिया गया।

उथल-पुथल तथा परिवर्तन के समय में भारतीय भाषाओं द्वारा शिक्षा देने का मुख्य उद्देश्य शायद खत्म हो जाता, पर यह विद्यासागर के प्रोत्साहन और हैलीडे के आग्रह के कारण खत्म न हो सका। उपसचिव होगसन प्राट ने 16 नवम्बर, 1854 के एक पत्र द्वारा 'बंगाल प्रेसिडेंसी' के निचले प्रान्तों के लिए वर्नाक्यूलर शिक्षा के बारे में हैलीडे की योजना की सूचना भारत सरकार को दी। उनका प्रस्ताव था कि बंगाल के कुछ जिलों में इस योजना को अमल में लाने के लिए विद्यासागर ही सबसे उपयुक्त व्यक्ति हैं। भारत के सचिव सीसिल बीडन ने 13 फरवरी, 1855 को इसके उत्तर में लिखा—"सरकार को इस बात से कोई एतराज नहीं है कि बंगाल में देशीय भाषा के स्कूलों का निरीक्षण कभी-कभी ईश्वर चन्द्र विद्यासागर से करा लिया जाये। पर देखना यह है कि संस्कृत कॉलेज के आचार्य के नाते उनके अपने मुख्य काम पर तो कोई बुरा असर नहीं पड़ता। निदेशक की घोषणा की शर्तों के अनुसार भी वह वर्नाक्यूलर शिक्षा के निरीक्षक नहीं हो सकते। निरीक्षक का काम अब निदेशक तथा उसे आदेशानुसार नियुक्त किये गये निरीक्षक ही सम्पन्न कर सकते हैं।

हैलीडे इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं था। शिक्षा के नये निदेशक को बताया गया कि विद्यासागर जी के हार्दिक सहयोग के बिना बंगाल में वर्नाक्यूकर शिक्षा के लिए कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए हैलीडे की उनसे सहयोग माँगने की इच्छा थी। सार्वजनिक शिक्षा के निदेशक का प्रस्ताव था कि अस्थायी रूप से विद्यासागर को स्कूलों का निरीक्षक नियुक्त किया जाये, पर इस पर, लेफ्टिनेंट-गवर्नर ने बड़ा गम्भीर एतराज किया। वह अच्छी तरह जानते थे कि विद्यासागर बड़ी दृढ़ इच्छा शक्ति और सिद्धान्त के आदमी हैं और वह अस्थायी रूप से थोड़े समय के लिए इतनी बड़ी जिम्मेदारी कभी स्वीकार नहीं कर सकते। वह ऊपर के लोगों का हस्तक्षेप भी सहन नहीं करेंगे और न आधे मन से कोई अच्छा काम करना चाहेंगे। उन्होंने कहा कि

यदि सरकार ने ऐसे कार्य में विद्यासागर जैसे व्यक्ति का सहयोग लेने की उपेक्षा की, जिसमें उन्होंने अपने को पूरी तौर से समर्पित कर दिया है, तो वास्तव में यह बड़ी दुखद बात होगी।

सार्वजनिक शिक्षा के निदेशक ने अपना विचार बदल दिया और विद्यासागर मई, 1855 से 200 रु. प्रति मास के अतिरिक्त वेतन पर स्कूलों के सहायक निरीक्षक हो गये। इसके बाद लगभग एक साल तक संस्कृत कॉलेज के आचार्य के नाते अपना कर्तव्य निभाने के अतिरिक्त उन्होंने बंगाल के जिलों—नदिया, बर्दवान, हुगली, मिदनापुर और चौबीस परगना का दौरा किया। उन्होंने 20 गाँवों में लगभग 20 मॉडल स्कूल कायम किये। मगर जल्दी ही यह मालूम पड़ा कि लोग इनसे उदासीन हैं और कुछ स्थानों में तो जहाँ मध्यवर्ग का अधिक बोलबाला था, लोगों का इनसे विश्वास उठ गया था और वे उनका विरोध करने लग गये थे।

इस प्रयत्न की विफलता के बहुत-से कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह था कि उन्हें सरकार की हार्दिक सहायता नहीं मिल रही थी। पर मुख्य बात यह थी कि मध्यमवर्ग के बंगाली अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजना नहीं चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि विशुद्ध भारतीय शिक्षा के लिए शुल्क अदा किया जाये। सिर्फ कलकत्ता की मध्यमवर्गीय जनता ही नहीं, बल्कि अब देहात के मध्यमवर्गीय लोग भी अंग्रेजी शिक्षा के सामाजिक और आर्थिक महत्त्व को जान गये थे। जहाँ तक देहाती जनता का सम्बन्ध है, वह अभी तक शिक्षा की जरूरत को बिल्कुल नहीं समझ पायी थी चाहे वह किसी भारतीय भाषा में, अंग्रेजी में या अन्य किसी भी भाषा में क्यों न हो।

इसलिए विद्यासागर अपनी योजना को अधिक समय तक नहीं चला सके। उनके आगे स्त्री-शिक्षा तथा समाज-सुधार जैसी और भी अनेक समस्याएँ थीं और उनके लिए भी उन्हें अपना समय और शक्ति लगानी पड़ती थी। उन्हें फिलहाल अपने जीवन का अभीष्ट उद्देश्य छोड़ देना पड़ा। चूँकि बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा से उच्च तथा मध्यमवर्ग के लोगों को एक नये सामाजिक दर्जे तथा आर्थिक लाभ के अवसर मिले थे, इसलिए इनकी जड़ें वहाँ बड़ी मजबूती से जम गयी थीं। विद्यासागर ने महसूस किया कि भारतीय शिक्षा की किसी भी योजना को चलाना बड़ा असम्भव कार्य है और ऐसी योजनाओं को चलाने का अभी समय भी नहीं आया था।

स्त्री-शिक्षा के उन्नायक

लड़कों की शिक्षा के जब कुछ निश्चित कार्यक्रम अपना लिए गये तो फिर उसके बाद सरकार का ध्यान स्त्री-शिक्षा की ओर गया। अब तक व्यक्तियों तथा निजी सोसाइटियों का ही ध्यान इस ओर था। 19वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में न तो निदेशक मण्डल ने और न स्थानीय सरकार ने अपने किसी भी शिक्षा सम्बन्धी कागजात में स्त्री-शिक्षा का जिक्र किया। राज्याश्रय न मिलने के कारण इस क्षेत्र में कुछ व्यक्तियों तथा विदेशी मिशनरियों का भी उत्साह ठण्डा पड़ गया था।

जुलाई, 1832 में रेवरेंड जेम्स हॉफ ने संसद की प्रवर समिति के आगे अपनी गवाही में टिनेवेली में लड़कियों के स्कूलों की प्रगति के बारे में बोलते हुए कहा था:

> *"इन स्कूलों में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात देखने की यह है कि अनेक वर्षा तक यह समझा जाता था कि हिन्दुओं को अपनी स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए राजी नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न के उत्तर में कि स्वयं भारतीयों ने इस दिशा में क्या प्रयत्न किये हैं, मद्रास के रेवरेंड जे. टकर ने कहा था—'कुछ भी नहीं, बल्कि वे स्त्री-शिक्षा के विरोधी हैं।' ऐसे ही एक अन्य प्रश्न के उत्तर में बम्बई के विलियम जैकब ने कहा था 'भारत के पश्चिमी क्षेत्र में भी कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मैं तो समझता हूँ कि पश्चिमी भारत में अभी तक एक भी स्त्री का नाम सरकारी शिक्षा-पद्धति के अन्दर नहीं आया।'"*

वास्तव में 1849-50 से पहले भारत के किसी भी भाग में स्त्री-शिक्षा सरकारी योजना का मान्यता प्राप्त अंग नहीं थी। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उस समय स्त्री-शिक्षा के सख्त विरोधी थे और यह विरोध युगों पुरानी परम्परा का परिणाम था। यह सच है कि भारत के प्राचीन साहित्य में ऐसे प्रमाण मौजूद हैं कि स्त्रियाँ धार्मिक तथा दार्शनिक शास्त्रार्थों में पुरुषों के साथ भाग लेती थीं, राजकार्यों में उनका हाथ बँटाती थीं तथा बहादुरी के कामों में भी हिस्सा लेती थीं। उन्हें पढ़ना-लिखना भी सिखाया जाता था। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्राचीन काल और मध्य युग में उन्हें शिक्षा के वरदान भोगने का सामाजिक अधिकार प्राप्त था। भारतीय नारी, खासकर हिन्दू नारी का आदर्श तो यही था कि

वह स्नेहमयी माँ और पतिव्रता पत्नी के रूप में गृहस्थ सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करती हुई पवित्रता तथा सामाजिक अलगाव का जीवन बिताए। और उस समय कम्पनी की सरकार कोई भी ऐसी नीति लागू करना नहीं चाहती थी, जिससे उनके प्राचीन रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं में हस्तक्षेप हो। अधिकारियों के उदासीन रुख के कारण ही इस दिशा में इस क्षेत्र के अगुआ लोगों के समस्त प्रयत्न बेकार रहे।

मई, 1849 में कलकत्ता के बेथ्यून स्कूल की स्थापना हुई, जिसे शुरू से ही विद्यासागर का सहयोग प्राप्त था। इस स्कूल की स्थापना तक बंगाल में स्त्री-शिक्षा को उन्नत करने के लिए जो प्रयत्न किये गये, उनका ब्योरा संक्षेप में इस प्रकार है: मिशनरियों के सहयोग से बंगाल में स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिए कलकत्ता में 1819 में 'फीमेल जुवेनिल सोसाइटी' कायम की गयी। कलकत्ता में लड़कियों का एक स्कूल खोलने के लिए 'ब्रिटिश एण्ड फॉरेन स्कूल सोसाइटी' की ओर से 1821 में कुमारी कूके (जो श्रीमती विलसन के नाम से अधिक मशहूर हुई) नियत की गयी। 1824 में 'लेडीज सोसाइटी फॉर नेटिव फीमेल एजुकेशन' नामक संस्था की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य कलकत्ता में लड़कियों के सभी स्कूलों के कामकाज में तालमेल बैठाना तथा एक केन्द्रीय स्कूल की स्थापना करना था। सोसाइटी की संरक्षिका लेडी एमहर्स्ट ने 18 मई, 1826 को लड़कियों के इस केन्द्रीय स्कूल की नींव डाली। 'लन्दन तथा चर्च मिशनरी सोसाइटी' द्वारा और भी स्कूल खोले गये, पर सरकार ने इन्हें प्रोत्साहन देने के लिए अभी तक कुछ भी नहीं किया था।

मिशनरियों के प्रयत्न इसलिए नाकामयाब रहे कि वे मजहबी प्रचार के लिए स्कूलों का इस्तेमाल करना चाहते थे। तथाकथित 'जनता एण्ड सेलेक्ट स्कूल स्कीम' भी इसलिए असफल रही कि धार्मिक बंगालियों ने जिन यूरोपीय महिलाओं को अपनी पत्नी, बहन तथा पुत्रियों को पढ़ाने के लिए लगाया था, उन्हें पढ़ाने-लिखाने की अपेक्षा अधिक चिन्ता ईसाई धर्म सिखाने की थी। इस योजना के अनुसार, शिक्षा की तीन अवस्थाएँ थीं—पहली अवस्था में शिक्षा जनाना, अर्थात निजी घरों में दी जाती थी, दूसरी अवस्था में कुछ अड़ोस-पड़ोस के परिवारों की महिलाएँ एक ही घर में इकट्ठी होकर शिक्षा ग्रहण करती थीं और तीसरी अवस्था स्कूल की थी। पर यह योजना आंशिक रूप से ही सफल हुई।

राजा राममोहन राय, राजा राधाकान्त देव तथा राज वैद्यनाथ राय जैसे अगुआओं तथा हिन्दू कॉलेज में पढ़े-लिखे कुछ यवकों ने इस क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये। मई, 1849 में कलकत्ता में बेथ्यून स्कूल की स्थापना से भारत में स्त्री-शिक्षा के इतिहास में एक नया मोड़ आया था। इसके बाद न सिर्फ सरकारी अधिकारियों ने ही, बल्कि हिन्दू समाज के पढ़े-लिखे तथा प्रभावशाली लोगों ने भी इस काम में सच्चे व सक्रिय रूप से रुचि लेना शुरू कर दिया था। शोभा बाजार राजपरिवार के राजा राधाकान्त देव यद्यपि पुराने विचारों

के थे, फिर भी उन्होंने बेथ्यून स्कूल खुलने के केवल 15 दिनों के भीतर ही शोभा बाजार में अपने ही मकान में लड़कियों का एक स्कूल खोल दिया। अगस्त, 1849 में शिक्षा परिषद को उत्तर पाड़ा में लड़कियों का एक स्कूल स्थापित करने के लिए जयकिसन तथा राजकिसन मुखर्जी के सन्देश प्राप्त हुए। जगह-जगह लड़कियों के बहुत-से स्कूल खोले गये।

ज्यों-ज्यों स्कूलों की संख्या बढ़ती गयी, त्यों-त्यों पुराने खयाल के हिन्दुओं का विरोध भी बढ़ता गया। जिन लोगों ने इस श्रेष्ठ कार्य में सक्रिय भाग लेने का साहस किया, उन्हें जानबूझकर बदनाम करने की कोशिश की गयी तथा उनके खिलाफ बुरी अफवाहें उड़ाई गयीं। कुछ उत्साही व्यक्तियों को खुलेआम मारा-पीटा भी गया। पर बेथ्यून और डलहौजी, दोनों ने ही निश्चय किया कि वे इस विरोध के चक्कर में नहीं पड़ेंगे बल्कि स्त्री, शिक्षा को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन देते रहेंगे।

जे.ई.डी. बेथ्यून से अधिक भला करने की सच्ची इच्छा लेकर शायद कुछ इने-गिने अंग्रेज ही इस देश में आये हैं। इंग्लैण्ड में लोगों की शिक्षा के एक बड़े आन्दोलन में भाग लेने के बाद उन्होंने यहाँ आते ही अपना ध्यान शिक्षा की ओर लगाया। जल्दी ही वह शिक्षा परिषद के अध्यक्ष नियुक्त हो गये। डलहौजी के नाम एक पत्र में उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि वह लड़कियों के स्कूलों के सम्बन्ध में समस्त प्रयत्नशील व्यक्तियों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुए एक परिपत्र जारी करे। डलहौजी ने यह प्रार्थना शीघ्र ही स्वीकार कर ली और एक ऐतिहासिक परिपत्र, जो भारत में स्त्री-शिक्षा के इतिहास में एक किस्म का चार्टर था, 11 अप्रैल, 1850 को जारी किया गया। लोगों को यह मालूम हो गया कि जो लोग स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिए कार्य कर रहे हैं, उनके प्रति भारत सरकार सहानुभूति रखती है।

बेथ्यून को विद्यासागर एक ऐसे साथी मिल गये थे, जो शुरू से ही स्त्री-शिक्षा के काम में तहेदिल से जुटे हुए थे। शिक्षा परिषद के अध्यक्ष के पद पर रहते समय वह यह भली-भाँति जान गये थे कि विद्यासागर एक महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। दिसम्बर, 1850 में उन्होंने पण्डित जी को बेथ्यून स्कूल के अवैतनिक सचिव का पद स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया था। बेथ्यून को अब अपनी संस्था की सफलता के बारे में निश्चय हो गया था। क्योंकि अब यह एक ऐसे व्यक्ति के संरक्षण में थी, जिसकी ईमानदारी, सच्चाई, निष्ठा तथा नैतिक साहस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था।

हिन्दू कॉलेज के उग्र विचारधारा के अध्यापक डेरोजियो के विद्यार्थियों ने जो 'डेरोजियन' तथा 'यंग बंगाल' के नाम से मशहूर हो गये थे, स्त्री-शिक्षा की उन्नति में सक्रिय रूप से दिलचस्पी ली। बड़ी दिचलस्पी की बात तो यह है कि संस्कृत कॉलेज के कुछ पण्डित भी इसके बड़े कट्टर समर्थक थे। 29 मार्च, 1850 को डलहौजी के नाम लिखे बेथ्यून के एक पत्र से भी इसकी पुष्टि होती है। बेथ्यून ने लिखा था—

"महामहिम को पता है कि पार साल मई महीने में मैंने एक 'नेटिव फीमेल स्कूल' कलकत्ते में खोला था। उस समय मैंने अपनी खुद की जिम्मेदारी पर यह परीक्षण करने के कारण आपको बता दिये थे और आपने मेरे इस काम को अपनी स्वीकृति देकर कृतार्थ किया था। मेरा खयाल है कि शिक्षा परिषद के अध्यक्ष के नाते मैं यह पता लगाने में समर्थ हो सका हूँ कि मेरा यह विश्वास बेबुनियाद नहीं है कि अब वह समय आ गया है, जबकि यहाँ के लोगों की शिक्षा-प्रणाली की दिशा में सफलता के साथ यह कदम उठाया जा सकता है। मैं चाहता हूँ कि यदि मेरी आशाएँ पूरी न हों तो इसकी असफलता की जिम्मेदारी सिर्फ अकेले मेरे ऊपर ही पड़े। और मैं यह भी चाहता हूँ कि जब तक इसकी सफलता सुनिश्चित न हो जाये, सरकार इसमें अपना हाथ न डाले।

"एक ओर तो उस समय खानदानी व इज्जतदार बंगाली अपनी लड़कियों को मिशन स्कूलों में भेजने के लिए तैयार नहीं होते थे और उन्हें इसके लिए प्रेरित करने के प्रयत्न बेकार रहते थे, दूसरी ओर मेरी यह पक्की धारणा थी कि इस दिशा में सरकारी स्कूल प्रणाली से ही देश में अच्छे नतीजे निकल सकते हैं। इन दो बातों से प्रेरित होकर ही मैंने इस सिद्धान्त पर अपने स्कूल की स्थापना की कि सभी प्रकार की मजहबी शिक्षा को इससे अलग रखा जाये, हालाँकि मैं इस बात को भलीभाँति जानता था कि इस बन्धन से कुशल अध्यापिकाएँ मुझे नहीं मिल पाएँगी। अंग्रेजी सिर्फ उन्हें ही पढ़ाई जायेगी जिनके माता-पिता ऐसा चाहते थे और बाकी सबको बंगला में तथा कढ़ाई आदि के कामों की शिक्षा दी जाती थी।

"जैसी की सम्भावना थी स्कूल खुलते ही वहाँ बड़ी उत्तेजना फैल गयी। पहले-पहल स्कूल में केवल 21 छात्राएँ थीं। कलकत्ता के अधिकांश प्रभावशाली व्यक्तियों ने स्कूल का जोरदार विरोध किया, खासकर इसलिए कि इस मामले में उनसे सलाह क्यों नहीं ली गयी थी। मैंने इसके हिताहित और सभी पहलुओं पर खूब विचार करने के बाद ही जानबूझकर उनसे सलाह-मशविरा नहीं लिया था। इसके विपरीत, मेरी इस योजना के समर्थकों से मुझे काफी प्रोत्साहन भी मिला।

"जिन तीन बंगालियों की सहायता के लिए मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, उनमें से प्रथम हैं एक सुप्रसिद्ध व्यापारी बाबू रामगोपाल घोष। वह मेरे प्रमुख सलाहकार थे। उन्होंने मेरे लिए पहले-पहल छात्राओं को जुटाया था। दक्षिणारंजन मुखर्जी एक जमींदार थे, जो पहले तो मुझसे अपरिचित थे, किन्तु ज्यों ही मेरी योजना प्रकाशित हुई उन्होंने मुझे अपना परिचय देने के साथ-साथ स्कूल के लिए शहर के एक हिस्से में 10,000 रुपये की लागत की पाँच बीघा जमीन दान में देने का प्रस्ताव किया। संस्कृत कॉलेज के एक प्रमुख पण्डित मदन मोहन तर्कालंकार ने न केवल अपनी दो पुत्रियाँ ही स्कूल भेजीं, बल्कि वह

बच्चों को प्रतिदिन बंगला में शिक्षा देने के लिए वहाँ आते भी थे। वह अपना खाली समय बच्चों के लिए शुरू की कक्षा की बंगला ग्रन्थमाला के संकलन में लगाते थे। मेरे सहायकों को तरह-तरह के कष्ट देकर उन्हें स्कूल को सहायता देने से रोका गया। एक बार तो ये विरोधी लोग इतने सफल हुए कि स्कूल में केवल सात ही छात्राएँ रह गयीं। कभी-कभी तो इसमें तीन या चार छात्राएँ ही उपस्थित रहती थीं...।

"मैं यह मानता हूँ कि अब ऐसा समय आ गया है, जब इन लोगों की पूर्ण सफलता के लिए सरकार को यह घोषणा करनी चाहिए कि वह उन्हें बहुत अच्छी नजर से देखती है। हो सकता है कि यह आश्चर्यजनक व अविश्वसनीय मालूम पड़े पर यह शिक्षा के हित में है और लोगों को तथ्य से सहमत करने के लिए जरूरी भी है। स्त्री-शिक्षा के विरोधियों ने इसके विरोध में बेशर्मी से भरी जो-जो बातें कही हैं, उनमें एक यह भी है कि सरकार स्त्री-शिक्षा के प्रति न सिर्फ उदासीन है, बल्कि इसके सख्त खिलाफ भी है। मेरा विश्वास है कि जिन लोगों ने इस काम की उन्नति के लिए अपने को आगे बढ़ाया है, उन्हें यदि प्रोत्साहन न मिले, तो इस गलत बात का असर पड़े बिना न रहेगा। अगर यह बात न होती, तो मेरी यह कामना थी कि मैं अपने स्कूल को सरकारी सहयोग व प्रभाव के बिना ही कुछ दिन और चलाता और अपने इस परीक्षण को सफल करके दिखाता। महामहिम को मैं बड़ी दृढ़ता से यह आश्वासन दे सकता हूँ कि मेरे इस सुझाव को अधिकांश लोगों की सहानुभूति प्राप्त है और मेरा यह विश्वास है कि यदि तत्काल इसे अमल में नहीं लाया गया, तो इससे लोगों में पस्तहिम्मती फैलेगी। सरकार को अपने घोषित इरादों के प्रति विरोध से डरना नहीं चाहिए। मेडिकल कॉलेज की स्थापना के अवसर पर भावनाएँ जितनी तेजी से भड़की थीं, उतनी पहले कभी नहीं भड़कीं और इस योजना के पूर्ण विकास से जितना भला हो सकता है, उतना इस देश की किसी अन्य संस्था से नहीं हो सकता।"

बेथ्यून ने अपने पत्र में जिस रामगोपाल घोष को 'प्रसिद्ध व्यापारी' और 'प्रमुख परामर्शदाता' कहा, वह एक प्रमुख 'डेरोजियन' थे। वह महान् 'एड्यूराज' या 'शिक्षित बंगालियों के राजा' नाम से विख्यात थे। वह वक्तृत्व कला में निपुण थे और अपने समय के एक प्रमुख समाज-सेवी थे। शैक्षणिक, व्यावसायिक या राजनीतिक, ऐसी शायद ही कोई संस्था हो जिससे उनका नाम न जुड़ा हो। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष अभिरुचि ली। शिक्षा परिषद के भूतपूर्व सचिव डॉ. माउट ने भी लिखा है, "मैं अपने जीवन को देखता हूँ, तो शिक्षा के सम्बन्ध में मेरे प्रारम्भिक जीवन का कोई भाग ऐसा न था, जिससे रामगोपाल का नाम न जुड़ा हो।" जमींदार दक्षिणारंजन भी उस समय के प्रमुख 'डेरोजियन' थे और हर प्रगतिशील सुधार के कट्टर समर्थक

थे। मदन मोहन, विद्यासागर के घनिष्ठ मित्र थे और अपने इस महान् मित्र से समाज व शिक्षा सुधार के काम में कम उत्साही न थे। 'सर्वशुभकारी' नामक बंगला पत्रिका के सितम्बर, 1850 के अंक में उन्होंने स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था। उन्होंने अपने लेख में लिखा था कि 'बेथ्यून लड़कियों की शिक्षा पर केवल अपनी जेब से सात-आठ सौ रुपये प्रति मास खर्च करते हैं।' लॉर्ड डलहौजी और उनकी पत्नी का संरक्षण बेथ्यून और उनके मित्रों के लिए बड़ा सहायक था। लेकिन बेथ्यून सरकारी संरक्षण से ही पूर्णतः सन्तुष्ट न थे। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बंगालियों, विद्यासागर तथा मदनमोहन जैसे परिवर्तनवादी बंगाली पण्डितों के सहयोग से स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए ठोस कदम उठाए। शिक्षा परिषद के अध्यक्ष के नाते उन्हें बंगाल के कई जिलों में शिक्षा संस्थाओं का दौरा करना पड़ता था और छात्रों के बीच भाषण देने पड़ते थे। प्रायः अपने हर भाषण में वह स्त्री-शिक्षा पर जोर देते थे और इस महान् कार्य की प्रगति में योग देने के लिए शिक्षित युवकों का आह्वान करते थे।

लेकिन बेथ्यून ने अपने जिस काम में जिन्दगी लगा दी थी उसकी प्रगति को देखने के लिए वह अधिक दिन जीवित न रह सके। 12 अगस्त, 1851 को उनका देहान्त हो गया। अक्टूबर, 1851 से डलहौजी ने संस्था को चालू रखने के लिए सारा खर्च खुद ही बर्दाश्त किया। मार्च, 1856 में उनके अवकाश प्राप्त करने पर बेथ्यून स्कूल एक मान्यता प्राप्त सरकारी संस्था बन गया और इसका सारा व्यय सरकार उठाने लगी। इसे बीडन के निरीक्षण में सौंप दिया गया। अगस्त, 1856 में बीडन ने बंगाल सरकार के सामने यह प्रस्ताव रखा कि स्कूल के लिए एक प्रबन्ध समिति बना दी जाये, जिसके सदस्य कुछ प्रमुख हिन्दू हों और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर को उसका सचिव बना दिया जाये। उसने अपने पत्र में लिखा, "सरकार यह ठीक समझेगी कि विद्यासागर को उनकी विगत सेवाओं और उल्लेखनीय प्रतिष्ठा के कारण प्रबन्ध-समिति का सचिव नियुक्त किया जाये।" विद्यासागर को अगस्त, 1856 में बेथ्यून स्कूल का प्रबन्ध समिति का अवैतनिक सचिव नियुक्त किया गया और कुछ प्रमुख हिन्दुओं को लेकर एक समिति नियुक्त की गयी। प्रबन्ध समिति के बनने और विद्यासागर के सचिव होने से बेथ्यून स्कूल के जीवन में एक नया दौर शुरू हुआ।

किसी काम को अपने हाथ में लेने तथा काम करने का विद्यासागर का अपना एक निराला ही ढंग था। उनकी असीम शक्ति और संकल्प केवल बेथ्यून स्कूल या नगर की सीमाओं तक ही सीमित नहीं थे। उनकी चाह थी, एक व्यापक क्षेत्र की और वह था बंगाल का सारा देहाती क्षेत्र। 1854 की शिक्षा-घोषणा में निदेशक-मण्डल ने पहली बार भारत में स्त्री-शिक्षा के महत्त्व व आवश्यकता को स्वीकार किया था। निदेशकों ने अपने शिक्षापत्र में खुशी जाहिर की थी कि भारत के ग्रामीणों में अपनी पुत्रियों को शिक्षित करने की भावना जोर पकड़ रही है। आगे उन्होंने यह भी

स्वीकार किया था कि पुरुषों की शिक्षा की अपेक्षा स्त्री-शिक्षा से जनता का शैक्षणिक तथा नैतिक स्तर ऊँचा किया जा सकता है। 'ग्राण्ट-इन-एड' की योजना जिन स्कूलों के लिए लागू की गयी थी, उनमें लड़कियों के स्कूल भी सम्मिलित कर लिए गये। 1857 से स्थानीय सरकार ने भी लड़कियों के स्कूलों को सहायता देनी शुरू कर दी।

सन् 1857 के प्रारम्भ में लेफ्टिनेण्ट गवर्नर हैलीडे, ने जो स्त्री-शिक्षा के कट्टर समर्थक थे, संस्कृत कॉलेज के तत्कालीन आचार्य और दक्षिण बंगाल में स्कूलों के सहायक निरीक्षक विद्यासागर को बुलवाया और उनसे इस विषय पर पूरे तौर से बातचीत की। दोनों ने उन कठिनाइयों पर भी ध्यान दिया, जो गाँवों में लड़कियों के स्कूल खोलते समय पेश आती थीं। स्थिति तो यह थी कि शहरों में भी स्त्री-शिक्षा बहुत अधिक आगे नहीं बढ़ी थी। विद्यासागर ने अडिग होकर हैलीडे से कहा कि संकल्प शक्ति व ईमानदारी से कार्य करने पर हर कार्य सफल हो सकता है।

पण्डित जी में शक्ति और चुस्ती का अक्षय भण्डार था और अब उन्हें वह क्षेत्र मिल गया था, जिसमें वह खुलकर उसका उपयोग कर सकते थे। उन्होंने बर्दवान जिले में एक स्कूल खोलने के सम्बन्ध में 30 मई, 1857 को शिक्षा निदेशक के पास एक रिपोर्ट भेजी–

"मुझे यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि बर्दवान जिले में गाँव के निवासियों ने गाँव के मॉडल स्कूल के प्रधानाध्यापक के सुझाव पर वहाँ लड़कियों का जो एक स्कूल स्थापित किया है, वह पिछले 15 अप्रैल को खुला था और अब उसमें 4 से 11 वर्ष की अवस्था तक की 24 लड़कियाँ शिक्षा पा रही हैं। इनमें से अधिकांश प्रतिष्ठित ब्राह्मण व कायस्थ परिवारों की लड़कियाँ हैं। इसके निरीक्षण से मुझे यह आशा है कि यह स्कूल शीघ्र ही काफी फूले-फलेगा। न केवल यहाँ के ग्रामीण ही इसकी सफलता में बड़ी रुचि लेते रहे हैं, बल्कि लड़कियाँ स्वयं भी अपने पढ़ने-लिखने का काम बड़े ध्यान और खुशी से करती हैं।"

नवम्बर, 1857 और मई, 1858 के बीच विद्यासागर ने लड़कियों के 35 स्कूल खोले, जिनमें कुल 1,300 छात्राएँ थीं। सरकार से अनुरोध किया गया कि लड़कियों के स्कूलों के हित में 'ग्राण्ट-इन-एड' के नियमों में संशोधन किया जाये, जिससे स्कूल के लिए अच्छी इमारत मिलने पर और लड़कियों की संख्या 20 हो जाने पर सरकार स्कूल का सारा खर्च खुद उठा सके। पर सरकार ने यह कहकर नियमों में संशोधन करने से इनकार कर दिया कि जब तक लोग स्वेच्छा से दान देकर इन स्कूलों की सहायता नहीं करते, तब तक उन्हें खोलना बेकार है।

लड़कियों की शिक्षा के क्षेत्र में विद्यासागर के प्रयत्नों पर इस सरकारी आदेश का काफी असर पड़ा। उन्होंने यह समझकर बहुत-से स्कूल खोल दिये थे कि इनके लिए इमारत की व्यवस्था स्थानीय जनता करेगी और इनका खर्च सरकार चलाएगी। सरकार के इस आदेश के बाद विद्यासागर को यह लगा कि उनके सारे प्रयत्न व्यर्थ

गये और उनके द्वारा खोले गये सभी स्कूल बहुत जल्दी ही बन्द हो जायेंगे। उन्हें पहले ही स्कूल चलाने तथा शिक्षकों का वेतन देने का कुछ खर्च खुद ही उठाना पड़ता था। अधिकारियों को इस अजीब स्थिति की सूचना दी गयी। काफी लिखा-पढ़ी के बाद सरकार ने समुचित धनराशि देना मंजूर किया और पण्डित जी की चिन्ता दूर हो गयी। यद्यपि स्त्री-शिक्षा के प्रति सरकार के उदासीन रुख से विद्यासागर काफी निराश हो गये थे, पर इस दिशा में उन्होंने अपने काम में कोई ढील नहीं आने दी और बड़ी चुस्ती से कार्य करते रहे। उन्होंने लड़कियों के स्कूलों की आर्थिक सहायता के लिए धन संग्रह का कार्य शुरू किया और कलकत्ता के धनी-मानी लोगों से काफी धन इकट्ठा कर लिया।

बेथ्यून स्कूल की प्रबन्ध समिति के गठन के बाद दिसम्बर, 1856 में उन्होंने कलकत्ता और उसके उपनगरों के प्रख्यात हिन्दू परिवारों के पास गश्ती पत्र भेजा, जिसमें स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा का उद्देश्य और विधि बताई गयी थी और यह कहा गया था कि "केवल प्रतिष्ठित हिन्दू परिवारों की लड़कियाँ ही इसमें प्रवेश पाती हैं और उन्हें पढ़ाई, लिखाई, गणित, प्राकृतिक विज्ञान, भूगोल और सिलाई के काम की शिक्षा दी जाती है। ये सभी विषय बंगला के माध्यम से पढ़ाए जाते हैं और अंग्रेजी लड़कियों के माता-पिता की राजी से ही पढ़ाई जाती है। लड़कियों से कोई फीस नहीं ली जाती और किताबें भी मुफ्त दी जाती हैं। जो लड़कियाँ स्कूल से काफी दूर रहती हैं और आने-जाने का खर्च भी नहीं बर्दाश्त कर सकतीं, वे स्कूल की गाड़ी तथा पालकी में बिना किराये के मुफ्त में आ-जा सकती हैं।"

विद्यासागर ने 'मनुस्मृति' का एक श्लोक स्कूल की गाड़ी या पालकी के द्वारों पर लिखवा दिया था। उस श्लोक का अर्थ यह था कि लड़कियों को भी लड़कों की तरह शिक्षा प्राप्ति का समान अधिकार प्राप्त है। एक पुराने शास्त्र का यह उद्धरण हिन्दुओं में लड़कियों की शिक्षा की आवश्यकता महसूस कराने के लिए सैकड़ों तर्कों व दलीलों से कहीं अधिक शक्तिशाली था।

संस्कृत कॉलेज के आचार्य के नाते नियमित रूप से अपने कर्तव्य पालन के अतिरिक्त, वह यह सब कार्य कर रहे थे। नवम्बर, 1858 में संस्कृत कॉलेज के आचार्य पद से इस्तीफा देने के बाद भी वह बेथ्यून कॉलेज के अवैतनिक सचिव पद पर कार्य करते रहे। जनवरी, 1869 में बेथ्यून स्कूल की प्रबन्ध समिति के विघटित होने पर ही वह इस पद से अलग हुए।

विद्यासागर के सचिव पद के समय में स्कूल की कितनी उन्नति हुई, इसकी जानकारी उनकी दिसम्बर, 1862 की इस रिपोर्ट से प्राप्त की जा सकती है—

"प्रवेश पाने वाली लड़कियों की संख्या के सम्बन्ध में कमेटी यह बताना चाहती है कि 1859 से उनकी संख्या नियमित रूप से बढ़ रही है। इस समय उनकी संख्या 93 है। यदि कमेटी के पास कुछ पहले से सवारी की कमी न होती, तो

यह संख्या अब तक 100 से अधिक हो जाती। तीसरी गाड़ी की व्यवस्था से अब यह असुविधा दूर हो गयी है और आशा है कि अब वह संख्या शीघ्र ही पूरी हो जायेगी। जो लड़कियाँ छोटी उम्र में प्रवेश पाकर 11 या 12 वर्ष की उम्र तक स्कूल में पढ़ती हैं, उन्हें पढ़ाये जाने वाले विषयों का काफी अच्छा ज्ञान हो जाता है।

"जिस हिसाब से प्रवेश पाने वाली छात्राओं की संख्या अभी हाल में बढ़ी है, उसे देखते हुए कमेटी का विश्वास है कि उन वर्गों के लोगों की नजरों में यह संस्था ऊँची उठ रही है, मुख्यतः जिनके लाभार्थ इसे स्थापित किया गया था। कमेटी को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि स्त्रियों के लिए गृह-शिक्षा अब धनी वर्ग के बहुत-से परिवारों में पनप रही है और इसका अधिकांश श्रेय बेथ्यून स्कूल को ही प्राप्त है।"

इस रिपोर्ट से स्पष्ट है कि स्त्री-शिक्षा दृढ़ सामाजिक बन्धनों के बावजूद कुछ आगे ही बढ़ रही थी। यह सच है कि शिक्षा विभाग के अन्तर्गत 1866-67 तक लड़कियों के स्कूलों की संख्या बढ़कर 300 और छात्राओं की संख्या लगभग 6,000 हो गयी थी। किन्तु अभिभावकों द्वारा छात्राओं को जल्दी ही स्कूल से हटा लेने के कारण बहुत कम लड़कियाँ एक सामान्य स्तर तक शिक्षा ग्रहण कर पाती थीं। लड़कियों के माता-पिता केवल इतना ही चाहते थे कि वे स्कूल में मामूली पढ़ना-लिखना और हिसाब लगाना तथा कुछ सीना-पिरोना सीख जायें। आम तौर से, नौ या दस की उम्र में उन्हें स्कूल से हटा लिया जाता था। स्पष्ट है कि उनके अच्छी शिक्षा ग्रहण करने के मार्ग में बाल-विवाह भी बाधक था। इस प्रथा का प्रभाव मध्यम वर्ग या निम्न वर्ग की अपेक्षा उच्च वर्ग पर अधिक था। अपनी पुत्रियों के लिए वे सार्वजनिक स्कूल शिक्षा की अपेक्षा अन्तःपुर स्त्री-शिक्षा या गृह-शिक्षा को अधिक पसन्द करते थे। इसकी पुष्टि वुड्रो की 1863-64 की इस रिपोर्ट से भी होती है, "ये लड़कियाँ समाज के धनी वर्ग से आयी हुई मालूम नहीं होतीं, क्योंकि अभी हाल के उस आदेश का, जिसमें कहा गया था कि बच्चों को अपनी किताबों की कीमत खुद अदा करनी चाहिए, बड़ा सख्त विरोध हुआ। साथ ही मेरी इस बात का भी सबने विरोध किया कि छात्राओं पर मामूली फीस लगा दी जाये। बेथ्यून स्कूल में धनी लोग नहीं, बल्कि भद्र लोग ही अपने बच्चों को भेजते हैं।" बंगाल में स्त्री-शिक्षा की जो थोड़ी-बहुत उन्नति उस समय हो रही थी, वह मुख्यतः विश्वविद्यालय की शिक्षा पाये हुए कुछ युवकों के परिश्रम और प्रभाव के कारण हो रही थी। उनमें से अधिकतर लोग नये शहरी मध्यम वर्ग के थे और धन के अलावा, शिक्षा उनके सामाजिक दर्जे का एक नया प्रतीक बन गयी थी। बंगाल में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्त्री-शिक्षा के सबसे कट्टर समर्थक अधिकतर यही शिक्षित शहरी मध्य वर्ग के लोग थे।

छठे दशक के मध्य में बंगाल में मिस मेरी कारपेंटर ने स्त्री-शिक्षा को एक

नयी शक्ति दी। उनका नाम इसके लिए काफी मशहूर है कि वह एक परोपकारिणी महिला थीं और भारत के लोगों की मित्र थीं। 20 नवम्बर, 1866 को वह कलकत्ता पहुँचीं और वहाँ वह स्त्रियों की शिक्षा के सच्चे समर्थक विद्यासागर केशवचन्द्र सेन आदि लोगों से मिलीं। वहाँ उन्होंने अध्यापिकाओं की ट्रेनिंग के लिए एक नार्मल स्कूल का प्रस्ताव रखा और इसके लिए एक योजना तैयार की जो सरकार को भेज दी गयी। अधिकारियों ने विद्यासागर की राय जाननी चाही। विद्यासागर ने लेफ्टिनेंट गवर्नर के नाम 1 अक्टूबर, 1867 के एक पत्र में अपने विरोध का कारण बताया—

"अन्तिम बार जब हम मिले, तब से मैंने इस विषय में बड़ी सावधानी से जांच-पड़ताल की है और काफी सोचा-विचारा है। किन्तु यह बताते हुए मुझे बड़ा अफसोस है कि मैं कुमारी कारपेंटर की स्वदेशी अध्यापिकाएँ तैयार करने की योजना के अमल में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों के बारे में अपनी राय नहीं बदल सकता। जितना अधिक मैं इस बारे में सोचता हूँ मुझे उतना ही अधिक विश्वास होता है कि मेरी सच्ची सलाह यही है कि सरकार कुमारी कारपेंटर की योजना की सीधी जिम्मेदारी अपने हाथ में न ले। समाज की मौजूदा हालत और लोगों की भावनाओं को देखते हुए मैं यह महसूस करता हूँ कि इस योजना को लागू करने पर सरकार को विफलता ही हाथ लगेगी। आप यह आसानी से समझ सकते हैं कि जो हिन्दू शादी के बाद 10-11 साल की लड़कियों को घरों से बाहर नहीं निकलने देते वे युवतियों को पढ़ाने के धन्धे में लगाना कैसे मंजूर करेंगे! केवल निस्सहाय विधवाओं की सेवाएँ उपलब्ध हो सकती हैं, पर जब वे घर से बाहर निकलने लगेंगी, तो लोग उन पर सन्देह की दृष्टि से उँगली उठाएँगे। फलतः जिस उद्देश्य से स्वदेशी अध्यापिकाएँ तैयार करने की योजना है, वह लाभकारी नहीं रहेगी।

"आप जानते ही हैं, मैं स्त्री जाति को पढ़ाने के लिए स्त्री-शिक्षकों की आवश्यकता को कितना महत्त्व देता हूँ, पर यदि हमारे देश के सामाजिक बन्धन इसमें बाधक न होते, तो सबसे पहले मैं उसका समर्थन करता और इसकी उन्नति में तहेदिल से सहयोग देता। किन्तु जब मैं देखता हूँ कि सफलता बिल्कुल निश्चित नहीं है और सरकार शायद खुद एक गलत और अरुचिकर स्थिति में पड़ जायेगी तो मैं इस परीक्षण को अपना समर्थन देने के लिए राजी नहीं हो सकता।"

मगर, वह अपने पत्र में बेथ्यून स्कूल को चालू रखने की आवश्यकता का जिक्र किये बिना न रहे—

"बेथ्यून स्कूल के सम्बन्ध में मैं आपसे सहमत हूँ कि जितना इस पर खर्च होता है, उतना इससे लाभ नहीं होता। पर मैं यह भी नहीं चाहता कि इसे एकदम समाप्त कर दिया जाये। जिसके नाम पर यह संस्था चालू है, कि उस महान् परोपकारी व्यक्ति द्वारा भारत में स्त्री-शिक्षा के लिए की गयी सेवाओं

के स्मारक के रूप में इसे बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि सरकार इसे अपना सहयोग दे। इसके अलावा यह भी जरूरी है कि दूसरी संस्था के लिए एक आदर्श के रूप में राजधानी के बीच लड़कियों का एक सुसंगठित स्कूल हो। निस्सन्देह, इस संस्था का लोगों पर स्थायी और काफी अच्छा नैतिक प्रभाव पड़ा है। वास्तव में इसने आसपास के जिलों में स्त्री-शिक्षा के लिए रास्ता तैयार किया है। मेरे विचार से इस पर जो सालाना खर्च होता रहा है उसका यह कोई कम लाभ नहीं हैं।"

यद्यपि विद्यासागर को मिस कारपेंटर की योजना की सफलता के बारे में बहुत आशा नहीं थी, पर वह अधिकारियों को अपनी सहायता और सहयोग देते रहे, जैसा कि डी.पी.आई. को लिखे गये वुड्रो के 2 मार्च, 1869 के पत्र से स्पष्ट है–

"मुझे यह बताने का सौभाग्य मिला है कि विद्यासागर ने बेथ्यून स्कूल से सम्बन्धित कागजात मुझे सौंप दिये हैं.... । उन्होंने मेरे साथ स्कूल तथा इसकी जमीन के निरीक्षण में अपना काफी समय खर्च किया और इसे हिन्दू स्त्रियों के रहने योग्य बनाने के साधनों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। नॉर्मल स्कूल की सफलता की उन्हें यद्यपि बिल्कुल आशा नहीं थी पर इसकी स्थापना के लिए उन्होंने मुझे यथाशक्ति सहायता देने का वचन दिया है।"

सरकार कुमारी कारपेंटर की योजना को अच्छा अवसर देने के पक्ष में थी। विद्यासागर की अधीनता में बेथ्यून स्कूल कमेटी ने इस योजना में भाग लेने से इनकार कर दिया और सरकार के आदेशानुसार 27 जनवरी, 1869 को इसे भंग कर दिया गया। बेथ्यून स्कूल की इमारत में ही अध्यापिकाओं की ट्रेनिंग के लिए नॉर्मल स्कूल खोल दिया गया और सरकार ने इसको चलाने के लिए 12,000 रुपये का वार्षिक व्यय मंजूर कर लिया। यह स्कूल बिल्कुल असफल साबित हुआ। सार्वजनिक शिक्षा के बारे में 1869-70 की रिपोर्ट में इसकी असफलता इस टिप्पणी के साथ स्वीकार की गयी, "बेथ्यून स्कूल में अध्यापिकाओं की ट्रेनिंग के लिए जो कक्षाएँ खोली गयीं, उन्हें कोई खास सफलता नहीं मिली।" इस वर्ष के बाद की रिपोर्ट भी बड़ी निराशाजनक थी, "कलकत्ता के बेथ्यून स्कूल में अध्यापिकाओं की ट्रेनिंग के लिए खुली कक्षाएँ शिष्यों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती हैं। और अब इनको चालू रखना कोई माने नहीं रखता।" सरकार ने 24 जनवरी, 1872 को डी.पी. आई. को लिखे पत्र में नॉर्मल स्कूल को भंग करने का आदेश जारी करते हुए लिखा, "सारे मामले की पूरी जाँच-पड़ताल करने से यह स्पष्ट है कि तीन वर्ष के परीक्षण के बाद 'फीमेल नॉर्मल' बिल्कुल नाकामयाब रहा है।" विद्यासागर की भविष्यवाणी बिल्कुल सही निकली।

विद्यासागर के कमेटी से सम्बन्ध तोड़ लेने के बाद बंगाल में स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में बेथ्यून स्कूल का बोलबाला शीघ्र ही खत्म हो गया। स्त्री-शिक्षा का नेतृत्व यहाँ

अब हिन्दू-महिला विद्यालय के हाथ में आया, जिसकी स्थापना कलकत्ता के पूर्वी भाग में नवम्बर, 1873 में हुई और बाद में जिसका नाम बदलकर 1876 में 'बंग महिला विद्यालय' रख दिया गया था। यह संस्था मिस अक्रोयड ने, मनमोहन घोष, द्वारकानाथ गांगुली दुर्गामोहन दास, आनन्दमोहन बोस जैसे प्रगतिशील बंगाली युवकों की सहायता से प्रारम्भ की थी। सरकार ने सार्वजनिक शिक्षा के बारे में 1876-77 की अपनी रिपोर्ट में यह माना कि बंग महिला विद्यालय "हर तरह से बंगाल का सबसे अधिक प्रगतिशील स्कूल है" पता चला कि सरकार-आश्रित बेथ्यून स्कूल शिक्षण, प्रशासन और संगठन के मामले में विद्यालय से काफी अधिक पिछड़ गया है। इसलिए बेथ्यून स्कूल की प्रबन्धक कमेटी के अध्यक्ष मि. जस्टिस फीयर ने एक सुझाव दिया कि दोनों संस्थाओं को एक में मिला दिया जाये और उन्हें सीधे सरकार के निरीक्षण में रख दिया जाये। अन्त में 1 अगस्त, 1878 को ऐसा ही हुआ और इस पुनर्गठित बेथ्यून स्कूल से ही 1878 में कुमारी कादम्बिनी बोस को पहले-पहल कलकत्ता विश्वविद्यालय की एण्ट्रेंस परीक्षा में शामिल होने के लिए भेजा गया। कादम्बिनी द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुई। भारत में स्त्रियों की शिक्षा के इतिहास में यह बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। अप्रैल, 1878 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की प्रबन्ध समिति ने पहली बार यह संकल्प किया कि "यूनिवर्सिटी परीक्षा में कुछ शर्तों के साथ छात्राओं को भी विश्वविद्यालय परीक्षा में शामिल किया जाये।"

कादम्बिनी बोस के एण्ट्रेंस परीक्षा पास कर लेने के साथ-साथ बेथ्यून स्कूल का एक नया जीवन प्रारम्भ हुआ और स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में एक नया दौर आया। कुमारी कादम्बिनी बोस की सफलता के फलस्वरूप और 'प्रथम कला परीक्षा' के लिए अपना अध्ययन जारी रखने की उनकी इच्छा के अनुसार लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने प्रथम कला पाठ्यक्रम को पढ़ाने योग्य प्राध्यापक नियुक्त करने और स्कूल का दर्जा बढ़ाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

स्त्री-शिक्षा के बारे में विद्यासागर और उनके कुछ समकालीन लोग दशाब्दियों तक जो स्वप्न देखते रहे, वह पिछली शताब्दी के आठवें दशक में सत्य साबित हुआ। सार्वजनिक शिक्षा के बारे में 1883-84 की रिपोर्ट में बंगाल में स्त्रियों की उच्च शिक्षा की प्रगति का जिक्र किया गया—

> *"बंगाल की उच्च शिक्षाप्राप्त स्त्रियों में अग्रणी कादम्बिनी बोस जो अब श्रीमती गांगुली है और जिन्होंने जनवरी, 1883 में अपनी बी.ए. की डिग्री प्राप्त की, आजकल कलकत्ता मेडिकल कॉलेज में डॉक्टरी की शिक्षा ले रही हैं और चन्द्रमुखी बोस को जिन्होंने अंग्रेजी में एम.ए. की डिग्री हासिल की है, अभी हाल में बेथ्यून स्कूल की कॉलेज कक्षाओं के लिए अध्यापिका नियुक्त किया गया है।"*

पण्डित विद्यासागर उस समय बीमार थे और अपने जीवन की अन्तिम अवस्था में थे। सामाजिक सुधार के संघर्ष में उन्हें जिन कुण्ठाओं और असफलताओं का मुँह

देखना पड़ा था, उस समय वह उन पर विचार कर रहे थे। जिन महान् कार्यों के लिए वह जीवन भर कठिन संघर्ष करते रहे, उनमें कम-से-कम स्त्री-शिक्षा एक ऐसा कार्य था, जिसकी वह अपने जीवन में आशाजनक उन्नति देख सके। चन्द्रमुखी बोस द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय की सबसे ऊँची परीक्षा एम.ए. की डिग्री प्राप्त कर लेने पर उन्होंने उसे 'कैसेल्स इलस्ट्रेटेड शेक्सपियर' की एक प्रति भेंट की।

29 जुलाई, 1891 को विद्यासागर परलोक सिधार गये। भारत में स्त्री-शिक्षा और उनकी आजादी के लिए संघर्ष करने वाले इस महान् व्यक्ति की यादगार के लिए सबसे उपयुक्त श्रद्धांजलि यही थी कि पढ़ी-लिखी भारतीय महिलाओं ने एक 'मेमोरियल कमेटी' बनाई और आपस में ही 1,670 रुपये इकट्ठे किये। उन्होंने इस धनराशि को बेथ्यून स्कूल के अधिकारियों को विद्यासागर के नाम पर छात्रवृत्ति योजना की नींव डालने के लिए सौंप दिया। बेथ्यून कॉलेज की कमेटी ने 1894 की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में इसका उल्लेख किया है, "स्वर्गीय पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर मि. बेथ्यून के सहयोगी और सहायक कार्यकर्ता थे। जब से स्कूल की नींव पड़ी, तभी से वह अपने जीवन-भर इसकी भलाई के लिए गहरी दिलचस्पी से काम करते रहे। इसलिए कमेटी के लिए यह खुशी की बात है कि कलकत्ता की कुछ हिन्दू स्त्रियाँ इस तरह से स्वर्गीय पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर की स्मृति जीवित रखने के लिए गहरी दिलचस्पी लें, जिन्होंने आजन्म परोपकार के काम में लगे रहने के साथ-साथ स्त्री-शिक्षा की उन्नति के लिए निरन्तर और इतना अधिक कार्य किया...।"

समाज-सुधार : विधवा-विवाह

जब विद्यासागर ने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह आन्दोलन की वकालत की, तो बंगाल के लोग यह सोचने लगे कि आखिर इस विद्वान पण्डित को क्या सूझा है, जो इसने यह आन्दोलन चलाया है।

इस सम्बन्ध में काल्पनिक तथा रोमानी प्रकृति की दो-तीन कहानियाँ यहाँ संक्षेप में दी जा रही हैं। एक कहानी है कि अपने गाँव वीरसिंह में विद्यासागर के बचपन की साथिन रहती थी, जो कम उम्र में ही विधवा हो गयी थी। शुरू-शूरू में उससे उनका कुछ लगाव हुआ और जब दोनों बड़े हुए, तो दोनों में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण भी पैदा हो गया था। विद्यासागर को जब पता चला कि वह विधवा हो गयी है और शास्त्रानुसार वह जीवन-भर दूसरी शादी भी नहीं कर सकती, तो उन्होंने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह के अधिकार के लिए लड़ने का निश्चय किया। दूसरी कहानी यह है कि अपनी युवावस्था में विद्यासागर ने एक स्त्री के बारे में कहानी सुनी, जिसने सामाजिक बहिष्कार का जीवन न सह सकने के कारण आत्महत्या कर ली थी। इस असहाय विधवा की मृत्यु की घटना से दुखी होकर ही उन्होंने हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने तथा उसे समाज तथा सरकार से मान्यता दिलाने का बीड़ा उठाया था।

विद्यासागर के जीवनी-लेखकों ने पिछली शताब्दी के मध्य में कुछ अजीबोगरीब परिस्थितियों में इस बुरी सामाजिक प्रथा को सुधारने के उनके महान् प्रयास के पीछे उनकी नीयत ढूँढ़ने की भूल की है। प्रत्येक सामाजिक विचार को निश्चित कार्य-रूप देने में थोड़ा समय लगता ही है। विद्यासागर के समय में विधवा-विवाह तथा बहु-विवाह के पक्ष-विपक्ष में सामाजिक सुधार ने जो रुख अख्तियार किया उसके पीछे एक लम्बी कहानी थी। इसका उदय राजा राममोहन राय के दिनों में ही 19वीं शताब्दी के प्रथम 25 वर्षों में हो गया था। 1815 में राजा राममोहन राय ने 'आत्मीय सभा' संगठित की, जो शुरू से ही इन सामाजिक समस्याओं पर सोच-विचार कर रही थी। 1819 में इस सभा की एक मीटिंग हुई थी जिसकी रिपोर्ट में बताया गया है, "इस मीटिंग में बाल-विधवा-विवाह-निषेध, बहु-विवाह और सती-प्रथा की घोर निन्दा की

गयी थी।" (कलकत्ता जर्नल खण्ड-iii 18 मई, 1819) सती-प्रथा खत्म करने के लिए तो हम राजा राममोहन राय के ऋणी हैं ही, पर जब वह विधवाओं के पुनर्विवाह के उद्देश्य से इंग्लैण्ड जा रहे थे, तो बंगाल के हर घर में उनकी चर्चा थी। बूढ़ी विधवाएँ अकसर मजाक किया करती थीं कि राजा राममोहन राय के इंग्लैण्ड से लौटकर आ जाने पर हमारी शादी होगी। इसमें शक नहीं कि हिन्दू-विधवाओं के पुनर्विवाह की ओर उनका ध्यान गया था, पर सती-प्रथा समाप्त कराने के बाद वह इस समस्या को समयाभाव के कारण पूरे उत्साह से न उठा सके थे।

पिछली शताब्दी के तीसरे दशक में 'डेरोजियन' युवकों ने अन्य समस्याओं के साथ-साथ इस पर भी गौर किया और इसके पक्ष में जनमत तैयार करने के लिए बड़े उत्साह से आगे बढ़े थे। 'डेरोजियन' इसके बारे में अपनी अंग्रेजी पत्रिका इन्क्वायरर' और बंगला पत्रिका 'ज्ञानान्वेषण' में अकसर लिखा करते थे। उनके इस कार्य का जो असर हुआ, वह इसी से स्पष्ट है कि भारतीय कानून आयोग ने इस मामले को विचार के लिए अपने हाथ में ले लिया था। आयोग के सचिव जे.पी. ग्रांट ने इस विषय पर जानकारी प्राप्त करने और चारों सूबों की सदर अदालतों की राय जानने के लिए एक गश्ती पत्र भेजा था। पर ध्यान देने की दिलचस्प बात यह है कि इन तमाम अदालतों के ब्रिटिश अफसरों ने विधवा-विवाह लागू करने का कानून बनाने का प्रस्ताव नामंजूर कर दिया था। कलकत्ता सदर अदालत के स्थानापन्न रजिस्ट्रार आर. माकन ने गश्ती पत्र के उत्तर में 24 जुलाई, 1837 को लिखा–

"अदालत हिन्दू-विधवाओं के पुनर्विवाह पर लगे प्रतिबन्धों की बुराइयों को अच्छी तरह समझती है पर उसकी अपनी स्पष्ट राय यह है कि सरकार अपने वायदों को तोड़े बगैर इस तरह का कोई भी कानून पास नहीं कर सकती।"

इलाहाबाद सदर अदालत के रजिस्ट्रार एच.बी. हैरिंगटन ने गश्ती पत्र के उत्तर में 11 अगस्त, 1837 को लिखा–

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रस्तावित कानून का उद्देश्य बहुत ही मानवीय है पर चूँकि यह सीधा हिन्दू कानून के विरुद्ध है और हिन्दू कानून के सम्यक् परिपालन के महत्त्व की दृष्टि से स्पष्ट है कि इससे जन-भावनाओं को गहरी ठेस पहुँचेगी इसलिए अदालत इसको पास करने के लिए अपनी राय नहीं दे सकती।"

31 जुलाई, 1837 को मद्रास सदर अदालत के रजिस्ट्रार डब्ल्यू. डगलस ने उत्तर में लिखा–

"न्यायाधीशों का विचार है कि भारत के इस भाग में इस तरह का कानून लागू करने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा, बल्कि उच्च वर्ग के लोग अधिक कट्टरता से इस प्रथा को बनाये रखने के लिए संयुक्त रूप से प्रयत्न करेंगे।"

सदर अदालतों के इन उत्तरों से स्पष्ट है कि जब पिछली शताब्दी के तीसरे दशक में कानून द्वारा विधवा-विवाह लागू करने का प्रश्न उठाया गया, तो हिन्दुओं

के सामाजिक रीति-रिवाजों के हस्तक्षेप के डर से ये अदालतें इस तरह के कानून बनाने के पक्ष में नहीं थीं। 'यंग बंगाल' के आन्दोलन का फिर भी काफी प्रभाव पड़ा। सम्बन्धित अधिकारियों ने बड़े उत्साह से इस मामले को अपने हाथ में लिया और कानून के सम्बन्ध में उन्होंने विशेषज्ञों से राय ली। बंगाल के पढ़े-लिखे प्रगतिशील मध्यवर्ग के लोगों का अपने विचारों का प्रचार-आन्दोलन चौथे दशक में भी और अधिक उत्साह से बराबर चलता रहा। ये लोग 'सोसाइटी फार दि एक्वीजीशन ऑफ जनरल नालेज', 'तत्त्वबोधिनी सभा' और 'बेथ्यून सोसाइटी' आदि जैसी अपनी संस्थाओं की मीटिंगों में इस मामले पर अकसर विचार-विमर्श किया करते थे।

विद्यासागर ने पिछली शताब्दी के पाँचवें दशक में जब विधवा-विवाह लागू करने तथा बहु-विवाह पर रोक लगाने का कानून बनवाने का आन्दोलन किया तो उस समय पत्रों तथा सभा-संस्थाओं के जरिए लगातार प्रचार करने से बंगाल में सामाजिक सुधारों के लिए एक निश्चित दृष्टिकोण तैयार हो गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में समाज-सुधार के लिए भूमि तैयार हो चुकी थी। इसके मुख्य समर्थक और प्रचारक शिक्षित मध्यवर्ग के लोग थे और उस समय तक बंगाल में उनका उदय एक सामाजिक शक्ति के रूप में हो चुका था। ये लोग पिछली शताब्दी के दूसरे दशक के शुरू से ही पत्रों और सभा-सोसाइटियों से बाल-विवाह और बहु-विवाह के विरुद्ध तथा विधवा-विवाह के पक्ष में प्रचार करते रहे थे। चौथे दशक में उनका यह प्रचार और आन्दोलन चरम सीमा पर पहुँच गया था। 'यंग बंगाल' के नेता अपनी अंग्रेजी तथा बंगला पत्रिका 'स्पेक्टेटर' के जरिए चौथे दशक के शुरू से ही इस सम्बन्ध में बड़े जोर-शोर से प्रचार कर रहे थे। इस पत्रिका के अप्रैल, 1842 के पहले ही अंक में विधवा-विवाह के विषय में एक काफी बड़ा समीक्षात्मक लेख लिखा गया। लेखक ने इस लेख में विद्यासागर के उस निबन्ध से भी सामग्री ली जिसे उन्होंने विधवा-विवाह के बारे में लिखा और जिसमें उन्होंने विधवा-विवाह के पक्ष में अनेक प्रमाण पेश किये थे। हिन्दू-समाज के प्रमुख लोगों के हस्ताक्षर कराकर सरकार को एक याचिका भेजने का प्रस्ताव भी इस लेख के लेखक ने ही रखा था। इस याचिका में हिन्दू-विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार दिलाने का सुझाव दिया गया था और अनुरोध किया गया था कि यदि आवश्यक हो, तो यह अधिकार कानून द्वारा दिलाया जाये। 1845 में 'ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी' ने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह के बारे में 'धर्मसभा' और 'तत्त्वबोधिनी सभा' से लिखा-पढ़ी की, पर 'तत्त्वबोधिनी सभा' ने इस लिखा-पढ़ी का कोई जवाब नहीं दिया। धर्मसभा के साथ लिखा-पढ़ी कुछ समय तक बराबर चलती रही, पर इससे भी कोई नतीजा नहीं निकला। (कलकत्ता रिव्यू, खण्ड 25, जुलाई-दिसम्बर, 1850) लगभग 10 वर्ष बाद पाँचवें दशक में विद्यासागर ने फिर यह आन्दोलन बड़े जोरों से उठाया। जैसा

कि पहले बताया जा चुका है, यह आन्दोलन चौथे दशक के शुरू में अपनी चरम सीमा पर था और इसके अन्त में यह समाप्त हो चुका था।

सन् 1839 और 1843 में महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर द्वारा संस्थापित 'तत्त्वबोधिनी सभा' और 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के प्रयत्नों से पाँचवें दशक में एक सामाजिक स्थिति पैदा हो गयी थी। 'तत्त्वबोधिनी सभा' की शुरुआत केवल 10 सदस्यों से हुई। इसकी साप्ताहिक और मासिक बैठकें होती थीं, जिनमें सामाजिक और धार्मिक विषयों पर चर्चा होती थी। आरम्भ में तो यह बहुत छोटी थी पर जिस उत्साह और स्फूर्ति से इसने अपना काम चलाया, उससे इसके सदस्यों की संख्या बढ़कर केवल दो वर्षों में ही 500 हो गयी। आगे चलकर तो बहुत-से धनी-मानी व्यक्ति भी इसके सदस्य और हितैषी बने (शिवनाथ शास्त्री, हिस्ट्री ऑफ ब्रह्मसमाज, खण्ड 1, पृ. 87)। पिछली शताब्दी के मध्य में तो यह मध्यवर्ग के शिक्षित बंगाली युवकों की बहुत शक्तिशाली संस्था बन गयी थी। विद्यासागर का इससे घनिष्ठ सम्पर्क था और वह इसके सदस्य भी थे। इसके ब्रह्मसमाज में मिलाए जाने से पूर्व 1858-59 में विद्यासागर इसके सचिव हो गये थे। वह 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के सम्पादक-मण्डल में भी शामिल थे और उसमें नियमित रूप से कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे। पत्रिका के पहले सम्पादक अक्षयकुमार दत्त उनके गहरे दोस्त बन गये थे और समाज-सुधार के काम में उन्हें पूरा सहयोग देते थे। दत्त अपने समय के एक अदम्य यथार्थवादी और भौतिकवादी थे और विद्यासागर की भाँति बंगला के बहुत ही उच्च कोटि के गद्य-लेखक थे। बंगला के माध्यम से ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक साहित्य क्षेत्र में भी वह आगे आये और बहुत कुछ लिखा। उनमें दृढ़ इच्छाशक्ति थी और उनका दृष्टिकोण बिल्कुल साफ था। इसलिए वह समाज-सुधार के लिए विद्यासागर के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम करते रहे और 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के स्तम्भों में बहुविवाह-प्रथा की समाप्ति और विधवा-विवाह के पक्ष में हमेशा ही लिखते रहे। खुद विद्यासागर ने 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के फाल्गुन, 1776 शक (सन् 1854) के अंक में एक लेख द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह का अपना प्रस्ताव पेश किया था। पत्रिका के अगले अंक में अक्षयकुमार दत्त ने इस पर सम्पादकीय टिप्पणी लिखी थी और प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया था।

गोष्ठियों और सभाओं में विवादग्रस्त सामाजिक विषयों पर होने वाली चर्चाओं से सभा के युवक सदस्यों के कामों में नयी स्फूर्ति दिखाई देने लगी थी। 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के स्तम्भों से भी यही स्फूर्ति आती थी, जिसमें स्त्री-शिक्षा तथा विधवा-विवाह के पक्ष में और बहु-विवाह, बाल-विवाह तथा नशेबाजी के विपक्ष में नियमित रूप से लेख लिखे जाते थे।

ऐसी स्थिति में विद्यासागर समाज-सुधार के मैदान में आये। उनके कुछ जीवनी-लेखकों की यह बात गलत है कि विधवाओं के पुनर्विवाह का विचार पहले-पहल

उन्होंने ही दिया और उन्होंने 'पाराशर संहिता' के उन श्लोकों को ढूँढ़ा, जिनमें कुछ खास परिस्थितियों में हिन्दू-विधवाओं के पुनर्विवाह का विधान है। यह सच है कि उन्होंने कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के आचार्य के कमरे में कई रातें बिना सोए इस ढूँढ़-खोज में बिता दी थीं कि उन्हें अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए प्राचीन हिन्दू शास्त्रों में कुछ मसाला मिल जाये। मगर, यह सच नहीं है कि पाराशर-संहिता...के श्लोक 'नष्टे मृते...' को ढूँढ़कर वह खुशी के मारे उछल पड़े थे और चिल्ला उठे थे कि "वाह! आखिर यह मिल ही गया।" इस कहानी से प्राचीन संस्कृत साहित्य में विद्यासागर के गम्भीर पाण्डित्य के प्रति न्याय नहीं होता, पर सारे विरोध के बावजूद विधवा-विवाह आन्दोलन की सफलता का श्रेय उनको ही प्राप्त है। उन्होंने इस ऐतिहासिक उद्‌देश्य को अपूर्व साहस और दृढ़ता से पूरा किया।

हमें नहीं मानना चाहिए कि विद्यासागर ने विधवा-विवाह के बारे में अपनी थीसिस का समर्थन करने के लिए प्राचीन शास्त्रकारों का कोई नुस्खा हासिल करने के लिए सख्त मेहनत की थी। 'पाराशर संहिता' के जिस कथन के आधार पर उन्होंने अपना पक्ष प्रस्तुत किया, ऐसे ही कथन बोधायन, नारद आदि ऋषियों के ग्रन्थों में भी मिलते हैं और अग्नि पुराण आदि पुराणों से भी इसकी पुष्टि होती है। बोधायन ने एक स्त्री के लड़के को पुनर्भव कहा है, जिसने अपने नपुंसक या जाति बहिष्कृत पति को तलाक देकर दूसरे से शादी की थी। ऐसा उस समाज में हरगिज नहीं हो सकता था, जहाँ विधवाओं को पुनर्विवाह पर सख्त रोक लगी हो। वास्तव में नारद, पाराशर तथा अग्नि-पुराण में विधवा-विवाह के पक्ष में एक-सा ही श्लोक है। संकट की पाँच अवस्थाओं में स्त्रियों के लिए दूसरे पति का विधान है जैसे पति के मर जाने पर, अज्ञातवास होने पर, संन्यास लेने पर, नपुंसक होने पर तथा पतित होने पर (नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ)। इसलिए विद्यासागर जैसे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह भारत के प्राचीन शास्त्रों में विधवाओं के पुनर्विवाह का नुस्सा ढूँढ़ने में इतना अधिक समय लगाते।

यद्यपि ब्राह्मणों तथा अन्य ऊँची जातियों में विधवा-विवाह सदियों से वर्जित था, पर दूसरी जातियों में यह बराबर चालू था। शूद्रों तथा ऐसी ही अन्य जातियों में तो विधवा-विवाह की प्रथा हमेशा ही कायम थी और यह आज भी मौजूद है, हालाँकि उनमें स्त्रियों का पुनर्विवाह पहले विवाह से कुछ हीन समझा जाता है। इन जातियों में स्त्रियों का पुनर्विवाह पति के मरने पर या उनके जीवन में ही उनकी राजी से हो सकता है। पर यह जरूरी है कि पहले वह लिखित तलाक-पत्र दे जिसे फारखत, या 'सोड-चिट्ठी' कहते हैं। ऐसे विवाहों को महाराष्ट्र में पट, गुजरात में *नात्र* तथा कन्नड़ में *उदकी* कहा जाता है। बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की नीची कही जाने वाली जातियों तथा सन्थाल आदि जनजातियों में विधवा-विवाह की प्रथा कायम है और आमतौर से इसे *निका* कहा जाता है। ये जातियाँ तथा जनजातियाँ (पश्चिम

बंगाल के मिदनापुर जिले में, जिसे पहले हुगली कहा जाता था और जहाँ विद्यासागर जन्मे और पले थे) अधिकतर गाँवों में बसी हुई हैं। हो सकता है कि अपनी प्रारम्भिक युवावस्था में यह प्रेरणा उन्होंने अपने इर्द-गिर्द रहने वाले इन लोगों की प्रथा से ही ली हो। अपनी तरुण अवस्था में शायद ही यह बात उनके मन में आ गयी थी कि बैंटिक द्वारा सती-प्रथा पर कानूनी रोक लगाने से विधवाओं की एक गम्भीर समस्या पैदा हो गयी है। चूँकि बंगाल में बहु-विवाह-प्रथा अभी भी चालू थी और सती-प्रथा पर रोक लगा दी गयी थी, इसलिए विधवाओं की संख्या चिन्ताजनक रूप से बढ़ने लगी थी। उनमें अधिकांश विधवाएँ जवान होती थीं। पिछली शताब्दी के मध्य तक संकट इतना बढ़ गया था कि गम्भीर विचार के लोगों ने महसूस किया कि समाज का नैतिक आधार शायद ही बच सके। विद्यासागर ने भी इसे बड़ी गम्भीरता से महसूस किया। पर वह दूसरों की तरह नहीं थे और उन्होंने शीघ्र ही अपने विचारों को अमल में लाना शुरू कर दिया।

विधवा-विवाह के समर्थन में विद्यासागर की पहली पुस्तिका जनवरी, 1855 में प्रकाशित हुई। 'पाराशर संहिता' के जिस श्लोक के आधार पर उन्होंने अपनी थीसिस का आधार खड़ा किया उसकी व्याख्या उन्होंने इस तरह की—

"पति का कोई समाचार न मिलने पर, उसके मरने पर, संन्यास ले लेने पर, नपुंसक होने पर तथा उसके पतित होने पर इनमें से किसी भी एक अवस्था में स्त्री विधिपूर्वक विवाह करके अपना दूसरा पति चुन सकती है।"

इस पर उनकी टिप्पणी यह थी—

"ऐसा लगता है कि पाराशर ने विधवाओं के लिए तीन नियमों की व्यवस्था की है—विवाह, ब्रह्मचर्य-पालन तथा मृत पति के साथ जलकर सती हो जाना। इनमें से सती-प्रथा तो कानून द्वारा समाप्त कर दी गयी इसलिए अब विधवाओं के लिए सिर्फ दो ही रास्ते बचे हैं या तो शादी करें या ब्रह्मचर्यपूर्वक रहें। पर कलियुग में ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना उनके लिए बड़ा कठिन हो गया है और यह कारण है कि लोक-हितैषी पाराशर ने पहले-पहल उनके लिए विवाह की ही व्यवस्था दी है। चूँकि पाराशर ने कलियुग में उक्त पाँच अवस्थाओं में से किसी एक में स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह एक कर्तव्य बताया है, इसलिए चाहे जो भी हो, पर मेरी समझ में कलियुग में विधवा-विवाह बिल्कुल शास्त्र-सम्मत है।"

इस श्लोक की व्याख्या को लेकर बड़ा विवाद खड़ा हो गया था। कुछ पण्डितों ने इसका सीधा-सादा यह अर्थ लगाया कि इसमें दूसरे युग की समाज-व्यवस्था का जिक्र है और इसलिए यह कलियुग में लागू नहीं होता। उत्तरी कलकत्ता में राजा राधाकान्त देव के घर विद्वानों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें पण्डितों ने बंगाल के नवद्वीप, भाटपाड़ा आदि प्राचीन विद्या केन्द्रों से आकर भाग लिया था। राजा राधाकान्त देव शोभा बाजार राजपरिवार के वंशज थे। वह सिर्फ संस्कृत के एक महान् पण्डित ही

न थे, बल्कि वह अपने समय के हिन्दू समाज के सबसे धनी-मानी नेताओं में थे। यद्यपि वह रूढ़िवादी हिन्दू समाज के नेता थे, पर उन्होंने विद्यासागर को इस सम्मेलन में आमन्त्रित कर अपनी शिष्टता और शालीनता का परिचय दिया। पहले दिन के ही शास्त्रार्थ में समाज-सुधारक विद्यासागर ने दिग्गज पण्डितों के आगे अपने विषय को इतनी बुद्धिमत्ता और योग्यता से पेश किया कि राजा राधाकान्त देव दंग रह गये और उनसे अत्यन्त प्रभावित हुए। यद्यपि वह उनकी अनेक बातों से सहमत न थे, पर उन्होंने विद्यासागर को उस समय का सबसे अच्छा शास्त्रार्थ-महारथी बताया और इनाम में दो शाल भी भेंट किये। रूढ़िवादी समाज के नेताओं ने समझा कि राजा राधाकान्त देव पर विद्यासागर का जादू चल गया और अब वह उनकी ही ओर चले गये। इससे कलकत्ता के हिन्दू समाज में बड़ी हलचल मच गयी। सैकड़ों लोगों ने राजा के पास भाग-दौड़ की और जानना चाहा कि विद्यासागर के विधवा-विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव के बारे में उनकी क्या राय है। राजा साहब उनसे मिले और उन्हें तसल्ली दी कि वह कतई विधवा-विवाह के पक्ष में नहीं हैं और न इस सम्बन्ध में विद्यासागर की दलीलों से सहमत हैं। उन्होंने विद्यासागर को केवल इसलिए पुरस्कार दिया था कि उनकी दलीलें अकाट्य और विद्वत्ता लाजवाब थी।

लोगों के दिमाग से पूरी तरह से गलतफहमी दूर करने के लिए राजा साहब ने अपने घर में पण्डितों का एक दूसरा सम्मेलन बुलाया, जिसमें महान् हिन्दू कानूनवेत्ता (स्मृतियों के विद्वान) नवद्वीप के ब्रजनाथ विद्यारत्न भी आये। ब्रजनाथ ने बड़ी जोरदार युक्तियों से विद्यासागर की दलीलों का खण्डन किया, जिसके लिए राजा साहब ने उन्हें भी शालों की एक जोड़ी भेंट की। इन सम्मेलनों के बाद विद्यासागर ने जल्दी ही महसूस किया कि उन्हें अपने विधवा-विवाह आन्दोलन में लोगों के विरोध का सामना करना पड़ेगा।

रूढ़िवादी हिन्दुओं और पण्डितों की संस्थाओं की ओर से विधवा-विवाह के विरोध में अनेक पुस्तिकाएँ निकाली गयीं। कुछ लोगों ने व्यक्तिगत रूप से विधवा-विवाह का विरोध किया और पुस्तक-पुस्तिकाएँ छपवाई। कलकत्ता की 'धर्मसभा' जैसोर की 'हिन्दू धर्मरक्षिणी सभा' तथा अन्य संस्थाओं ने भी विरोध-पत्र जारी किये। उस समय बंगला में इस सम्बन्ध में व्यंग्यात्मक कविताएँ, नाटक तथा कथा-कहानियाँ लिखी जाने लगीं और इनसे बंगला-साहित्य का भण्डार काफी समृद्ध हुआ। उस समय के एक प्रमुख व्यंग्य-लेखक ईश्वर चन्द्रगुप्त ने विधवा-विवाह पर बंगला में बड़ी मजेदार कविताएँ लिखीं। उसी समय के एक सबसे अधिक लोकप्रिय गीतकार तथा गायक दाशरथी राय ने भी इसी विषय पर कुछ गीत लिखे, जिन्हें लोग गाँव-गाँव और शहर-शहर में, मेलों और त्योहारों में मजाक के तौर पर गाने लगे, यहाँ तक कि ढाका, शान्तिपुर तथा बंगाल के अन्य शहरों के जुलाहों ने भी साड़ियों की किनारियों पर विधवा-विवाह के बारे में गाने बुन दिये थे। इन लोकप्रिय कविताओं, गीतों, नाटकों तथा कथा-कहानियों से लोगों का क्रोध व्यक्त नहीं होता था, बल्कि एक प्रकार का

डर और आश्चर्य ही व्यक्त होता था, जिसके साथ-साथ लोगों में विद्यासागर के प्रति प्रगाढ़ स्नेह और श्रद्धा की भावना थी। आम लोगों ने विद्यासागर के खिलाफ कभी कोई दुर्भावना प्रकट नहीं की, पर पोंगापन्थी हिन्दू नेताओं और पुराने विचारों के बहुत-से पण्डितों ने अवश्य उनके खिलाफ गाली-गलौज भरी भाषा का प्रयोग किया।

विधवा-विवाह के बारे में अक्टूबर, 1855 में प्रकाशित दूसरी पुस्तिका में विद्यासागर ने बड़ी शिष्ट और ललित भाषा में अपने विरोधियों की दलीलों का खण्डन किया पर इसका उनके विरोधियों पर कुछ भी असर न पड़ा, बल्कि इसने आग में घी का काम किया। इसलिए उन्होंने आगे वाद-विवाद से बचने और कुछ ठोस काम करने का निश्चय किया।

4 अक्टूबर, 1855 को विद्यासागर ने भारत सरकार के पास एक याचिका भेजी जिसमें विधवा-विवाह के पक्ष में कानून बनाने की माँग की गयी थी। यह याचिका भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित है। इस पर उनके खुद के हस्ताक्षरों के साथ-साथ 987 अन्य व्यक्तियों के भी हस्ताक्षर थे। यह याचिका परिषद को विद्यासागर के इस पत्र के साथ भेजी गयी थी–

सेवा में,
डब्ल्यू, मौर्गन एस्क्वायर
क्लर्क, भारतीय विधान परिषद

महोदय,

बंगाल प्रान्त के कुछ हिन्दू-निवासियों की याचिका मैं अपने इस पत्र के साथ आपके पास भेज रहा हूँ और मेरी प्रार्थना है कि आप इसे अगले अधिवेशन में परिषद के आगे पेश कर हम लोगों को कृतार्थ करें।

संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता — आपका सबसे आज्ञाकारी
4 अक्टूबर, 1855 — ईश्वर चन्द्र शर्मा

याचिका के 8 से 11 तक अनुच्छेद इस प्रकार हैं–

8. याचिका भेजने वालों का मत है कि विधान मण्डल का कर्तव्य है कि वह इतनी बड़ी सामाजिक बुराई को खत्म करने की राह में आने वाली कानूनी रुकावटों को दूर करें।

9. विधवा-विवाह की राह में आने वाली कानूनी अड़चनों को दूर करना अधिकांश रूढ़िवादी हिन्दुओं की भावनाओं तथा इच्छाओं के अनुकूल है और इससे उनके हितों पर कोई बुरा असर नहीं पड़ेगा, हालाँकि उन लोगों के पक्षपातों को चोट

अवश्य पहुँचेगी, जो सच्चे दिल से यह विश्वास करते हैं कि विधवा-विवाह की मनाही शास्त्र-सम्मत है या जो सामाजिक लाभ के ख़याली आधार पर इसका निषेध करते हैं।

10. दुनिया के किसी भी दूसरे देश या जाति में ऐसे विवाहों की न तो कहीं कानूनन मनाही है और न मनाही की कहीं कोई प्रथा है। इन विवाहों को अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता।

11. इसलिए हमारी प्रार्थना है कि परिषद ऐसा कानून पास करने के औचित्य को शीघ्र समझे, जिससे विधवा-विवाह की राह में आने वाली रुकावटें दूर हों और वह ऐसे विवाहों से पैदा होने वाली सन्तान को जायज करार दें।

परिषद के सदस्य जे.पी.ग्रांट ने 17 नवम्बर, 1855 को एक ऐसे विधेयक का प्रारूप विधान-परिषद में पेश किया, जिससे हिन्दू-विधवाओं के विवाह में आने वाली कानूनी रुकावटें दूर हो सकें और जो आगे चलकर एक अधिनियम का रूप ले सकें। उन्होंने इसे पेश करते हुए कहा कि हिन्दुओं में विधवा-विवाह-निषेध की प्रथा बड़ी निर्दयतापूर्ण, अप्राकृतिक, नैतिकता के लिए घातक तथा समाज के लिए सबसे अधिक शरारतपूर्ण है। यह ठीक है और विधेयक में यह व्यवस्था भी है कि जो लोग ऐसे कानून को नापसन्द करें, उन पर यह जबरन थोपा जाये पर चूँकि याचिका दायर करने वाले लोग इस प्रथा को हिन्दू शास्त्रों की सही व्याख्या के अनुसार शास्त्र-सम्मत नहीं मानते, इसलिए जरूरी है कि विधवा-विवाह के समर्थक सभी लोगों को उन कानूनी पाबन्दियों से मुक्त कर दिये जायें, जिनके बारे में उनकी शिकायत है और जो विधवा-विवाह की राह में रुकावट डालती हैं।

जब यह विधेयक परिषद में पेश हुआ तो देश-भर में इसके प्रति दिलचस्पी पैदा हुई और यह विवाद केवल बंगाल तक ही सीमित न रहा। लोग देश के कोने-कोने में विद्यासागर के विधवा-विवाह सिद्धान्त की चर्चा करने लगे और विवाद का एक तूफान खड़ा हो गया। भारत सरकार को याचिकाएँ भेजकर लोगों ने अपनी-अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं। परिषद में विधेयक पर जैसे ही बहस शुरू हुई, वैसे ही चारों तरफ से इन याचिकाओं की भरमार भी शुरू हो गयी।

भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में विधवा-विवाह के बारे में जो कागजात सुरक्षित हैं, उनमें पूना (पुणे), त्रिचूर, सिकन्दराबाद, सतारा, धारवाड़, बम्बई, अहमदाबाद, सूरत तथा बंगाल के अनेक भागों के लोगों की याचिकाएँ भी शामिल हैं। इन याचिकाओं में विधवा-विवाह के पक्ष और विपक्ष में दोनों ही तरह की दलीलें दी गयी हैं। त्रिपुरा के मरहठा सरदार ने 12 जनवरी, 1856 की अपनी याचिका में लिखा था :

"प्रस्तावित कानून के ब्योरे में जाना हमें अनावश्यक मालूम पड़ता है। हम सिर्फ यही जाहिर करना चाहते हैं कि जिस सिद्धान्त पर यह प्रस्ताव आधारित है, वह हमें बड़ी खुशी से मंजूर है और हमारा अनुरोध है कि हिन्दू-विधवाओं के पुनर्विवाह के बारे में जो रुकावटें हैं, विधान-मण्डल उन्हें दूर कर दे।"

7 नवम्बर, 1855 की लगभग 46 हस्ताक्षरों वाली पुणे की एक याचिका में कहा गया था—

"हमें पता है कि हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह की राह में आने वाली कानूनी रुकावटें दूर करने के लिए बंगाल के प्रगतिशील हिन्दू एक आन्दोलन कर रहे हैं। ऐसे आन्दोलन का वे सभी लोग समर्थन करेंगे, जो भारत की भलाई में सच्ची दिलचस्पी रखते हैं। हम नहीं समझते कि इन कानूनी पाबन्दियों को दूर करने के बाद इस प्रथा का शीघ्र अन्त हो जायेगा, जिसने अनगिनत कठिनाइयाँ और तकलीफें पैदा कर बेचारी सैकड़ों-हजारों बेगुनाह अभागी स्त्रियों की जिन्दगी को न सिर्फ दूभर बना दिया है, बल्कि जो अनेक सामाजिक बुराइयों और अपराधों की जड़ भी है। ज्ञान का प्रसार करने, गलत धारणाओं को दूर करने और इस तरह निश्चित रूप से हिन्दू समाज की स्थिति सुधारने के लिए सभी दिशाओं में जो काम किये जा रहे हैं; सिर्फ उन्हीं से इस प्राचीन प्रथा का प्रभाव हिन्दुओं के दिमाग से दूर किया जा सकता है"...

2 मार्च, 1856 की अपनी एक याचिका में सिकन्दराबाद के ब्राह्मण पण्डितों और 'जेंटू हिन्दुओं' ने लिखा—

"हिन्दू विधवाओं के विवाह को कानूनी करार देने के सम्बन्ध में बंगाल के कुछ हिन्दुओं ने जो याचिका दायर की है, उससे हम पूरे तौर से सहमत हैं और उसका समर्थन करते हैं।"

कुछ ऐसी भी याचिकाएँ थीं, जिनमें भारत के लोगों की परम्परागत धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाओं में ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप का सख्त विरोध था। उपलब्ध सामग्री के विश्लेषण से स्पष्ट है कि बंगाल के बाहर महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत के कुछ भागों में भी लोगों ने विधवा-विवाह आन्दोलन में काफी दिलचस्पी ली। बंगाल उस समय बड़ी तेजी से दो विरोधी खेमों में बँट गया था—एक तो विद्यासागर-समर्थक और दूसरे धर्मसभायी। साधारण बातचीत और बहस-मुबाहिसों में जो विचार प्रकट होते थे, वे अब लोगों की राय बन गये थे। कम-से-कम 100 पर्चे छापे गये और बंगाल के कई जिलों के लोगों ने भारत सरकार को 20 याचिकाएँ भेजीं जिनमें कम-से-कम 50 हजार लोगों के हस्ताक्षर थे। यदि हस्ताक्षरों का हिसाब लगाया जाये तो मानना पड़ेगा कि बंगाल से याचिका भेजने वालों में बहुत अधिक लोग विद्यासागर के खिलाफ थे। इनमें केवल 10 प्रतिशत ने ही विद्यासागर का समर्थन किया और विधवा-विवाह के पक्ष में कानून पास करने की वकालत की। विद्यासागर के सुधार के विरोध में बड़ी याचिका राजा राधाकान्त देव ने 17 मार्च, 1856 को भेजी थी, जिसमें 36,763 व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। याचिका में अन्य बातों के साथ-साथ यह भी कहा गया था कि विद्यासागर के अनुयायियों की संख्या बहुत थोड़ी है और यह कोई बुद्धिमानी की बात नहीं होगी कि थोड़े-से लोगों की खातिर कानून बनाया

जाये और बहुसंख्यक लोगों के अधिकारों में हस्तक्षेप किया जाये। प्रस्तावित विधेयक के विरुद्ध याचिका बंगाल के लगभग 1,000 पण्डितों ने हस्ताक्षर करके भेजी थी।

बंगाल से विधेयक के समर्थन में जो याचिकाएँ भेजी गयीं उनमें महत्त्वपूर्ण थीं—दिसम्बर, 1855 में नदिया के जमींदार महाराजा श्रीशचन्द्र, उनके दीवान कार्तिकेय चन्द्रराय, डी.एल. राय के पिता तथा कृष्ण नगर के 26 अन्य मुख्य व्यक्तियों की याचिका, दिसम्बर, 1855 में कृष्णनगर तथा अड़ोस-पड़ोस के लोगों की याचिका, जिसमें 129 लोगों के हस्ताक्षर थे बंगाल के वैष्णव सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र शान्तिपुर की याचिका, 1856 में प्रस्तावित विधेयक के पक्ष में एक याचिका ईश्वर चन्द्र घोषाल ने भेजी, जिस पर 531 व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे और इस याचिका पर मुख्य गोसाइयों, अर्थात् वैष्णव सम्प्रदाय के नेताओं ने भी हस्ताक्षर किये थे। एक याचिका मुर्शिदाबाद जिले से सुरेशचन्द्र विद्यारत्न द्वारा भेजी गयी, जिस पर विद्यासागर की शिक्षा तथा समाज-सुधार योजनाओं में उनके निकट सहयोगी मदनमोहन तर्कालंकार सरीखे प्रख्यात पण्डितों ने भी अपने हस्ताक्षर किये थे। मार्च, 1856 में ब्रह्मसमाज के सुयोग्य नेता तथा आधुनिक गण्यमान्य व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर विधेयक के पक्ष में याचिका भेजी गयी थी, ऐसी ही याचिकाएँ बर्दवान, बाँकुरा तथा चौबीस-परगना जिलों के लोगों द्वारा भेजी गयी जबकि एक याचिका फरवरी, 1856 में पूर्वी बंगाल के सुदूर चटगाँव जिले के लोगों की ओर से भी भेजी गयी थी।

विधवा-विवाह सम्बन्धी कागजात में जो सबसे अधिक दिलचस्प याचिका मिली, वह बंगाल के प्रमुख 'डेरोजियन' रसिक कृष्ण मलिक, राधानाथ सिकदार, प्यारे चन्द्र मित्र आदि व्यक्तियों द्वारा भेजी गयी थी। इसमें विधेयक की मूलवस्तु विधवा-विवाह का तो समर्थन किया ही गया था पर इससे यह भी माँग की गयी थी कि आधुनिक युग में स्त्री-पुरुष के समानाधिकार और बराबरी के दर्जे को ध्यान में रखकर विधेयक में आमूल संशोधन या परिवर्तन किया जाये। इस बात पर पहले कभी प्रकाश नहीं डाला गया था। विधेयक में संशोधन तथा परिवर्तन के लिए ये कारण बताये गये। विधेयक में यह नहीं बताया गया है कि वैध विधवा-विवाह किसे कहा जायेगा। इसकी परिभाषा का होना बहुत जरूरी है। चूँकि जब ये विधवा-विवाह होने लगेंगे तो हिन्दू-समाज व्यवस्था में यह एक नयी बात होगी और इस तरह के लोग विवाह-संस्कार में तरह-तरह के तरीके और रस्मोरिवाज अपनाएँगे और यह डर है कि इस तरह की शादियों के मामले अदालतों में जाकर झगड़ा पैदा करेंगे।

यह एक बड़ी युक्तिसंगत बात थी और विधेयक के मसौदे में एक बड़ी भारी कमी थी, जिसे 'डेरोजियन' इसके कानूनी रूप लेने से पूर्व दूर करवाना चाहते थे। 'डेरोजियन' लोगों का प्रास्ताव था कि दूल्हा विवाह से पहले दो घोषणापत्रों पर अलग-अलग हस्ताक्षर करे। विवाह की रस्में ये थीं—

घोषणा

"मैं...विधुर या कुँवारा और मैं...विधवा या अविवाहिता संयुक्त रूप से या अलग-अलग घोषणा करते हैं कि हमने अपनी स्वेच्छा और राजी से एक-दूसरे के साथ अपना विवाह...इस आज के दिन कर लिया है।

राजीनामा

"मैं...ने आज के दिन...को अपनी विवाहिता पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया है और अब उसके जीवन-काल में दूसरी शादी न करने के लिए बाध्य हूँ। यदि मेरी ओर से इस वैवाहिक बन्धन का उल्लंघन हो, तो मैं दूसरी शादी की तिथि को कम्पनी के रुपयों में...की रकम उसे अदा करने के लिए बाध्य हूँ।"

संशोधित प्रस्ताव में यह भी सुझाया गया था कि विधेयक में यह *विवाह पंजीकरण धारा* (मैरिज रजिस्ट्रेशन क्लाज) भी शामिल कर ली जाये कि चाहे जिस तरीके से हिन्दू-विधवाओं का विवाह हो उसे वैध माना जायेगा, बशर्ते कि इस काम के लिए सरकार द्वारा नियुक्त अफसरों के आगे दूल्हा और दुल्हन, दोनों की राजी से पंजीकरण हो। वास्तव में *विधवा-विवाह अधिनियम* के लिए संशोधित यह प्रस्ताव 1872 के *नागरिक (सिविल) विवाह-अधिनियम,* में शामिल कर लिया गया था जिसे ब्रह्म-विवाह पद्धति पर बड़े वाद-विवाद के बाद मुख्यतः केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से पारित कर दिया गया था।

26 जुलाई, 1856 को विधवा-विवाह अधिनियम पर जब बहस हुई तो वास्तव में यह महत्त्वपूर्ण संशोधन उस समय इसमें शामिल नहीं किया गया था। न तो इस अधिनियम के प्रेरक विद्यासागर ने और न विधान-परिषद के सदस्यों ने उस समय इसका महत्त्व पहचाना था। विद्यासागर के 'डेरोजियन' लोगों से बहुत अच्छे सम्बन्ध थे और यह सम्भव नहीं था कि उन्होंने अपने विचार और सुझाव प्रस्तावित सुधार के लिए न भेजे हों। ऐसा लगता है कि विद्यासागर किन्हीं कारणों से इन विवाहों के पंजीकरण के बारे में उनके विचारों से सहमत न थे।

विद्यासागर और 'डेरोजियन' लोगों के मतभेदों के बारे में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वह नहीं चाहते थे कि हिन्दुओं की संस्थात्मक विवाह-पद्धति में कोई आमूल परिवर्तन किया जाये। इसके ढाँचे के भीतर ही वह अपनी विधवा-विवाह योजना स्थापित करना चाहते थे। इससे कुछ ऐसे विरोध पैदा हुए, जो अधिनियम के पारित हो जाने पर उनके आगे आये। जब अधिनियम अमल में लाया गया, तो 'डेरोजियनों' द्वारा बताई गयी कमी बिल्कुल सामने आ गयी। अधिकांश विधवा-विवाह अन्त में बड़े दुखदायी साबित हुए। उस समय जिन लोगों ने विधवा-विवाह किये, उनमें ज्यादातर कायर और अवसरवादी निकले। स्थिति का लाभ उठाकर उन्होंने विधवा-विवाह के सरपरस्तों से पैसा बनाया। विद्यासागर ने भी खुद बहुत-सी धनराशि से हाथ धोया, जो उन्हें अपने सुधार-कार्य को अमल में लाने के लिए मिली थी।

ध्यान देने की बात तो यह है कि उन्हें अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अप्रत्यक्ष रूप से 'डेरोजियन' लोगों का प्रस्ताव मान लेना पड़ा था। उन्होंने खुद एक किस्म के करार का मसौदा तैयार किया था जिस पर विवाह से पहले दूल्हा और दुल्हन, दोनों को हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया गया। संस्थात्मक हिन्दू-विवाह पद्धति और बहुविवाह प्रथा को किसी भी हद तक बनाये रखने से पुनर्विवाह के लिए विधवाओं को मिले कानूनी अधिकारों का बिल्कुल बेकार हो जाना निश्चित था।

विधवा-पुनर्विवाह विधेयक 19 जुलाई, 1856 को तीसरी बार पढ़ा गया और पारित होकर 1856 का अधिनियम (15) बन गया। यह हिन्दू विधवाओं के विवाह की राह में आने वाली सभी कानूनी रुकावटों को दूर करने के लिए बना था। 26 जुलाई, 1856 को इसे गवर्नर जनरल की स्वीकृति मिली और यह कानून बन गया। इसमें घोषणा की गयी थी कि हिन्दुओं में कोई शादी या उससे पैदा सन्तान इस कारण अवैध न मानी जायेगी कि स्त्री की पहली शादी या सगाई किसी दूसरे आदमी के साथ हो चुकी थी, पर वह इस विवाह के समय मर चुका था। इसके विरुद्ध कानून की कोई व्याख्या नहीं सुनी जायेगी और न इसमें किसी हिन्दू प्रथा को ही बाधक होने दिया जायेगा। अधिनियम पारित होने के बाद, बंगाल के प्रगतिशील सुधारकों की एक प्रमुख संस्था 'सुहृद समिति' ने 1856-57 की अपनी द्वितीय वार्षिक रिपोर्ट में टिप्पणी करते हुए लिखा–

> *"यह जैसा कि होना चाहिए, एक अनुमति-मूलक कानून है, पर दुर्भाग्य से इसमें न तो विवाहों के पंजीकरण की कोई व्यवस्था है और न ही किसी ऐसे दूसरे तरीके की, जिससे विवाह की वैधता सिद्ध की जा सके। इस देश में झूठे अभियोग चलाने वालों की कोई कमी नहीं है और निहित स्वार्थी लोग कानून की इन कमियों से लाभ उठाकर इन विवाहों पर झगड़े खड़े कर सकते हैं। इसलिए, समिति अपनी राय दुबारा जाहिर किये बिना नहीं रह सकती कि जल्दी ही एक ऐसा अधिक उदार विवाह-अधिनियम बनाया जाना चाहिए, जो 1856 के दोषपूर्ण विवाह-अधिनियम के बदले समिति द्वारा सुझाए गये अधिनियम के समान हो।"*

पर विद्यासागर ने किसी की एक न मानी और इस अधिनियम पर उन्होंने अमल किया। अधिनियम पारित होने के लगभग चार महीनों तक एक भी विधवा-विवाह नहीं हुआ। इस अधिनियम के मातहत पहली शादी 7 दिसम्बर, 1856 को हुई। यह तिथि सचमुच भारत में स्त्रियों के सामाजिक अधिकारों के इतिहास में एक अविस्मरणीय दिवस है। दूल्हा श्रीचन्द्र विद्यारत्न थे, जो बंगाल के चौबीस-परगना जिले में खाँतुरा के प्रख्यात कथा गायक रामधन तर्कवागीश के सुपुत्र थे। दुल्हन कालीमती देवी थी, जो बर्दवान जिले में पलासन्दगा गाँव की रहने वाली थी और 10 वर्ष की उम्र में ही बाल-विधवा हो गयी थी। विवाह की तिथि कुछ पहले निश्चित हुई थी, पर

27 नवम्बर, 1856 को बंगाली पत्रिका 'संवाद-भास्कर' और 'इंग्लिश मैन', की खबर के अनुसार श्रीचन्द्र ने सामाजिक उत्पीड़न के भय से विवाह से मुकर जाना चाहा। पर दुल्हन-पक्ष के लोग दृढ़ थे। यह खबर भी पहले ही फैला दी गयी थी कि वधू पक्ष के लोग विवाह सम्पन्न कराने के लिए कटिबद्ध हैं। उनकी ओर से सर्वोच्च न्यायालय में एक दावा दायर कर दिया गया, जिसमें दूल्हे से पर्याप्त क्षतिपूर्ति की माँग की गयी। 'संवाद-भास्कर' और 'इंग्लिश मैन' ने श्रीचन्द्र के कायरतापूर्ण रुख की व्यंग्यात्मक आलोचना की और शादी पर दृढ़ रहने के लिए दुल्हन की माँ लक्ष्मीमती देवी की सराहना की। बाद में दूल्हे ने अपना विचार बदल दिया और शादी करने का निश्चय किया। शायद उन्हें उनके मित्रों, खासकर विद्यासागर ने ऐसा करने के लिए उकसाया था। वह संस्कृत कॉलेज में प्राध्यापक थे और विद्यासागर के सहयोगी थे। बाद में मुर्शिदाबाद जिले के *जज पण्डित* के रूप में उनकी पदोन्नति हो गयी थी। शादी के बारे में अखबार की खबरों तथा कुछ प्रत्यक्षदर्शी लोगों के विवरणों से सिद्ध होता है कि इस अवसर पर लोगों में एक अभूतपूर्व दिलचस्पी पैदा हुई थी। विवाह-संस्कार उत्तरी कलकत्ता की सुकिया स्ट्रीट में विद्यासागर के मित्र राजकृष्ण बनर्जी के घर पर मनाया गया था। अधिकांश समाज-सुधारक नेता तथा विद्वान विवाह के अवसर पर उपस्थित थे और विद्यासागर की पहली विकट परीक्षा की घडी में उनके साथ थे। उक्त अवसर पर कुछ अन्य लोगों के साथ-साथ प्रमुख *डेरोजियन* रामगोपाल घोष, राजा राममोहन राय के सुपुत्र रामप्रसाद राय, प्रख्यात *डेरोजियन* राजा दिगम्बर मित्रा, बंगाल के प्रथम उपन्यासकार और प्रमुख सुधारक प्यारेचन्द्र मित्रा, शक्तिशाली व्यंग्य लेखक और प्रगतिशील विचारक कालीप्रसन्न सिन्हा तथा संवाद भास्कर पत्रिका के सम्पादक गौरीशंकर भट्टाचार्य भी उपस्थित थे। दूल्हे की पालकी रात के लगभग 11 बजे हँसी-खुशी के वातावरण में सुकिया स्ट्रीट में राजकृष्ण बाबू के घर पहुँची। विद्यासागर और रामगोपाल घोष सरीखे उनके कुछ साथी पालकी के साथ-साथ चले और भीड़ में होकर उसे ले गये। डर यह था कि 'धर्मसभा' के आदमी कहीं कोई संकट न डालें या बारात पर हमला न कर दें।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रह्मसमाज-आन्दोलन के एक बड़े भारी नेता शिवनाथ शास्त्री ने *मैन आई हैव सीन* (कलकत्ता, 1919) नामक अपनी पुस्तक में पहले विधवा-विवाह के बारे में निम्नलिखित विवरण दिया है—1856 के सर्दी के मौसम में जब बाबू राजकृष्ण बनर्जी के घर में पहला विधवा-विवाह सम्पन्न हुआ, तो ऐसी हालत रही कि मैं कभी भी उसी दिन को नहीं भूलूँगा। जब विद्यासागर महाशय दूल्हे के साथ एक बड़ी बारात लेकर आये तो दर्शकों की संख्या का कोई ठिकाना न था। गली में पैर रखने को तिल-भर जगह न थी और बहुत से लोग गन्दी नालियों में गिर गये जो उन दिनों कलकत्ता की सड़कों के दोनों ओर होती थीं। विवाह सम्पन्न होने के बाद गली-कूचों, दुकानों, बाजारों, छात्रावासों, गाँवों, शहरों

आदि सभी जगहों पर इसी की बड़ी भारी चर्चा थी। सुदूर गाँवों में भी हर घर में यह स्त्रियों की आपसी चर्चा का विषय बन गया था। शान्तिपुर के जुलाहों ने एक अजीब किस्म की साड़ी निकाली, जिसकी किनारी पर नये रचे एक गीत की पहली पंक्ति *चिरंजीव विद्यासागर* बुनी हुई थी। इस तरह देश में उस समय एक अभूतपूर्व आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था।

दूसरा विधवा-विवाह उससे दूसरे ही दिन सम्पन्न हुआ। दूल्हा और दुल्हन कुलीन और ऊँची जाति के कायस्थ परिवारों के थे। इस दूसरे विवाह पर टिप्पणी करते हुए 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' ने लिखा—"हमें अपने देश में विधवा-विवाह की प्रगति देखकर बड़ी खुशी है। इससे सिद्ध होता है कि जहाँ चाह है, वहाँ राह है और शुभ कार्य का चाहे कोई कितना ही विरोध करे उसकी प्रगति रुक नहीं सकती।" उक्त पत्रिका ने विद्यासागर को इस शुभ कार्य में उनके त्याग के लिए बधाइयाँ दीं और जो इस सुधार के विरोधी थे, उन्हें लताड़ा और उन पर ताने कसे। उक्त पत्रिका ने खासकर रूढ़िवादियों की इन शब्दों में कड़ी आलोचना की—"कैसे ताज्जुब की बात है कि समाज के वे लोग, जो इसकी सबसे अच्छी विरासत का संरक्षक होने का दावा करते हैं, पीड़ित समाज की जीर्ण बीमारी के इलाज पर चिढ़ और दुख महसूस करते हैं।" मगर, इन आलोचनाओं से रूढ़िवादियों के होश ठिकाने नहीं आये। विद्यासागर के समर्थकों की आवाज 'समाचार-चन्द्रिका', 'संवाद प्रभाकर' जैसे रूढ़िवादी पत्रों की गाली-गलौज में नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह डूब गयी। मगर 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' और 'संवाद भास्कर' लगातार सुधार का समर्थन करते रहे।

विरोध के बावजूद फिलहाल आन्दोलन ने जोर पकड़ा। तीसरी और चौथी शादी बंगाल में ब्रह्मसमाज-आन्दोलन के प्रमुख नेता राजनारायण बोस के परिवार में हुई। उनके दोनों भाइयों, दुर्गानारायण बोस तथा मदन मोहन बोस ने विधवाओं से विवाह किया। इससे उनके अपने गाँव बोरल में, जो कलकत्ता से छह किलोमीटर दक्षिण में था, बड़ी सनसनी फैल गयी। गाँव के आदमी क्रोध के मारे इतने आपे से बाहर हो गये थे कि उन्होंने राजनारायण बोस को मार डालने की धमकी दी। बंगला में अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा कि मुझे बहुत-से धमकी भरे पत्र मिलते थे, पर यह सोचकर मुझे सान्त्वना महसूस होती थी कि आखिर अब किसी-न-किसी तरह बंगाली अपनी पुरानी अकर्मण्यता छोड़ते जा रहे हैं और मेरे जैसे अहिंसात्मक ब्रह्मसमाजी प्रचारक से मारपीट कर बदला लेने के लिए साहस बटोर रहे हैं।

यह आसानी से समझा जा सकता है कि उस समय विद्यासागर को कैसी विकट शत्रुता का सामना करना पड़ा। 1891 में जब विद्यासागर का देहान्त हुआ, तो बंगला की 'हितवादी पत्रिका' में इसका विवरण छपा था। जब कभी विद्यासागर अपने घर से बाहर आते थे, तो लोग उन्हें घेर लेते थे और कड़ी जबान बोलकर उनकी विधवा-विवाह सम्बन्धी कार्रवाइयों पर छींटाकशी करते थे और उन्हें मारपीट

की भी धमकी देते थे। कीचड़ और पत्थर भी उन पर फेंके जाते थे। यह मारपीट संगठित रूप से होती थी और इसके पीछे कलकत्ता के कुछ धनिक हिन्दुओं का हाथ होता था। एक बार ऐसा हुआ कि विद्यासागर एक दिन कलकत्ता में अपने एक परिचित धनी-मानी व्यक्ति के घर गये और वहाँ जाकर मालूम पड़ा कि वह सज्जन किसी अँधेरी रात में उनका सिर तोड़ने के एक षड्यन्त्र के बारे में शहर के नम्बरी बदमाशों से बातचीत कर रहे थे। वह सज्जन यकायक विद्यासागर को अपने घर देखकर हक्के-बक्के रह गये और हकलाकर बोले, "बेहूदा! बेहूदा। तुम यहाँ कैसे आये?" विद्यासागर ने हँसते हुए कहा कि मुझे पता चला है कि आप उत्तरी कलकत्ता के किराये के गुण्डों द्वारा मुझे सबक सिखाने की योजना रच रहे हैं। इसलिए मैं आपके घर आया हूँ कि आपकी तकलीफ बचे और आपको अपनी मंशा पूरी करने का मौका मिल जाये। मेरा यह शरीर आपके सामने है और आप इसका जो चाहें सो कर लें। षड्यन्त्रकारी का सिर शर्म के मारे नीचे झुक गया।

विद्यासागर हमेशा ही अपने दुश्मनों को चुनौती देते रहे और कभी उनकी उपेक्षा करने की कोशिश नहीं की। विधवा-विवाह आन्दोलन के दौरान, जब उनकी जिन्दगी खतरे में थी, उनके पिता ने उनकी रक्षा के लिए एक लठैत उनके पास भेजा दिया था। यद्यपि यह लठैत विद्यासागर के प्रति पूरी निष्ठा रखता था, पर उन्होंने उसे जनता में अपने साथ लाठी लेकर चलने की कभी इजाजत नहीं दी। जब कभी उसने उनके साथ इस तरह चलने का आग्रह किया, तो विद्यासागर उससे यही कह दिया करते थे कि हालाँकि मेरा शरीर पतली-दुबली हड्डियों का ढाँचा मात्र है, पर मेरी एक-एक हड्डी उसकी लाठी से सैकड़ों गुना शक्तिशाली है। विद्यासागर अपने दुश्मनों के साथ हमेशा ही बड़ी हँसी-खुशी और उदारता का बर्ताव करते थे। इस सम्बन्ध में उनके बारे में कई बड़ी मजेदार कहानियाँ हैं। एक बार जब वह रेलगाड़ी से कलकत्ता आ रहे थे, तो एक पण्डित जी रास्ते के एक स्टेशन से उनके डिब्बे में आ घुसे और अपने साथी सवारों से विधवा-विवाह और विद्यासागर के खिलाफ उल्टी-सीधी बातें करने लगे। पण्डित जी यह नहीं जानते थे कि खुद विद्यासागर भी उनमें मौजूद थे। जब हावड़ा स्टेशन पर उतरे, तो किसी ने उनको बताया कि जिससे वह बढ़-बढ़कर बातें कर रहे थे, वह खुद विद्यासागर ही थे। यह सुनकर पण्डित जी को सदमा पहुँचा और प्लेटफार्म पर गिर पड़े। जब उन्हें होश आया तो देखा कि वह डरावना आदमी (विद्यासागर) ही उनकी परिचर्या और सेवा कर रहा है।

एक दिन जब विधवा-विवाह की हलचल अपने पूरे जोर पर थी, तो स्कूलों के एक इंस्पेक्टर मि. प्राट ने उनसे पूछा कि आपके विधवा-विवाह सम्बन्धी निबन्ध के खिलाफ सबसे अच्छा प्रतिवाद किनका था? विद्यासागर ने तुरन्त उस आदमी का नाम लिया जिसने सबसे अधिक उनकी निन्दा-भर्त्सना की थी। मि. प्राट उनके इस उपहास को न समझ सके और तत्काल उस आदमी को बुलाया और उसके लिए

डिप्टी इंस्पेक्टर के पद का प्रस्ताव किया। जब उस व्यक्ति को अपने इस पद के कारण का पता चला, तो विद्यासागर के पास गया और उनसे प्रार्थना की कि कहीं यह मौका उसके हाथ से निकल न जाये। विद्यासागर मुस्कराए और तसल्ली दी। हो सकता है कि ये कहानियाँ बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी हों, पर इनसे एक बात का पता अच्छी तरह चल जाता है कि विद्यासागर हर तरह की उत्तेजनाओं से अविचल रहे।

विद्यासागर के समर्थक जहाँ-तहाँ बहुत-सी जगहों पर फैले हुए थे और उनके द्वारा यदा-कदा इक्का-दुक्का विधवा-विवाह भी कराए जाते रहे। पर यह आन्दोलन बल नहीं पकड़ पा रहा था और पिछली शताब्दी के छठे दशक के बाद तो हिन्दू प्रतिक्रियावादियों की धीरे-धीरे बढ़ती हुई शक्ति के आगे यह बहुत ढीला पड़ता जा रहा था। हिन्दू पुनरुत्थानवाद के कदम आगे बढ़ रहे थे और यह बात दशक के अन्त तक बिल्कुल साफ हो गयी थी। ब्रह्मसमाज आन्दोलन ने चौथे और पाँचवे दशक में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के और छठे और सातवें दशक में केशवचन्द्र सेन के सुयोग्य नेतृत्व में काफी जोर पकड़ा था, पर सैद्धान्तिक मतभेदों से जो फूट फैली उससे यह 19वीं शताब्दी के अन्त तक काफी कमजोर पड़ गया था। इस प्रतिक्रिया के बारे में विपिन चन्द्रपाल ने अपनी पुस्तक *मेमोरीज ऑफ माई लाइफ एण्ड टाइम्स* में लिखा है—इस प्रतिक्रिया के कई कारण थे। इसका एक बहुत बड़ा मजबूत कारण ब्रह्मसमाज में मध्ययुगीन विचारधारा का पुनरुत्थान था। ब्रह्मसमाज-आन्दोलन में फूट पड़ जाने के बाद बंगाल की प्रगतिशील शक्तियाँ छिन्न-छिन्न हो गयीं और 19वीं शताब्दी के पिछले तीन दशकों में हिन्दू प्रतिक्रियावादियों के कदम बहुत जोरों से आगे बड़े। केशवचन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज का एक वर्ग, जो रामकृष्ण परमहंस से अधिक प्रभावित था, ब्रह्मसमाज के अद्वैतवाद और यथार्थवाद को छोड़कर पौराणिक अवतारवाद और भक्तिवाद के सिद्धान्त को मानने लगा। ऐसी सामाजिक स्थिति में विधवा-विवाह आन्दोलन स्वभावतः जोर न पकड़ सका। इसकी स्थिति और कमजोर पड़ गयी।

परन्तु विधवा-विवाह के कामकाज में विद्यासागर की दिलचस्पी तनिक भी कम न हुई। इसमें विद्यासागर की स्थायी रुचि के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं, जो श्री शिवनाथ शास्त्री के संस्मरणों से लिए गये हैं। उन्होंने लिखा है—1868 में मेरे एक सहपाठी स्व. पं. योगेन्द्र नाथ विद्याभूषण की पहली पत्नी का देहान्त हो गया। बाद में उनके मित्र और रिश्तेदारों ने उन्हें दूसरी शादी करने के लिए बाध्य किया। उन्होंने मुझसे सलाह माँगी कि ऐसी स्थिति में उन्हें क्या करना चाहिए। हम दोनों मित्रों ने आपस में परामर्श किया क्योंकि उन दिनों हम विधवा-विवाह आन्दोलन के कामकाज में तन-मन-धन से लगे हुए थे और उसका हित हमारे लिए सबसे बढ़कर था। इसलिए हमने विधवा-विवाह का ही निश्चय किया। एक तरुण हिन्दू-विधवा भी शीघ्र ही मिल गयी। मैं विद्यासागर के पास गया और उनसे इस पनुर्विवाह के बारे

में मदद माँगी। विद्यासागर जी-जान से इस काम में जुट गये और उन्होंने विवाह का रस्मो-रिवाज पूरा कराने के लिए हमारे लिए धन भी जुटाया। विवाह-संस्कार कराने के लिए उन्हीं की बदौलत एक ब्राह्मण पुरोहित की भी व्यवस्था हुई और उन्होंने बारातियों की दावत के लिए बहुत-सा रुपया-पैसा अपनी जेब से भी दिया। इसके अलावा उन्होंने दूल्हे को भी बहुत-सी कीमती चीजें भेंट में दीं। वह व्यक्तिगत रूप से भी विवाह समारोह में शामिल हुए। उस दिन के समारोह में एक छोटी-सी घटना घटी, जो उनकी हँसोड़ी आदत की ही विशेषता थी। अपनी नौ वर्ष की पुत्री के साथ उनके एक मित्र भी वहाँ अतिथि के रूप में आये थे। अपने पिता के संकेत पर लड़की ने विद्यासागर के चरण-स्पर्श किये। इस पर लड़की को उन्होंने यह आशीर्वाद दिया, "मेरी छोटी पुत्री! जुग-जुग जिओ, तुम्हें अच्छा वर मिले, पर यदि दुर्भाग्य से विधवा हो जाओ, तो मुझे तुम्हारा पुनर्विवाह कराने का मौका मिले!" इस विचित्र आशीर्वाद से सब लोग हँस पड़े और खुद पण्डित जी भी खूब हँसे और उन्होंने कहा, "यदि उनके मित्रों की ही लड़कियाँ विधवा न हुईं तो, वह विधवा-विवाह के अपने विचार को कैसे अमल में लाएँगे?" इससे पता चलता है कि उस समय देश में लोग विधवा-विवाह को कितना अधिक नापसन्द करते थे।

इस समारोह के बाद पुनर्विवाह के समर्थकों को बहुत बुरी तरह सताया गया। जिस मित्र ने यह पुनर्विवाह किया उसका तो उसके नाते-रिश्तेदारों और यार-दोस्तों ने भी बहिष्कार कर दिया था, यहाँ तक कि नौकरी-चाकरी करने वाले हिन्दू भी पीछे न रहे और इस बहिष्कार की गंगा में उन्होंने भी खूंब हाथ धोए। नाई-धींवर आदि लोगों ने भी उनका काम बन्द कर दिया। उन्हें तथा उनकी पत्नी को इस बहिष्कार की हालत में देखकर मैं उनके साथ रहने लगा। जब हम साथ-साथ रह रहे थे, तो पण्डित विद्यासागर नियमित रूप से प्रतिदिन वहाँ आया करते और अपनी संगति से हम लोगों का मनोविनोद किया करते थे। उनके आने से हमें बड़ी खुशी होती थी। वह हमें अपने पिछले अनुभवों के बारे में छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियाँ सुनाते और ऐसी-ऐसी मजेदार बातें बताते कि हँसी के मारे पेट फटने लगता था। हम उस समय अपना सारा दुख-दर्द भूल जाते थे।

श्री शास्त्री ने इसी सम्बन्ध में एक दूसरी अविस्मरणीय घटना का उल्लेख किया है—"एक दिन पण्डित जी ने सात-आठ साल की एक लड़की को बुलाया और अपनी गोद में बिठा लिया, जो मुझे अपना दादा या बड़ा भाई कहने लगी थी। उन्होंने उस लड़की को हमारे घर में पहले कभी नहीं देखा था। वह हमारे पड़ोसी, एक नाई की लड़की थी। वह लड़की विधवा थी और हम उस लड़की की विधवा माँ को उसका पुनर्विवाह करने के लिए तैयार कर रहे थे। हमारी उसमें दिलचस्पी भी थी और वह भी तब तक हमारे घर में हिलमिल गयी थी। मेरी पत्नी के साथ उसकी खूब पटती थी और मुझे वह अपना बिल्कुल सगा समझने लगी थी। वह लड़की बड़ी सुन्दर

थी। जब पण्डित जी ने उसे वहाँ देखा, तो बड़े चौंके और उन्होंने पूछा कि यह कौन है। जब उन्हें उसकी कहानी और हालत बताई गयी तो करुणा से उनका दिल पिघल गया। उस छोटी लड़की के वैधव्य की बात सुनकर वह भावावेश में आ गये और उनके आँसू टपकने लगे। उन्होंने उसे अपनी गोद में बिठा लिया। जब जाने लगे, तो मुझे यह आदेश दे गये कि उसे बेथ्यून स्कूल में दाखिल करवा दिया जाये। उसकी फीस अदा करने की जिम्मेदारी उन्होंने खुद ली और यह कह गये कि उसे तथा उसकी माँ को पालकी में बिठाकर उनके घर भिजवा दिया जाये, ताकि वह अपनी माँ से उनकी भेंट करवा सकें। दूसरे दिन विद्यासागर हमारे घर आये और मुझसे उसकी शिक्षा तथा उसके पुनर्विवाह के बारे में बातचीत की। किन्तु अफसोस! इन योजनाओं को अमल में लाने से पहले ही मेरे मित्र की पत्नी बीमार हुई और उसका देहान्त हो गया।"

विद्यासागर अपने जीवन के अन्तिम दिन तक विधवाओं के पुनर्विवाह में दिलचस्पी लेते रहे। बंगाल के ब्रह्मसमाजी हमेशा ही समाज-सुधारों में उनका दृढ़ता से साथ देते रहे। उन दिनों जब रूढ़िवादी हिन्दुओं का बोलबाला शुरू हो गया था और राममोहन राय, विद्यासागर तथा 'यंग बंगाल' के प्रगतिशील सुधारों को लोग बहुत अधिक नापसन्द करने लगे थे तो ये लोग अन्धकारमय समय में भी उनके साथ बने रहे। प्रतिक्रिया के अन्धकार में भी ब्रह्मसमाजी युवकों की बदौलत समाज-सुधार की ज्योति जगमगाती रही। विपिन चन्द्रपाल ने अपनी आत्मकथा में इसकी पुष्टि की है! उनका कहना है—"उन दिनों ब्रह्मसमाज ने समाज-सुधार, खासकर विधवाओं के पुनर्विवाह के काम-काज में तन-मन-धन से अपने को लगा दिया था। बहुत-सी तरुण हिन्दू-विधवाओं को ब्रह्मसमाजियों के घर में शरण मिली, जहाँ बाद में उनका पुनर्विवाह कर दिया गया। जो तरुण हिन्दू विधवाएँ अपने परिवारों की रक्षा तथा घरों को छोड़कर भागना चाहती थीं, उनकी भी कभी-कभी हमने सहायता की। हमने उन्हें शरण और शिक्षा दी और जब कभी सम्भव को सका, ब्रह्मसमाज में पुनर्विवाह भी करवाए।" (पृ. 446) उन्होंने इस सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है—"1884 के मध्य में हमें इस किस्म की सहायता के लिए कोन नगर के एक सम्भ्रान्त कायस्थ परिवार की एक तरुण विधवा की अर्जी मिली। वह अपने घर से भागना चाहती थी और हमने उसके भागने का इन्तजाम भी कर दिया। लड़की को कलकत्ता में उस जगह लाया गया, जहाँ विपिन चन्द्रपाल अपने कुछ युवक मित्रों के साथ रहते थे। दूसरे दिन वहाँ लड़की का बड़ा भाई आ धमका और अपनी बहन से मिला। उसने अपनी बहन पर वापस चलने के लिए दबाव डाला, पर उस लड़की ने वापस लौटने से मना कर दिया। लड़की का भाई उसे डरा-धमका कर वहाँ से निकाल ले जाना चाहता था। पर विपिन चन्द्रपाल इसे कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। थोड़ी ही देर में वह आदमी सैकड़ों गुण्डों को अपने साथ लेकर वहाँ

लौटा और विपिन चन्द्रपाल को चारों तरफ से घेर लिया, उन्हें लड़की को जबरन निकाल ले जाने की धमकी दी। पर, उन्होंने लिखा है कि वह दृढ़ता से अड़े रहे। मकान के दरवाजे पर खड़े होकर, उन्होंने लोगों से कहा कि यदि वे जबरन लड़की को निकाल ले जाना चाहते हैं, तो याद रखें कि वे मेरी लाश पर चलकर ही ऐसा कर सकते हैं। आप लोग मुझे अकेला न समझें। मेरे पीछे मेरे बहुत मित्र हैं, जो हिंसा के आगे कभी झुक नहीं सकते और हिंसा का बदला हिंसा से ही लेकर रहेंगे। अतः उनकी आगे बढ़ने की हिम्मत न हुई। उनमें से कुछ लोगों ने धमकी दी कि वे उनकी जूतों से पिटाई करेंगे। इस पर वह (विपिन चन्द्रपाल) अकेले ही निडर होकर उन लोगों के बीच पहुँचे। उन्होंने अपने जूते उतारे और यह कहते हुए अपने उन विरोधियों के हाथ में दे दिये कि अगर हिम्मत है, तो मारो। इस छोटी-मोटी चीज के लिए तुम अपने जूतों को क्यों खराब करो। यह देखकर वे लोग भौचक्के रह गये और धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गये। बाद में उस लड़की का पुनर्विवाह सीतानाथ दत्त तत्त्वभूषण के साथ कर दिया गया, जो 19वीं शताब्दी के अन्त में ब्रह्मसमाज के सबसे बड़े विद्वानों में से थे विपिन चन्द्रपाल ने लिखा है कि उस समय ब्रह्मसमाज के समाज-सुधार प्रचार के सम्बन्ध में इस तरह की जो घटनाएँ घटती थीं, उनमें यह भी एक उल्लेखनीय घटना थी।"

विद्यासागर अपने जीवन में ही अपने समाज-सुधार के आदर्श को भारत के कोने-कोने में फैलते हुए देख सके। हालाँकि बंगाल ने 19वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन में पहल की थी, पर जब बंगाल रूढ़िवादी हिन्दुत्व के पुनरुत्थान के दलदल में फँस गया, तो ये सुधार-आन्दोलन धीरे-धीरे भारत के अन्य भागों में फैले। इनसे राष्ट्रवाद के उत्थान में निस्सन्देह बड़ी मदद मिली, पर इनसे भिन्न-भिन्न जातियों में खींच-तान काफी बढ़ गयी थी। 19वीं शताब्दी में बंगाल में सामाजिक स्थिति काफी बदल गयी थी जिसके अन्तिम वर्षों में सुधार आन्दोलन का नेतृत्व महाराष्ट्र के हाथ में चला गया।

बंगाल का ब्रह्मसमाज बम्बई में जाकर प्रार्थना-समाज के पारस्परिक रूप में प्रकट हुआ। प्रार्थना-समाज ने खान-पान, अन्तर्जातीय विवाह और विधवा-विवाह पर विशेष ध्यान दिया। 1873 में सत्य शोधक-समाज की स्थापना हुई और इसने समाज-सुधार का धुआँधार प्रचार किया। रानाडे, फुले, मालाबारी और विष्णु शास्त्री पण्डित जैसे लोग मैदान में आये, जो हिन्दू समाज-व्यवस्था की रूढ़ प्रथाओं के घोर विरोधी थे। विष्णु शास्त्री पण्डित ने विद्यासागर की विधवा-विवाह सम्बन्धी पुस्तिकाओं का मराठी में अनुवाद किया। वह महाराष्ट्र में विधवा-विवाह समाज के संस्थापकों में से थे। उन्होंने महाराष्ट्र में इस आन्दोलन का नेतृत्व इतने जोरदार ढंग से किया कि वहाँ पहला विधवा-विवाह 1861 में हुआ। वह खुद विवाह में शामिल हुए और उन्होंने रूढ़िवादियों द्वारा सामाजिक बहिष्कार की धमकी की परवाह नहीं की। 1870 में

पुणे में गणेश वासुदेव जोशी द्वारा स्थापित सार्वजनिक सभा के वह प्राण बन गये थे और महाराष्ट्र के लोगों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना पैदा करने में उनका काफी बड़ा हाथ और प्रभाव था।

धोंडो केशव कर्वे का नाम इस सम्बन्ध में, खासकर विधवा-विवाह आन्दोलन के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। कर्वे विधुर थे और 1893 में एक ब्राह्मण विधवा से उनका विवाह हुआ। यह ठीक विद्यासागर के देहान्त के दो वर्ष बाद हुआ। कवि ने अपनी पुस्तक *माई ट्वेंटी ईयर्स इन दि कॉज ऑफ इण्डियन विमेन* में लिखा है—"पूना उस समय रूढ़िवादियों का गढ़ था और वहाँ किसी विधवा-विवाह का होना खतरे से खाली नहीं था। पर सब काम ठीक रहा। इस घटना से मुझे बल मिला और मैं विधवा-विवाह समाज (विडो मैरिज एसोसियेशन) के काम को फिर से उठाया और 1893 में उसके सचिव हो गये। 1899 में उन्होंने पुणे में हिन्दू विधवा आश्रम (विडोज होम) खोला, जिसे वह बाद में शहर से 15 किलोमीटर दूर एकान्त स्थान में ले गये। यह घर मामूली-सी झोंपड़ी है, जो अब तक सुरक्षित है। हमारे देश के जो लोग इस स्थान की यात्रा करेंगे, वे न सिर्फ कर्वे, विष्णु शास्त्री तथा महाराष्ट्र के अन्य समाज-सेवियों को ही, बल्कि बंगाल के महान् विद्यासागर और उनके विधवा-विवाह आन्दोलन को भी याद करेंगे।"

इन तथ्यों से पता चलता है कि विद्यासागर का विधवा-विवाह आन्दोलन 19वीं शताब्दी के अन्त तक और 20वीं शताब्दी के शुरू में खुद क्षीण नहीं हुआ था। लेकिन जिस दृढ़ आशा से विद्यासागर ने यह सुधार-आन्दोलन चलाया था, वह अनेक कारणों से उनके जीवन के अन्तिम दिनों में ही क्षीण हो चला था। इसका एक बड़ा कारण यह था कि विधवा-विवाह के बहुत से समर्थकों का रुख बड़ा सन्देहपूर्ण था। उन्होंने हिन्दू-विवाह प्रथा का, जिसमें पुरुषों के लिए बहु-विवाह स्वीकृत है, लाभ उठाया। उन्होंने किसी सिद्धान्त की खातिर शादियाँ नहीं की, बल्कि इन शादियों में मिलने वाले धन के लोभ-लालच से कीं। इससे विद्यासागर को बड़ा गहरा सदमा पहुँचा था। विधवा-विवाह अधिनियम पारित होने के कुछ ही दिन बाद उन्होंने शिक्षा विभाग के ब्रिटिश अधिकारियों से शिक्षा-नीति के बारे में मतभेद हो जाने के कारण नवम्बर, 1858 में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और पाँच सौ रुपये मासिक वेतन, ग्रेच्युटी तथा पेंशन की परवाह नहीं की। उन्होंने सार्वजनिक शिक्षा के निदेशक मि. डब्ल्यू गोर्डन यंग को लिखा—"मैं महसूस करता हूँ कि अपने कर्तव्यपालन में मुझे जितना ध्यान देना चाहिए, उतना मैं अब नहीं दे सकता। मुझे अब आराम की जरूरत है और यह आराम मैं अवकाश ग्रहण करके ही प्राप्त कर सकता हूँ। यह मेरे आराम और प्रसन्नता के लिए तथा सार्वजनिक हित में न्याय की दृष्टि से भी उचित ही है।"

उन्होंने अपना यह महत्त्वपूर्ण निर्णय ठीक 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद उस समय लिया, जब उन्हें विधवा-विवाह आन्दोलन के लिए रुपये-पैसे की सख्त

जरूरत थी। इसके लिए उन्हें अपने मित्र-दोस्तों से सहायता लेनी पड़ी और रुपया भी उधार लेना पड़ा। हम आसानी से कल्पना कर सकते हैं कि उन्हें उस समय कितनी निराशा हुई होगी, जब यह पता चला कि विधवाओं से शादी करने वाले बहुत लोगों ने उनसे बहुत-सा रुपया-पैसा ठगा है। जब वह बहुत कर्जदार हो गये और लोगों के चरित्र के बारे में उनकी आँखें खुल गयीं तो उन्होंने एक बार एक पत्र प्रख्यात राष्ट्रवादी नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को लिखा, जिसका भाषान्तर यह है, "मैं बड़े खेद के साथ आपको यह बताना चाहता हूँ कि भरसक प्रयत्नों के बावजूद मैं आपका कर्ज अदा करने के साधन प्राप्त नहीं कर सका हूँ। मौजूदा हालात में मैं आपको इसे शीघ्र अदा करने का भी आश्वासन नहीं दे सकता। आप जानते ही हैं कि यह कर्ज मैंने अपने निजी काम के लिए नहीं लिया था। मैंने यह विधवा-विवाहों के खर्च के लिए उधार लिया था। मैंने सिर्फ आपसे ही नहीं, बल्कि औरों से भी कर्ज लिया है। मुझे आशा थी कि लोगों ने विधवा-विवाह के निमित्त जो धन देने का वादा किया है, वह शीघ्र ही मिल जायेगा और मैं अपना कर्ज अदा कर सकूँगा। दुर्भाग्य से अधिकांश धनिक लोगों ने, जो इसके लिए धन देना चाहते थे, अपने वचन का पालन नहीं किया। दूसरी ओर, विधवा-विवाहों के खर्च रोज बढ़ते ही जा रहे हैं और मैं मजूबर होकर कर्ज में डूबता ही चला जा रहा हूँ, जब कि उसको चुकाने की मुझे कोई आशा नजर नहीं आती है। यदि ये भले आदमी आर्थिक सहायता देने के अपने वचन का पालन करते, तो मैं इस संकट में न पड़ता। दूसरों की तरह आपने भी मुझे कुछ मासिक रूप से और कुछ एकमुश्त रकम के रूप में दान देने का वायदा किया था। मैं शीघ्र ही इन कठिनाइयों से निकलने की कोशिश करूँगा। अगर मुझे कहीं से रुपया-पैसा नहीं मिला, तो मैं कर्जा चुकाने के लिए अपनी सारी सम्पत्ति बेच डालूँगा। पर इस समय, जबकि आपको रुपये-पैसे की सख्त आवश्यकता है, मुझे सचमुच ही दुख है कि मैं आपको अदा नहीं कर सकता। यदि मुझे अपने देश के बड़े लोगों के निकम्मेपन, बेईमानी और चरित्रहीनता का ज्ञान होता, तो मैं शायद इस विधवा-विवाह के चक्कर में ही न पड़ता। मैं अपने विरोधियों की बात नहीं कर रहा, बल्कि अपने तथाकथित मित्रों और समर्थकों की बात कर रहा हूँ, जिन्होंने मुझे धोखा दिया है और जिनके कारण ये दिक्कतें उठानी पड़ रही हैं। मेरा दोष यही है कि मैंने उन लोगों की सचाई में विश्वास किया, जो उच्च आदर्शवाद का दम भरते थे और इसलिए मुझे बदनामी और तकलीफ सहनी पड़ रही है। मदद और सहयोग देना तो दूर रहा, कोई यह भी पूछने वाला नहीं कि मैं जिन्दा हूँ कि मर गया हूँ।"

मानना पड़ेगा कि विद्यासागर को बड़ी गहरी निराशा हुई थी और लोगों, खासकर 'बड़े लोगों' पर से उनका विश्वास कतई उठ गया था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें जो धुन सवार हुई थी, उसके लिए उन्हें न सिर्फ गाली-गलौज का ही पुरस्कार मिला, बल्कि आर्थिक कठिनाइयाँ भी सहनी पड़ीं। वह अपने अन्तिम दम

तक विधवा-विवाह के काम के लिए जी-तोड़ कोशिश करते रहे। जब कभी वह किसी विधवा-विवाह की खबर सुनते, तो खुशी से उनका रोम-रोम खिल उठता था। उन्होंने अपने लड़के नारायण की एक विधवा से शादी की थी। इस अवसर पर उन्होंने अपने छोटे भाई शंभुचन्द्र को जो पत्र लिखा उससे पता चलता है कि उन्हें अपने इस काम के प्रति कितना अनुराग था, उनका चरित्र कितना ऊँचा और दृढ़ था। उन्होंने अपने नाते-रिश्तेदारों और मित्रों को पत्र लिखे, उनमें यह सबसे अच्छा पत्र था। यह पत्र उन्होंने बंगला में लिखा है और वह इस प्रकार है—"मैं यह पत्र तुम्हें इसलिए लिख रहा हूँ कि माँ और दूसरों को पता चल जाये कि भावसुन्दरी के साथ नारायण की शादी गुरुवार, 27वें श्रावण (1277 वि. सं.) को हो चुकी है। तुमने पहले मुझे खबर दी थी, कि यदि भावसुन्दरी के साथ नारायण की शादी हुई, तो हमारे रिश्तेदार इमें छोड़ देंगे और इसलिए बुद्धिमानी इसी में है कि आप उसका विवाह विधवा के साथ न होने दें। मुझे इस सम्बन्ध में तुम्हें यही बताना है कि नारायण ने दुल्हन को खुद अपने-आप चुना है और उससे शादी करने का निश्चय किया है, न उसने इस सम्बन्ध में मेरी राय ली और न मैंने ही उसे खुद यह सुझाया था। जब मुझे उसके विधवा से शादी करने का निर्णय का पता चला, तो मैंने भी ठीक नहीं समझा कि मैं उसकी राह में रोड़ा बनूँ। मैं बन भी कैसे सकता था? मैंने खुद विधवा-विवाह आन्दोलन चलाया है, इसका कानून बनवाने की कोशिश की और बहुत-से विधवा-विवाह करवाए। यदि मैं अपने लड़के को ही विधवा-विवाह करने से मना करता, तो मेरे लिए यह बड़े अपमान की बात होती और मुझे अपना सिर लज्जा से झुका लेना पड़ता। नारायण के विधवा के साथ विवाह करने से मेरी आत्मा ऊँची उठी है और उसने अपने को पिता का योग्य पुत्र साबित कर दिया है। विधवा-विवाह आन्दोलन मेरे जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य रहा है और मैं नहीं समझता कि मैं अपने जीवन में इससे बढ़िया कोई कार्य कर सकूँगा। मैंने इस पर अपने तन-मन-धन की बाजी लगा दी है और मैं इस पर अपने जीवन की बाजी लगाने में भी नहीं चूकूँगा। नाते-रिश्तेदारों और दोस्तों की धमकियाँ इसके मुकाबले में कुछ नहीं। यदि मैं नाते-रिश्तेदारों द्वारा परित्याग और सामाजिक बहिष्कार के भय से नारायण के विधवा-विवाह पर एतराज करता, तो मैं दुनिया में सबसे नीच आदमी हो जाता। मुझे यह कहने की जरूरत नहीं कि अपने पुत्र के निर्णय से मुझे काफी बल और प्रोत्साहन मिला है। मैं प्रथाओं का कभी दास नहीं रहा। जिसे मैं अपने देशवासियों के लिए सबसे अच्छी चीज समझता हूँ उसे मैं करके रहूँगा चाहे कितनी ही बाधाएँ क्यों न आयें और तुम यह विश्वास रखो कि मैं लोगों और तथाकथित रिश्तेदारों की धमकियों के आगे कभी नहीं झुकूँगा। नतीजा चाहे जो कुछ भी हो, मुझे उसकी परवाह नहीं।

"अन्त में मैं तुम्हें यह साफ-साफ बता देना चाहता हूँ कि जो लोग मेरा सामाजिक

बहिष्कार करना चाहते हैं और मेरे साथ खान-पान छोड़ देना चाहते हैं, वे खुशी से ऐसा कर सकते हैं। मेरा ख़याल है कि हर व्यक्ति अपने विवेक और अन्तःकरण के अनुसार काम करने के लिए आजाद है। पर दूसरों को भी यह छूट नहीं होनी चाहिए कि वे अपनी इच्छा औरों पर लादें।"

जो लोग यह कहते हैं कि विद्यासागर उल्टी-गंगा बहा रहे हैं, उनसे भी हम कुछ निवेदन कर देना चाहते हैं। कुछ प्रमुख बंगाली विद्वानों का ख़याल है कि इस सामाजिक स्थिति में विधवाओं के पुनर्विवाह न करने की प्रथा सदियों से चली आ रही है और सामाजिक स्थिति को बिना बदले यह प्रथा भी नहीं बदली जा सकती। इसके लिए जरूरत है कि लोगों में अच्छी शिक्षा का प्रचार किया जाये और यथार्थ और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया जाये। तर्क की दृष्टि से तो यह दलील बिल्कुल ठीक मालूम होती है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से बिल्कुल गलत है। मानव-सभ्यता के प्रारम्भ से ही सभी प्रगतिशील सुधारों का इतिहास 'उल्टी-गंगा' बहाने के समान ही है। इसका अर्थ यह है कि लोग मानसिक रूप से इन पर अमल करने के लिए कभी तैयार नहीं पाये गये। यदि इन सुधारों के लिए अनुकूल स्थिति आने का इन्तजार किया जाता, तो प्रगति बिल्कुल ही न हो पाती। रीति-रिवाजों को तोड़ना बड़ा कठिन है। इसमें देर लगती है। पर इसका मतलब यह नहीं हैं कि जिस बुरी प्रथा से समाज की उन्नति में रुकावट आती है, उसे उखाड़ा ही न जाये। विद्यासागर ने जो कुछ सोचा, उसे अनुकूल समय आने से पहले ही अमल में लाने के लिए जुट गये।

समाज-सुधार : बहुपत्नी-प्रथा का विरोध

विधवा-पुनर्विवाह आन्दोलन के साथ-साथ विद्यासागर ने बंगाल के कुलीन घरानों में प्रचलित बहु-विवाह-प्रथा की कुरीतियों के खिलाफ भी आन्दोलन छेड़ रखा था। वह खुद भी ऊँची जाति के एक कुलीन घराने के ब्राह्मण थे। इसलिए वह बहु-विवाह-प्रथा की बुराइयों को बहुत अच्छी तरह जानते थे। उनके बहुत-से रिश्तेदार भी इसकी बुराइयों के शिकार हो चुके थे। बंगाल में इस प्रथा के कारण ही विधवाओं की संख्या बड़ी थी और इससे एक बढ़ी गम्भीर सामाजिक समस्या पैदा हो गयी थी। इस तरह इसका विधवा-पुनर्विवाह आन्दोलन से बड़ा गहरा सम्बन्ध था।

विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में कानून बनाने के लिए सरकार को अपनी याचिका भेजने के कुछ ही महीने बाद, उन्होंने 27 दिसम्बर, 1855 को बहु-विवाह-प्रथा पर रोक लगाने के लिए एक अलग याचिका भेजी। इस याचिका पर 25 हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। इन हस्ताक्षरकर्ताओं में बर्दवान के महाराजा मेहताब चन्द्र तथा बंगाल के कुछ और प्रभावशाली व्यक्ति भी थे। इस याचिका का यह अंश बड़ा दिलचस्प है—"कुलीन घरानों के लोग केवल पैसे के लोभ में आकर विवाह करते और वैवाहिक कर्तव्यपालन करने की उनमें जरा भी भावना नहीं होती। इस तरह जिन औरतों की शादी केवल नाममात्र के लिए ही होती है, उन्हें शादी से प्राप्त होने वाले सुख की कभी कोई आशा नहीं होती। नतीजा यह होता है कि सच्चे प्रेमपात्र के अभाव में उनके हृदय की प्रेम-भावना अतृप्त ही रह जाती है और इस कारण वे क्षीण होती रहती है, अथवा वे फिर अपनी वासनाओं के उन्माद तथा दूषित शिक्षा के कारण पथ-भ्रष्ट होकर अनैतिकता की शिकार हो जाती हैं। इसका समाधान यद्यपि स्पष्ट और हिन्दू कानून के मुताबिक बिल्कुल ठीक है, पर हिन्दू समाज की मौजूदा जर्जरित अवस्था में इसे जनमत या किसी और ताकत से लागू नहीं किया जा सकता। अतः एकमात्र उपाय यही है कि उसे कानून द्वारा लागू किया जाये।"

ऊपर के वक्तव्य को समझने के लिए हमें बंगाल के कुलीनत्ववाद और बहु-विवाह-प्रथा की सामाजिक पृष्ठभूमि को भी संक्षेप में समझ लेना चाहिए। बंगाल में *कुलजी* या *कुलशास्त्र* के नाम से विपुल साहित्य मिलता है। इसमें सामान्य रूप

में बंगाल के ब्राह्मणों तथा अन्य प्रमुख जातियों का इतिहास वर्णित है। इसके साथ कुलीन जाति के कुछ प्रतिष्ठित परिवारों की वंशावली का विवरण भी इसमें दे दिया गया है। रधिया ब्राह्मणों के कुलजियों (*रधिया* शब्द *राध* से बना है, जिसका अर्थ है प्राचीन बंगाल का पश्चिमी भाग) में कहा गया है कि कुलीन ब्राह्मण आठवीं या नवीं शताब्दी में राजा आदिसुर द्वारा लाये गये पाँच ब्राह्मणों के वशंज हैं। अब तक आदिसुर के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है। वारेन्द्र ब्राह्मणों के कुलजियों (वारेन्द्र का मतलब होता है प्राचीन बंगाल का उत्तरी भाग) का मत है कि सेनवंश के राजा वल्लालसेन (1158 ई. से 1179 ई.) बंगाल में कुलीनत्ववाद के संस्थापक थे। कहा यह जाता है कि राजा ने कुलीन होने के सात लक्षण बताये थे और इस दृष्टि से उन ब्राह्मणों को ही श्रेष्ठ कोटि का माना था, जिनमें ये सारे लक्षण मौजूद होते थे। जिन लोगों में सात या आठ लक्षण पाये जाते थे, उन्हें क्रमशः सिद्ध श्रोत्रिय, साध्य श्रोत्रिय तथा शेष को काष्ठ श्रोत्रिय कहा जाता था। लेकिन कुलजी ग्रन्थों में कुलीनता की ऐसी कसौटी निर्धारित नहीं है। सभी कुलजी ग्रन्थ इस विचार से सहमत हैं कि कुलीन का पद एक व्यक्तिगत उपाधि थी और वल्लालसेन ने सभी कुलीनों को उनकी अकुलीन कन्याओं से विवाह का निषेध किये बगैर समान स्थान प्रदान किया था। उनके उत्तराधिकारी लक्ष्मण सेन ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने विवाह के बन्धन लगाकर और विवाह के नियमों के अनुसार कुलीनों की विभिन्न कोटियाँ बनाकर इस व्यवस्था को जटिल बना दिया था।

इस विवरण से इस ऐतिहासिक सत्य की झलक मिलती है कि बंगाल के पालवंशी बौद्ध राजाओं के राज्यकाल के उपरान्त 19वीं शताब्दी से सेनवंश के राजाओं के राज्यकाल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान शुरू हुआ। उस समय जातिवाद पर आधारित हिन्दू-समाज-व्यवस्था के पुनर्निर्माण की आवश्यकता थी। इसलिए कुछ कठोर नियम बनाये गये, जिससे कि उच्च जातियों, खासकर ब्राह्मणों की शुद्धता अक्षुण्ण बनी रहे।

प्रारम्भ में कुलीनता जातीय गुणों से युक्त एक सामाजिक उपाधि थी, पर कुछ ही पीढ़ियों के बाद इसने सामाजिक विशेषाधिकार का रूप ले लिया और एक-दो सदियों के भीतर ही यह एक खानदानी पदवी बन गयी। मुस्लिम आक्रमण से ये जाति-नियम और अधिक कठोर हो गये। ऐसी अवस्था में कुलीनत्ववाद उच्च वर्ग, खासकर बंगाल के ब्राह्मणों के लिए सामाजिक शोषण का एक सहज साधन बन गया।

इसके पश्चात् कुलीनत्ववाद के कारण ही बंगाल में समान व उच्च कुल में विवाह की प्रथा चालू हुई और आगे चलकर इसी सिलसिले में बहुपत्नी-प्रथा का जन्म हुआ। उच्च कुल में विवाह की प्रथा के कारण ही बहुत-सी लड़कियाँ अविवाहित रहने लगीं। अविवाहिता लड़कियों की संख्या में वृद्धि और रजस्वला होने से पहले ही लड़कियों के विवाह का दायित्व महसूस करने के कारण ब्राह्मणों में कुलीन बहुपत्नीत्व की कुप्रथा चल पड़ी, जिससे कुलीन घराने का एक व्यक्ति अनेक कन्याओं का पति होने लगा।

ऐसे व्यक्ति कभी यह नहीं सोचते थे कि उन सभी पत्नियों का आर्थिक भार उन्हें ही ढोना है, बल्कि उन लड़कियों के पिता को यथासमय कन्याओं का विवाह न कर पाने की बदनामी से बचने का लक्ष्य ही प्रमुख होता था। इस तरह विवाह खुद ही एक कमाई का धन्धा बन गया। 70-80 साल के बूढ़े कुलीन ब्राह्मण भी, जिनकी दो या तीन दर्जन पत्नियाँ होती थीं, कुलीन ब्राह्मण कन्याओं के बेचारे निस्सहाय अभिभावकों द्वारा योग्य वर समझे जाते थे। कुलीन ब्राह्मण कुलीन कन्या से विवाह के दहेज के रूप में पाँच रुपये से लेकर पाँच सौ रुपये तक लेते थे, यहाँ तक कि 20 साल की उम्र तक की कन्याओं का विवाह अस्सी साल के मृतप्राय बूढ़ों से होता था। इस तरह मरने के पहले उस बूढ़े आदमी को कुछ रुपयों का लाभ हो जाता था।

बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन में जिन कुलीन ब्राह्मणों ने भाग लिया, उन्होंने अपने परिवारों की दुखद अवस्था का बड़ा दर्दनाक हाल लिखा है। इनमें एक सबसे प्रमुख थे रासबिहारी मुखोपाध्याय, जो पूर्वी बंगाल (अब बंगाल देश) के नेता थे, पिछली शताब्दी के छठे दशक में उन्होंने विद्यासागर के निर्देशन में ढाका में इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। फिर कुछ ही दिनों के अन्दर यह आन्दोलन पूर्वी बंगाल के अन्य जिलों में भी बड़ी तेजी से फैल गया। विद्यासागर ने उन्हें सलाह दी थी कि वह इस आन्दोलन का वृत्तान्त लिखें। उन्होंने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा के साथ यह वृत्तान्त लिखा भी। 1881 में यह पुस्तक बंगाल में छापी गयी। बंगाल में बहुपत्नीत्व-विरोधी आन्दोलन का यह महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। वह लिखते हैं—"जब मैं बच्चा ही था, तभी मेरे पिता का देहान्त हो गया। मेरे चाचा श्रीमान तारकचन्द्र मुखोपाध्याय ने मेरा पालन-पोषण किया। चूँकि हम लोग निर्धन थे, अतः उन्होंने शीघ्र ही मुझे विवाह कर लेने पर विवश किया और उत्तरोत्तर बड़ी जल्दी-जल्दी आठ लड़कियों का पति बना दिया गया, जिससे कि मेरे परिवार का आर्थिक भार कुछ घटे। रूढ़िवादी कुलीन ब्राह्मण पितामह, पिता और चाचा सभी अनेक स्त्रियों के पति थे। पारिवारिक वातावरण में मेरा लालन-पालन हुआ था। अतः कुलीनता और बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध मेरे मन में घृणा के अतिरिक्त और कोई भाव हो ही नहीं सकता था। बचपन में भी मैं कुलीन ब्राह्मण के विवाह का अर्थ केवल निकृष्ट किस्म का एक आर्थिक साधन ही समझता था। जब कभी मेरे विवाह के सम्बन्ध में घर पर घटक (विवाह का बिचौलिया) बुलाया जाता था, तो मैं कई दिनों के लिए घर से गायब हो जाता था। फिर भी ढूँढ़-ढाँढ़कर पकड़ लिया जाता, फटकारा जाता तथा सताया जाता था और जबर्दस्ती विवाह के लिए तैयार किया जाता था। अगर मैं विवाह के लिए अपनी इच्छा जाहिर करता, तो मुझे कुछ सालों के अन्दर कम-से-कम सौ लड़कियों से विवाहित कर दिया जाता। मेरे चाचा तारक बाबू मुझसे असन्तुष्ट थे, क्योंकि विवाह-प्रथा के सम्बन्ध में मेरे विचार कुछ दूसरे ही थे। अतः उन्होंने मुझे सयुंक्त परिवार से न्यारा कर दिया। जब जबर्दस्ती मुझे अलग कर दिया गया, तो

मेरे ऊपर तीन सौ रुपये के कर्ज को भी लाद दिया गया और मैं बड़ी कठिनाइयों में फँस गया। भुखमरी की उस हालत में मेरे पास केवल एक ही चारा था और वह था विवाह करना। मेरी पहले ही आठ पत्नियाँ थीं। मैंने छह और भी स्त्रियों से विवाह करने का निश्चय किया। सोचा, शायद इससे आर्थिक परेशानी कुछ कम हो। इससे मेरा सारा कर्ज पट गया और जो बचा, उससे मैं स्वतन्त्र जीविका चुनने में समर्थ तथा स्वतन्त्र हो गया। इसके बाद शीघ्र ही एक जमींदार की कचहरी में मुझे तहसीलदार के ओहदे पर नौकरी मिल गयी।"

इन सब बातों से विद्यासागर का वह वक्तव्य बिल्कुल ठीक साबित होता है जो उन्होंने भेजी गयी अपनी याचिका में यह कहते हुए लिखा था—"कुलीन घराने के लोग केवल पैसे के लोभ में आकर विवाह करते हैं और वैवाहिक कर्तव्यपालन की उनमें जरा भी भावना नहीं होती।"

सन् 1856-57 तक बहुपत्नी-प्रथा के विरोध में जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, वह कुछ दिनों के लिए 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के कारण दब गया था। यद्यपि जे.पी. ग्रांट ने 1857 में बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध एक विधेयक पेश करने का आश्वासन दिया था, पर स्वतन्त्रता-संग्राम के कारण सारे काम-काज रुक गये थे। बताया जाता है कि बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध बंगाल के सभी इलाकों और वाराणसी से काफी हस्ताक्षरों के साथ कम-से-कम 127 याचिकाएँ सरकार के पास भेजी गयी थीं। रूढ़िवादी हिन्दुओं के नेता राजा राधाकान्त देव ने बहुपत्नीत्व के पक्ष में एक याचिका भेजी थी। बंगाल सरकार ने इस सम्बन्ध में भारत सरकार को लिखा था—"यह तो विदित ही है कि सर जे.पी. ग्रांट के सहयोग से स्वर्गीय बाबू रामप्रसाद राय ने एक ड्राफ्ट बिल विधेयक का मसौदा तैयार किया था और वह परिषद में प्रस्तुत किया जाने वाला था, परन्तु फौजी बंगालियों के विद्रोह तथा अन्य परवर्ती घटनाओं के कारण इस सम्बन्ध में कोई भी कार्रवाई नहीं हो सकी थी। इस राजनीतिक विद्रोह के कारण आन्दोलन दब नहीं सका। पाँच वर्षों के भीतर-ही-भीतर समस्या फिर बड़े जोरदार आन्दोलन के रूप में उठ खड़ी हुई। 1863 में बंगाल के 21 हजार हिन्दुओं ने बहुपत्नीत्व के विरुद्ध कानून बनाने के लिए सरकार के पास याचिका भेजी। इनमें से एक याचिका में कहा गया था, "याचिका भेजने वालों का यह दृढ़ विश्वास है कि लगभग सभी लोग इस प्रथा के सख्त खिलाफ हैं, जिसने हिन्दू स्त्रियों का पारिवारिक सुख नष्ट कर दिया है और उन्हें आजीवन वैधव्य से पीड़ित स्त्रियों से भी कहीं अधिक दुखी बना दिया है।' "

1 फरवरी, 1866 को विद्यासागर ने फिर सरकार के पास एक याचिका भेजी, जिस पर 21 हजार लोगों के हस्ताक्षर थे। इन हस्ताक्षरकर्त्ताओं में बंगाली समाज के कई प्रभावशाली नेता थे, जैसे नदिया के महाराजा सतीशचन्द्र राय बहादुर, भूकैलाश खिद्दरपुर, कलकत्ता) के राजा सत्यशरण घोषाल और कांडी (मुर्शिदाबाद) के राजा

प्रतापचन्द्र सिंह। इस याचिका का एक महत्त्वपूर्ण अंश यह है–"याचिका प्रस्तुत करने वालों की यह आशा और प्रार्थना है कि महामहिम जब अपना कार्य-भार छोड़े, तो उससे पूर्व ही वह ऐसा कार्य कर जायें, जिससे बंगाल की स्त्रियों को बहुपत्नीत्व की कुप्रथा से उत्पन्न कष्ट, निर्दयता और अन्य जघन्य अपराधों से मुक्ति मिले और जो उनके लम्बे और सफल कार्यकाल की समाप्ति का सूचक हो।"

19 मार्च, 1866 को सरकार से मिलने के लिए एक प्रतिनिधिमण्डल गया। इसके सदस्यों में पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के अतिरिक्त न्यायाधीश द्वारिकाचन्द्र मित्र, महान् शिक्षा सुधारक प्यारेचरण सरकार और सुविख्यात राजनीतिक नेता कृष्टोदास पाल थे। प्रतिनिधिमण्डल के नेता ने याचिका पढ़कर सुनाई। लेफ्टिनेण्ट गवर्नर बीड ने उत्तर में कहा, "मुझे इतने हस्ताक्षरों से युक्त याचिका प्राप्त करते हुए अपार खुशी हो रही है। मेरी तरफ से आपको तथा प्रतिनिधिमण्डल के अन्य महानुभावों को यह आश्वासन है कि मैं हिन्दुओं में बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाकर उसकी बुराइयों को समाप्त करने तथा बुद्धिमान हिन्दू जनता की इच्छाओं के अनुसार कानून बनवाकर, पतन की ओर ले जाने वाली इस प्रथा पर अधिकतम रोक लगवाने का पूरा प्रयत्न करूँगा।"

अंग्रेजी पढ़े-लिखे बंगाली मध्यवर्ग के प्रमुख पत्र *हिन्दू पैट्रिअट* ने इस आन्दोलन के पुनरुत्थान के सम्बन्ध में 26 मार्च, 1866 को लिखा–"एक दशक बीत जाने के बाद समाज-सुधार के महान् नेता पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के नेतृत्व में कुलीन बहुपत्नी-प्रथा की बुराइयों को दूर करने के लिए फिर एक आन्दोलन की शुरुआत हुई है। बंगाल के अमीर-गरीब, पढ़-अपढ़ आदि सभी हिन्दुओं ने उनकी अपील का समर्थन किया है। याचिका में सभी विचारों और वर्गों के लोगों के हस्ताक्षर हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इसमें बंगाल के बड़े जमींदार भी सम्मिलित हैं जो लगभग आधे देश के मालिक हैं, इसमें नदिया, कलकत्ता तथा अन्य जगहों के निष्णात पण्डित, शास्त्र के ज्ञाता और व्याख्याता, प्राचीन विद्याओं के संरक्षक, शहर और कस्बों के रूढ़िवादी लोगों के प्रतिनिधि, शिक्षित समाज के विख्यात नेता तथा पुनर्गठित ब्राह्मण समुदाय के सदस्य भी सम्मिलित हैं। याचिका में बहुपत्नी-प्रथा की बुराइयों के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क का प्रयत्न नहीं है, इसमें इस विषय पर वाद-विवाद भी नहीं है, क्योंकि 1866 में प्रस्तुत की गयी 32 याचिकाओं में ही ऐसा मसाला काफी था। जिन तर्कों और विचारों के कारण 10 साल पहले आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था, उनकी आवृत्ति इस बार भी अनावश्यक न होती। इस समय ऐसे काफी सुयोग्य लोग मौजूद हैं, जो आज से दस साल पहले विद्यालयों में पढ़ते थे और जो आज स्वतन्त्र विचार रख सकने लायक हैं। फिर ऐसे लोग भी हो सकते हैं, जो यह भूल गये हों कि पहले ही याचिकाओं में उन्होंने क्या विचार जाहिर किया था। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं कि याचिका के संक्षिप्त होने के कारण लोगों

में यह गलतफहमी घर कर गयी हो कि बहुपत्नी-प्रथा की बुराइयों को दूर करने के बजाय यह बहुपत्नी-प्रथा को बिल्कुल ही खत्म करने की प्रार्थना है।" शिक्षित बंगाली मध्यवर्ग के बहुत-से लोगों ने पहले और दूसरे आन्दोलन (1856-66) के 10 वर्षों के भीतर ही 'बहुपत्नी-प्रथा निषेध' के सम्बन्ध में अपना विचार बदल लिया था। उनके अनुसार जनता के बीच आधुनिक शिक्षा के प्रसार के साथ ही अपने-आप ऐसी व्यवस्था आ जायेगी, जब यह कुरीति दूर हो जायेगी।

जब सरकार ने देखा कि बंगाल के शिक्षित वर्ग के काफी लोग बीच का रास्ता अपनाने के पक्ष में हैं तो उसने बहुपत्नी-प्रथा-निषेध के सम्बन्ध में कोई भी कानून बनाने से इनकार कर दिया। गवर्नर जनरल ने यह इच्छा जाहिर की कि परिषद में इस समय कोई भी बिल पेश न किया जाये, लेकिन इस सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल चलती रहे। बंगाल सरकार के नाम 8 अगस्त, 1866 के एक पत्र में गवर्नर जनरल ने कहा—"याद रहे कि भारतवर्ष में बहुपत्नी-प्रथा एक सामाजिक और धार्मिक संस्था के रूप में प्रचलित है। सपरिषद गवर्नर जनरल को इस बात में सन्देह है कि उन भारी मुसीबतों के बारे में भली-भाँति गौर कर लिया गया है, जो भारत या बंगाल में इस मामले को सुलझाने में सामने आने वाली हैं। जहाँ तक बंगाल का सम्बन्ध है सरकार को ऐसा कोई सबूत नहीं मिला है, जिससे यह पता चल सके कि प्रान्त के अधिकांश पढ़े-लिखे लोग कुलीन ब्राह्मणों द्वारा अपनाई गयी बुराइयों के अलावा, दिल से बहुपत्नी-प्रथा के विरोधी हैं।"

भारत सरकार के निर्देशानुसार बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने सी. हावहाउस और एच.टी. प्रिंसेप के सहयोग से प्रमुख बंगालियों की एक समिति नियुक्त की जिससे कहा गया कि वह एक से अधिक पत्नियाँ रखने की हिन्दुओं की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए, बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाने की सम्भावना के बारे में जाँच-पड़ताल करे। 7 फरवरी, 1867 को समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की। समिति ने इस किस्म के ब्राह्मणों और उस समय के विभिन्न श्रेणियों के कुलीनों के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में उन रिवाजों का भी विश्लेषण किया गया, जिनकी वजह से बहुपत्नी-प्रथा की बुराइयाँ पनपीं। रिपोर्ट में दिये गये इस प्रथा के कुछ दुष्परिणाम यों हैं—

सभी हिन्दू जातियों में विवाह के अवसर पर जो उपहार दिये जाते हैं, उनके अतिरिक्त, कुलीन वर हमेशा लड़की के पिता से विवाह के लिए भारी रकम लेता है। पर उस समय वह रकम नहीं ली-दी जाती, जब एक कुलीन दूसरे कुलीन को अपनी लड़की देता है और बदले में उसकी लड़की लेता है।

इसके अतिरिक्त, ससुर के घर पर जब कभी वह जाता है, जो उसे विदा में अकसर भेंट मिलती है। इस तरह विवाह उसके लिए अच्छी-खासी आमदनी का धन्धा बन जाता है। 30 पत्नियों वाला कुलीन ब्राह्मण हर महीने एक-एक ससुर के घर

जा सकता है और जीविकोपार्जन के लिए प्रयत्न किये बगैर पूरे साल अच्छे भोजन तथा उपहार से जीवन गुजार सकता है। यह बिल्कुल सही बात है कि बहुपत्नी-प्रथा से ब्राह्मण निठल्ले और दूसरों की कमाई खाने वाले बन गये हैं और विवाह की यह सामाजिक और धार्मिक संस्था अनैतिकता का सनातन स्रोत बन गयी है।

—अतः बहुपत्नी-प्रथा अनेक कुलीन ब्राह्मणों के लिए जीने का एकमात्र साधन बन गयी है।

—बुढ़ापे की अवस्था में भी विवाह होते हैं और कभी-कभी तो पति अपनी पत्नी को देख भी नहीं पाता या तीन-चार वर्षों में एक बार ही मुलाकात होती है।

—यहाँ तक हुआ है कि एक व्यक्ति ने एक दिन में तीन या चार तक शादियाँ की हैं।

—कभी-कभी तो किसी की सभी पुत्रियों और अविवाहिता बहनों की शादियाँ एक ही आदमी के साथ हुई।

—चूँकि कुलीन कन्याओं के लिए पति मिलना मुश्किल है, इसलिए बहुत-सी कन्याएँ अविवाहित ही रह जाती हैं।

—कुलीनों की विवाहिता और अविवाहिता लड़कियाँ तथा उनकी पत्नियाँ बड़ा दयनीय व दुखद जीवन बिताती हैं। कहा जाता है कि व्यभिचार, गर्भपात बाल-हत्या तथा वेश्यावृत्ति जैसे जघन्य अपराध कुलीन-विवाह-प्रथा के ही परिणाम हैं।

—बर्दवान और हुगली जिलों से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार ऐसे लोगों के बारे में पता चला है, जिन्होंने 82, 72, 65 तथा 42 स्त्रियों से विवाह किये और जिनके 18, 32, 41, 25 और 32 पुत्र तथा 26, 27, 25, 15 और 16 पुत्रियाँ मौजूद थीं।

कुलीनत्व ओर बहुपत्नी-प्रथा की बुराइयों को संक्षेप में समिति ने इस प्रकार प्रस्तुत किया—"वैध तरीके से स्त्रियों को काम-लालसा पूर्ति से वंचित रखना पति द्वारा पत्नी का त्याग, नारी जाति में बलात ब्रह्मचर्य पालन को बढ़ावा देना, पति द्वारा पत्नी का भरण-पोषण न करना, पति की इच्छा मात्र से पत्नियों का दमन तथा परित्याग, केवल पैसे के लोभ से विवाह करना, अच्छी मोटी रकम लिए बिना विवाह से इनकार करना, साम्पत्तिक दृष्टि से परिवारों की बर्बादी, पति की ओर से वैवाहिक कर्तव्य-पूर्ति की इच्छा के बिना ही विवाह का बन्धन, स्त्री का सारे वैवाहिक कर्तव्यों से बँधना और उनके लाभ से वंचित रहना तथा वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, गर्भपात तथा बाल-हत्या के अपराधों को प्रोत्साहन और ऐसे अपराधों को छिपाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना।"

समिति ने हिन्दू शास्त्रों से उद्धरण देकर भी प्रमाणित किया कि हिन्दू धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों से इस रिवाज का कोई सम्बन्ध नहीं है। समिति की राय है कि इस सम्बन्ध में कानून बनाने की राह में कोई अड़चन नहीं है और एक घोषणात्मक अधिनियम पास करके कानून बनाया जा सकता है और इसके उल्लंघन को दण्डनीय

करार दिया जा सकता है। अपने ऊपर लगाई गयी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह भी कहा—"चूँकि समिति का दायरा सीमित है, इसलिए उसे खेद है कि वह किसी किस्म का घोषणात्मक अधिनियम पास करने की सिफारिश भी नहीं कर सकती।" समिति के बंगाली सदस्यों में रामनाथ ठाकुर जयकृष्ण मुखर्जी और दिगम्बर मित्र ने यह विचार व्यक्त किया कि हिन्दू बहुपत्नी-प्रथा पर किसी भी प्रकार के कानून को लादने की जरूरत नहीं है और शिक्षा तथा सामाजिक विचारों के प्रसार से कुलीन ब्राह्मण स्वयं समय आने पर एक पत्नी-विवाह की पद्धति अपना लेंगे। पर पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने अपनी सहमति के साथ इस रिपोर्ट पर यह लिखते हुए हस्ताक्षर किये, "मेरा यह विचार है कि बहुपत्नी-प्रथा की बुराइयाँ अतिरंजित ढंग से पेश नहीं की गयी हैं और इन बुराइयों में यदि कमी भी होने लगे, तो इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें दूर करने के लिए कानून न बनाया जाये...।

"समिति के अन्य सदस्यों के विचारों से मैं सहमत नहीं हूँ। मैं यह मानता हूँ कि हिन्दुओं की विवाह-सम्बन्धी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किये बगैर घोषणात्मक अधिनियम पास किया जा सकता है।"

23 फरवरी, 1867 को भारत सरकार के पास भेजी गयी समिति की रिपोर्ट पर बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर की निम्नलिखित टिप्पणी से पता चलता है कि वह कुलीन-बहु-विवाह-प्रथा की ज्यादतियों को रोकने के लिए कम-से-कम घोषणात्मक कानून पास करने के पक्ष में थे और विद्यासागर के विचारों से अधिक सहानुभूति रखते थे जो उन्होंने अपने असहमति-पत्र में व्यक्त किये थे, "लेफ्टिनेण्ट गवर्नर समिति के बंगाली सदस्यों की इस राय से सहमत नहीं हो सकते कि शिक्षा और सामाजिक विचारों का दबाव पड़ने पर बंगाल के कुलीन स्वयं एक पत्नी-विवाह करने लगेंगे। यह सन्तोष की बात है कि पिछले कुछ वर्षों में इस विषय में हिन्दुओं के विचारों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है और बहुपत्नी-प्रथा को जीविका के साधन के रूप में ग्रहण करना गलत माना जाने लगा है। आशा है कि नये आधुनिक विचारों के प्रसार के साथ-साथ बहुपत्नी-प्रथा रोकने के लिए कारगर उपाय के रूप में कानून बनाने की आवश्यकता शीघ्र ही महसूस की जाने लगेगी।"

पर चूँकि समिति के बंगाली सदस्यों के विचारों से काफी शिक्षित बंगाली सहमत थे, अतः भारत सरकार ने बहुपत्नी-प्रथा के विरुद्ध घोषणात्मक कानून बनाने का प्रस्ताव नामंजूर कर दिया। इसी बीच, राज्य-सचिव की ओर से एक पत्र आया, जिसमें उन्होंने उस समय इस सम्बन्ध में कोई भी कानून बनाने पर अपनी आपत्ति जाहिर की, क्योंकि उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बंगाल के बहुसंख्यक लोग कुलीनों के बहुपत्नीत्व की बुराइयों को जानते हुए भी उसके विरुद्ध कानून बनाने के पक्ष में नहीं हैं।

पर विद्यासागर अडिग रहे। विद्यासागर को विधवा-विवाह सम्बन्धी आन्दोलन

का 15 वर्षों में बड़ा कटु अनुभव प्राप्त हुआ था। अतः यह कोई अस्वाभाविक बात न थी कि वह उस समय तक समाज-सुधार के लिए जनमत तैयार करने के काम से पूर्णतया निराश हो जाते। पर वह निराश नहीं हुए और उन्होंने पिछली शताब्दी के सातवें दशक में भी मुख्यतया साहित्यिक स्तर पर बहुपत्नी-प्रथा-विरोधी अपने प्रयत्नों को और भी साहस के साथ जारी रखा। 1871 और 1873 में उन्होंने बहुपत्नी-प्रथा के सम्बन्ध में दो बंगला-पुस्तिकाएँ प्रकाशित करवाईं, जिनमें उन्होंने विभिन्न शास्त्र-ग्रन्थों से बंगाल की कुलीन बहुपत्नी-प्रथा के विरोध में उद्धरण प्रस्तुत किये और अपने विरोधियों के तर्कों का खण्डन किया। उन्होंने कलकत्ता के निकटवर्ती इलाके हुगली जिले से कुलीन-बहुपत्नी-प्रथा के सम्बन्ध में काफी आँकड़े इकट्ठे किये। उनकी बंगला-पुस्तक में बहुपत्नी कुलीनों के नाम और उनकी पत्नियों की संख्या और उम्र का भी उल्लेख किया गया था।

मजे की बात तो यह है कि कुछ कुलीन ब्राह्मणों को तो यहाँ तक पता नहीं था कि वास्तव में उन्होंने कितनी लड़कियों से शादियाँ की हैं। कुछ लोग तो डायरी रखते थे जिसमें शादियों और उनमें नकद और जिन्स के रूप में प्राप्त दहेजों का विवरण लिखा होता था। ससुरों के यहाँ बारी-बारी से जाने पर उन्हें क्या-क्या दहेज में मिला था, इसका भी उसमें पूरा विवरण लिखा होता था। बहुपत्नी-प्रथा विरोधियों द्वारा सरकार को भेजे गये अपने वक्तव्यों के साथ-साथ ये सब तथ्य भी भेजे गये थे। लेकिन 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम के बाद सरकार इतनी अधिक सावधान हो गयी थी कि भारतीय जनता की भावनाओं को ठेस पहुँचाकर या उसके सामाजिक-आर्थिक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप कर कोई भी कानून बनाने के लिए तैयार न थी।

लेकिन विद्यासागर बहुपत्नी-प्रथा के विरोध में लगातार संघर्ष कर रहे थे और समाज की भलाई के लिए देशवासियों से इस प्रथा को छोड़ने की जोरदार अपील करते रहते थे। 1871 में प्रकाशित बहुपत्नी-प्रथा विरोधी अपनी पहली पुस्तक में उन्होंने लिखा—"हमारे समाज के विघटन का मूल कारण हिन्दुओं में प्रचलित बहुपत्नी-प्रथा ही है। सदियों से यह हमारे समाज की नैतिक जड़ों को हिला रही है और इसके फलस्वरूप बुराइयाँ फैल रही हैं। इस अमानवीय कुप्रथा के बने रहने के कारण ही हजारों विवाहित स्त्रियाँ अकथनीय यातनाओं के नरक में रोज-ब-रोज धकेली जा रही हैं। इसने असंख्य बुराइयों को पनपने का मौका दिया है और समाज के नैतिक आधारों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। व्यभिचार, बाल-हत्या और वेश्यावृत्ति जैसी हर प्रकार की बुराई को इसने बढ़ावा दिया है। मुझे ऐसा लगता है कि हम इस कुप्रथा को अकेले अपने प्रयत्नों से नहीं मिटा सकते। अगर हम इसे अपने-आप मिटा सकते, तो कानून द्वारा इसे रोकने के लिए सरकार से प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। अब या तो इस सम्बन्ध में हमें सरकार से मदद माँगनी चाहिए या अपनी इस सामाजिक-धार्मिक संस्था में विदेशी अधिकारियों के हस्तक्षेप के भय से

चुप हो जाना चाहिए और इसके नैतिक या सामाजिक नतीजों पर ध्यान दिये बगैर अपरिवर्तनीय मानकर इसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना चाहिए। जो लोग इस क्रूर प्रथा के दुखद परिणामों को देख रहे हैं वे हर प्रकार से और अविलम्ब इसे समाप्त कर देना चाहते हैं। जितनी जल्दी इस कुप्रथा का अन्त हो, समाज के लिए उतना ही हितकर है। अगर सरकार इस कुप्रथा को खत्म करती है, तो मेरी समझ में नहीं आता कि इससे नुकसान क्या हो सकता है? बहुपत्नी-प्रथा को रोकने के लिए जिन लोगों ने आवाज उठाई है तथा सरकार से मदद माँगी है, उन्हें चुप करा देना आसान है, पर इसकी मुखालफत के कोई मानी नहीं है। यह तर्क बचकाना है कि जो काम हम खुद कर सकते हैं, उसे सरकार से करने को कह रहे है। कमाल तो यह है कि जिन मुट्ठी-भर लोगों के पास संकल्प और शक्ति है, उनकी ही आलोचना करके हम अपनी बड़ी भारी शक्ति नष्ट कर रहे हैं। हम केवल इतनी ही उम्मीद कर सकते हैं कि ऐसे छिद्रान्वेषियों की संख्या धीरे-धीरे घटने लगेगी और समाज-सुधार का काम आगे बढ़ने लगेगा।"

इस अपील पर किसी ने कान नहीं दिये। बड़े-बड़े पण्डित अपनी कलम से उन पर गाली-गलौज की बौछार करते रहे। उस समय विद्यासागर 52 साल के हो चले थे और कई बीमारियों से पीडित थे। 1855-56 के विधवा-विवाह आन्दोलन के समय की युवावस्था की शक्ति अब उनमें नहीं रह गयी थी और वह कर्ज तथा निराशा के बोझ से लदे हुए थे। लेकिन जब उनके उद्देश्य पर चोट आयी और उन पर हर तरफ से आलोचनाओं के प्रहार होने लगे तो उन्होंने पूरी ताकत से अपने उद्देश्य की रक्षा की और अपने विरोधियों को मुँहतोड़ उत्तर दिया। पर उन्होंने अपने विरोधियों की तरह भाषा की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं किया। 1873 में बहुपत्नी-प्रथा के बारे में प्रकाशित अपनी दूसरी पुस्तक के माध्यम से उन्होंने यह सब किया। लेकिन यह आन्दोलन आठवें दशक के हिन्दू पुनरुत्थानवाद के शोरगुल में नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह डूब गया। जब 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के बीच एक नया संघर्ष छिड़ा था, जिसमें प्रगतिवादियों को अस्थाई रूप से मुँह की खानी पड़ी थी, उस समय विद्यासागर अपने जीवन के अन्तिम दिन गिन रहे थे और उस समय समाज-सुधार के लिए उन्होंने अपनी जो जोरदार आवाज उठाई, वह लगभग अन्तिम ही थी।

अन्य सार्वजनिक सेवाएँ

विद्यासागर ने विधवा-विवाह और बहुपत्नी-प्रथा-निषेध जैसी विकट सामाजिक समस्याओं को लेकर कार्य किया, पर वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे, समय निकालकर उन्होंने एक स्वतन्त्र शिक्षा-संस्था खोलने तथा निस्सहाय विधवाओं और उनके आश्रितों की रक्षा के लिए हिन्दू परिवार-वार्षिकी-कोष की स्थापना तथा नाबालिग जमींदारों की सुरक्षा के लिए *वार्ड्स इंस्टीट्यूशन* के सुधार की समस्याओं पर भी ध्यान दिया। उन्होंने नशाबन्दी आन्दोलन में भी हिस्सा लिया। यहाँ तक कि अपने देहान्त के कुछ महीनों पूर्व उन्होंने सहमति-आयु-विधेयक की समीक्षा की और उससे सम्बन्धित अपने विचार सरकार को भेजे। वह अपने अन्तिम वर्षों तक कार्यरत रहे।

सन् 1859 में कुछ बंगाली सज्जनों की देखरेख में उत्तरी कलकत्ता में *कलकत्ता ट्रेनिंग स्कूल* के नाम से एक स्कूल की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं, बल्कि सरकारी और मिशनरी स्कूलों की तुलना में कम-से-कम फीस लेकर मध्यवर्ग के हिन्दू युवकों को अंग्रेजी शिक्षा देना ही था। विद्यासागर और उनके मित्र रामकृष्ण बनर्जी ने इसकी प्रबन्ध समिति में भाग लिया और विद्यासागर के निर्देशन में स्कूल की बहुत जल्दी तरक्की हुई। 1861 में विद्यासागर ने एक नयी प्रबन्ध समिति के नियन्त्रण में इसका पूर्णभार उठा लिया और वह सचिव बना दिये गये। 1864 में स्कूल का नाम बदलकर *दि हिन्दू मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन* कर दिया गया और अप्रैल, 1864 में कला-कक्षाओं में उच्च शिक्षा देने के निमित्त उसे कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध करने का आवेदनपत्र दिया गया। यह आवेदनपत्र अस्वीकृत हो गया, क्योंकि सिण्डीकेट के अधिकांश यूरोपीय सदस्य इस बात के पक्ष में नहीं थे कि भारतीयों द्वारा चलाई जाने वाली उच्चतर अंग्रेजी शिक्षा की किसी भी संस्था को विश्वविद्यालय से सम्बद्ध करने की स्वीकृति प्रदान की जाये। लेकिन विद्यासागर ऐसी असफलताओं से निराश होकर पीछे हटने के आदी नहीं थे। 1866 में जब इसके संरक्षक-अध्यक्ष पैकपाड़ा राजपरिवार के प्रतापचन्द्र सिंह का देहान्त हो गया, तो इस संस्था के प्रबन्ध का पूरा भार विद्यासागर के कन्धों पर आ पड़ा। विद्यासागर के लिए निश्चित रूप से यह बहुत बड़ा बोझ था, खासकर इसलिए कि विधवा-विवाह

आन्दोलन के समय उन पर बड़ा कर्ज हो गया था। लेकिन उन्होंने संस्था के हित को ध्यान में रखकर इस भार को भी उठाया।

संस्था को प्रथम कला-परीक्षा तक विश्वविद्यालय से सम्बद्ध करने का आवेदनपत्र 1872 में दुबारा दिया गया। इस बार केवल औपचारिक आवेदनपत्र देकर ही विद्यासागर सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने सिण्डीकेट के एक सबसे प्रभावशाली सदस्य ई.सी. बेली के पास व्यक्तिगत पत्र भी भेजा। 27 जनवरी, 1872 के इस पत्र में यह भी कहा गया था—"अगर सिण्डीकेट से यह कहा जाये कि इस शिक्षा-संस्था में दी जाने वाली शिक्षा भारतीय शिक्षकों के कारण न्यून कोटि की होगी, तो मैं आपको यह याद दिलाना चाहता हूँ कि संस्कृत कॉलेज में बी.ए. तक की शिक्षा दी जाती है और उसके सभी शिक्षक भारतीय हैं। अगर और न्याय से प्राध्यापकों का चुनाव किया जाये, तो वे निश्चित रूप से योग्यतम साबित होंगे। अगर हमें अनुभव से यह पता चलेगा कि अंग्रेजी की शिक्षा के लिए अंग्रेजी के प्राध्यापक की आवश्यकता है, तो हम निश्चित रूप से उसकी नियुक्ति करेंगे, पर उसके लिए हमें सरकार से आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। हम चाहते हैं कि किफायत और कुशलता, दोनों ही प्राप्त हों और चूँकि मैंने अपना पूरा जीवन स्कूलों के प्रबन्ध में व्यतीत किया है अतः मुझे आशा है कि आप मुझे प्राध्यापकों के चुनाव और उनका वेतन निर्धारित करने की स्वतन्त्रता देंगे।

"प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़ाई की फीस बहुत ज्यादा है और मध्यवर्ग के लड़कों के वश की बात नहीं कि वे इतनी ऊँची फीस अदा करके वहाँ पढ़ सकें और चूँकि उनके माता-पिता उन्हें मिशनरी कॉलेजों में भेजना नहीं चाहते, अतः मैट्रिकुलेशन के बाद उनकी शिक्षा समाप्त हो जाती है। ऐसे लोगों के लिए यह संस्था वरदान साबित होगी।

"इस संस्था के प्रबन्धकों में मेरे अलावा, न्यायाधीश द्वारकानाथ मित्र और बाबू कृष्टोदास पाल हैं। हमें इस बात से सन्तोष है कि संस्था चलाने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन हैं। अगर कोई कमी हुई, तो हम उसे अपनी जेब से पूरा करने के लिए तैयार हैं। मुझे विश्वास है कि संस्था को ठीक-ठीक चलाने के हमारे आश्वासन से सिण्डीकेट को तसल्ली हुई होगी और पाँच साल के लिए इसे सन्तोषप्रद मान लेगा।"

आवेदनपत्र स्वीकार कर लिया गया और एफ.ए. परीक्षा के लिए छात्रों को शिक्षा देने की अनुमति दी गयी। बंगाल के अनेक गण्यमान्य विद्वान प्रोफेसर इस संस्था में प्राध्यापक के पदों पर नियुक्त हुए। वेतन की बात उनके लिए गौण थी। विद्यासागर के व्यक्तित्व और स्वतन्त्र राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर उन्होंने संस्था का दायित्व अपने ऊपर उठाया। विश्वविद्यालय की अन्तिम वार्षिक परीक्षाओं में इस संस्था को बड़ी शानदार सफलताएँ मिलीं। इस संस्था द्वारा दी गयी अंग्रेजी शिक्षा की सफलता से यूरोपीय और मिशनरी लोगों को दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ी। प्रेसिडेंसी

कॉलेज के प्रिंसिपल और कलकत्ता विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार सटक्लिफ ने स्वीकार किया कि पण्डित जी ने सचमुच कमाल कर दिखाया है। सक्रिय सेवा से अवकाश पाने के बाद इस शिक्षा-संस्था की स्थापना और इसके सफल प्रबन्ध को विद्यासागर की स्थायी उपलब्धि के रूप में देखा जा सकता है।

इस उपलब्धि के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक *विद्यासागर-चरित्र* में लिखा है—"अपने ढंग की यह पहली राष्ट्रीय संस्था थी जो बंगाली लड़कों को उच्चतर अंग्रेजी शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थापित की गयी और जिसका प्रबन्ध पूर्णतः बंगालियों के हाथ में था। इस प्रकार राष्ट्रीय आधार पर हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा की नींव सर्वप्रथम विद्यासागर ने डाली। यह व्यक्ति खुद गरीब घर में पैदा हुआ था, पर उसने देश का सबसे बड़ा हित किया। यह बड़े मजे की बात है कि जो व्यक्ति रूढ़ परम्पराओं और रिवाजों से ग्रस्त ब्राह्मण परिवार में जन्मा था, वह समाज को इन परम्पराओं और रिवाजों के बन्धनों से मुक्त करने के लिए सबसे बढ़ा योद्धा बन गया था और जो व्यक्ति संस्कृत-साहित्य का उच्च कोटि का विद्वान था उसी ने अपने प्रयत्नों से राष्ट्रीय आधार पर अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाली थी।"

जब अंग्रेजी शिक्षा राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हुई, तो उसके बड़े दूरगामी नतीजे निकले। यह ऐसी संस्था बन गयी जिसमें देश के होनहार राष्ट्रवादियों को पनपने और पोषण पाने का अवसर मिला। *ए नेशन इन मेकिंग* नामक अपनी पुस्तक में महान् राष्ट्रवादी नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। वह इण्डियन सिविल सर्विस से बर्खास्त कर दिये गये और वकील या बैरिस्टर के रूप में न्यायालय में भी काम नहीं कर सकते थे। जब वह जून, 1875 में दूसरी बार इंग्लैण्ड से लौटकर आये, तो उनके लिए सभी पेशों के द्वार बन्द कर दिये गये। उन्होंने लिखा है—"ऐसा कोई उद्योग न था जिसमें मुझे काम मिल सकता था। पर अकस्मात्, मेरे लिए एक द्वार खुल गया। तुरन्त ही मुझे ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन में अंग्रेजी के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त किया और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। मेरे व्याख्यान छात्रों को बड़े पसन्द आये और इससे मुझे नियुक्ति मिलने में भी सहूलियत हुई। मुझे केवल दो सौ रुपये वेतन मिलता था। यह वेतन असिस्टेंट मजिस्ट्रेट के रूप में मुझे जितना मिलता था, उसका आधा था। पर मैं यह सोचकर प्रसन्न था कि कुछ तो काम मिला और इस अवसर से मैंने लाभ भी उठाया। मैंने यथासम्भव सभी तरीकों से युवकों में, उनके तथा मातृभूमि के हित की दृष्टि से सार्वजनिक तथा देशभक्ति की भावनाएँ जगाने का प्रयास किया।"

सन् 1881 और 1892 के बीच, विद्यासागर के देहान्त के एक वर्ष बाद 12 वर्षों की अवधि में *मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन* के 498 छात्रों ने बी.ए. की डिग्रियाँ और 33 छात्रों ने एम.ए. की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। इसके बाद 1882 में *मेट्रोपालिटन*

इंस्टीट्यूशन को कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से कानून की शिक्षा प्रदान करने की अनुमति मिल गयी और 10 वर्षों में 513 छात्रों ने इस शिक्षा-संस्था से बी.एल. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। शिक्षित बंगाली मध्यवर्ग में उस समय सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग वकीलों का था। इस वर्ग ने 19वीं शताब्दी के अन्तिम 25 वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि इन बंगाली राष्ट्रवादी वकीलों में अधिकांश *मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन* की देन थे और यह संस्था होनहार बंगाली राष्ट्रवादियों की जननी और पालिका थी।

जब विद्यासागर ने इस संस्था की स्थापना की थी, तो क्या उन्होंने इन परिणामों की कल्पना की थी? शायद उन्होंने की थी, क्योंकि विद्यासागर ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को उनके खास तरह के राजनीतिक दृष्टिकोण के बावजूद कॉलेज के प्राध्यापक के रूप में चुन लिया था। प्राध्यापक के चुनाव से सम्बन्धित कोई नीति अवश्य ही रही होगी। उनकी चाहे जो भी इच्छा रही हो, पर इतना तो निस्सन्देह था कि विद्यासागर देश की भूमि में अंग्रेजी शिक्षा का बीजारोपण करना चाहते थे और उस समय इसकी बड़ी सख्त जरूरत भी थी, क्योंकि हिन्दू कॉलेज या मिशनरी कॉलेजों के छात्रों में सच्ची राष्ट्रीय भावनाएँ नहीं पनप पा रही थीं। उस समय आवश्यकता इस बात की थी कि छात्रों में सच्ची राष्ट्रीय भावनाएँ पैदा की जायें और यह काम उस समय विद्यासागर के प्रबन्ध में चलने वाली *मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन* ने ही पूरा किया था। विद्यासागर के देहान्त के बाद इस संस्था का नाम बदलकर *विद्यासागर कॉलेज* रख दिया गया था और यह संस्था राष्ट्रीय शिक्षा के विकास में विद्यासागर के योगदान के स्मारक के रूप में आज भी खड़ी है।

अब एक अन्य उद्देश्य के लिए विद्यासागर के संघर्ष की चर्चा करें। 19वीं शताब्दी में हिन्दुओं का सामाजिक ढाँचा मुख्यतया संयुक्त परिवार प्रथा पर आधारित था। जब परिवार का मुखिया मर जाता था, तो उसकी पत्नी, बच्चे तथा अन्य आश्रितों को अकस्मात् गम्भीर अर्थ-संकट का सामना करना पड़ता था। जब कभी ऐसी विपदा आ पड़ती थी, तो अनेक मध्यवर्गीय परिवार नष्ट हो जाते थे। विद्यासागर खुद भी निम्न मध्यवर्ग के परिवार में पैदा हुए थे और आर्थिक असुरक्षा के भयंकर भूत से पूरी तरह अवगत थे। इस समस्या के समाधान में अनेक प्रयत्नों को तब सफलता मिली, जब 15 जून, 1872 को *हिन्दू परिवार वार्षिकी कोष* (हिन्दू फेमिली एन्युटी फण्ड) की स्थापना हुई।

उस समय जीवन-बीमा तथा वार्षिकी कोष का कोई रिवाज नहीं था। मध्यवर्गीय गरीब परिवारों के रोटी-रोजी कमाने वालों के निधन के बाद उनके निस्सहाय आश्रितों को कम-से-कम जरूरी आर्थिक सुरक्षा जुटाने की विद्यासागर को भारी चिन्ता थी। इसी उद्देश्य से कोष की स्थापना की गयी; अगर कोई यह चाहता था कि देहान्त के बाद उसकी पत्नी या किसी अन्य आश्रित को पाँच रुपये महीना भत्ता मिले, तो

उसे इस राशि का चौथाई हिस्सा प्रति मास वार्षिक कोष में मृत्युपर्यन्त जमा करते रहना पड़ता था। मासिक भत्ते की अन्तिम सीमा 30 रुपये तक थी। 30 रुपये के मासिक भत्ते के लिए हर महीने साढ़े सात रुपये अदा करने पड़ते थे। इन सीमाओं को निश्चित करते समय विद्यासागर के दिमाग में यह बात थी कि बंगाल में निम्न-आय वर्ग और मध्य आय वर्ग के परिवारों के लिए कम-से-कम जरूरी आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था की जाये।

मेट्रापालिटन इंस्टीट्यूशन के अहाते में ही इस कोष के संगठन के निमित्त पहली बैठक हुई। इसमें केवल 10 सदस्यों के चन्दे के अतिरिक्त कुछ धनी लोगों ने दान भी दिया। कोष के ट्रस्टियों में विद्यासागर के अतिरिक्त, न्यायाधीश द्वारकानाथ मित्र, न्यायाधीश रमेशचन्द्र मित्र तथा महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर भी थे। विद्यासागर इस कोष से 1875 तक सम्बद्ध रहे। उन्होंने 21 फरवरी, 1876 को एक पत्र द्वारा न्यास मण्डल के कोष से अपने सम्बन्ध-विच्छेद का कारण बताया। ऐसे कोषों के प्रबन्ध में अकसर अनियमितता होती ही है और इसके सम्बन्ध में भी यही हुआ था। फिर विद्यासागर जैसे ईमानदार व्यक्ति के लिए कैसे सम्भव था कि वह उससे अपना सम्बन्ध बनाये रखते। उन्होंने निदेशकों पर आरोप लगाया कि उन्होंने कोष के नियमों की अवहेलना और उसके हितों की उपेक्षा की है।

पत्र में उन्होंने कहा—"अपनी विशेष बैठक में आप लोगों ने यह इच्छा और अनुरोध प्रकट किया है कि कोष से मैं अपना सम्बन्ध बनाये रखूँ, लेकिन आपके इस अनुरोध का पालन करना मेरे लिए बड़ा कठिन हो गया है। अनेक व्यक्ति मेरे पास यह पूछताछ करने आते हैं कि वे कोष में अपना चन्दा अदा करें या नहीं। तब मैं भारी दुविधा में पड़ जाता हूँ। कोष की वर्तमान अवस्था को देखते हुए मेरे लिए यह बड़ा मुश्किल है कि मैं किसी को भी इसमें चन्दा जमा करने की सलाह दूँ। पर यह भी बड़ी गलत बात होगी कि मैं किसी को इसमें चन्दा जमा करने से रोकूँ। कारण यह है कि इस हालत में जब मेरे मन में पूरा विश्वास जम गया है कि भविष्य में यह कोष ठीक तरह नहीं चल सकता, मेरे द्वारा किसी को भी इसमें चन्दा जमा करने की सलाह देना उसके साथ धोखा करना होगा। साथ ही, मैं यह भी ठीक नहीं समझता कि किसी को चन्दा देने से रोकूँ, क्योंकि यह भी कोष के हक में अच्छी बात नहीं होगी। जानबूझकर किसी को धोखा देना और किसी संस्था में रहते हुए उसके विरुद्ध कार्य करना दोनों ही काम गलत हैं। अगर कोष के साथ आगे भी मेरा सम्बन्ध बना रहे, तो इन दोनों में से कोई एक गलत काम मुझसे होगा ही, मैं उससे बच नहीं सकता। इसी दुविधा के कारण मैं आपके अनुरोध का पालन करने में असमर्थ हूँ और इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।"

उनके त्यागपत्र देने के तुरन्त बाद कुछ और निदेशकों ने कोष से सम्बन्ध-विच्छेद करने का फैसला किया। पर इस संस्था के संस्थापकों के मानवतावादी लक्ष्यों और

मध्यवर्ग के अनेक लोगों के हित को ध्यान में रखकर सरकार ने इस संस्था को अन्त में अपने हाथ में ले लिया।

सन् 1854-55 में सरकार ने बंगाल के राजकुमारों और जमींदारों के नाबालिग उत्तराधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए *वाईस इंस्टीट्यूशन* की स्थापना की थी। इसका नियन्त्रण राजस्व-मण्डल (रेवेन्यू बोर्ड) के हाथों में सौंप दिया गया था। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र को इसका निदेशक बनाया गया। 1 नवम्बर, 1863 में विद्यासागर मण्डल द्वारा इसके निरीक्षण (विजिटर) मनोनीत किये गये। चार-पाँच निरीक्षणों के बाद विद्यासागर ने अप्रैल, 1864 में इस संस्था के प्रबन्ध में सुधार करने के लिए मण्डल के पास एक ज्ञापन भेजा। इस ज्ञापन के मिलते ही मण्डल ने उनसे इस संस्था के सम्बन्ध में एक पूरी रिपोर्ट पेश करने का अनुरोध किया। विद्यासागर ने जनवरी, 1865 में रिपोर्ट पेश की और बाद में उसका एक पूरक अंश भी भेजा। उनकी मुख्य सिफारिशें ये थीं—

संस्था में केवल वार्डों का आवास रहने के बजाय उसे बोर्डिंग स्कूल के रूप में बदल दिया जाये।

शिक्षा का एक अलग पाठ्यक्रम बनाया जाये, जो वार्डों की आवश्यकता के अनुकूल हो।

उनकी शिक्षा के लिए यथेष्ट सुयोग्य शिक्षक रखे जायें।

रिपोर्ट में एक और भी महत्त्वपूर्ण बात थी। संस्था के एक नियम के अनुसार बड़े अपराधों में *वार्डों* को शारीरिक दण्ड देने का विधान था। लेकिन विद्यासागर ने उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला कि जिन अपराधों में *वार्डों* को इस किस्म का दण्ड दिया गया था, उन्हें बड़े अपराध नहीं कहा जा सकता। विद्यासागर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा—"किसी *वार्ड* का अपराध बड़ा हो या छोटा, इस पर ध्यान दिये बिना मैं इतना कहना चाहता हूँ कि शारीरिक दण्ड को *वार्डों* के प्रशिक्षण में से बिल्कुल हटा दिया जाये। कुप्रभाव पड़ने के कारण, इस प्रकार के दण्ड पर सभी शिक्षा-संस्थाओं में रोक है। उनमें सैकड़ों विद्यार्थियों को दण्ड के बिना ही शिक्षा दी जाती है और उन्हें अनुशासित रखा जाता है। इस प्रकार के दण्ड की *वाईस इंस्टीट्यूशन* में तो बिल्कुल जरूरत मालूम नहीं पड़ती। मेरा विचार है कि *वार्डों* के प्रति इस प्रकार बर्बर और कठोर व्यवहार संस्था को शोभा नहीं देता। मुझे छात्रों को शिक्षित करने का कुछ अनुभव है और यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि शारीरिक दण्ड विद्यार्थियों को सुधारने के बजाये बिगाड़ता ही है। अतः मेरी यह जोरदार सिफारिश है कि यह नियम तुरन्त हटा दिया जाये।"

विद्यासागर का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथा शैक्षिक सुधार-कार्य था, जो आमतौर पर नजरअन्दाज कर दिया जाता है। वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक में भी कलकत्ता जैसे बड़े शहर के स्कूलों में शारीरिक दण्ड दिया जाता था। और

यहाँ तक कि बेंत भी लगाये जाते थे। विद्यासागर छात्रों को इस तरह का दण्ड देने के बिल्कुल खिलाफ थे। और जिन संस्थाओं में उनकी चलती थी या उन्हें कुछ अधिकार प्राप्त थे वहाँ से उन्होंने इसका दण्ड बिल्कुल हटवा दिया था। वह इस बात के भी पक्ष में नहीं थे कि बेंच पर खड़ा करके लड़के को अपने साथियों के बीच लज्जित करके दण्डित किया जाये। एक बार उन्होंने *मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन* के प्रधानाध्यापक को त्यागपत्र देने के लिए इसलिए बाध्य किया था कि उसने एक छात्र को बेंच पर खड़ा करके दण्ड दिया था। विद्यासागर के सुझाव पर *वाईस इंस्टीट्यूशन* में दण्ड का यह तरीका बदल दिया गया था और बाद में यह संस्था अधिक उदार तथा मानवीय सिद्धान्तों पर चलाई गयी थी।

अब हम एक दूसरी समस्या की चर्चा करें। हिन्दू वसीयत अधिनियम (हिन्दू विल्स ऐक्ट) 1869 में विधान परिषद में मसौदा विधेयक के रूप में पेश किया गया। अब तक भारतीय उत्तराधिकार की समस्या भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम (इण्डियन सक्सेशन ऐक्ट) के अनुसार हल होती थी, जो भारतीयों तथा अभारतीयों पर समान रूप से लागू था। सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) की स्थापना के बाद बंगाल के धनी लोग अपनी मनचाही वसीयत छोड़ जाया करते थे। इससे बड़ी गम्भीर, जटिल तथा अनन्त मुकदमेबाजी का सिलसिला शुरू हो गया। इसीलिए इस अधिनियम (ऐक्ट) में कुछ संशोधनों की आवश्यकता पड़ गयी थी। विधेयक (बिल) पेश करने के दौरान हिन्दू जनता में बड़ी हलचल पैदा हो गयी थी। सरकार ने इस सम्बन्ध में हिन्दू समाज के मुखियाओं, खासकर विद्वान संस्कृत-पण्डितों के विचार जानने चाहे थे। विद्यासागर की भी राय ली गयी। उन्होंने विधेयक (बिल) की दो बातों का विरोध किया। पहली बात यह कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार जन्मे बच्चे के नाम कुछ उपहार देना गैरकानूनी है, लेकिन इस अधिनियम में कुछ मामलों में इसे कानूनी मान लिया गया था। दूसरी बात यह कि शाश्वत उत्तराधिकार के विरुद्ध जो नियम इसमें दिया गया है, वह भी शास्त्र-विरुद्ध है। विद्यासागर की दलीलें बिल्कुल शास्त्रीय प्रमाणों पर आधारित भी। लेकिन सरकार ने विद्यासागर के किसी भी सुझाव पर ध्यान नहीं दिया और विधेयक सितम्बर, 1870 में पास हो गया। हिन्दू उत्तराधिकार-अधिनियम के बारे में विद्यासागर के विचारों से पता चलता है कि हिन्दू समाज के बारे में उसके विचार हमेशा ही परम्परा-विरोधी नहीं थे।

अब नशाबन्दी आन्दोलन सम्बन्धी विद्यासागर के प्रयत्नों की चर्चा करें। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही खासकर उच्च और मध्यवर्ग के कलकत्ता आदि शहरों में रहने वाले बंगालियों को नशे की लत पड़ गयी थी। यह लत उनमें यूरोपियों के सम्पर्क से पड़ी थी। यूरोपीय और अच्छे खानदानी बंगाली घरों में लगभग रोज ही दावतें उड़ती थीं और वहाँ तरह-तरह की विदेशी शराबों की बोतलों पर बोतलें खुलती थीं। इन उच्च वर्ग के बंगालियों के सम्पर्क से अंग्रेजी-शिक्षित मध्यवर्ग के लोगों

में भी यह आदत पड़ गयी थी। नशेबाजी इतनी बढ़ी कि 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक में *यंग बंगाल* के अभ्युदय के दिनों में नशा करना प्रगति का सूचक माना जाता था और नशे से परहेज करने वाले प्रतिक्रियावादी माने जाने लगे थे। बंगाल में पश्चिमी शिक्षा के अग्रदूत हिन्दू कॉलेज के छात्रों के तो ये शब्द तकियाकलाम हो गये थे कि *पीना प्रगति की और न पीना पिछड़ेपन की निशानी है।* नतीजा यह हुआ कि बंगाल के सभी शहरों में मध्यवर्ग के लोगों में यह आदत बहुत जल्दी बुरी तरह फैल गयी। शिक्षाविदों में इससे बड़ी चिन्ता पैदा हुई और उन्होंने इसे रोकने के लिए ठोस कदम उठाने पर विचार किया।

पिछली शताब्दी के छठे दशक में बंगाल के प्रमुख शिक्षाविदों और समाज-सुधारकों द्वारा नशाबन्दी आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। विख्यात शिक्षाविद् प्यारेचरण सरकार का नाम इस आन्दोलन के साथ हमेशा ही जुड़ा रहेगा। वह हर प्रकार के सामाजिक सुधार के कट्टर समर्थक थे और विद्यासागर के गहरे मित्र थे। मुख्यतः उनके प्रयत्नों से ही नशाबन्दी आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था और 1864 में कलकत्ता में बंगाल नशाबन्दी समाज की स्थापना की गयी थी। शुरू से ही विद्यासागर इसमें शामिल हो गये थे और इसमें उन्होंने प्रमुख भाग लिया था। एक दशक के भीतर ही इस आन्दोलन ने बड़ा जोर पकड़ा और प्यारेचरण सरकार की मृत्यु के बाद भी इसके काम में कोई ढील नहीं आयी। 27 नवम्बर, 1875 को डॉ. भुवनमोहन सरकार के नाम लिखा गया विद्यासागर का एक पत्र इस प्रसंग से उल्लेखनीय है—"आप जानते हैं कि मेरा स्वास्थ्य खराब है, अतः बड़े खेद के साथ मैं यह लिख रहा हूँ कि आज शाम को मैं *बंगाल नशाबन्दी समाज* (बंगाल टेम्परेंस सोसायटी) की बैठक में उपस्थित न हो सकूँगा। आपसे ज्यादा कोई भी यह नहीं जानता कि अपने प्यारे मित्र बाबू प्यारेचरण सरकार के देहान्त से मुझे कितना शोक हुआ है। युवावस्था से ही हम एक-दूसरे को जानते थे और हम दोनों में इतनी ममता थी कि मुझे लगता है कि मेरा प्यारा सगा भाई ही मुझसे छिन गया है। अपनी सुयोग्यता, सच्चरित्रता तथा लोगों के हित के लिए उन्होंने बड़े उत्साह और निष्ठा से जो काम किया, उससे वह समाज के बड़े हित-साधक हो गये थे और नशाबन्दी के क्षेत्र में उन्होंने जिस निष्ठा से 'बंगाल नशाबन्दी समाज' (बंगाल टेम्परेंस सोसायटी) की स्थापना, पुस्तिकाओं के प्रकाशन आदि कार्य किये, उन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता। नशाबन्दी के उन्नायक तथा प्रेमी नशाबन्दी के प्रति उनकी कर्तव्यनिष्ठा को हमेशा ही कृतज्ञतापूर्वक याद करते रहेंगे।"

पत्र में जिस बैठक का जिक्र किया गया है, उसमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भी उपस्थित थे। इस बैठक में बंगाल के इस महान् राष्ट्रवादी वक्ता ने श्रोताओं के विशाल जनसमूह के आगे अपना पहला सार्वजनिक भाषण दिया था। अपनी आत्मकथा *ए नेशन इन मेकिंग* में उन्होंने लिखा है, "जून, 1875 में कलकत्ता लौटने के बाद मेडिकल कॉलेज

के थियेटर में नशाबन्दी आन्दोलन को बढ़ावा देने के लिए सार्वजनिक सभा हुई। सभा में बड़ी भारी भीड़ थी। उन दिनों नशाबन्दी की बात लोगों के मन में घर कर गयी थी। नशाबन्दी आन्दोलन के अग्रदूत प्यारेचरण सरकार के परिश्रम फलीभूत हो रहे थे। यह एक सजीव आन्दोलन था, क्योंकि नयी पीढ़ी में नशेबाजी फैलने का सचमुच ही जबर्दस्त खतरा पैदा हो गया था।"

इसके तुरन्त बाद, विद्यासागर के *मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूशन* में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अंग्रेजी के प्राध्यापक हो गये। इस सम्बन्ध में वह लिखते हैं–"अपने भाषणों के कारण मैं छात्रों में काफी लोकप्रिय हो गया था और मेरा ख्याल है कि इसीलिए मुझे नियुक्ति भी मिली। मैंने भारतीय एकता, इतिहास अध्ययन, मैजिनी का जीवनवृत्त, चैतन्य की जीवनी, उच्च अंग्रेजी शिक्षा आदि विषयों पर कलकत्ता, उत्तरपाड़ा, खिदरपुर और अन्य स्थानों पर भाषण दिये। वक्ता के रूप में उस समय मेरी बड़ी माँग थी।" उनके इस वक्तव्य से यह सिद्ध होता है कि पिछली शताब्दी के छठे और सातवें दशकों में प्यारेचरण सरकार के जिस नशाबन्दी आन्दोलन को विद्यासागर ने जोरों से फैलाया था, वह होनहार राष्ट्रवादियों के लिए प्रशिक्षण-केन्द्र बन गया था।

अब हम सहमति आयु-विधेयक (एज ऑफ कंसेंट बिल) का उल्लेख करें। 1890 में विधान परिषद में बाल-पत्नियों की आयु को लेकर भारतीय दण्ड संहिता तथा दण्ड-प्रक्रिया-संहिता की कुछ धाराओं में संशोधन के लिए एक विधेयक पेश किया गया। हर महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या की तरह इस पर भी सरकार ने विद्यासागर के विचार जानने चाहे। उस समय विद्यासागर गम्भीर रूप से बीमार होकर मृत्यु-शैया पर पड़े थे। परन्तु उनके भीतर समाज-सुधार तथा देश-कल्याण की तीव्र ज्योति जल रही थी। मृत्यु-शैया पर पड़े-पड़े ही उन्होंने इस विषय से सम्बन्धित शास्त्रों को देखा और 16 फरवरी, 1891 को अपने विचार सरकार के पास भेज दिये। उन्होंने विधेयक की कुछ प्रमुख धाराओं की आलोचना की, जो हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाजों के विरुद्ध थीं। फिर भी उन्होंने विधेयक के उक्त अंश को छोड़कर उसका समर्थन किया, क्योंकि इनका उद्देश्य बाल-पत्नियों को पर्याप्त संरक्षण प्रदान करना था। उन्होंने विधेयक की दण्डधारा का समर्थन किया, क्योंकि उनका विचार था कि 'नियम के उल्लंघन के लिए शास्त्रानुसार दण्ड-व्यवस्था आध्यात्मिक ढंग की है और उसकी उपेक्षा की जा सकती है। धार्मिक निषेध को यदि दण्डनीय कानून का रूप दे दिया जाये तो यह अधिक कारगर साबित होगा।'

सहमति आयु-विधेयक (एज ऑफ कंसेंट बिल) पर उनकी टिप्पणी की कुछ लोगों ने बड़ी गलत व्याख्याएँ की हैं और यह संकेत दिया है कि अपनी युवावस्था की तुलना में अपने जीवन के अन्तिम दिनों में विद्यासागर हिन्दू धर्म की रूढ़-परम्पराओं और रीति-रिवाजों के प्रति नरम हो गये थे और उन्होंने उनके प्रति विद्रोह का रुख छोड़ दिया था। इस महान् समाज-सुधारक के सामाजिक दृष्टिकोण को इस तरह

समझना बिल्कुल गलत है। यह बात भी बिल्कुल ठीक नहीं कि वह इन परम्परागत रूढ़-प्रथाओं और रीति-रिवाजों को इसलिए आदर और प्रेम की नजर से देखते थे कि हिन्दू जनता का इनसे विशेष मोह था। *तरुण डेरोजियनों* की तरह वह मूर्तिभंजक भी नहीं थे। जो परम्परागत बन्धन जब तक समाज के लिए अहितकर न हों, उन्हें वह तब तक तोड़ने के पक्ष में नहीं थे। वह यह बात भली-भाँति जानते थे कि प्रचलित हिन्दू विवाह-पद्धति को ज्यों-का-त्यों कायम रखने से कानूनी संरक्षण मिलने पर भी उनकी विधवा-विवाह योजना सफल नहीं हो पाएगी, पर जैसा कि पहले बताया जा चुका है, विधवा-विवाह के लिए कानून बनाते समय उन्होंने लोगों का यह सुझाव नामंजूर कर दिया था कि हिन्दू विवाह-पद्धति को करार-विवाह-पद्धति के रूप में बदल दिया जाये। यह ठीक है कि बालिकाओं के विवाह के बारे में सहमतिसूचक उम्र तय करने के प्रश्न पर वह ऐसा कानून बनाने के पक्ष में नहीं थे जिससे हिन्दू रीति-रिवाजों का उल्लंघन होता हो, पर उन्होंने ऐसी धार्मिक एवं शास्त्रीय निषेधाज्ञाओं के बजाय, जो व्यवहार में कतई कारगर नहीं थीं, नियम-उल्लंघन करने वालों के लिए दण्ड-कानून की धारा का जोरदार समर्थन किया। उन्होंने अपनी टिप्पणी की अन्तिम पक्ति में दण्डनीय कानून की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा, "मुझे जोर देकर इस विचार को प्रस्तुत करने की अनुमति दी जाये, जिससे सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो।"

उन्होंने भारत की अभागी बाल-पत्नियों की रक्षा के लिए सरकार के पास अपनी यह अन्तिम सिफारिश भेजी थी। कुछ महीनों बाद जुलाई, 1891 में विद्यासागर का देहान्त हो गया। अपने देश की स्त्रियों की भलाई के लिए मृत्यु-शैया से सहमति आयु विधेयक (एज ऑफ कंसेंट बिल) पर उन्होंने अपनी जो अन्तिम टिप्पणी भेजी थी, वह उनके चरित्र की द्योतक बन गयी थी। उनके लिए कोई और भी काम स्त्रियों की भलाई से बढ़कर श्रेष्ठ और प्यारा न था तथा गुलामी और उत्पीड़न ने उनकी मुक्ति के लिए उन्होंने जितना निडर होकर संघर्ष किया, उतना किसी और कार्य के लिए नहीं किया।

साहित्य और पत्रकारिता

विद्यासागर के सुधार-कार्यों के बाद अब उनके बंगला-साहित्य तथा पत्रकारिता की चर्चा करेंगे। इन क्षेत्रों में भी वह नयी उद्भावनाओं के प्रवर्तक थे। उन्होंने बंगला-साहित्य में मौलिक रूप से कुछ अधिक नहीं लिखा, पर वह आधुनिक बंगला गद्य के मुख्य निर्माताओं में थे। प्रत्यक्ष रूप से पत्रकारिता के क्षेत्र में वह कभी नहीं आये पर अपने समय की बंगला और अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं को सक्रिय सहयोग देते रहे थे। इन पत्र-पत्रिकाओं में बंगला का *सोम प्रकाश* और अंग्रेजी का *हिन्दू पैट्रिअट* सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। उन्होंने आधुनिक मुद्रणालय और मुद्रण में भी गहरी दिलचस्पी ली थी। बहुत-से लोग यह जानकर अचरज करेंगे कि इस महान् पण्डित ने प्रकाशक और मुद्रक की हैसियत से बंगला 'टाइपोग्राफी' और 'कम्पोजिंग' का आधुनिकीकरण किया था। इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने पुनर्जागरण काल के एक प्रतिभाशाली विद्वान के रूप में अपनी गुण-गरिमा का प्रदर्शन किया।

विद्यासागर की अधिकांश बंगला रचनाएँ या तो अनुवाद हैं, या छाया-रूपान्तर या पाठ्यपुस्तकें। इस प्रकार का काम उन्होंने खुद ही पसन्द किया था और इससे उनके लेखन का उद्देश्य प्रकट होता है। चूँकि विद्यासागर बंगला-गद्य के निर्माता थे, अतः स्वभावतः उनकी रुचि एक अविकसित और लिखित भाषा को समृद्ध करने के निमित्त सामग्री जुटाने की ओर रही। आधुनिक बंगला-साहित्य के जनक बंकिमचन्द्र चटर्जी ने बंगला भाषा और साहित्य के विकास में विद्यासागर के योगदान के सम्बन्ध में लिखा है (बंगला से अनूदित), "कहा जाता है कि आधुनिक बंगला-गद्य के प्रथम निर्माता राममोहन राय थे। राममोहन राय के बाद बोली जाने वाली भाषा से भिन्न-भिन्न रूपों में बंगला-गद्य का विकास होने लगा। कालान्तर में भाषा विकास की दो धाराएँ चलीं और इन दोनों धाराओं ने भिन्न-भिन्न नाम ग्रहण कर लिए। एक तो साधु या शुद्ध भाषा कहलाने लगी और दूसरी कथ्य या वाग्भाषा। साधु भाषा शुद्धतावादियों-या पण्डितों की भाषा बन गयी। इन पण्डितों की भाषा, स्पष्ट रूप से अधिक संस्कृतनिष्ठ हो गयी। पहले-पहल इसका व्यवहार पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और अक्षयकुमार दत्त ने किया। बंगाल के इन दो विद्वान लेखकों ने ही

पहले-पहल इसका आधुनिकीकरण किया। यद्यपि इनका गद्य संस्कृतनिष्ठ था, पर कठिन और दुर्बोध नहीं था, खासकर विद्यासागर ने बड़ी मधुर और आकर्षक भाषा लिखी। जहाँ तक मैं जानता हूँ, विद्यासागर के पहले और उनके बाद, ऐसी प्रभावपूर्ण ललित और आर्कषक बंगला-गद्य लिखने वाला कोई पैदा ही नहीं हुआ।"

अपने महान् पूर्ववर्ती की तुलना में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस सम्बन्ध में कहीं अधिक मुखर होकर विद्यासागर के प्रति अपनी श्रद्धांजिल अर्पित की है। अपने *विद्यासागर-चरित* में उन्होंने लिखा है—"विद्यासागर की सबसे बड़ी उपलब्धि है बंगला-भाषा। अगर कभी भी बंगला-भाषा, साहित्य और सौन्दर्य से सम्पन्न हुई और अगर कभी इसे उच्च विचारों के स्थायी स्रोत के रूप में दुनिया की अन्य भाषाओं से समान आदर प्राप्त हुआ, तो विद्यासागर की इस महान् उपलब्धि को ही गौरव प्राप्त होगा।

"विद्यासागर आधुनिक बंगला-गद्य के प्रथम मौलिक कलाकार थे। यह सही है कि उनके पहले ही बंगला-गद्य का साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हो गया था, वह पहले लेखक थे, जिन्होंने हमें बंगला-भाषा के कलात्मक प्रयोग का रास्ता दिखाया। उनसे पहले हमारी भाषा का कोई निश्चित रूप नहीं था और वह अनुशासनहीन भीड़ की तरह लेखकों के नियन्त्रण से बाहर थी। वह उसे नियन्त्रण में लाये। उन्होंने उसे उपयुक्त शब्द योजना से जोड़ा, शब्दों का विभिन्न रूपों में वर्गीकरण किया, उनके साथ भाव और ध्वनि का सम्बन्ध जोड़ा, उनकी गति को सहज-सरल-प्रवाहमय बनाया तथा उनकी उपयोगिता में काफी वृद्धि की। इस तरह उन्होंने भाषा को अनुशासनबद्ध किया। विद्यासागर के इस पथ-प्रदर्शन के बाद अब बंगला के अनेक साहित्य-सेनानी शब्दों की अनुशासित सेना लेकर ज्ञान के नये-नये समरांगणों में विजय प्राप्त करने में समर्थ हैं। लेकिन इन उद्‌भावनाओं का गौरव और श्रेय विद्यासागर को ही मिलना चाहिए जिन्होंने भाषा को कलाकारों के नियन्त्रण में लाकर इन्हें सम्भव बना दिया था।

"विद्यासागर पहले बंगला-गद्य लेखक थे, जिन्होंने बंगला-भाषा में विराम और अर्धविराम जैसे विरामचिह्नों को चलाया। जब ऐसे काम हुए, तभी भाषा के जीवन में एक नया युग प्रारम्भ हुआ क्योंकि वही भाषा पहले असम्बद्ध तथा मूक बेतुके शब्दों का समूहमात्र थी। पहले जो भाषा जड़ थी, वही अब चेतन और गतिशील बन गयी।

"विद्यासागर ने बंगला-गद्य को संस्कृत के प्रभावों से मुक्त किया। उपयुक्त उपसर्ग, प्रत्यय आदि जोड़कर तथा रचना और विन्यास का ढाँचा बदलकर शब्दों को नये और नये अर्थ प्रदान किये गये। एक नये प्रकार की वाक्य-रचना शुरू हुई। ऐसा लगा मानो जादू की तरह भाषा सभी प्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति में समर्थ हो गयी। इसकी उपयोगिता भी काफी बढ़ गयी। बोलचाल के अशुद्ध बंगला शब्दों का परिमार्जन किया गया और भाषा को संस्कृत की आलंकारिकता से मुक्त किया गया। उन्होंने वाक्य के शब्दों में ध्वनिसाम्य उपस्थित कर वाक्य को लयात्मक

और प्रभावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार बंगला-गद्य ललित तथा मनोरम हो गया और आधुनिक विचारों का उपयुक्त वाहन बन गया। विद्यासागर ने ही बंगला-भाषा को गँवारूपन, पण्डिताऊपन और भद्देपन के चंगुल से बचाया और वह समुन्नत होकर विश्व की सबसे सभ्य आर्य भाषाओं की बराबरी करने लगी। विद्यासागर के इस काम को उनकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों में गिना जा सकता है और इससे लोगों को सच्चे हृदय से इस दिशा में प्रयत्न करने की प्रेरणा मिल सकती है।"

इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक *जीवन-स्मृति* में लिखा है– "विद्यासागर ने एक बंगला शिशुबोध भी *वर्ण-परिचय* के नाम से 1855 में लिखा था। यह आधुनिक शिक्षा-पद्धति पर आधारित अपनी तरह की पहली बंगला पुस्तक थी। कहना तो यह चाहिए कि इस *वर्ण-परिचय* का लगभग एक सौ वर्ष तक बंगाल में बोलबाला रहा है। हर बंगाली बच्चे को अपने विद्यासागर से ही इसे पढ़ना पड़ता है। दो आने कीमत के इसके लेखक के रूप में और फिर समाज-सुधारक के रूप में विद्यासागर को बंगाल का हर आदमी जानता है।" *वर्ण-परिचय* के प्राथमिक पाठ के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने बचपन की अपनी प्रतिक्रिया लिखी है। उनका कहना है–

जल पढ़े
पाटा नढ़े

"यह मेरे लिए प्रथम कवि का प्रथम पद्य था। मैं तब तक *कर* और खल जैसे सरल वर्ण-विन्यास के सागर को पारकर किनारे आ चुका था। तभी मैंने *जल पड़े पाटा नढ़े* पढ़ा। अभी मुझे याद है कि इन लयात्मक शब्दों ने मेरे मन में खुशी की सिहरन पैदा की थी। अपने जीवन में एकदम पहली बार मुझे यह महसूस हुआ कि काव्य में इस प्रकार की लय की क्यों आवश्यकता पड़ती है। इस लय के कारण ही कवि का कथन उसके शब्दों के साथ समाप्त नहीं होता। शब्दों की गूँज मस्तिष्क पर प्रभाव डालती है। मैंने इन दो पक्तियों को पढ़ा था, तो मुझे एक अजीब अनुभव हुआ और अन्तःकरण में उनकी गुदगुदी महसूस हुई। मुझे अपने अन्दर इसका वातावरण महसूस हो रहा था और ऐसा लगा कि मानो मेरे इर्द-गिर्द वर्षा हो रही है और पेड़ों की पत्तियाँ सन-सन करती हुई संगीत की ध्वनि बिखेर रही हैं।"

सन् 1800 में फोर्ट विलियम कॉलेज के खुलने से ही आधुनिक बंगला-गद्य के प्रारम्भ की बुनियादें पड़ने लगी थीं। जो अंग्रेज अफसर भारत पर शासन करने को भेजे जाते थे, उन्हें इसी कॉलेज में बंगला-भाषा सीखनी पड़ती थी (क्योंकि उस समय ब्रिटिश शासन का प्रमुख केन्द्र बंगाल ही था) प्रख्यात ईसाई मिशनरी विलियम कैरी कॉलेज में बंगला-भाषा और साहित्य विभाग के अध्यक्ष थे। अतः उनकी मातहती में ही विदेशियों को बंगला सिखाने वाले पण्डितों की नियुक्तियाँ होती थीं। परन्तु उस समय प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्रों के लायक शायद ही कोई उपयोगी

पाठ्यपुस्तक थी। 1801 में विलियम कैरी ने श्रीरामपुर के डॉ. रिलैंड को लिखा कि उन्होंने राम बसु से एक राजा का इतिहास लिखवाया है (राजा प्रतापादित्य चरित्र)। उनके कथनानुसार "यह पुस्तक बंगला-भाषा की पहली गद्य पुस्तक थी।" इनके अतिरिक्त, मृत्युंजय विद्यालंकार, गोलोक नाथ शर्मा, तारिणीचरण मित्र और चण्डीचरण मुंशी जैसे बंगाली पण्डितों को भी कैरी की देखरेख में उपयुक्त बंगला पाठ्यपुस्तकें लिखने के लिए बुलाया गया था। गद्य-लेखन के इन प्रारम्भिक प्रयत्नों का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। वास्तविक साहित्यिक मूल्य की इनमें कोई भी रचना नहीं है। इस तरह का अधिकांश गद्य बोलचाल और पण्डिताऊ या संस्कृत भाषा का घुलामिला रूप है। केवल एक बंगाली पण्डित मृत्युंजय विद्यालंकार ही ऐसे थे, जिनका गद्य कुछ समय में आ सकता था, परन्तु उनमें ऐसी योग्यता नहीं थी कि वह बंगला-गद्य को आधुनिक विचारों का वाहक बना सकें।

यह काम राममोहन राय पर छोड़ दिया गया था। उनके हाथों बंगला-गद्य सामाजिक विवाद का हथियार बन गया था। वह मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना और हिन्दू विधवाओं की सती-प्रथा के रूढ़िवादी समर्थकों के साथ मुख्यतया बंगला-गद्य की सहायता से ही लोहा लेते रहे। कुछ विवादास्पद रचनाओं के अलावा, उन्होंने पहली बार संस्कृत उपनिषदों का बंगला में अनुवाद किया। इन प्रयत्नों के बावजूद वह गद्य की वाक्य-रचना और शब्दभण्डार को पूर्णतया नियन्त्रण में नहीं ला सके थे। उनकी रचनाओं में गति या लयात्मक गद्य का अभाव था। बाद में तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों में 'यंग बंगाल' दल के श्रद्धेय कृष्णमोहन बनर्जी तथा अन्य लोगों के हाथों बंगला गद्य की कोई खास प्रगति नहीं हुई और वह वहीं रुक गयी। अभी तक उसका स्तर उतना ही रहा जहाँ तक राजा राममोहन राय उसे ले आये थे। इसका कारण उनका अंग्रेजी परस्त दृष्टिकोण ही था। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में 'तत्त्वबोधिनी सभा' तथा 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के मैदान में आने के साथ ही चौथे दशक में पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और अक्षयकुमार दत्त जैसे महाप्राण व्यक्तियों ने प्रारम्भिक बंगला-गद्य के क्षेत्र में पदार्पण किया। इतिहास, दर्शन, धर्म, नीतिशास्त्र, विज्ञान, साहित्य, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र जैसे विविध विषयों में लेखन को प्रोत्साहन मिलने लगा और पत्रों में यह नियमित रूप से प्रकाशित होने लगा। ज्ञान के ऐसे अछूते क्षेत्रों में लेखन के इस साहसिक प्रयत्न से पिछली शताब्दी के चौथे एवं पाँचवें दशक में बंगला-गद्य के विकास को काफी बल मिला। तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के पहले सम्पादक अक्षयकुमार दत्त ने अपने सशक्त लेखन से बंगला गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, पर इस युग में इस क्षेत्र में सर्वोत्तम योगदान विद्यासागर का ही था।

चाहे विधवा-विवाह, बहुपत्नीत्व, बाल-विवाह आदि विषयों पर विवादपूर्ण रचनाएँ हों अथवा पाठ्यपुस्तकें, अनुवाद तथा छाया-रूपान्तर, इन सब में पण्डित

जी बंगला-गद्य को संस्कृत की रूढ़िवादिता तथा गँवारू भद्दपन से मुक्त कर सदैव ही उसके परिमार्जन और परिष्कार के काम में लगे रहते थे। चूँकि बंगला-गद्य के वह पहले सजग कलाकार थे, अतः वह बंगला-साहित्य के मौलिक कलाकारों और वैज्ञानिकों के लिए इसे अभिव्यक्ति का सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम बनाने के अपने ऐतिहासिक दायित्व को कभी नहीं भूलते थे। उनके बाद बंकिमचन्द्र और 'बंगदर्शन' मैदान में आये। विद्यासागर की रचनाओं से बंगला-गद्य को आवश्यक शक्ति मिली। उसके साथ-साथ बंकिमचन्द्र जी के 'बंगदर्शन' तथा उनकी रचनाओं से यह और अधिक पुष्ट हुआ। बाद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 19वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी तक अपनी ओजपूर्ण लेखनी से उसे अधिक सशक्त और समृद्ध किया।

विद्यासागर कभी भी पेशेवर पत्रकार नहीं रहे। लेकिन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में वह अनेक पत्र-पत्रिकाओं से सम्बद्ध रहे। इनमें 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका', 'सोम प्रकाश', 'हिन्दू पैट्रिअट' और 'सर्वशुभकारी पत्रिका' प्रमुख थीं। 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' और 'सोम प्रकाश' उस समय की बंगला पत्र-पत्रिकाओं में सबसे अधिक प्रभावशाली थे और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन दोनों का बंगला-साहित्य के रंगमंच पर बोलबाला रहा था। 'सर्वशुभकारी' यद्यपि सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पत्र था, पर वह कुछ ही महीनों तक चल सका। 'हिन्दू पैट्रिअट' एक अंग्रेजी पत्र और तत्कालीन शिक्षित बंगालियों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पत्र था। इसके सम्पादक नील-खेती-विरोधी आन्दोलन में भाग लेने वाले हरिश्चन्द्र मुखर्जी और प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता कृष्टोदास पाल थे। इस पत्र पर जब गम्भीर संकट आया, तो इसका संचालन विद्यासागर को सौंप दिया गया। इससे पत्रकारिता के क्षेत्र में विद्यासागर के प्रयत्नों और सम्बन्धों का पता चलता है।

सन् 1843 में 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' के प्रारम्भ से अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक विद्यासागर का उससे बड़ा गहरा सम्बन्ध रहा। वह 'पत्र समिति' के सदस्य थे। यह 'पत्र समिति' एक प्रकार से सम्पादक-मण्डल का ही कार्य करती थी, क्योंकि इसे पत्र के लिए लेख और रचनाएँ चुनने और सम्पादित करने का एकमात्र अधिकार प्राप्त था, चाहे वे रचनाएँ सम्पादक की ही क्यों न हों। पहला सम्पादक होने के नाते, इस समिति में अक्षयकुमार को विद्यासागर के निकट सम्पर्क में आने का और उनसे अपनी गद्य नियमित रूप से सम्पादित करवाने का अवसर मिला। तत्त्वबोधिनी पत्रिका' को विद्यासागर का योगदान दो रूप में मिला। एक तो खुद उनकी रचनाएँ उसमें छपती थीं और दूसरे, सम्पादक पर उनका बड़ा भारी प्रभाव था। कालान्तर में अक्षयकुमार इस क्षेत्र में विद्यासागर के महान् प्रतिद्वन्द्वी बन गये और बंगला-साहित्य के हित के लिए विद्यासागर ने दूसरों की अपेक्षा इस तथ्य का सबसे अधिक स्वागत किया था।

अपने मित्र पण्डित मदनमोहन तर्कालंकार के सहयोग से विद्यासागर ने अगस्त,

1850 में बंगला में 'सर्वशुभकारी पत्रिका' निकाली। यद्यपि इसके सम्पादक मतिलाल चट्टोपाध्याय थे पर ये दोनों पण्डित ही इसके असली कर्ताधर्ता थे। पत्रिका में प्रकाशित विषय-सामग्री से पता चलता है कि विद्यासागर ने समाज-सुधार के निमित्त ही इस पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया था। इसके कुछ ही अंक निकल पाये थे कि साल-भर के अन्दर ही इसका प्रकाशन बन्द हो गया। अपने अल्प जीवन के बावजूद सामाजिक तथा शैक्षिक सुधार पर बल देने के कारण इस पत्रिका ने बंगला-पत्रकारिता में अपना स्थान बना लिया था।

इस क्षेत्र में उनका दूसरा प्रयास था 'सोम प्रकाश' जिसका प्रकाशन 1858 में शुरू हुआ। इसके सम्पादक उनके मित्र तथा सहयोगी पण्डित द्वारकानाथ विद्याभूषण थे। पहले पहल इसे विद्यासागर ने ही चालू किया था और ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि इसका पहला अंक सम्पूर्ण रूप में विद्यासागर ने ही लिखा था।[1] कुछ दिनों के बाद वह बीमार पड़ गये, जिससे इसके प्रबन्ध का भार द्वारकानाथ को सौंप दिया गया। विद्यासागर के सहयोग व समर्थन से इस पत्र का बंगला के समाचार-पत्रों में सर्वप्रमुख स्थान बन गया था। 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' का दायरा बड़ा सीमित था और खासकर धार्मिक दृष्टि से यह ब्रह्म-समाज से सम्बद्ध थी, अतः इसमें छपी अधिकांश रचनाएँ धार्मिक हुआ करती थीं। 'सोम प्रकाश' का दायरा बड़ा विशाल था और इस तरह की कोई सीमा उस पर लागू नहीं थी, अतः यह तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याओं के बारे में बड़े साहस और स्वतन्त्रतापूर्वक लिखे लेख छापा करता था। इसीलिए यह बंगला की सामाजिक-राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में बड़ा सफल पत्र साबित हुआ।

शिक्षित बंगाली जनसमुदाय के अंग्रेजी मुखपत्र के रूप में 'हिन्दू पैट्रिअट' को अद्वितीय प्रतिष्ठा प्राप्त थी और उस समय के सभी वर्गों के लोगों पर इसका बड़ा प्रभाव था। बड़े सरकारी अफसर से लेकर साधारण अंग्रेजी पढ़े बंगाली क्लर्क तक इसे बड़ी दिलचस्पी से पढ़ते थे और इसके विचार को मूल्यवान समझते थे। यद्यपि इसने लगातार अंग्रेज शासक और भारतीय प्रजा, जमींदार और रैयत, सबके बीच सम्बन्ध के बारे में मध्यवर्ग के विचारों का ही प्रचार किया, पर इसके बावजूद, इसने शिक्षित मध्यवर्ग को अपनी शिकायतें प्रकट करने तथा विशेष अधिकार प्राप्त करने की अपनी माँगों की वकालत करने के लिए एक मंच प्रदान किया। फलतः इससे बंगाल के मध्यवर्ग, खासकर शिक्षित समुदाय में राजनीतिक चेतना का काफी प्रसार हुआ।

बंगाल अण्डर द लेफ्टिनेण्ट गवर्नर्स नामक अपनी पुस्तक में सी.ई. बकलैंड ने विद्यासागर के 'हिन्दू पैट्रिअट' से सम्बन्ध के बारे में लिखा है—"14 जून, 1861 को जब 'हिन्दू पैट्रिअट' के संस्थापक श्री हरिश्चन्द्र मुखर्जी का देहान्त हो गया, तो

1. हिन्दू पैट्रिअट, 1 जनवरी, 1865

इसके नये संचालक बाबू कालिप्रसन्न सिन्हा ने इसे कुछ दिनों तक घाटे पर चलाने के बाद विद्यासागर के हवाले कर दिया। विद्यासागर ने 1861 में कृष्टोदास पाल को सम्पादकीय कार्यभार सौंपने के लिए बुलवाया और बाद में जुलाई, 1862 में यह पत्र ट्रस्टियों की एक समिति को सौंप दिया। समिति ने उसका प्रबन्ध कृष्टोदास पाल पर छोड़ दिया। इस तरह 1861 से लेकर अपने देहान्त तक वही इसके प्रबन्धक बने रहे और अपने प्रबन्ध काल में उन्होंने पत्र को ऊँचा उठाया और आर्थिक दृष्टि से समृद्ध किया।"

विद्यासागर का कालिप्रसन्न सिन्हा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। 'हिन्दू पैट्रिअट' के संस्थापक-सम्पादक हरिश्चन्द्र के प्रति उनके मन में प्रेम और सम्मान का भाव था। जब विद्यासागर पर पत्र का भार सौंपा गया, तो वह एक ऐसे प्रतिभाशाली युवक की खोज में थे, जिस पर पत्र का सम्पादकीय दायित्व सौंपा जा सके। उस समय कृष्टोदास पाल ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के कार्यालय में क्लर्क थे। वह पण्डित जी की निगाह में चढ़ गये और इस पद के लिए चुन लिए गये। उन्होंने बड़ी तेजी से ख्याति प्राप्त की। हम निश्चित रूप से नहीं जानते कि कृष्टोदास पाल को सम्पादक चुनते समय विद्यासागर के मन में पत्र को क्या कोई निश्चित सैद्धान्तिक स्वरूप देने की इच्छा थी। जिन परिस्थितियों में उन्होंने युवक क्लर्क कृष्टोदास पाल को चुना था, उनसे यह जाहिर होता है कि उनके मन में एक युवक के हाथों पत्र सौंपकर अपनी देखभाल में पत्र को सामाजिक-राजनीतिक भूमिका अदा करने में समर्थ बनाने का विचार था। पर जिस व्यक्ति को चुना गया, वह धीरे-धीरे ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के उच्च वर्ग की नर्म राजनीति के निकट आता गया। इससे पत्र के भविष्य के बारे में विद्यासागर की आँखें खुल गयीं और उन्होंने ट्रस्टियों की एक समिति के हाथों इसका प्रबन्ध सौंपने का निश्चय किया।

संक्षेप में, बंगाल की पत्रकारिता के विकास में विद्यासागर का यही योगदान था। पेशेवर पत्रकार न होने और मंच पर प्रत्यक्ष भूमिका अदा न करने के बावजूद, विद्यासागर ने बंगाल में बंगला और अंग्रेजी पत्रकारिता के हित में अद्वितीय कार्य किया। 19वीं शताब्दी की बंगला पत्रिकाओं 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' और 'सोम प्रकाश' ने विद्यासागर की बहुमुखी प्रतिभा के कारण ही ख्याति और प्रभाव प्राप्त किया था। कुछ काल तक, अंग्रेजी पत्र 'हिन्दू पैट्रिअट' का अस्तित्व, जिसका बंगाली मध्यवर्ग के शिक्षित समुदाय पर गहरा प्रभाव था, केवल विद्यासागर की उदारता के कारण ही कायम रहा था और इसके पुनर्जीवन के पीछे उनकी ही दृष्टि कार्य कर रही थी।

अब हम अपेक्षतया कम ज्ञात, किन्तु विद्यासागर की अधिक महत्त्वपूर्ण सेवा का उल्लेख करें। उनकी यह सेवा आधुनिक ज्ञान, विज्ञान और मुद्रण तथा प्रकाशन-कला के क्षेत्र में थी। सच्चे पुनर्जागरणकालीन मानवतावादी विद्वान के रूप में विद्यासागर ने संस्कृत के गौरव ग्रन्थों में गहरी अभिरुचि ली। उन्होंने खोई हुई पुरानी संस्कृत

पाण्डुलिपियों को ढुँढ़वाने के प्रयत्न किये और उनकी नकल करवाई। इसके अलावा, उन्होंने आधुनिक ज्ञान के प्रयास के अस्त्र के रूप में आधुनिक मुद्रण तथा प्रकाशन की कारीगरी (टेकनीक) में भी गहरी दिलचस्पी ली। वह महान् पण्डित, समाज-सुधारक पथ-प्रदर्शक, मुद्रक और प्रकाशक भी थे।

पण्डित मदनमोहन तर्कालंकार के साथ 1847 में एक मित्र से 600 रुपये उधार लेकर कलकत्ता में उन्होंने संस्कृत प्रेस की स्थापना की। चूँकि वह खुद भी लेखक थे, अतः उन्होंने अपनी पुस्तकें प्रकाशित करना शुरू किया और अपने कुछ मित्रों की पुस्तकें भी प्रकाशित की थीं। संस्कृत प्रेस के प्रकाशनों को बेचने के लिए उन्होंने किताब की एक दुकान भी खोली, जिसमें बहुत जल्दी ही काफी मुनाफा मिलने लगा। न केवल प्रकाशन गृह और पुस्तक की दुकान ही, बल्कि संस्कृत प्रेस भी कलकत्ता का प्रमुख व्यापारिक संस्थान बन गया। सार्वजनिक सेवा-कार्य से अवकाश ग्रहण करने के बाद विद्यासागर को मुद्रणालय और प्रकाशन से ही अपनी जीविका चलाने को बाध्य होना पड़ा था।

इतना ही नहीं, मुद्रण की कारीगरी में भी उनकी दिलचस्पी थी। बंगाल में जब छपाई और टाइपोग्राफी की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं तो विद्यासागर को उनका सामना करना पड़ा था और उसी से उनकी मुद्रण कला की कारीगरी में दिलचस्पी बढ़ी थी। समस्या थी कि प्रेस में अनेकानेक पृथक बंगला टाइपों के रखने-रखाने खासकर टाइप केस में टाइपों के रखने और कम्पोजिंग में उन्हें सजाने की व्यवस्था कैसे सरल और वैज्ञानिक बनाई जाये। 'बंगाल कम्पोजिंग' में टाइप सजाने के लिए पाँच सौ बक्सों की जरूरत पड़ती थी। विद्यासागर ने बंगला-छपाई और टाइपोग्राफी की इस जटिलता को सरल बनाने में काफी परिश्रम किया। बंगला प्रेस के कर्मचारियों ने बंगला छपाई के टाइपों की सरल व्यवस्था को *विद्यासागर शाट* नाम दिया और इसे मुद्रण शिल्प के क्षेत्र में विद्यासागर का उस समय बड़ा भारी तकनीकी योगदान माना गया।

संस्मरण

विद्यासागर जिस पद पर और जिस स्वभाव के व्यक्ति थे, उसे देखते हुए उनके बारे में जो अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं, उन पर अचरज नहीं होता, क्योंकि तब तक कहानी-किस्सा सुनाने का रिवाज किसी-न-किसी रूप में मौजूद था। इन कहानियों में से कुछ काल्पनिक भी हो सकती हैं और कुछ सच्ची भी। यहाँ जिन किस्सों का जिक्र किया जा रहा है, उनमें अधिकतर सच्चे हैं और उनसे कुछ मनोरंजन भी होता है। लेकिन विद्यासागर का व्यक्तित्व इन किस्सों में जितना अधिक उभरा है उतना और कहीं नहीं।

पहले हम उन चट्टियों (बंगाली चप्पलों की जोड़ी) के बारे में एक-दो किस्से सुनाएँ, जिन्हें विद्यासागर, सभी अवसरों पर पहने रहते थे। एक बार इस बारे में प्रेसिडेंसी कॉलेज के अंग्रेज प्रिंसिपल कैर के साथ उनकी बड़ी मजेदार तू-तू-मैं-मैं हुई और उन्होंने उसे खूब अच्छा सबक सिखाया था। उस समय विद्यासागर संस्कृत कॉलेज के आचार्य (प्रिंसिपल) थे और किसी काम के सिलसिले में बात करने कैर के पास गये थे। जब वह उनके कमरे में पहुँचे, तो प्रिंसिपल महोदय उनका स्वागत करने के लिए कुर्सी छोड़कर खड़े नहीं हुए बल्कि मेज पर अपने जूतों समेत पैर फैलाए बैठे रहे। उन्होंने विद्यासागर को बैठाने की शिष्टता भी नहीं बरती। विद्यासागर उनसे जल्दी ही अपनी बातचीत खत्म करके अपने कॉलेज वापस लौट आये। इसके बाद, उस विषय पर विचार-विमर्श करने के लिए कैर को उनके कॉलेज आना पड़ा। जब कैर उनके कमरे में आये, तो विद्यासागर चट्टी पहने मेज पर पाँव फैलाए बैठे रहे। प्रिंसिपल कैर को बैठने के लिए कुर्सी भी नहीं दी। पण्डित और वह भी एक हिन्दुस्तानी पण्डित का यह बर्ताव अंग्रेज शासक वर्ग के सदस्य कैर को बड़ा ही अखरा और अपमानजनक लगा। गुस्से में भरकर वह कमरे से बाहर निकला और इस बंगाली की बदतमीजी की शिकायत करते हुए उन्होंने शिक्षा परिषद के सचिव को एक खत लिख भेजा। डॉ. मुआट ने, जो उस समय शिक्षा परिषद के सचिव थे, शिकायत का खत देखते ही असलियत को भाँप लिया क्योंकि वह पण्डित जी को बहुत नजदीक से जानते थे। उन्होंने बिना कोई जवाब-तलब किये रस्मी तौर पर

पण्डित जी से इस बाबत पूछताछ की। जवाब में विद्यासागर ने लिखा—"मैं ठहरा एक अदना-सा हिन्दुस्तानी। यूरोप के तौर-तरीके भला मैं क्या जानूँ। कुछ दिन हुए, मैं मिस्टर कैर से मिलने गया था तो मैंने मिस्टर कैर को हू-ब-हू उसी ढंग से बैठा देखा और वह मुझसे बैठने के लिए कहे बगैर बातचीत करते रहे। पहले तो मुझे बड़ी हैरत हुई, लेकिन फिर मैंने सोचा कि यूरोप में शायद शिष्टाचार का यही ढंग हो। लिहाजा, मैंने सोचा कि हम जैसे अर्ध-सभ्य लोगों को भी शिष्टाचार के ढंग का अनुकरण करना चाहिए। जब वह मेरे वहाँ आये, तो मैं भी उन्हीं की भाँति शिष्टता से पेश आया, उन्हें नाराज करने का मेरा कोई इरादा नहीं था।" डॉ. मुआट सारी बात समझ गये और उन्होंने मामले को रफा-दफा करना ही ठीक समझा।

एक और किस्सा ऐसा है जिस पर गरमागरमी हुई और वह किस्सा भी विद्यासागर की चट्टियों के बारे में ही है। 1874 की बात है, विद्यासागर को एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय और भारतीय संग्रहालय का मुआयना करने के लिए निमन्त्रित किया गया। ये दोनों संस्थाएँ एक ही इमारत में थीं। विद्यासागर के साथ वाराणसी से आये प्रसिद्ध हिन्दी कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी सोसाइटी और संग्रहालय देखने गये। पण्डित जी अपनी खास पोशाक धोती और चादर में थे और पैरों में देशी चप्पलें पहन रखी थीं। उनके मित्र हरिश्चन्द्र ने चोगा-अचकन-पगड़ी वाली खास हिन्दुस्तानी पोशाक पहन रखी थी। लेकिन सौभाग्य से उनके पैर में अंग्रेजी फैशन के जूते थे। जब सोसाइटी की इमारत के दरवाजे पर पहुँचे, तो द्वारपाल ने विद्यासागर को कमरे के बाहर रोक दिया और उनसे चप्पल बाहर ही उतार देने के लिए कहा। मगर, अंग्रेजी ढंग के जूते पहने रहने के कारण उनके साथी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अन्दर जाने की इजाजत दे दी। विद्यासागर फौरन घर लौट गये। उनके मित्र भी इस अपमान को सहन न कर सके और उनके साथ ही लौट आये। घर लौटकर विद्यासागर ने भारतीय संग्रहालय के ट्रस्टियों के अवैतनिक सचिव, एच.एफ. ब्लैनफर्ड को यह खत लिखा—"पिछली 28 जनवरी, 1874 को मुझे 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' का पुस्तकालय देखने के लिए निमन्त्रित किया गया था, पर चूँकि मैं हिन्दुस्तानी चप्पल पहने हुए था, इसलिए चप्पल उतारे बिना मुझे अन्दर दाखिल होने की इजाजत नहीं दी गयी। इस तौहीन को मैं बर्दाश्त न कर सका और बिना पुस्तकालय देखे वापस लौट आया।

"जब मैं अहाते में था तो मैंने देखा कि कुछ देशी लोगों से जिन्होंने देशी चप्पले पहन रखी थीं, न सिर्फ उनकी चप्पलें उतरवा ली गयी थीं, बल्कि उन्हें अपनी चप्पलें अपने हाथों में उठाकर चलना पड़ा। मेंने वहाँ कुछ लोग ऐसे भी देखे थे, जो जूते पहने संग्रहालय के कमरों में घूम रहे थे...पर मेरी समझ में यह नहीं आता कि अगर अंग्रेजी फैशन के जूते पहने लोग, चाहे वे पैदल ही क्यों न आयें, बिना जूता उतारे अन्दर दाखिल हो सकते हैं, तो उसी स्तर के और उन्हीं

हालतों में रहने वाले लोगों को सिर्फ इसलिए अन्दर क्यों नहीं घुसने दिया जाता कि वे देशी जूते पहने हैं।"

मिस्टर ब्लैनफर्ड विवाद से बचने के लिए मामले को रफा-दफा कर देना चाहते थे, लेकिन इस घटना ने बड़ा तूल पकड़ा और समाचार-पत्रों ने इसमें खूब दिलचस्पी ली, यहाँ तक कि अंग्रेजी अखबारों ने भी सोसाइटी के अधिकारियों के इस रवैये की निन्दा की। यहाँ हम इस प्रसिद्ध *चप्पल-काण्ड* के बारे में 'इंग्लिश मैन' की कुछ पंक्तियाँ दे रहे है—"हम समझते हैं कि यह चप्पल-समस्या फिर से उभर आयी है और बंगाल एशियाटिक सोसाइटी जैसी संस्था की परिषद का ध्यान खींच रही है। विद्वत्ता, नम्रता और विविध गुणों के आगार पण्डित विद्यासागर ने, जिन्होंने अपने देशवासियों की अमूल्य सेवा की है और जिनका यश एशिया के बाहर भी दूर-दूर तक फैला हुआ है, यह शिकायत की है कि उन्हें देशी जूते पहनने के कारण एशियाटिक सोसाइटी के अन्दर नहीं घुसने दिया गया। उनकी इस शिकायत के सम्बन्ध में परिषद के अधिकारी बड़ी पसोपेश में थे और समझ नहीं पा रहे थे कि उन्हें क्या करना चाहिए। हमारी नजर में जोन्स और कोल ब्रुक के उत्तराधिकारियों के लिए गौरवपूर्ण और उचित रास्ता यही है कि वे ऐसे तुच्छ नियम को हटा दें जिससे सोसाइटी की उपयोगिता को आघात पहुँचता है, पण्डित विद्यासागर सरीखे व्यक्ति वहाँ जाने में हतोत्साहित होते हैं और इससे यूरोप के लोगों की हँसी-मजाक का विषय बनाता है।... पर अगर चमड़े के प्रति आदर का भाव होना जरूरी ही है तब तो उसके रूप और आकार-प्रकार के भी कोई माने नहीं होते, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो। हमें आशा है कि एशियाटिक सोसाइटी की परिषद और संग्रहालय के ट्रस्टियों को अवश्य ही सुबुद्धि आयेगी और वे भारत के लोगों को यह महसूस नहीं होने देंगे कि उनके कमरों में जाना अपमान कराना है।"

विद्यासागर के जूते क्या थे, पुराने जमाने से चली आ रही चप्पलें थीं। जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है, वे चप्पलें उनके दृढ़ व्यक्तित्व की प्रतीक थीं। विद्यासागर के परवर्ती युग के महान् ब्रह्मसमाजी नेता शिवनाथ शास्त्री ने अपने संस्मरण में चट्टी के सम्बन्ध में एक और भी लघुकथा का उल्लेख किया है। विद्यासागर के हृदय में शिवनाथ शास्त्री के प्रति बड़ी सहृदयता का भाव था और वह उनके बड़े स्नेहपात्र थे। एक दिन शिवनाथ शास्त्री ने उनकी चट्टी का प्रसंग छेड़ दिया और उससे सम्बद्ध घटनाओं का जिक्र करने लगे। थोड़े से वाद-विवाद के पश्चात विद्यासागर ने शान्त भाव से कहा, "हाँ, हाँ, मेरे प्यारे दोस्त, यह हमारे देश में बनी चप्पल है और इसे पहनने का मुझे बड़ा गर्व है। तुम जानते ही हो कि इसमें बड़ा नैतिक बल है। अगर ऐसी स्थिति आयी तो मैं यही चप्पल बड़े-बड़े राजाओं के मुँह पर मार सकता हूँ।" शिवनाथ शास्त्री ने अपनी इस प्रतिक्रिया के साथ इस प्रसंग को समाप्त किया "उस समय मैंने जैसा अनुभव किया, वही अब भी कर

रहा हूँ कि उन्होंने जो कुछ भी कहा, वह एकदम सही था। उच्च मानसिक शक्ति, नैतिक साहस और विशाल व्यक्तित्व वाले इस महापुरुष के समक्ष राजा-महाराजा सचमुच तुच्छ मालूम पड़ते थे।"

यह किस्सा रूढ़िवादी हिन्दुत्व और मजहब के प्रति उनके दृष्टिकोण के बारे में है और शिवनाथ शास्त्री की पुस्तक से उद्धृत किया गया है। वह लिखते हैं—ब्रह्मसमाज में सम्मिलित होने के कुछ ही वर्षों बाद मेरे पिता गाँव छोड़कर बनारस चले गये और अपने जीवन के शेष वर्षों तक वहीं रहे। विद्यासागर महाशय को उनका बनारस जाना पसन्द नहीं आया और यह निम्नलिखित घटना से जाहिर भी होता है। बनारस-प्रवास के दिनों मेरे पिता एक बार कलकत्ता आये और मेरे मित्र पण्डित विद्यासागर से मुलाकात करने उनके घर गये। विद्यासागर ने मेरे धर्म-निष्ठ पिता पर बनारस रहने की बात को लेकर व्यंग्य भी किया। उस अवसर पर मौजूद एक तीसरे व्यक्ति से मुझे दोनों की बातचीत का पता चला जो इस प्रकार थी, "हाराण, तुम तो बनारस जाकर बस गये हो न, लेकिन क्या तुमने गाँजा पीना सीखा है?" विद्यासागर ने पूछा।

"बनारस रहने और गाँजा पीने में क्या सम्बन्ध है?" मेरे पिता ने कहा।

"क्या तुम इस अन्धविश्वास से अवगत नहीं हो कि जो बनारस में मरता है, वह साक्षात भगवान शिव रूप हो जाता है? परन्तु शिव तो पक्के गाँजा-पियक्कड़ हैं। क्या यह बुद्धिमानी नहीं है कि तुम भी गाँजा पीने की आदत डाल लो? नहीं तो फिर यह प्रथम प्रयोग तुम्हारे लिए कठिन परीक्षा बन सकता है।" विद्यासागर ने कहा।

पण्डित शिवनाथ शास्त्री आगे लिखते हैं—"ब्रह्मसमाज में सम्मिलित होने के तुरन्त बाद मेरे पिता ने मुझे, मेरी पत्नी और मेरी बच्ची को घर से निकाल दिया और मैं सपरिवार कलकत्ता आकर रहने लगा। विद्यासागर महाशय ने मेरी ओर से आँख ओझल नहीं की, बल्कि मेरे बारे में वह पूछताछ करते रहे और मुझे यथोचित परामर्श भी देते रहे।"

धर्म के प्रति उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण की एक कहानी और भी है। जब शिवनाथ लड़के ही थे तो एक बार वह अपने कुछ युवक दोस्तों के साथ अपने एक बीमार साथी के घर गये। वहीं उनकी मुलाकात विद्यासागर से हुई। इस साक्षात्कार के सम्बन्ध में शिवनाथ ने अपनी पुस्तक *मैन आई हैव सीन* में लिखा है—गली की तरफ खुले बरामदे में बैठना ठीक समझकर हम सब लोग वहीं बैठ गये। तब तक विद्यासागर भी वहाँ आ पहुँचे। चूँकि वह जन्म से ही मिलनसार प्रकृति के थे, अतः हम सब को देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने हमसे तब तक वहीं बैठे रहने के लिए कहा जब तक वह बीमार को कुछ खिला-पिलाकर लौटे नहीं। हम सब उनके कहने के मुताबिक वहीं रुके रहे। आते ही उन्होंने ऐसी कहानियाँ सुनानी शुरू कीं, जिनसे हम सब हँसी के मारे लोट-पोट होते रहे। अन्त में उन्होंने अपने मित्र से चावल के कुछ मुरमुरे खरीदवाकर मँगवाये। अकसर इसे बंगाल के गरीब लोग खाते

हैं। जब मुरमुरे आये तो उन्होंने हम सबसे खाने का अनुरोध किया और खुद भी खाना शुरू किया। यह कुछ अजीब-सा लगा कि गली के पास के एक बरामदे में बैठकर विद्यासागर मुरमुरे चबा रहे थे। उसी वक्त मेरा एक परिचित आया, जो ईसाई धर्म का प्रचारक था। वह मुझे मुरमुरे चबाते देखकर अचरज में पड़ गया और मेरी मुक्ति के सम्बन्ध में मुझसे पूछताछ करने लगा। उसने मुझसे कहा कि इस ब्रह्मवाद से काम नहीं चलने का और तुम अधर में आकर ही रुक गये हो। उसकी इन बातों से पण्डित विद्यासागर का मनोविनोद हो रहा था और वह उसका मजाक उड़ाना चाहते थे। उस ईसाई सज्जन ने पण्डित जी को कभी नहीं देखा था, अन्यथा वह पण्डित जी को अवश्य ही अधिक आदर की दृष्टि से देखता। पण्डित जी ने कहा, "महाशय, इन युवकों को अभी रहने दीजिए, क्योंकि मुक्ति के सम्बन्ध में सोचने के लिए उनकी तो अभी सारी उम्र पड़ी हुई है, हम बूढ़े-खुर्राटों के पास आओ, जो अब इस संसार से कूच करने ही वाले हैं।" जिस तरह की भाषा में पण्डित जी ने उस ईसाई प्रचारक को निमन्त्रित किया, उससे उसे समझ लेना चाहिए था कि निमन्त्रण किस भाव से दिया गया है। लेकिन उसने समझा ही नहीं। पूरे उत्साह से वह पण्डित जी के पास आया और उसने अपना प्रवचन शुरू कर दिया। विद्यासागर ने कुछ देर तक तो उसकी बातों में बड़ा रस लिया और बाद में उस पर मजाक-भरे चुटकुले कसने शुरू कर दिये। उनकी बातचीत के तौर-तरीके से वह समझ गया कि यहाँ उसकी दाल नहीं गलने की। वह गुस्से में यह कहते हुए चला गया, "मूढ़-पापी, हमारी बात को तो समझता नहीं, उसकी खिल्ली उड़ाता है। जा, तुझे हमेशा नरक में ही सड़ना होगा।" उसके चले जाने के बाद उसकी बातों पर बड़ा हँसी-मजाक हुआ और लोग हँसी के मारे लोट-पोट हो गये। पण्डित जी ने मुझसे कहा, "तुम उसे मेरा नाम कभी मत बताना, क्योंकि अगर तुमने कभी उसे मेरा नाम बता दिया तो बेचारे के दिल पर और भी सदमा पहुँचेगा। मैं मौके-बे-मौके प्रचार करने की इन लोगों की आदत का कुछ मजाक उड़ाना चाहता था।"

राजा राममोहन राय के बड़े बेटे राधाप्रसाद राय के पोते का नाम ललित मोहन चटर्जी था। वह कुछ अजीब किस्म के थे और उन पर बड़ी जल्दी सभी प्रकार के आध्यात्मिक और देवी विश्वासों का रंग सवार हो जाता था। विद्यासागर बड़े निकट से ललित मोहन को जानते थे। उन्होंने कभी भी किसी को यहाँ तक कि अपने घनिष्ठ मित्रों से भी धर्म और ईश्वर के बारे में अपने विचार प्रकट नहीं किये। निश्चित रूप से कोई भी नहीं जानता था कि धर्म और ईश्वर के बाद में उनके क्या विचार थे। वह प्रायः हमेशा इस विवाद से बचे रहना ही पसन्द करते थे। तब उन्होंने देखा कि ललित मोहन निस्सहाय-सा अनेक तरह के दैवी विश्वासों की ओर भटक रहा है, तो वह एक दिन बड़े स्नेह के साथ बोले, "ललित! क्या तुम सचमुच यह विश्वास करते हो कि मरने के बाद भी जीवन का अस्तित्व है। हम इस दुनिया

में अपने मौजूदा जीवन के बारे में भी कुछ ज्यादा नहीं जानते। तुम सचमुच ही बड़े भाग्यशाली हो, क्योंकि वर्तमान जीवन के बारे में जानने के अलावा मृत्यु के बाद के जीवन में तुम्हारी जानकारी है। क्या तुम मुझे भी इस बारे में कुछ बता सकते हो?" ललित मोहन के मन में पण्डित जी के प्रति पितृवत व श्रद्धा की भावना थी। अतः वह उनके सामने कुछ अललटप्प बातें करने लगा। विद्यासागर ने उसे शाबाशी दी और कहा, "ललित! तुम मेरी बात का बुरा न मानो। मैं तुम्हारे इस प्रयास में तुम्हारी सफलता की कामना करता हूँ। पर तुम मुझे यह बताओ कि क्या मृत्यु के बाद मेरा भी दूसरा जीवन होगा और अगर होगा तो वह किस प्रकार का होगा!" इस पर ललित ने उत्तर दिया, "हाँ दादू, हर आदमी की तरह मृत्यु के बाद आपका भी दूसरा जीवन होगा। यह तो कल्पना ही नहीं की जा सकती कि आपने मानवता की जितनी सेवा की है, उसे देखते हुए आपको मृत्यु के बाद अच्छा पुनर्जन्म न मिले। आखिर लोगों के लिए आपने इतनी तकलीफें झेली हैं और दूसरे जन्म में आपको इसका समुचित पुरस्कार भी मिलेगा ही।" विद्यासागर सहसा हँस पड़े और बोले, "अगर यह कथन मजाकिया नहीं, तो बढ़िया और मक्खनबाजी का नमूना तो है ही। मुझ बुड्ढे आदमी के लिए तो यह बड़ी तसल्ली की बात है कि दूसरे जन्म में मुझे अपने कर्मों का फल मिलेगा।"

रामप्रसाद राय राजा राममोहन राय के सबसे छोटे पुत्र थे। विद्यासागर और रामप्रसाद राय बड़े गहरे मित्र थे, पर दुर्भाग्यवश दोनों के बीच विधवा-विवाह को लेकर कुछ गलतफहमी पैदा हो गयी थी। कहा जाता है कि 26 जुलाई, 1856 को जब अधिनियम पास हो गया तो पहले विधवा-विवाह के समारोह में रामप्रसाद राय शरीक होना नहीं चाहते थे। विवाह के कुछ दिनों पहले विद्यासागर अपने इस मित्र से मिले थे और विवाह-कोष में दान देने और व्यक्तिगत रूप से समारोह में शरीक होने के उनके अपने वायदे की उन्हें याद दिलाई। इस पर रामप्रसाद राय ने कहा, "निस्सन्देह मैं विधवा-विवाह के पक्ष में हूँ और दान भी दूँगा। पर यदि मैं विवाह-समारोह में उपस्थित न हो सकूँ, तो कोई हानि तो नहीं है।" विद्यासागर ने सोचा कि रामप्रसाद में विवाह-समारोह में उपस्थित होने का नैतिक बल नहीं है, इसलिए वह सीधे इस महान् कार्य में पड़ना नहीं चाहते। यह कायरता विद्यासागर के लिए असह्य थी क्योंकि राममोहन राय जैसे व्यक्ति के पुत्र के मुँह से यह कोई शोभा की बात नहीं थी। कुछ देर चुप रहने के बाद उन्होंने रामप्रसाद राय की मेज के सामने की दीवार पर टँगे राममोहन राय के चित्र की ओर इशारा करते हुए कहा, "दीवार पर यह तस्वीर टाँगने से क्या लाभ? इसे तुरन्त बाहर फेंक दो!" यह कहते हुए विद्यासागर उस स्थान को छोड़कर तुरन्त चल पड़े। रामप्रसाद राय यद्यपि इसके बाद भी छह साल तक जीवित रहे, पर विद्यासागर फिर कभी भी उनके पास नहीं गये।

सन् 1847 में विद्यासागर पहली बार बर्दवान के महाराज से मुलाकात करने गये।

बर्दवान कलकत्ता के पश्चिम में लगभग 100 कि.मी. दूर है। वह वहाँ अपने एक मित्र के घर ठहरे, राजा के अतिथि बनकर नहीं। बर्दवान शहर और उसके आसपास के प्राकृतिक दृश्य देखने में ही उनकी अभिरुचि थी, न कि राजा के दर्शन में। महाराजा एक दिन उनके पास गये और उन्हें एक दिन अपने महल में आमन्त्रित किया। जब वह महाराजा के महल में पहुँचे तो प्राचीन रिवाज के अनुसार महाराजा ने उन्हें एक जोड़ी कीमती शाल तथा पाँच सौ रुपये सम्मान में भेंट किये। विद्यासागर ने बड़ी विनम्रता से यह उपहार ग्रहण करने से इनकार कर दिया और कहा, "आपका बड़ा अनुग्रह है कि आप मुझे इतना कीमती उपहार प्रदान कर रहे हैं, पर मुझे खेद है कि मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता। आम तौर पर, मैं किसी से भी उपहार नहीं लेता। मैं अब एक सरकारी कॉलेज में काम कर रहा हूँ और वहाँ से मुझे जो कुछ पारिश्रमिक मिलता है, वह मेरे निर्वाह के लिए यथेष्ट है। मुझे यह जानकार खुशी हुई कि टोल और चतुष्पाठी के गरीब पण्डितों को आपकी ओर से उदारतापूर्वक ऐसे उपहार मिलते हैं। इससे सचमुच ही बड़ी भारी सेवा होती रहेगी।" चूँकि महाराजा ने पण्डित जी के बारे में पहले से ही काफी कुछ सुन रखा था, अतः वह न तो चकित हुए और न उनके दिल को कोई ठेस लगी। अपना व्यक्तिगत परिचय बढ़ाने के उद्देश्य से महाराजा ने पण्डित जी का बड़ा आदर-सत्कार किया और सदा ही विद्यासागर के सुधार-आन्दोलन को नैतिक तथा आर्थिक सहायता देते रहे। कुछ वर्षों बाद, महाराजा ने विद्यासागर को वीरसिंह गाँव (विद्यासागर की जन्मभूमि) ताल्लुके के रूप में प्रदान करना चाहा। यह उपहार भी विद्यासागर ने अस्वीकृत कर दिया और बोले, "मैं ताल्लुकेदार होना नहीं चाहता। मैं एक ताल्लुकेदार होने की बात तभी सोच सकता हूँ, जब ताल्लुके की सभी रैयतों का लगान जमींदार को चुका सकूँ।" इस बार विद्यासागर का उत्तर सुनकर महाराजा को सचमुच ही बड़ा अचरज हुआ।

महान् सन्त रामकृष्ण परमहंस और विद्यासागर की मुलाकात के सम्बन्ध में एक बड़ा ही दिलचस्प किस्सा प्रचलित है। उनके बारे में बहुत-कुछ सुनने के बाद एक दिन परमहंस ने उनसे मिलने का निश्चय किया और विद्यासागर के घर गये। विद्यासागर ने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। औपचारिक कुशल-क्षेम पूछने के बाद परमहंस ने कहा, "मैं अनेक दलदलों को पार करता हुआ अन्त में अथाह सागर के किनारे आ पहुँचा हूँ और वह अब मेरे सामने हैं। आप ही यह विशाल महासागर हैं और मैं आपके भीतर से कुछ अमूल्य मोती चुनने आया हूँ। आशा है कि मुझे खाली हाथों नहीं लौटना पड़ेगा।" विद्यासागर ने मुस्कुराते हुए उत्तर दिया, "आपने यहाँ पधारकर सचमुच मुझे कृतार्थ किया है। लेकिन जिस सागर की आप तलाश कर रहे हैं और जिसके पास आप आये हैं, वह सच्चा सागर नहीं है। मुझे यकीन है कि इसमें आपको कोई मोती नहीं मिलेगा, हाँ मुट्ठी-भर कौड़ियाँ अवश्य मिल सकती हैं। आपको उनसे ही सन्तोष करके लौटना होगा।" ये दोनों महान्

पुरुष इस बातचीत से एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचान गये थे। बाद में परमहंस ने *लीलामृत* के लेखक से कहा, "विद्यासागर एक महान् संन्यासी हैं। उनसे बड़ा और कौन संन्यासी हो सकता है? मानव जाति के कल्याण के लिए उन्होंने अपनी धन-सम्पत्ति, अपना सुख-भोग और अपना सब कुछ बलिदान कर दिया है। इससे भी बड़ी बात यह है कि परमार्थ-चिन्तन के आगे उन्हें परमात्म-चिन्तन द्वारा अपनी व्यक्तिगत मुक्ति की चिन्ता नहीं है। शायद यह उनका सबसे बड़ा त्याग है। दूसरों के कल्याण के लिए उन्होंने अपना कल्याण छोड़ दिया है।"

ये बड़े सरल शब्द हैं और परमहंस सदैव सरल भाषा का ही प्रयोग करते थे। इन शब्दों से विद्यासागर का सही मूल्यांकन होता है और इसमें अभिव्यक्त सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। वह विद्यासागर के भौतिक और सांसारिक त्याग की अकसर सराहना करते रहते थे, पर यह उनके लिए उनके बारे में कोई खास बात न थी। विद्यासागर के बारे में उनकी सबसे बड़ी चिन्ता तो यह थी कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते थे और इसके प्रति उनका रुख पूर्णतया उदासीन था। ऐसे लोगों की दुनिया में कमी नहीं है, जो अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर सकते हैं। विद्यासागर ऐसे लोगों में से नहीं थे। उनकी सबसे बड़ी चिन्ता का विषय और लक्ष्य था—समाज की मुक्ति। उन्होंने समाज के महान् हित के लिए अपने निजी भौतिक और आध्यात्मिक हितों का त्याग कर दिया था।

मानव और उसकी उपलब्धि

अब विद्यासागर के मानवीय गुणों तथा उनके असली व्यक्तित्व का सही-सही मूल्यांकन किया जाये। हम उन्हें बंगाल में 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में एक *मानवतावादी, उद्यमशील बुद्धिजीवी* और *समाज-सुधारक* के रूप में समझ सकते हैं। सामाजिक सुधार की दृष्टि से 19वीं शताब्दी के बंगाल के पुनर्जागरण काल में दो महान् विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ—राममोहन राय और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर। ये दोनों ही महापुरुष भारतीय पुनर्जागरण के लगभग सभी लक्षणों और गुणों के प्रतीक थे जो समाज को जाग्रत करने का साधन बनते हैं। पुनर्जागरण काल मध्य-युग की समाप्ति और आधुनिक युग के पदार्पण का द्योतक है।

अगर हम उस युग के छोटे-मोटे कवि ईश्वर चन्द्र गुप्त को छोड़ दें, तो माइकेल मधुसूदन दत्त ही आधुनिक बंगाल की सच्ची भावना के प्रथम प्रतिनिधि कवि कहे जायेंगे। विद्यासागर उनके बड़े गहरे मित्र थे, खासकर इस अर्थ में कि अगर विद्यासागर न होते, तो माइकेल मधुसूदन दत्त अपने जीवन में कवि भी न बन पाते। सुदूर विदेश में जब माइकेल मधुसूदन दत्त बड़े कष्ट में दिन बिता रहे थे तो उन्हें केवल विद्यासागर के उदार हृदय में आश्रय मिला। अपने मित्रों के पास भेजे गये अनेक पत्रों में इस कवि ने पण्डित जी के प्रति अपनी भावनाएँ व्यक्त की हैं। ये भावनाएँ, नि सन्देह अतिशयोक्तिपूर्ण थीं, पर इनमें व्यक्त मूल भाव निश्चित रूप में सच्चा था। विद्यासागर के सम्बन्ध में उनके कुछ पत्रों के उद्धरण ये हैं—"मेरी नजर में कई दृष्टियों से, वह 'हम लोगों के बीच सर्वोत्तम पुरुष' हैं।" (राजनारायण बोस के नाम पत्र 10 जनवरी, 1862) "**...आपके दिल में वो मर्दानगी और प्रतिभा है, उसी के समान असीम बल के साथ आप काम पर जायें**" (विद्यासागर के नाम प्रेषित पत्र, 2 जून, 1864)। "मैं अपने देश वापस लौटने तक जीवित रहूँगा और अपने देशवासियों को बताऊँगा कि **आप न केवल विद्यासागर, बल्कि करुणासागर भी हैं।**" (विद्यासागर के नाम पत्र, 18 जून, 1864)...."जिस आदमी से मैंने अनुरोध किया है, **उसके पास प्राचीन ऋषि-मुनियों की-सी मेधा है, एक अंग्रेज की-सी शक्ति और स्फूर्ति है और बंगाली माँ का-सा हृदय है।**"

(विद्यासागर के नाम प्रेषित पत्र, 2 सितम्बर, 1864) "**...यद्यपि आप बंगाली हैं,**

फिर भी आप प्रकृति की रचना में एक लोकोत्तर महामानव हैं और यदि मुझे भ्रम नहीं है तो आप मेरी स्थिति को महसूस करेंगे और मेरे प्रति हमदर्दी दिखाएँगे। **...आप जैसा महान् बंगाली कभी पैदा नहीं हुआ और लोग गद्गद् हृदय तथा सजल नेत्रों से आपकी चर्चा करते हैं"** (विद्यासागर के नाम प्रेषित पत्र, 1867)।

उपर्युक्त उद्धरणों में काले शब्दों का खास महत्त्व है। यह अपने एक मित्र के सम्बन्ध में एक कवि का निर्णय है। एक मानव के नाते विद्यासागर के सम्बन्ध में हम पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निर्णय का उल्लेख कर ही चुके हैं। अगर हम दोनों के निर्णयों की तुलना करें तो पता चलता है कि विद्यासागर के सम्बन्ध में माइकेल और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों में बहुत कम अन्तर है। विद्यासागर के चरित्र की गहराई को नापने में रवीन्द्रनाथ से आगे कोई भी नहीं बढ़ सका है और न कोई मधुसूदन दत्त के उन मन्तव्यों को अतिक्रान्त कर सका है, जो उन्होंने अपने पत्रों में प्रसंगवश उनके प्रति व्यक्त किये हैं।

माइकेल के मन्तव्यों में सर्वाधिक लोकप्रिय और बहु-उद्धृत यह है कि "विद्यासागर के पास प्राचीन ऋषि-मुनियों की-सी मेधा है, एक अंग्रेज की-सी स्फूर्ति और बंगाली माँ का-सा हृदय है।" अनेक बंगाली प्राचीन ऋषि-मुनियों की-सी मेधा तथा बंगाली माँ का हृदय रखने का गर्व कर सकते हैं। पर शायद ही ऐसा कोई बंगाली हो, जो अंग्रेज की-सी स्फूर्ति रखने की डींगें मार सके। इने-गिने लोग ही अपने चरित्रों में इन सभी गुणों का समावेश कर सके थे। ऐसे दुर्लभ पुरुषों में निःसन्देह विद्यासागर भी एक थे और आधुनिक बंगाल के एक महापुरुष थे। माइकेल ने कहा है कि उनसे महान् बंगाली बंगाल में कभी पैदा नहीं हुआ। विद्यासागर के बाद के अनेक महान् बंगालियों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि बंगाल की गीली और सील-भरी मिट्टी में विद्यासागर जैसा वज्र व्यक्तित्व कैसे पैदा हो सका। वह प्रकृति की श्रेष्ठतम रचना थे। उनके कारण बंगाली तथा अन्य भारतीय अपने ऊपर गर्व करते थे।

माइकेल मधुसूदन दत्त ने विद्यासागर के बारे में जो कुछ कहा है उसमें उन्होंने 10 जनवरी, 1862 के राजनारायण बोस के नाम लिखे अपने पत्र में सबसे बढ़िया बात यह कही कि वह हम सबके बीच सर्वोत्तम पुरुष थे। यह बात सोलह आने सत्य है। प्राचीन काल में, हर देश में मनुष्य मानव-समुदाय का सूक्ष्म अंश मात्र माना जाता था। आधुनिक युग के उदय के साथ, अर्थात पुनर्जागरण काल में एक व्यक्ति *विशेष* के रूप में अवतरित हुआ। इसी अर्थ में माइकेल ने विद्यासागर को 'सर्वोत्तम पुरुष' कहा है। उनसे पूर्व राममोहन राय और अन्य *महापुरुष* भी हो चुके हैं। पर यह निश्चित है कि आधुनिक भारत के सर्वोत्तम महापुरुष के रूप में उन्हें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

विद्यासागर का हृदय बड़ा विशाल था और समाज-सुधार के प्रति उनमें महान् उत्साह था। पर राष्ट्र की भाग्य रचना में उनका ऐतिहासिक योग तब तक ठीक तरह नहीं समझा जा सकता, जब तक उनके बारे में दार्शनिक-ऐतिहासिक अर्थ में एक सच्चे

मानवतावादी मनीषी के रूप में विचार नहीं किया जाता। अतः हमें यहाँ यह बता देना चाहिए कि मानवतावाद क्या है। व्युत्पत्ति के विचार से *पुनर्जागरण* का अर्थ है। पुनर्जन्म या पुनर्नवीकरण, पर यह शब्द यूरोप के मानव-इतिहास में उस अवधि के लिए ठीक तरह लागू होता है, अब 15वीं-16वीं शताब्दी में प्राचीन कला, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में एक क्रान्ति हुई थी और इसके आधार पर नवीन साहित्य कला और दर्शन को जन्म दिया गया था। इतालवी पुनरुत्थान (इटालियन रिनासां) के इतिहास के पण्डित साइमण्ड् ने कहा, "लोगों ने देखा कि पुनरुत्थान कला के मनीषियों ने रोम तथा यूनान की कला और चिन्तन में केवल इसलिए दिलचस्पी ली कि इनसे नये युग की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए बहुत कुछ मिला और प्राचीन तथा नवीन की कड़ी जुड़ी रही।"

मानवतावाद का मूल सिद्धान्त भी यूनान के शास्त्रीय युग के दार्शनिकों की ही देन है और आधुनिक मनुष्य की आवश्यकताओं तथा मूल्यों की पूर्ति के लिए उसे व्यापक रूप दिया है। मानवतावाद मानव-केन्द्रवाद का ही एक रूप है। पुनर्जागरण काल के मानवतावाद के सम्बन्ध में यूनानी दार्शनिक प्रोटेगोरस की यह कहावत चरितार्थ होती थी, "हर चीज का माप मानव ही है।" भारत के आधुनिक युग में राममोहन राय और विद्यासागर इस अर्थ में सच्चे मानवतावादी थे, जो दोनों ने बारी-बारी से आधुनिक भारत के मानव-केन्द्रवाद को जन्म दिया था।

राममोहन राय तथा विद्यासागर, दोनों ने ही अपने सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों तथा विचारों के समर्थन के लिए भारत के स्वर्ण युग की परम्परा का आश्रय लिया तथा वेद-शास्त्रों के प्रमाणों पर ही आश्रित रहे। राममोहन राय ने उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा अपने मूर्ति-पूजा विरोधी एकेश्वरवाद (अद्वैतवाद) की यथार्थता सिद्ध की और शास्त्रों द्वारा अपने सती-प्रथा-विरोधी आन्दोलन का समर्थन किया। इसी तरह विद्यासागर ने भी शास्त्रों और स्मृतियों के प्रमाणों द्वारा अपने विधवा-विवाह सरीखे सामाजिक सुधारों का समर्थन किया। दोनों ने ही प्राचीन धर्म-शास्त्रों को अपने सुधारों और विचारों के लिए प्रमाण माना। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि राममोहन और विद्यासागर शास्त्रों में अन्धविश्वास रखते थे या विवेक तथा तर्क बुद्धि में उनकी आस्था नहीं थी, बल्कि उनका ख़याल था कि लोगों के लिए अधिक सन्तोषजनक और मान्यताप्राप्त प्रमाणों की आवश्यकता है। जिस तरह यूरोप के लोगों की नये धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को महत्त्व देने, सामाजिक दृष्टि से अपने प्रगतिशील आदर्श को युग का गौरवमय प्रकाशस्तम्भ बनाने तथा अपनी सुधार-सम्बन्धी महत्त्वाकांक्षाओं की स्वीकृति और औचित्य प्रदान करने के लिए अधिकृत प्रमाणों की आवश्यकता पड़ी थी, उसी तरह उनको भी यहाँ पड़ी। पुनर्जागरण काल की सच्ची भावना के रूप में विद्यासागर की मानवता पाश्चात्य शिक्षा चालू करने के साथ-साथ संस्कृत शिक्षा के पुनरुत्थान में प्रस्फुटित हुई। इतावली पुनर्जागरण के सम्बन्ध में लिखते हुए साइमण्ड्स ने कहा है, "केवल पाण्डित्य ने ही मानव मन के महासागर, विचारों की

गहन गरिमा, चिन्तन की महत्ता तथा मनुष्य जीवन की सार्थकता में और मजहबी कायदे-कानून और हठधर्मी में भेद किया है।

"...यूरोपीय पुनरुत्थान काल की बदौलत यूनानी तथा लैटिन साहित्य के खजाने का दरवाजा सारे संसार के पाठकों के लिए खुल गया...कुछ पीढ़ियों पहले जिस तरह *धार्मिक अवशेषों* की पूजा होती थी, उसी तरह पाण्डुलिपियों की पूजा होने लगी थी, होमर, प्लेटो और अरस्तू के ग्रन्थों तथा सिद्धान्तों के बारे में निर्णय होने लगे थे। फ्लोरेंस, वेनिस, बैस्ले, लिअंस तथा पेरिस छापेखाने की मशीनों के शोरगुल से गूँज उठे थे। आल्डी, स्टेफानी तथा फ्रोबेन ने दिन-रात एक कर दिये और उनके द्वारा ऐसे सैकड़ों कर्त्तव्यनिष्ठ विद्वानों को काम पर लगाया गया, जिनका कार्य छपने की सामग्री का विधिवत सम्पादन कर उसे छापेखाने के हवाले कर देना होता था। इस सम्पादन-कार्य में उन्हें वाक्य के शुद्ध पाठ तैयार करने से लेकर विराम-चिह्न तक ठीक-ठीक लगाने होते थे। इस तरह प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में विराजमान मानवता की अमर वाणी का प्रकाशन सम्भव हो सका।"

इन शब्दों की भावना 19वीं शताब्दी के अनेक बंगला पण्डितों और विद्वानों की जीवन-गाथाओं में ढूँढ़ी जा सकती है। इन विद्वानों ने सारे पाठकवर्ग के लिए संस्कृत-साहित्य के रत्न-भण्डार का द्वार खोल दिया था। पाण्डुलिपियाँ ढूँढ़ निकाली गयीं और धार्मिक मूर्तियों से कहीं अधिक उनकी पूजा की गयी। इटली के स्टेफानी और फ्रोबेनों की तरह कलकत्ता के ठाकुर, मल्लिक, शील, सिंह देव तथा अन्य बड़े परिवारों ने संस्कृत ज्ञानार्जन को प्रश्रय दिया। इन्होंने भी अनेक मेधावी तथा कर्त्तव्यनिष्ठ संस्कृत विद्वानों और पण्डितों को काम पर लगाया, जिनका काम संस्कृत साहित्य के भण्डार से अनेक पुस्तकों का सम्पादन, भाष्य और सजीव भाषा में अनुवाद करना तथा छपवाना होता था। उपरोक्त समानता के बावजूद 19वीं शताब्दी के बंगाली मानवतावादियों और पुनर्जागरण काल के यूरोपियनों में एक बड़ा भारी अन्तर यह था कि यूरोप के मानवतावादियों को अपनी लैटिन भाषा पर बड़ा गर्व था और वे जीवित भाषा तथा साहित्य को नीची नजर से देखते थे जब कि राममोहन राय तथा विद्यासागर जैसे बंगाली मानवतावादियों में संस्कृत के प्रति गर्व की ऐसी भावना नहीं थी। राममोहन राय ने सर्वप्रथम बंगला भाषा में वेदान्त और कुछ उपनिषदों का अनुवाद किया और लोगों में प्रचारार्थ बँटवाने के लिए उन्हें प्रकाशित करवाया। विद्यासागर ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन किया और अनेक के बंगला अनुवाद और रूपान्तर तैयार किये और अपने निजी संस्कृत प्रेस में उन्हें छपवाया। संस्कृत पाण्डुलिपियों से संग्रह के अवशेष, जो अब भी बंगीय साहित्य परिषद के उनके पुस्तकालय में सुरक्षित हैं, देखने लायक हैं। विद्यासागर ने बंगाल में बंगला साहित्य और शिक्षा की नींव डाली। उन्होंने ही पहला वैज्ञानिक *बंगला वर्ण-परिचय* लिखा और बंगला में एक सरल संस्कृत 'उपक्रमणिका' और 'व्याकरण कौमुदी') की भी

रचना की। इस व्याकरण की रचना का उद्देश्य रूढ़िवादी पुरोहितों और टोलपण्डितों का एकाधिकार तथा उनकी गुटबन्दी को तोड़ना था।

हमें पता है कि राममोहन राय ने धार्मिक सुधार-कार्यों में ही अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। वह हमारे धर्म को पण्डित-पुरोहितों तथा बाह्याडम्बरों से मुक्त कर उसे मुख्यतया आभ्यन्तर की वस्तु बनाना चाहते थे। ब्रह्म की अनुभूति अपनी आत्मा में ही हो सकती है, मूर्तिपूजा द्वारा नहीं। उनके सुधार आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य धर्म को बाह्याडम्बरों की वस्तु बनाने के बजाय उसे आभ्यन्तरिक चेतना की वस्तु बनाना था। उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की, जहाँ उनके अनुयायी वैदिक मन्त्रों और ऋचाओं का पाठ सुनने के लिए एकत्रित होते थे तथा ब्रह्म का चिन्तन करते थे। परन्तु ब्रह्मसमाज अपने-आप में एक संस्था थी, जिसकी उस समय देश के लोगों में सच्चे धर्म के प्रति राममोहन राय की निष्ठा का प्रचार करने के लिए स्थापना की आवश्यकता पड़ी थी।

धर्म के प्रति विद्यासागर का दृष्टिकोण उनके *मानवतावाद* के सन्दर्भ से समझा जा सकता है। विद्यासागर ने ब्रह्मसमाज तथा उसके धार्मिक सुधार-आन्दोलन में दिलचस्पी ली। विद्यासागर 'तत्त्वबोधिनी सभा' के अन्तिम वर्षों में उसके सचिव थे। वह ब्रह्मसमाज के कोष में नियमित रूप से अपना चन्दा भेज दिया करते थे। उनके कुछ विशिष्ट मित्र और सहयोगी ब्रह्मसमाज के नेता थे। ब्रह्मसमाज के सुविख्यात नेताओं में केशवचन्द्र सेन और शिवनाथ शास्त्री सरीखे लोगों से उन दिनों उनका बहुत गहरा व्यक्तिगत सम्बन्ध था। हर आदमी जानता था कि वह पूरे दिल से ब्रह्मसमाज के साथ हैं। लेकिन ब्रह्मसमाजियों के प्रति प्रेम, आदर और सहानुभूति के बावजूद वह न तो ब्रह्मसमाज में सम्मिलित हुए और न कभी उन्होंने उसके साप्ताहिक समारोहों में ही भाग लिया।

वह ब्रह्मसमाज में क्यों सम्मिलित नहीं हुए? उनके स्वभाव और दृष्टिकोण को देखते हुए यह सर्वथा ठीक था। धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या था? *द सिविलाइजेशन ऑफ द रिनासां इन इटली* नामक पुस्तक के लेखक जेकोब बर्खार्ट ने इस दृष्टिकोण के बारे में इस तरह लिखा है, "अन्य मध्यकालीन यूरोपियनों की तरह इन आधुनिक लोगों का जन्म भी समान धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ हुआ था। पर उनके महान् व्यक्तित्व ने जिस तरह उन्हें अन्य विषयों में विवेकवान बनाया उसी तरह धर्म के क्षेत्र में भी पूर्णतया विवेकवान बनाया।"

विद्यासागर भी धार्मिक प्रवृत्ति वाले समाज में जन्मे थे, लेकिन उनके महान् व्यक्तित्व ने उन्हें धर्म के मामले में सर्वथा रूढ़िमुक्त बना दिया था। विद्यासागर ने राममोहन राय के धार्मिक आदर्श को सही रूप में समझा और अपने जीवन में उसका आचरण किया था। वह कभी भी किसी धार्मिक विवाद में नहीं पड़े और न कभी उन्होंने जनता के बीच किसी धर्म या मजहब के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से निकाला। ईसाई मिशनरी के प्रति उनके मजाक का जिक्र हम पहले कर चुके हैं, पर उस मजाक का अर्थ केवल इतना ही था कि धर्म के बारे में उन्हें कोरे गाल बजाना

पसन्द नहीं था। परमात्मा में उनके विश्वास का प्रमाण सिर्फ उनके पत्रों के शीर्षों पर ही पाया जाता था, अन्यत्र कहीं भी नहीं। अपने पत्रों के प्रारम्भ में ईश्वरोल्लेख करके वह अपने मित्रों को *प्रश्नाकुल* अवश्य ही कर देते थे, पर कभी भी उनके किसी भी मित्र को उनसे ईश्वर के बारे में उनके विचार पूछने का साहस न हुआ। वास्तव में इस सम्बन्ध में उन्होंने इतना मौन साधा कि लोग उन्हें नास्तिक समझने लगे। यदि उनके पत्रों में परमात्मा के नाम का जिक्र न होता तो, लोग आसानी से एक पक्का नास्तिक समझ बैठते।

विद्यासागर के व्यक्तित्व के निर्माण में उनके खानदानी गुणों का भाग अधिक था और यह मर्दानगी तथा दबंगपन से भरा हुआ व्यक्तित्व था। उनके पितामह रामजय तर्कभूषण के बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इस कथन का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं कि यह निर्धन आदमी अपने पोते को इन खानदानी गुणों के अलावा और कुछ भी विरासत में न दे सका था।

विद्यासागर का *सामाजिक व्यक्तिव* सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति, अपने समय की प्रवृत्तियों के गहन बोध और सामाजिक अनुभवों से बना था। उनके इस आकर्षक व्यक्तित्व में स्थिति के अनुकूल ढल जाने तथा लोगों में घुल-मिल जाने की क्षमता थी और मर्दानगी और दबंगपन था। उनके अवकाश प्राप्त जीवन में दुखद अलगाव तथा गहरी निराशा की भावना का भी कारण यही था। यह याद रखना चाहिए कि उस समय 19वीं शताब्दी के सामाजिक वातावरण के बीच किसी धर्म या मजहब के विरुद्ध एक शब्द भी मुँह से निकलने में मर्दानगी-भरे व्यक्तित्व की बड़ी आवश्यकता थी। यह महापुरुषों और महान् कार्यों का युग था और विद्यासागर एक महान् पुरुष थे, जिन्होंने अपने जीवन में महान् सफलताएँ प्राप्त कीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से लेकर अन्तिम दशक तक का विद्यासागर का जीवन 70 वर्ष और कुछ महीनों की आयु में 29 जुलाई, 1891 को समाप्त हो गया।

कॉलेज स्क्वायर में संगमरमर की एक प्रतिमा के अतिरिक्त कलकत्ता जैसे महानगर में विद्यासागर का कोई अच्छा *स्मारक* मौजूद नहीं है। यह अच्छा ही है। लीविस ममफोर्ड के शब्दों में "ये सब स्मारक आखिरी साँस की खाली गूँजें हैं, जो हमारे नगरों की कोलाहलभरी सड़कों पर मजाक-सा उड़ाती हुई सुनाई पड़ती हैं। वे ऐसे पत्थरों के ढेर हैं, जो जीवित लोगों के कामकाज में रुकावट और अड़ंगा डालते हैं... अथवा हमारे विश्वासों और आवश्यकताओं से जरा भी मेल नहीं खाते।"

यह तो विडम्बना ही होगी कि विद्यासागर के स्मारक की गूँज भी कलकत्ता की कोलाहल-भरी किसी सड़क पर इसी ढंग से सुनाई पड़े और जीवित लोगों के कामकाज में रुकावट डाले। यदि स्वतन्त्र और प्रगतिशील भारत के लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरन्तर उनके विश्वासों, इच्छाओं और विचारों को नया रूप देते चले जायें और उन पर बार-बार सोचते-विचारते रहें, तो वे हमारी स्मृतियों में सदा ही बने रहेंगे।

डॉ. देवीशंकर अवस्थी : जीवनवृत्त

जन्म : 5 अप्रैल, 1930, ग्राम-सथनी बालाखेड़ा, जनपद-उन्नाव (उ.प्र.)

शिक्षा : आरम्भिक शिक्षा गाँव में और व्यक्तिगत स्तर पर। डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर से 1951 में बी.ए. और 1953 में एम.ए. (हिन्दी) प्रथम श्रेणी में। 1960 में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति, विषय पर पीएच.डी.। 1952 में 'लॉ' की भी डिग्री ली।

आजीविका : 1953 से 1961 तक डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में हिन्दी के प्राध्यापक। जुलाई, 1961 से मृत्युपर्यन्त दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक रहे।

निधन : 11 जनवरी, 1966 को दिल्ली में एक सड़क दुर्घटना के चलते ब्रेन हेमरेज से 13 जनवरी, 1966 को आकस्मिक अवसान।

प्रकाशित पुस्तकों का इतिवृत्त : (1) **मौलिक : आलोचना**–(i) आलोचना और आलोचना–1961, प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर, पुनःप्रकाशन–1995, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (ii) अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति–1968, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन–2015, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली; (iii) रचना और आलोचना–1979, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन–1995, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (iv) भक्ति का सन्दर्भ–1997, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (v) आलोचना का द्वन्द्व–1999, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (vi) विवेक के कुछ और रंग–2003, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली; (vii) देवीशंकर अवस्थी : संकलित निबन्ध–2008, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नयी दिल्ली; (viii) देवीशंकर अवस्थी : रचना संचयन–2012, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली।

(2) **सम्पादित पुस्तकों का इतिवृत्त** : (i) कविताएँ–1954, साहित्य निकेतन, कानपुर (श्री अजित कुमार के साथ); (ii) कहानी-विविधा–1963, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; (iii) 'भूले-बिसरे चित्र' उपन्यास के संक्षिप्त संस्करण की भूमिका और सम्पादन–1963, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; (iv) विवेक के रंग–1965, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पुनःप्रकाशन–1995, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; (v) नयी कहानी :

सन्दर्भ और प्रकृति—1966, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन—1973, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; (vi) साहित्य विधाओं की प्रकृति—1981, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, पुनःप्रकाशन—1993, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; (vii) 'कलजुग' पत्रिका, फरवरी 1957 से जून-जुलाई 1957 (पाँच अंक) तक कानपुर से सम्पादन एवं मार्गदर्शन।

(3) **पत्र-व्यवहार की पुस्तकें :** (i) 'हमकों लिख्यौ है कहा'—2001, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली (मित्रों के पत्र देवीशंकर के नाम); (ii) मेरे प्रेम-पत्र (पत्नी कमलेश के नाम)—2012, संवेद पुस्तिका, दिल्ली।

(4) **अनूदित पुस्तक-अनुवाद :** 'ईश्वर चन्द्र विद्यासागर' विनय घोष की अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद, जून 1968, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार।

(5) **देवीशंकर अवस्थी पर प्रकाशित पुस्तकें :** (i) मौलिक : देवीशंकर अवस्थी—2006, अरविन्द त्रिपाठी, साहित्य अकादमी से 'भारतीय साहित्य निर्माता सीरीज' में प्रकाशित विनिबन्ध (मोनोग्राफ); (ii) सम्पादित : आलोचना का विवेक—2004, सं. : राजेन्द्र कुमार (डॉ. देवीशंकर अवस्थी के अवदान पर एकाग्र) लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

□□
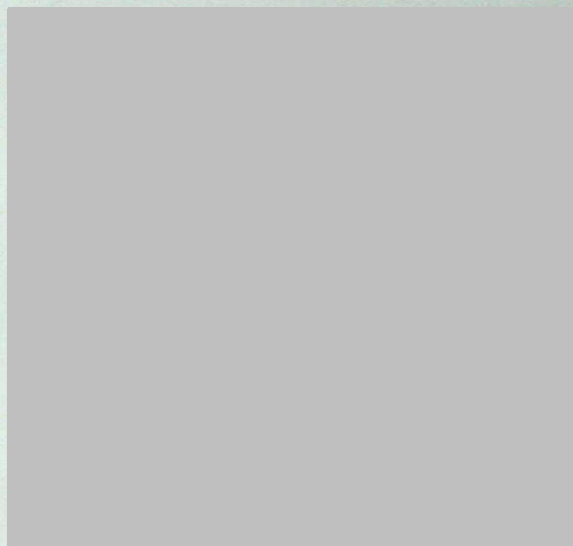
देवीशंकर अवस्थी

(1930-1966)

जन्म : 5 अप्रैल, 1930; ग्राम—सथनी बाला खेड़ा, ज़िला उन्नाव (उ.प्र.)।

शिक्षा : रायबरेली और कानपुर में।

1960 में आगरा विश्वविद्यालय से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में पीएच.डी.। इसके अतिरिक्त लॉ (कानून) की भी डिग्री ली थी।

कार्यक्षेत्र : 1953 से 1961 तक डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर में अध्यापन। 1961 से मृत्युपर्यन्त (13 जनवरी, 1966) दिल्ली विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग से सम्बद्ध।

रेखा अवस्थी

जन्म : 20 जून, 1947; लालगंज, रायबरेली (उ.प्र.)।

शिक्षा : एम.ए., भाषाविज्ञान में डिप्लोमा (दिल्ली विश्वविद्यालय), पीएच.डी. (भागलपुर विश्वविद्यालय)।

कार्यक्षेत्र : 1968 से 1973 तक भारत सरकार के अनुवाद विभाग में वरिष्ठ अनुवादक रहीं। दिल्ली विश्वविद्यालय के दयालसिंह कॉलेज के हिन्दी विभाग से 2012 में सेवानिवृत्त।

प्रकाशित पुस्तक : प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य।

सम्पादन : रागदरबारी : आलोचना की फाँस, प्रेमचन्द विगत महत्ता वर्तमान अर्थवत्ता, 1857 : बग़ावत के दौर का इतिहास, फ़ैज़, नागार्जुन, साहिर तथा हिन्दी-उर्दू साझा संस्कृति इत्यादि पुस्तकों का संचयन-सम्पादन।
जनवादी लेखक संघ की राष्ट्रीय सचिव एवं 'नयापथ' पत्रिका के सम्पादन से सम्बद्ध।

विशेष : आलोचक देवीशंकर अवस्थी की छोटी बहन।

कमलेश अवस्थी

जन्म : 24 दिसम्बर, 1939; कानपुर।

शिक्षा : एम.ए., पीएच.डी., आगरा विश्वविद्यालय।

विवाह : 1 जुलाई, 1956 को युवा मेधावी आलोचक देवीशंकर अवस्थी के साथ हुआ।

कार्यक्षेत्र : सेंटजेवियर्स स्कूल, दिल्ली में 1966-1969 तक अध्यापन, के.के. कॉलेज, कानपुर में 1969 से 1999 तक अध्यापन।

विशेष योगदान : 1995 में हिन्दी में युवा आलोचकों को प्रोत्साहित करने के लिए 'देवीशंकर आलोचना सम्मान' की स्थापना की।

प्रकाशित पुस्तकें : परम्परा और आधुनिकीकरण, देवीशंकर अवस्थी : रचना संचयन।

₹ 7500 (4 Vol. Set)

वाणी प्रकाशन

ISBN : 978-93-87648-27-2

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से
Vani Prakashan's signature motif is created by Artist Maqbool Fida Husain